# DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182923

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H80.5/S13- Accession No. Vol.1
Auther साहित्य।
Title April '58 - Jan - 1959
This book should be returned on or before the date last marked below.

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सहकारी

श्रीरंजन सूरिदेव

सम्पादकीय


पं० केदारनाथ ओझा ६ न्यायशास्त्र : स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण दर्शन

डा० कन्हैयालाल सहल २५ प्रज्ञा-सूत्र और कहावत

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ३१ काशकृत्स्न-व्याकरण तथा उसके उपलब्ध सूत्र

प्रो० गोपाल राय ४६ सूफी-काव्य की परम्परा और उसकी सामान्य विशेषत

समीक्षा : संकलन

प्रस्ताव

## सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी तथा कार्यसमिति के सदस्य

सभापति—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ( विधान-परिषद्-सदस्य ); उपसभापति—श्रीमथुराप्रसाद दीक्षित ( मु०-पो० पिरारी, सारन); श्रीदेवव्रत शास्त्री ( दैनिक 'नवराष्ट्र'-सम्पादक, पटना-१ ); प्रधान मन्त्री—श्रीव्रजशङ्कर वर्मा ( साप्ताहिक 'योगी'-सम्पादक, पटना-१); अर्थ-मन्त्री—श्रीउमानाथ (उपनिदेशक, मुख्यालय, बिहार-जनसम्पर्क-विभाग, पटना-१); साहित्य-मन्त्री—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा (हिन्दी-विभागाध्यक्ष, पटना-कालेज); कला-मन्त्री—श्रीराजेन्द्र शर्मा (व्यवस्थापक, दैनिक 'सर्चलाइट', पटना-१); प्रचार-मन्त्री—श्रीरामदयाल पाण्डेय (साहित्य-सम्मेलन पथ, पटना-३); प्रबन्ध-मन्त्री—श्रीअक्षितनारायण सिंह 'तोमर' (कार्यालय-सचिव, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३); पुस्तकालय-मन्त्री—(विचाराधीन); सदस्य—आचार्य शिवपूजन सहाय (संपादक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३); पं० छविनाथ पाण्डेय (आर्यकुमार पथ, पटना-४); प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, विधान-परिषद्-सदस्य ( कचहरी चौक, लहेरियासराय ); श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, विधान-सभा-सदस्य (आरब्लाक, पटना-१); श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, विधान-सभा-सदस्य (मासिक 'नईधारा'-सम्पादक, पटना-६); श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर', संसत्सदस्य (आर्यकुमार पथ, पटना-४); श्रीगंगाशरण सिंह, संसत्सदस्य (प्रजा-समाजवादी-कार्यालय, पटना-४); डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' ( हिन्दी-विभाग, तेजनारायण जुबली-कालेज, भागलपुर ; श्रीबनारसीप्रसाद भोजपुरी ( जिला बोर्ड प्रेस, आरा); श्रीव्रजकिशोर 'नारायण' (जनजीवन'-सम्पादक, समाज-शिक्षा-बोर्ड, पटना-१); श्रीपरमेश्वर सिंह (किताब-घर, राँची); श्रीठाकुरप्रसाद एडवोकेट (पीरमुहानी, पटना-३); श्रीगोवर्द्धनप्रसाद 'सदय' (सह-सम्पादक, 'बिहार-समाचार', जनसम्पर्क-विभाग, पटना-१); श्रीशत्रुघ्नप्रसाद सिंह (मुंशीसिंह कालेज, मोतिहारी); श्रीलालजी सहाय (अपर शिक्षाधीक्षक, चाईबासा)।



## 'साहित्य'-के पुराने और नये संस्करणों की फाइलें

पुराने संस्करण के केवल आठ अङ्क प्राप्य हैं। उनका मूल्य कुल ४) चार रुपया है। नये संस्करण के आठ वर्ष के सभी अङ्कों की पूरी फाइल का मूल्य ५६) छप्पन रुपया है। डाक से मँगाने पर ६) छह रुपये और रेलवे-पार्सल से मँगाने पर २) दो रुपये अतिरिक्त खर्च देना पड़ेगा। वी० पी० नहीं भेजी जाती। मनीआर्डर से अग्रिम भेजना चाहिए।

पत्र-व्यवहार का पता—'साहित्य'-व्यवस्थापक, सम्मेलन-भवन, पटना-३



## सम्मेलन के तीन नये प्रकाशन

(१) बिहार की साहित्यिक प्रगति : (सम्मेलन के गत २६ अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों का संग्रह सचित्र जीवन-परिचय के साथ)। सजिल्द मूल्य १२) बारह रुपये।

( ) सम्मेलन का इतिहास : लेखक—स्व० श्रीरामधारी प्रसाद। मूल्य १) एक रुपया।

(३) उर्दू-शायरी और बिहार : (सत्रहवीं शती से आजतक के बिहारी उर्दू-शायरों की जीवनियाँ और कविताएँ)। लेखक—श्रीरजा नकवी। सजिल्द मूल्य ३) तीन रुपये।

प्राप्ति-स्थान—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३




* बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक मुखपत्र *

वर्ष ६ : अङ्क १ } चैत्र, विक्रमाब्द २०१५ : शकाब्द १८८० : अप्रैल, १९५८ ई० { वार्षिक ७)

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा


# सम्पादकीय

## स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय

हिन्दी के साहित्यसेवियों में आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय एक विशिष्ट व्यक्ति थे। उनका जीवन और विचार भारतीय ऋषियों से बहुत प्रभावित था। वे बड़े निष्ठावान् साधक थे। उनका आचरण तपस्वी के समान था। उन्हें देखकर स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न का स्मरण हो आता था। सत्यनारायण जी ग्रेजुएट थे, पर ठेठ देहाती किसान के वेश में रहते थे। इन्दौर के अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में कविरत्नजी को गँवार समझकर स्वयंसेवकों ने भीतर जाने से रोक दिया था। किन्तु, कविगोष्ठी में कविता-पाठ करने पर किसी दूसरे का रंग जमने नहीं दिया। पाण्डेयजी भी एम्० ए० पास होकर देहाती वेश में ही रहते थे। उनकी विद्वत्ता और साधुता पर आधुनिक युग का आडम्बर नहीं सवार हुआ था।

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन (सन् १९४४ ई०) में जाते समय हमने दिल्ली-स्टेशन पर देखा कि पाण्डेयजी नंगे पैर, नंगे सिर, बगल में कम्बल की गठरी दबाये तीसरे दर्जे की गाड़ी में सवार हो रहे हैं। उनके सत्सङ्ग के लोभ से हम भी उनके साथ जा बैठे। उनकी गठरी में खद्दर के कुछ कपड़े और असिद्ध अन्न थे। गाढ़े खद्दर के कुर्ते में खादी के ही बटन थे। जयपुर तक वे साहित्यिक चर्चा करते रहे। हमलोग एक ही कमरे में साथ ही ठहरे। वे अलोना भोजन करते थे। अंकुरे हुए चने और मूँग के साथ एक-दो चम्मच मधु खाकर रह जाते थे। रात-भर पानी में तर की हुई मूँग की दाल से सुबह नाश्ता करते देख जब हमने पूछा कि इस तरह के प्रयोग से शरीर का निर्वाह कैसे होगा, तब कहने लगे कि अभी तो मैं नमक की तरह सीठा भी छोड़नेवाला हूँ—शरीर तो साधने से सध जाता है।

पाण्डेयजी संस्कृत, फारसी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं के जानकार तो थे ही, प्राचीन हिन्दी-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का जब आन्दोलन चला था, तब उन्होंने कई पुस्तकें और लेख लिखकर हिन्दी का पक्ष-समर्थन किया था। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'हिन्दी' नामक जो पत्रिका निकाली थी, उसके प्रथम सम्पादक पाण्डेयजी ही हुए थे। 'हिन्दी' के द्वारा भी उन्होंने बड़ी निर्भीकता और प्रचण्ड तेजस्विता के साथ हिन्दी का पक्ष पुष्ट किया था। स्पष्टवादी आलोचक होने के कारण साहित्य संसार में कुछ अप्रियता भी उन्हें मिली। पर, वे अपने मन की जँची बात कहने से कभी न चूके।

पाण्डेयजी का शरीरपात, काशी में, गत २४ जनवरी ( १९५८ ई० ) को हुआ। उनकी आयु ५२ वर्ष की थी। दो-तीन साल से वे अस्वस्थ थे। हमारा अनुमान है कि आधुनिक युग ने उनके कठोर संयम को बरदाश्त नहीं किया। उनके प्रयोग वर्त्तमान युग के लिए असाध्य प्रमाणित हुए। यह सब समझ-बूझकर भी वे अपनी साधना में तत्पर रहे। हम उन्हें गृहस्थ योगी कह सकते हैं। परन्तु, इस युग में योग-साधना से साहित्य-साधना कहीं अच्छी है। यदि पाण्डेयजी केवल साहित्य-साधना को ही अपनी टेक बना लेते, तो अभी बहुत दिनों तक हिन्दी की स्तुत्य सेवा कर सकते। 'हरेरिच्छा बलीयसी'।

—शिव०

०

## त्रैमासिक 'हिन्दुस्तानी' का पुनः प्रकाशन

प्रयाग में स्थापित उत्तरप्रदेश की हिन्दुस्तानी एकाडमी हिन्दी-संसार की एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था है। उसकी त्रैमासिक मुखपत्रिका 'हिन्दुस्तानी' लगातार अठारह वर्षों तक हिन्दी की सेवा करके बन्द हो गई थी। पर, इस वर्ष से वह फिर निकलने लगी है। उसके उन्नीसवें भाग के पहले अङ्क ( जनवरी-मार्च, १९५८ ई० ) में एकाडमी के मन्त्री डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा है—"सन् १९३१ से १९४८ ई० तक 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका ने खोज-कार्य को प्रेरणा देने में, प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाश में लाने में तथा भाषा और साहित्य के स्तर को उन्नत बनाने में जो योगदान किया है, उससे सभी लोग भली भाँति परिचित हैं।" वास्तव में, 'हिन्दुस्तानी' की महत्त्वपूर्ण साहित्य-सेवा से जो लोग परिचित थे, उन्हें 'हिन्दुस्तानी' का अभाव बहुत दिनों से खटक रहा था, किन्तु दस वर्षों के बाद उसको पुनः प्रकाशित होते देखकर उन सब लोगों को परम हर्ष हुआ है, जिन्हें उसकी उपयोगिता का अनुभव करके उसका अभाव खलता था। साहित्य-क्षेत्र में उसका पुनरागमन साहित्यिक शोध-कार्य करनेवाले अनुसन्धायकों के लिए वस्तुतः आनन्ददायक है।

प्रस्तुत अङ्क के प्रधान सम्पादक डा० माताप्रसाद गुप्त और सहायक सम्पादक डा० सत्यव्रत सिन्हा हैं। सम्पादक-मण्डल में डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० दीनदयालु गुप्त और डा० सत्यप्रकाश भी हैं। सभी सज्जन

यशस्वी साहित्यसेवी हैं। उनके सम्पादन और निर्देशन में पत्रिका नवीन उत्साह से हिन्दी-साहित्य का उन्नयन और अभ्युदय करने में समर्थ होगी। हम उसके अभिनव अभियान का अभिनन्दन करते हैं।

हिन्दी में शोध-समीक्षाप्रधान त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ गिनी-चुनी ही हैं। उनका प्रचार बहुत सीमित क्षेत्र में है। सुशिक्षित हिन्दीप्रेमी भी उन्हें नहीं अपनाते। प्राध्यापकों और स्नातकों में भी उनकी खपत यथेष्ट नहीं है। इस युग में पुस्तकालयों और वाचनालयों की संख्या बढ़ रही है सही, पर उच्चकोटि का साहित्य पढ़नेवालों की संख्या अत्यन्त मन्थर गति से बढ़ रही है। एक दशाब्दी के व्यवधान के बाद पुनः कर्मक्षेत्र में पदार्पण करने पर पत्रिका को स्वतः अनुभव होगा कि एक दशाब्दी के बाद हिन्दी-साहित्य की कितनी प्रगति हुई है। हमें आशा है कि 'हिन्दुस्तानी' से साहित्यिक गवेषणा के कामों में पूर्ववत् सहायता मिलेगी और जिस उद्देश्य से उसका पुनर्जन्म हुआ है, उसे ईश्वर सफल करेंगे तथा उसके संचालकों का संकल्प निर्विघ्न पूरा होगा।

—शिव०

०

## 'हरिऔध' का प्रकाशन

स्वर्गीय कविवर पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की स्मृति में, आजमगढ़ (उत्तरप्रदेश) के 'हरिऔध-कला-भवन' से त्रैमासिक 'हरिऔध' का प्रकाशन हुआ है। वह उक्त कला-भवन का मुखपत्र है। उसके अवैतनिक सम्पादक हैं हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, जो आजमगढ़ जिले के ही निवासी हैं। उसमें निबन्ध, संस्मरण, आलोचना, कविता, मनोरंजक लेख आदि सामग्री सुरुचिपूर्ण रहती है। सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी शुद्ध साहित्यिक और समयानुकूल होती हैं। पाठ्य-सामग्री उपादेय और ज्ञानवृद्धि करनेवाली है। कला-भवन ने ऐसा सुन्दर और शिक्षाप्रद पत्र निकालकर आदर्श कार्य किया है।

अब तक हिन्दी में किसी साहित्यकार के स्मारकस्वरूप कुछ ही पत्र निकले हैं। जहाँ तक हमें स्मरण है, ऐसी सबसे पहली पत्रिका 'हरिश्चन्द्र-कला' है, जो भारतेन्दु के जीते-जी काशी में जन्म लेकर उनके कैलासवासी होने पर पटना के खड्गविलास प्रेस से कई साल तक निकलती रही। भारतेन्दुजी की स्मृति में ही पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने वृन्दावन से 'भारतेन्दु' निकाला था। 'भारतेन्दु' नाम का एक मासिक पत्र पण्डित ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' के सम्पादकत्व में प्रयाग से भी निकला था। बिहार के आरा-नगर-निवासी प्रेम-साहित्य-प्रकाशक स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन की स्मृति में लखनऊ के एडवोकेट श्रीअजितप्रसाद जैन ने एक वर्ष तक 'देवेन्द्र' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। कहते हैं कि पटना का समाधिस्थ साप्ताहिक 'महावीर' भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्मृति-रक्षा के उद्देश्य से ही निकला था, पर उसके प्रकाशन-काल में ऐसी कोई घोषणा नहीं हुई थी। कुछ धुँधली स्मृति है कि हिन्दी में 'कबीर' और 'तुलसी' नामक मासिक

पत्र भी निकले थे, पर अब उनके पते की याद नहीं रही। इस समय काशी की प्रसाद-परिषद् का मासिक मुखपत्र 'प्रसाद' श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ के सम्पादकत्व में बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। वह प्रसादजी का उपयुक्त स्मारक है। यों तो 'निराला' नामक पत्र भी निकलकर बन्द हो चुका है, पर वह शायद कवि के नाम के सम्मान में नहीं निकला था। एक बात यह भी है कि स्मारक-पत्र का नामकरण करने योग्य बहुतेरे चिरस्मरणीय साहित्यकारों के नाम नहीं होते।

उपर्युक्त कला-भवन में हरिऔधजी के स्मृति-चिह्नों का भी संग्रह किया गया है और खोज करके बराबर किया भी जा रहा है। आशा है कि कला-भवन के संचालकों का सदुद्योग हिन्दी-जगत् के लिए प्रेरणामूलक सिद्ध होगा।

—शिव०

०

## 'चम्पा'—एक अनुकरणीय प्रयास

बिहार-राज्य के चार स्थानों के कालेजों में एम्० ए० की पढ़ाई होती है—पटना, मुजफ्फरपुर, भागलपुर और राँची। पटना-कालेज में तो बहुत दिनों से स्नातकोत्तर-वर्ग की पढ़ाई होती आ रही है, किन्तु उसके स्नातकोत्तर-विभाग की ओर से कोई पत्र प्रकाशित नहीं हुआ। पटना-कालेज और पटना-विश्वविद्यालय की ओर से जो पत्र प्रकाशित होते हैं, वे केवल स्नातकोत्तर-वर्ग के लिए नहीं हैं। अन्य तीन कालेजों से भी पत्र प्रकाशित होते हैं, पर वे भी केवल स्नातकोत्तर-वर्ग के लिए ही नहीं हैं। किन्तु, 'चम्पा' केवल स्नातकोत्तर-वर्ग की ओर से उसी विभाग की मुखपत्रिका के रूप में प्रकट हुई है।

भागलपुर के तेजनारायण जुबली-कालेज के स्नातकोत्तर-विभाग ने अपने नगर के एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान के नाम पर इस पत्रिका को प्रकाशित करके अन्य महा-विद्यालयों के स्नातकोत्तर-विभागों को नई प्रेरणा दी है और आदर्श मार्ग सुझाया है। यदि अन्य स्नातकोत्तर-विभागों से भी ऐसी ही पत्रिका निकलने लगे, तो साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में बड़ी सहायता मिलेगी तथा अध्ययन-अध्यापन का स्तर भी ऊँचा हो जायगा।

'चम्पा' के प्रस्तुत प्रथमाङ्क (जनवरी, १९५८ ई०) में स्नातकोत्तर-विभाग के अध्यापकों और विद्यार्थियों के निबन्ध हिन्दी और अँगरेजी में छपे हैं। विभाग में हिन्दी के अतिरिक्त जो अन्य विषय पढ़ाये जाते हैं, उन पर अँगरेजी में ही लेख लिखे गये हैं। केवल हिन्दी के निबन्ध साहित्यिक हैं। यदि अँगरेजी में भी हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी लेख छपा करते, तो अच्छा होता; क्योंकि इस समय केवल अँगरेजी जाननेवालों को हिन्दी-साहित्य से परिचित कराना अत्यावश्यक है। इसमें निबन्धों के सिवा विद्यार्थियों की कुछ भावपूर्ण रचनाएँ भी छपी हैं। किन्तु, यह पत्रिका यदि शोध-समीक्षा-प्रधान ही रहती, तो इसकी गुरुता विशेष बढ़ जाती। भावुकतापूर्ण रचनाओं के प्रकाशनार्थ अनेक पत्रिकाएँ हैं। विभाग की मर्यादा के अनुरूप पत्रिका तभी होगी, जब उसमें शोधपूर्ण सुचिन्तित निबन्ध ही प्रकाशित हुआ करेंगे

आशा है कि हिन्दी-विभागाध्यक्ष प्रोफेसर वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति और सम्पादक प्रोफेसर माहेश्वरी सिंह 'महेश' के निर्देशन और सम्पादन में पत्रिका उत्तरोत्तर उन्नतिशील होगी। उक्त दो सज्जनों के अतिरिक्त तीन महानुभाव और भी सम्पादक-मण्डल में हैं—श्रीचन्द्रदेव सिंह, (वाणिज्य-विभाग), श्रीदिवाकर झा (अर्थशास्त्र-विभाग) और श्रीज्ञानशङ्कर प्रसाद (समाजशास्त्र-विभाग)। प्रधान संचालक श्रीवीरेन्द्र विद्यावाचस्पतिजी का यह नवीन-प्रयोग और अनुकरणीय प्रयास पूर्णतया सफल हो, यही ईश्वर से हमारी कामना है।

—शिव०

## भारत-सरकार की पारिभाषिक हिन्दी-शब्दावलियाँ

भारत-सरकार के शिक्षा-मन्त्रणालय से समय-समय पर अनेक हिन्दी-शब्दावलियाँ प्रकाशित हुई हैं। सामान्यतः शब्दावलियाँ सन्तोषजनक हैं। अधिकांश निर्मित शब्द निश्चित अर्थ देनेवाले और सहजग्राह्य हैं।

कुछ शब्द अन्तरराष्ट्रीय अथवा 'मूल-शब्द' मान लिये गये हैं और उनका लिप्यन्तरण-मात्र कर दिया गया है। शीघ्रता में या अनभ्यास के कारण किसी भी अँगरेजी शब्द के लिप्यन्तरण से काम चलाया जा सकता है, किन्तु शब्द-कोष में यथासम्भव सभी शब्दों के समानार्थी शब्द चाहिए। विकसित भाषाओं में 'डबल वाकेब्युलरी' (द्विविध शब्दावली) होती ही है—एक तो प्रचलित भाषा की और दूसरी शास्त्र और विज्ञान की। हिन्दी की इन शब्दावलियों के निर्माताओं ने बार-बार प्रचलन और सरलता की दुहाई दी है। इससे उन्हें अपना कार्य सम्पन्न करने में कठिनाई हुई है।

इन शब्दावलियों में कुछ शब्द लोक-प्रचलित, या अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचलित होने के कारण, लिये गये हैं। पहली कोटि में आनेवाले शब्द अधिकांशतः ग्राह्य हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जो पारिभाषिक शब्दावली में स्थान पाने योग्य नहीं है। दूसरी कोटि में आनेवाले शब्द सौभाग्य से संख्या में अधिक नहीं हैं। ऐसे शब्दों को स्वीकार करने में अधिक सतर्कता अपेक्षित है।

इन शब्दावलियों के सम्बन्ध में, समवेत रूप से, एक ही बात और कहनी है। शब्द-निर्माण करनेवाली विभिन्न समितियों के बीच अधिक पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा है। यदि किसी एक शब्द के लिए एक समिति ने समानार्थी हिन्दी-शब्द निर्मित किया है, तो दूसरी समिति को उसे स्वीकार करना चाहिए। उदाहरणार्थ, रासायनिक शब्दावली में Cell का लिप्यन्तर-मात्र है, जब कि वनस्पति-विज्ञान की शब्दावली (द्वितीय भाग) में इसका समुचित समानार्थी शब्द, कोशिका, वर्त्तमान है। दोनों शब्दावलियाँ सन् १९५६ ई० में प्रकाशित हुई हैं और प्रकाशन-संख्या देखने से यह अनुमेय है कि वनस्पति-विज्ञानवाली शब्दावली कुछ पहले ही तैयार हो चुकी होगी। इस प्रकार, कोई कारण नहीं है कि रासायनिक शब्दावली में Cell का समानार्थी शब्द, कोशिका, न हो। आगे एक-एक करके विभिन्न शब्दावलियों पर विचार किया गया है।

प्रशासकीय शब्दावली ( हमारे सामने केवल दूसरा भाग ही है ) में प्रशासन में प्रयुक्त होनेवाले २००० से कुछ अधिक शब्द और वाक्यांश संकलित हैं। इसमें स्वीकृत 'दफ्तरी पत्र-व्यवहार' ( कार्यालय-सम्बन्धी, अथवा कार्यालयिक हो सकता है ), 'तलटीप' ( Foot-note, जिसके लिए बहुप्रचलित हिन्दी-शब्द है पाद-टिप्पणी ), 'जुड़नार' ( Fixtures) आवक रजिस्टर ( Inward register ) तथा जावक रजिस्टर ( Outward register) मराठी में प्रचलित हो सकते हैं, किन्तु हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली के स्तर के अनुरूप नहीं हैं। तेलुगु के 'बाध्यक' ( Binding ) को स्वीकार करने में कठिनाई नहीं है; क्योंकि यह, तेलुगु में विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी, संस्कृत शब्द है। तेलुगु की 'सिम्बन्दी' (Establishment) और पंजाबी के 'दित्ता' (Data) के पक्ष में यही बात नहीं कही जा सकती। पुनः कन्नड़ के 'पूर्वव्याप्ति' (Retrospective) और पुनश्चर्या (Refresher course) जैसे शब्द इसलिए हिन्दी में सहज ही स्वीकार्य हैं कि ये वस्तुतः कन्नड़ के न होकर संस्कृत के हैं।

इसी तरह जहाँ प्रचलन के कारण 'हुण्डी', 'बीजक' आदि शब्द स्वीकार्य हो सकते हैं, वहीं 'परची' (Ballot), 'दिहाड़ी' ( Daily wages ) प्रचलन के नाम पर भी ग्राह्य नहीं हो सकते—इनसे भाषा की गरिमा क्षति-ग्रस्त होती है।

इस शब्दावली में ( Absentee landlord ) के लिए दूरवासी जमीन्दार और (Absentee statement, के लिए अनुपस्थिति-विवरण शब्द है। दूरवासी के लिए अनुपस्थित शब्द ही उचित होगा। (Absurdity) के एकाधिक समानार्थी हिन्दी शब्दों में एक 'वाहियात' भी है, जब कि पहला विकल्प, अनर्थकता, काफी अच्छा शब्द है। वाहियात तो होगा ही नहीं और वाहियातपन होता नहीं। Academy के लिए 'अकादमी' मान लिया गया है, यद्यपि इसके लिए बड़ी आसानी से प्रचलित समानार्थी शब्द मिल सकता था। Accrue के लिए 'वाजिब होना', Addendum के लिए 'ततिम्मा', Adjustment के लिए 'बैठ-बिठाव' शब्दावली में प्राप्य ऐसे शब्दों के उदाहरण हैं, जो अनिश्चितार्थ, अव्यावहारिक एवं सुरुचि-रहित हैं। इस शब्दावली में ऐसे बहुसंख्य शब्द हैं। सन्तोष की बात है कि अन्य शब्दावलियों में ऐसे शब्द अधिक नहीं हैं।

सूचना और प्रसार-शब्दावली अपेक्षया अधिक परिमार्जित है, किन्तु इसमें बुकिंग, बुलेटिन, कोरस, कापीराइट, लाउडस्पीकर और माइक्रोफोन आदि अँगरेजी के अनेक शब्द यथावत् ले लिये गये है। इनके हिन्दी-शब्द प्रचलित हैं, जिन्हें अस्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। प्रचलन के आधार पर 'तवा' ( Disc ) लिया जा सकता है, किन्तु Amateur के लिए 'शौकिया' कभी परिष्कृत पारिभाषिक शब्दावली में स्थान नहीं पा सकता। 'श्रोता खोज अफसर', 'आख्यापना करना' आदि अनेक ऐसे शब्द हैं, जो संकर और बेढंगे हैं।

राजनयिक शब्दावली में भी कुछ शब्द मूल रूप में ही रहने दिये गये है, किन्तु

अधिकतर अँगरेजी-शब्दों के समानार्थी हिन्दी-शब्द सूक्ष्म अर्थ-भेद के सूचक, परिष्कृत तथा ग्राह्य हैं। उदाहरणार्थ : Alien के लिए 'अदेशी', Foreigner के लिए 'विदेशी', इत्यादि।

रक्षा ( हिन्दी में Defence के लिए प्रतिरक्षा प्रचलित है)-शब्दावलियाँ (भाग २, ३, और ४, तथा कमान-शब्दावली) भी अधिकांश में सन्तोषजनक हैं, यद्यपि हिन्दी-कमान-शब्दावली के अनादरसूचक 'बना', 'लगा', 'थम,' 'मुड़' आदि के बदले बनाओ, थमो, मुड़ो ही होने चाहिए। 'गार्ड' का 'गारद' तो ठीक है, किन्तु 'गार्ड-रूम' के लिए 'गारद-कमरा' होता, तो अच्छा था। Form the order of march के लिए 'कूच, तरतीब बना' के बदले 'प्रस्थान-व्यवस्था बनाओ' अवश्य ही अधिक प्रभावपूर्ण आदेश सिद्ध होगा। जहाँ तक समझने की बात है, अगर निरक्षर भारतीय सैनिक अँगरेजी के आदेश समझ लेते थे, तो हिन्दी के समझ ही लेंगे। Company, Section, Column, Platoon, Number, Parade, Round, Battallion, Report, Division आदि के समानार्थी शब्द आसानी से बनाये जा सकते हैं। Line और Rank के लिए 'लाइन' और Fall in के लिए 'लाइन' बना, तीनों में 'लाइन' का ही प्रयोग उचित नहीं है। द्वितीय भाग के अँगरेजी Foreword के अनूदित हिन्दी-प्राक्कथन में 'अबूझ' Unexplored के समानार्थी शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जबकि दोनों में बहुत अन्तर है।

वाणिज्य-शब्दावली में प्रचलन के नाम पर अनगढ़ शब्दों के लिये जाने की सबसे ज्यादा गुंजाइश हो सकती थी। यह सन्तोष की बात है कि प्रचलित शब्द भी, यदि वे अन्वर्थी नहीं सिद्ध हुए, छोड़ दिये गये है, और मूल के समानार्थी शब्द बना लिये गये है—उदाहरण के लिए : प्राक्कथन में निर्दिष्ट, 'तुलन-पत्र' ( Balance-sheet) जिसके लिए 'चिट्ठा' प्रचलित तो है, किन्तु ठीक नहीं है। हिन्दी-प्राक्कथन में 'तुलन-पत्र की गढ़ना की' में 'गढ़ना की' हिन्दी नहीं है।

डाक तथा तार-सम्बन्धी शब्दावली के अँगरेजी-प्राक्कथन में ठीक ही कहा है कि 'A special feature of this terminology is that it has an ease and effortlessness about it', हिन्दी में इसे ही जब यों कहा गया है—'प्रस्तुत पारिभाषिक शब्दावली की एक और विशेषता है इसकी सरलता' तो आशय बदल गया है। सरलता पारिभाषिक शब्दावली का गुण नहीं है, सहज और आयास-रहित होना अवश्य गुण हैं। ये गुण इस शब्दावली में आ गये हैं; क्योंकि यथासम्भव अधिक शब्दों के परिष्कृत समानार्थी हिन्दी-रूप दिये गये हैं।

रेलवे-शब्दावली, परिवहन (नौ-चालन) शब्दावली (दो भाग) तथा विदेश-संचार-शब्दावली भी उच्च स्तर की हैं। परिवहन (नौ-चालन) शब्दावली के द्वितीय भाग में, पृष्ठ २० पर, Securicy for many advanced (Security for money advanced) जैसी भद्दी छपाई की भूल है—हम पहले तो समझे कि अँगरेजी के अप्रचलित पारिभाषिक शब्द होंगे!

गणित, रसायन-विज्ञान (द्वितीय भाग), वनस्पति-विज्ञान (द्वितीय भाग), प्राकृतिक भूगोल, कृषि-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान-सम्बन्धी शब्दावलियों में, अन्तरराष्ट्रीय प्रचलन के नाम पर, बहुसंख्य शब्द यथावत् रहने दिये गये हैं । इस कारण, ये शब्दावलियाँ अंशतः अपूर्ण रह गई हैं, अन्यथा जो शब्द निर्मित हुए हैं—वनस्पति-विज्ञान के शब्दों को छोड़कर—वे पारिभाषिक शब्दावली के अनुरूप परिमार्जित और सांकर्य-रहित हैं। चिकित्सा-विज्ञान-शब्दावली के प्राक्कथन में बताया गया है कि अंगरेजी के अनेक ऐसे शब्द जो यथोचित अर्थ नहीं देते, हिन्दी में दोष-रहित बना दिये गये हैं। वनस्पति-विज्ञान की शब्दावली में द्विपदी शब्दों के समानार्थी शब्द न देकर उन्हें लिप्यन्तरित कर दिया गया है और उनके लोक-प्रचलित हिन्दी नाम दे दिये गये हैं। उदाहरणार्थ : अँगरेजी के Onion का, पारिभाषिक शब्द है allium cepa और Garlic का allium sativum; इनके लिए प्रचलित हिन्दी-शब्द प्याज और लहसुन दे दिये गये हैं। किन्तु, अँगरेजी में अकारण ही सरल शब्द के बदले कठिन नहीं रखे गये हैं। जिस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए अँगरेजी में कठिन, किन्तु निश्चितार्थबोधक शब्द अपनाये गये हैं, उसीके लिए हिन्दी में भी वैसे ही शब्द गढ़े जाने चाहिए थे। इस शब्दावली के प्राक्कथन में यह तो बताया ही नहीं गया है कि भारतीय वनस्पतियों के ग्रीक-लैटिन नामों के साथ-ही-साथ उनके प्रचलित भारतीय नाम देनेवाले विदेशियों के ग्रन्थ पहले से मौजूद हैं, जिनकी सहायता शब्दावली के निर्माताओं को अवश्य सुलभ रही है। हिन्दी-शब्दावली के निर्माताओं को विदेशी वनस्पतियों के नाम गढ़ने पड़ते, इसलिए उन्हें यों ही छोड़ दिया गया है, लेकिन विदेशियों ने आम-लीची तक के लिए द्विपदी शब्द कैसे और क्यों गढ़ लिये थे ? उन्हें क्या प्रचलन और सरलता की चिन्ता न थी ?

विज्ञान-सम्बन्धी इन शब्दावलियों में वनस्पति-विज्ञान-शब्दावली, निर्दिष्ट कारण से, सर्वथा अपूर्ण है और उसे पूर्ण बनाने का प्रयास अपेक्षित है।

—न० वि० श०

## प्रेमचन्द-जयन्ती

प्रेमचन्द-जयन्ती आगामी ३१ जुलाई (सन् १९५८ ई०) को मनाई जायगी। प्रेमचन्द का महत्त्व, उनके न रह जाने के बाद, बढ़ता गया है, और, देर से ही सही, हम महसूस करने लगे हैं कि हमने उनकी स्मृति-रक्षा के निमित्त अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं किया है। यह प्रसन्नता का विषय है कि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रेमचन्दजी के अनुरूप स्मारक-योजना बनाई है। प्रारम्भ में, हमने क्लेश के साथ सुना था, सभा और प्रेमचन्दजी के उत्तराधिकारियों के बीच कुछ बातों को लेकर स्मारक-योजना के सम्बन्ध में मतभेद था हमें आशा है, अगर ऐसा कोई मतभेद था, तो उसका कारण दूर हो चुका होगा।

हिन्दीभाषियों, हिन्दी-संस्थाओं और राज्य-सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार का तो कर्त्तव्य ही है कि योजना के लिए आवश्यक धनराशि जयन्ती-तिथि के पूर्व ही सुलभ बना दें।

—न० वि० श०

# न्याय-शास्त्र : स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण दर्शन

पं० केदारनाथ ओझा; राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय, पटना

वैदिक दर्शनों के विषय में एक मत का प्रचार हो गया है कि दर्शनों की तीन भूमियां हैं : प्रथम भूमि में न्याय, वैशेषिक और पूर्व-मीमांसा हैं, जो आत्मा को शरीर-इन्द्रियादि से भिन्न नित्य-चेतन बताती हैं, जिससे बाह्य विषयों से वैराग्य तथा अन्तर्दृष्टि का प्रसार होता है। आत्मा को कर्त्ता तथा भोक्ता बताने से जीव जन्मान्तरीय भोगोपजीवी सिद्ध होता है, उससे वैदिक कर्मकाण्डों का निर्वाह होता है। किन्तु, आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को स्वाभाविक मानने से ये दर्शन मोक्ष से दूर रह जाते हैं, इसलिए दूसरी भूमिका में सांख्य-दर्शन आता है। यह भी, सन्निहित प्रकृति की नित्यता तथा पुरुष-बहुत्व से द्वैत-भावना को दृढ रखता हुआ, मोक्ष-स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाता, अतएव प्रधान दर्शन, शाङ्कर वेदान्त, तृतीय भूमिका में उदित होता है, जो श्रुतिवाक्यों से पूर्ण प्रतिपादित होता हुआ, आत्मा को सत्-चित्-आनन्द और स्व-प्रकाश सिद्ध करता है, प्रमाण-प्रतिपादन के लिए प्रसिद्ध न्याय-दर्शन की अपेक्षा अधिक गम्भीर प्रमाण मीमांसा में प्रविष्ट होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष का साक्षिप्रत्यक्ष, प्रमातृप्रत्यक्ष इत्यादि विश्लेषण यही करता है, और 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि के अनुसार शाब्द प्रत्यक्ष इसीकी देन है।

इसके विपरीत, दूसरा मत वह है, जिसका प्रतिपादन इस लेख में अभीष्ट है। इसके अनुसार उपर्युक्त रीति से दर्शनों का समन्वय या एकवाक्यता निष्फल है, तथा जो अन्य दर्शनों को गौण बनाकर दर्शन के प्रचार का विरोध करता है। एकदर्शनवाद से भारत की प्रतिष्ठा नहीं, बल्कि अप्रतिष्ठा है; अनेक दर्शनोपयोगी पदार्थ-विचारों से परिपूर्ण भारत का बहुदर्शन-वाद ही भारतीय प्रतिष्ठा का संरक्षक है। वस्तुतः, इस तरह का समन्वय सम्भव नहीं। शास्त्रों का उपक्रम-उपसंहार अत्यन्त भिन्न है—मध्य में पदार्थों की समानता तो दूर रहे, परस्पर मतों का खण्डन है; एक जगह जो तत्त्वज्ञान है, वह दूसरी जगह मिथ्याज्ञान है; इसलिए अङ्गाङ्गी भाव दुर्लभ है।

वेदान्त-दर्शन की प्रतिष्ठा का कारण है कि दसवीं शताब्दी के बाद न्याय की अपेक्षा प्रमेय का अधिक विश्लेषण हुआ; क्योंकि शिष्य-प्रशिष्यों तथा मठ-मन्दिरों द्वारा साम्प्रदायिक आग्रह रहा, राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों, तथा पण्डितों द्वारा उपदेश, लेख, प्रकाशन, और प्रसारण की विशेष सुविधा मिली। साम्प्रदायिकता में विचार-स्वातन्त्र्य को कम अवसर मिलना स्वाभाविक है, इसलिए ये सुविधाएँ दर्शनान्तरों को नहीं मिलीं। इसी कारण सांख्य-दर्शन आज भी लघुकाय ही है; वह भव्यदृष्टि, जो साहित्य या धर्मशास्त्र तक पहुँची, सांख्य में प्रस्तुत नहीं हुई। न्याय में जो काम पीछे हुआ, वह विशेषतः प्रमाण पर हुआ, और उसमें भी विशेषतः अनुमान पर; इसलिए वेदान्त के सामने न्याय अपूर्ण-सा भासित होने लगा।

किन्तु, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि सभी भारतीय दर्शन इसी भित्ति पर स्थित हैं, जिस पर बाह्य-आध्यात्मिक व्यवस्था के प्रासाद चमकते हैं तथा

पीछे भी चमकेंगे। इन दर्शनों की शाखा-प्रशाखाएं कितनी फैल सकती हैं, इसकी सीमा नहीं है। जो विषय ग्रन्थ में लिखे न गये हों, अथवा विवेचित न हुए हों, वे भी उसमें हैं, उनका प्रकाशन बुद्धि-श्रम-साध्य भले ही हो। भाव यह है कि जगत् के सभी पदार्थों की व्यवस्था, अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार, सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य है। सभी दर्शनों में सबकी व्यवस्था है, प्रायः यही दृष्टि वाञ्छनीय है। प्रायः प्रक्रिया-भेद से पदार्थों की व्यवस्था में लाघव-गौरव का ही पर्यवसान होता है, यह नहीं कि इसमें अमुक वस्तु नहीं है।

शाङ्कर वेदान्त स्व-प्रकाश का अच्छा विवेचन तथा साधन करता है। प्रायः सभी दार्शनिकों के स्व-प्रकाश की अपेक्षा इसका स्व-प्रकाश शुद्ध अद्वैत-तत्त्व है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन वेदान्ती के स्व-प्रकाश को जड कहता है, अत्यन्त शुद्धता को जडत्वारोप का कारण बताता है, और अपने शिव-तत्त्व को स्व-प्रकाश बताता है, जो वेदान्ती के ब्रह्म की अपेक्षा द्वैत का प्रतिपादन करता है। भामतीकार वाचस्पति अहं-प्रतीति के तत्त्वांश के अन्वेषण में 'पूती-कुष्माण्डीकृत' लिखते हैं, अर्थात् सड़ा हुआ कोंहड़ा जैसे विशीर्ण हो जाता है, वैसे ही अहं-प्रतीति के विश्लेषण में तथ्यांश नहीं मिलता। इसी अहं-विमर्श का प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में बहुत बड़ा स्थान है। किन्तु, अपनी-अपनी प्रक्रियाओं के अनुसार दोनों की मान्यता में स्वारस्य अवश्य है। प्रक्रिया-भेद, परिभाषा-भेद और मौलिक अनुभूति इस विरोधाभास के मूल हैं। यही दशा न्याय की भी है।

अतः आचार्यों द्वारा उपदिष्ट पदार्थों के व्याख्याताओं की प्रणाली से, उसके समन्वय के अनुसार, अविचारित पदार्थों का विवेचन करना चाहिए। तब न्याय-दर्शन में थोड़ी भी न्यूनता नहीं मालूम पड़ेगी, उसकी परिपूर्णता ही प्रदीप्त होगी।

न्याय-दर्शन की वैदिकता के विषय में ही प्रवाद देखिए : न्याय-शास्त्र शुष्क तर्क के अनुसार पदार्थ-व्यवस्था करता है, वेदान्त सर्वथा वैदिक वाक्यों का अनुसरण करता है; तर्क में जाता भी है, तो वैदिक तर्कों में ही; इत्यादि। मैं इस लघु निबन्ध में वेद-वाक्यों का तात्पर्य-विचार तो नहीं कर सकता; हां, यह प्रवाद कितना भ्रामक है, इसके लिए कुछ सामग्रियों की सूचना-मात्र दे सकूंगा।

आन्वीक्षिकी न्याय-शास्त्र का प्रसिद्ध नामान्तर है, न्याय-भाष्य के अनुसार इसका व्युत्पत्त्यर्थ यह है : श्रवण और प्रत्यक्ष के पीछे प्रवृत्त होनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी कही जाती है। प्रत्यक्ष अथवा श्रुति-स्मृति द्वारा प्रमित वस्तु का मननात्मक ईक्षण आन्वीक्षिकी विद्या का कार्य है। इससे स्फुट है कि तर्क प्रत्यक्ष तथा श्रुति-स्मृति से विरुद्ध नहीं किया जाता; यदि किया जाय, तो वह न्याय-शास्त्र का तर्क नहीं है। केवल ग्रन्थ की दुहाई ही नहीं, कोई भी अनुमान प्रत्यक्ष और आगम से विरुद्ध नहीं होता, बल्कि बाध-दोष से दूषित मान लिया जाता है। फिर, शुष्क तर्क की बात ही क्या! श्रवण-मनन और निदिध्यासन साक्षात्कार के उपाय माने गये हैं। श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य-निर्णय करना श्रवण कहा जाता है, जो वेदान्त-दर्शन का कार्य है। इसे शारीरक भाष्य मानता है। उसके बाद,

श्रुत अर्थ की दृढता के लिए अनुमान द्वारा सिद्धि को मनन कहते हैं, जो आन्वीक्षिकी करती है। इससे स्पष्ट है कि श्रवणोपयोगी शास्त्र में ही वेद-वाक्यों का समुद्धरण तथा व्याख्यान अपेक्षित है, न कि मनन में। कहीं-कहीं नैयायिक विद्वान् भी वेद-शास्त्रों का उल्लेख करते हैं—श्रवण की सूचना देने के लिए; किन्तु उनका वह प्रधान कार्य नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वेदान्त के बाद न्याय का उपयोग है, उसे वेदान्त की पूर्वभूमिका बताना संगत नहीं है। वेदान्त में जो उपनिषद् और गीता के भाष्य से स्फुट वैदिकता मालूम पड़ती है, वह शिष्य-प्रशिष्य-साम्प्रदायिकता का फल है। इस समय न्यायानुसारी उस तरह का भाष्य-निर्माण करना कठिन नहीं समझना चाहिए। अद्वैतनामधारी होने पर भी प्रायः द्वैतपरक वैष्णव साम्प्रदायिक भाष्यों के देखने से मालूम होगा कि न्यायानुसारी भाष्य प्रायः बना हुआ है। कुछ शब्दों के परिवर्त्तन तथा संकलन से ग्रन्थाकार-योजना-मात्र ही अवशिष्ट है। इतना कहना भी असत्य नहीं समझना चाहिए कि गौतम की शिष्य-परम्परा रहती, तो और भाष्यों की क्या बात, ब्रह्मसूत्र पर भी न्यायानुसारी भाष्य उपलब्ध होता।

कूटस्थ शब्द, जो अधिकतर वेदान्त में आता है, कहीं-कहीं नैयायिकों द्वारा भी प्रयुक्त होता है। विचारने पर मालूम होगा कि यदि आत्मस्वरूप कूटस्थ न्याय-सम्मत नहीं हो सकता, तो दूसरा कूटस्थ किसी समय भी नहीं होगा। आरम्भवाद के आगे न्याय में परिणाम का प्रवेश नहीं, इसलिए आत्मा अपरिणामी है, सर्वथा नित्य होने से उसमें परिवर्त्तन का अवसर नहीं; और आत्मा में क्रिया नहीं मानते, अतः विकार की सम्भावना कहाँ ? नित्य आत्मा में अनित्य गुण यद्यपि माने जाते हैं, फिर भी उससे विकार की सम्भावना नहीं; क्योंकि गुण-गुणी का भेदवाद होने से आत्मा के गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, गुणों के परिवर्त्तन में आत्मा का कोई स्पर्श ही नहीं। भेद भी न्याय में नित्य है, जो भिन्न हैं, वे कभी अभेद हो नहीं पाते।

वेदान्तियों ने नैयायिकों के आत्मा के विकारित्व का जो प्रवाद चलाया, वह कुछ अपना और कुछ न्याय का मिलाकर। उन्होंने जहाँ न्याय का अनित्य गुणवाद लिया, वहाँ अपना गुण-गुणी का अभेदवाद जोड़ दिया। गुण-गुणी के भेदवाद से किसी तरह का विकार नैयायिकों की आत्मा में आ नहीं सकता। इस तरह यह स्पष्ट है कि गुण-गुणी के भेदाभेदवाद में दर्शनों का विवाद है, न कि कूटस्थ विकारित्व का। इसलिए, न्याय-सिद्धान्त में आत्मा विकारी है, कूटस्थ नहीं, यह समझना पल्लवग्राहिता का फल है। किसीको गुण-गुणी का भेदवाद पसन्द नहीं आये, इसमें न्याय-दर्शन की न्यूनता नहीं सिद्ध होती, जैसे अभेदवाद को पसन्द करने से वेदान्त की न्यूनता नहीं प्रमाणित होती। अधिकांश लोक-व्यवहार न्यायानुसारी है। देखिए, श्वेत साड़ी रंगने के लिए रंगरेज को देते हैं, फिर रँगी हुई वही साड़ी लेते हैं, या दूसरी ? यदि वही लेते हैं, तो अपने को गुण-गुणी का भेदवादी मानें; यदि दूसरी लेना चाहते हैं, तो परिवर्त्तन-प्रयुक्त कलह तथा दण्ड का भाग भी अपनाइए। यदि यह कहा जाय कि नैयायिकों की आत्मा गुण-धर्मवाली होने से

धर्मी है, तथा धर्म के परिवर्त्तन से धर्मी का परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है, अतः परिवर्त्तनशील आत्मा कूटस्थ नहीं हो सकती, इत्यादि; तो, यह परिवर्त्तन का आरोप भी न्याय-सिद्धान्त को नहीं समझने के कारण है। धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद न्याय का सिद्धान्त है। लोक में भी घटवाला घट नहीं व्यवहृत होता, तब अपने से सर्वथा भिन्न धर्मों का परिवर्त्तन स्वयं धर्मी को कैसे परिवर्त्तित कर सकता है? दूसरे के परिवर्त्तन और विकार से दूसरा कैसे परिवर्त्तित और विकारी हो सकता है? वेदान्ती भी लोक-व्यवहार के अनुरोध से धर्म-धर्मियों में जैनों के स्याद्वाद के समान कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद का समावेश करते हैं, और कठिनाई आने पर अभेद को वास्तविक तथा भेद को मायिक कहकर विश्राम लेते हैं। अघटित-घटना-पटीयसी माया की दुहाई पर तो विचार का अवसर ही नहीं आता; किन्तु न्याय-दर्शन के अनुसार भेदाभेद का सर्वथा विरोध है, ऐसा कहीं भी समावेश नहीं, यही समझना चाहिए।

असङ्ग—सांख्य-दर्शन में पुरुष स्वयं असङ्ग है। परस्पर विवेकाग्रह से अन्तःकरण बुद्धि में आसक्त होता है। विवेकाग्रह का अर्थ साधारणतः भेद का अज्ञान, अर्थात् स्वाभाविक भेद को न समझना है। बुद्धि में आसक्त होना, अर्थात् बुद्धि का सङ्ग पुरुष में आना है, दोनों में परस्पर भेद नहीं मालूम होने से दोनों का धर्म दोनों में भासित होता है, तथा उसके अनुसार आगे के कार्य भी होते हैं। स्वतः असङ्ग पुरुष में बुद्धि का सङ्ग, अर्थात् रागादि, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व, धर्माधर्मादि सभी भासते हैं; इसलिए पुरुष असङ्ग कर्त्ता तथा सभी अनर्थ का पात्र बनता है। स्वतः पुरुष के ये धर्म नहीं हैं, इसलिए स्वाभाविक नहीं हैं; किन्तु बुद्धि के सङ्ग से आये हुए आगन्तुक हैं। पुरुष में भासते हुए इन धर्मों की आगन्तुकता या कृत्रिमता भी विलक्षण है; क्योंकि विवेकाग्रह के अनादि होने से ये सभी अनादि हैं, अन्य-प्रयुक्त हैं, स्वाभाविक नहीं।

वेदान्तियों के यहाँ भी प्रायः यही बात है। शुद्ध चैतन्य का अन्तःकरण में अध्यास होता है। सङ्ग, राग, धर्माधर्म, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि अन्तःकरण के ही धर्म हैं। सांख्य के अविवेकाग्रह के स्थान पर वेदान्ती की अविद्या है, जो उसका काम करती है। विवेकाग्रह स्वतन्त्र अनादि नहीं माना जाता, किन्तु एक व्यक्ति के बाद दूसरे व्यक्ति की उत्पत्ति होती है, इससे उसकी धारा चलती रहती है। इसी दृष्टि से विवेकाग्रह को अनादि कहते हैं। अविद्या भी अनादि है। यद्यपि अविद्या एक विलक्षण वस्तु मानी गई है, फिर भी विवेकाग्रह, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, इत्यादि शब्दों से व्यवहार भी उसके मार्ग पर ही समझना चाहिए। दोनों को एक समझना—अन्तःकरण के धर्मों को चैतन्य में समझना, चैतन्य के धर्मों को अन्तःकरण में समझना, इत्यादि को अध्यास कहते हैं। इस तरह जीवात्मा में सङ्गादि अन्तःकरण के अध्यास से प्रयुक्त है, स्वभावतः नहीं। सङ्ग की व्याख्या राग, वासना, पाप-पुण्य, इत्यादि कई तरह से होती है।

इसी प्रकार, नैयायिकों की नित्य अविकारी कूटस्थ आत्मा है। अब उसकी ससङ्गता या असङ्गता की परीक्षा करें। जीवात्मा के प्रायः सभी गुण अनित्य हैं। वे, अनित्य होने से,

किन्हीं कारणों से, उत्पन्न होते हैं और विनाशी हैं। तब, वे स्वाभाविक कैसे हो सकते हैं? वस्तुओं का स्वभाव वही कहा जाता है, जो परिवर्त्तित न हो। जो कभी-कभी हो, उसको आगन्तुक या कृत्रिम कहते हैं, स्वाभाविक नहीं। इसलिए, जीवात्मा के रागादि गुण, जो सङ्ग शब्द से व्यवहृत होते हैं, मुक्ति और सुषुप्ति में नहीं होते। अतः, वे आगन्तुक हैं, स्वाभाविक नहीं। तब नैयायिकों की आत्मा स्वतः असङ्ग है, यह समझना वास्तविक है। सङ्ग या रागादि गुणों का कारण शरीर-इन्द्रियादि का सम्बन्ध है, जो प्रवाह-रूप से अनादि है; मुक्ति की अवस्था में इसका सम्बन्ध छूट जाने से यह शुद्ध आत्मस्वरूप प्रतिभासित होता है।

इतना अन्तर अवश्य है कि वेदान्तियों के जीवात्मा में जो रागादि गुण भासते हैं, वे मिथ्याज्ञान-प्रयुक्त हैं, मिथ्या हैं। नैयायिकों के यहाँ जो रागादि गुण हैं, वे कारणों से पैदा होते हैं, मिथ्या नहीं हैं; फिर भी ये अन्तर स्वाभाविकता नहीं ला सकते। वेदान्तियों की मिथ्या भी लोकसिद्ध नहीं है। जो जन्म-जन्मान्तर तक रहते हैं, अनेक व्यावहारिक कार्य करते हैं, उन्हें भी मिथ्या कहा जाता है।

**कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व**—इसी तरह न्याय-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा का कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व भी स्वाभाविक नहीं है। कर्त्तृत्व कृति, अर्थात यत्न का नाम है, भोक्तृत्व सुख-दुःख या सुख-दुःख के साक्षात्कार का नाम है। ये नित्य जीवात्मा के अनित्य गुण हैं; प्रलय, सुषुप्ति और मुक्ति में नहीं होते; शरीर-इन्द्रियादि के विलक्षण सम्बन्ध से पैदा होते हैं; वैसा सम्बन्ध न रहने पर नहीं रहते। यद्यपि यह शरीरादि सम्बन्ध, जो कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का मूल है, परिवर्त्तनशील है, तथापि प्रवाह-रूप से अनादि है। ये कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व बहुत परिवर्त्तनशील हैं, इन्हें आशुविनाशी, क्षणभङ्गुर कहा गया है। इस तरह नित्य कूटस्थ जीवात्मा का क्षणभङ्गुर कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वभाव नहीं हो सकता, इसलिए नैयायिकों की आत्मा स्वभावतः अकर्त्ता, अभोक्ता है, यह सिद्धान्त है। यह केवल मेरा कथन नहीं है। कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वभाव मानना ही भ्रम है। जबतक आत्मा नित्य कही गई है, गुण अनित्य कहे गये हैं, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वभाव नहीं हो सकता। नित्य का नित्य ही स्वभाव है, अनित्य का अनित्य ही। तबतक पहले कूटस्थ-विचार में कहे गये गुण-गुणी के भेदवाद तथा धर्म-धर्मी के भेदवाद का अनुसन्धान कर लेना चाहिए, अन्यथा क्षणभङ्गुर कर्त्तृत्वादि गुण द्वारा आत्मविकृति भासने लगेगी। तात्पर्य यह हुआ कि अनित्य कर्त्तृत्वादि गुण गुणी आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, इसलिए आत्मा की कूटस्थता में बाधा नहीं पहुँचाते।

**आत्मा सच्चिदानन्द है : सत्**—वेदान्तियों के यहाँ कालत्रयाबाध्य का नाम सत् कहा गया है। नैयायिकों के सत् का लक्षण दूसरा है। उसका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा; क्योंकि वेदान्तियों के साथ तुलना में जहाँ तक उनकी परिभाषा का उपयोग हो सके, अच्छा है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालों में जिसका अभाव मालूम न पड़े, वह कालत्रयाबाध्य सत् है। इसके अनुसार नैयायिकों की आत्मा सत् है। आत्मा नित्य है, इसलिए उसका अभाव हो ही नहीं सकता। कथञ्चित् किसी तरह का अभाव कोई मान भी ले, तो

उसे अवगत कौन करेगा ? सभी अभावों को आत्मा अवगत करती है। आत्मा के अभाव को कौन अवगत करेगा ? जबतक आत्मा है, तबतक उसका अभाव नहीं; जब आत्मा नहीं, तब अभाव का अवगत करनेवाला नहीं। इसलिए, आत्मा के अभाव को अवगत नहीं किया जा सकता। जो अवगत नहीं हो सकता, वह है, ऐसा नहीं कह सकते। अतः, आत्मा का अभाव नहीं है, अथवा वह अवगत नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा सत् है। यद्यपि 'वह नहीं है', 'चैत्र नहीं है', 'मैत्र नहीं है', इत्यादि प्रतीति से दूसरे का अभाव दूसरे को अवगत होता है, तथापि एक दूसरे की आत्मा नहीं है, स्वयं ही अपनी आत्मा है, अपने ही अपना अभाव नहीं समझ सकता। 'मैं नहीं हूँ', ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती, इसलिए आत्मरूप से आत्मा का अभाव नहीं सिद्ध होता, अतः आत्मा सत् है।

चित्—चैतन्य, चेतन, स्व-प्रकाश इत्यादि चित्की व्याख्या है। सांख्य, वेदान्त-दर्शन में चैतन्य और चेतन एक ही चीज हैं। उनके यहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उसीको चेतन अथवा चैतन्य कहा जा सकता है। सांख्य में बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और चैतन्य भिन्न वस्तुएँ है। उसका स्फुटीकरण यहाँ नहीं किया जाता। नैयायिकों के यहाँ ये चारों शब्द पर्याय हैं। चैतन्य ज्ञान को कहते हैं। चेतन-ज्ञानवाली आत्मा ही है, और सब जड हैं। इस प्रसङ्ग में वेदान्ती न्याय की आत्मा को जड कह देते हैं, और साथ ही साथ यह उपपादन करते हैं कि प्रलय, सुषुप्ति और मुक्ति में ज्ञान नहीं रहता। इस जडत्व-प्रवाद की थोड़ी परीक्षा करें। यह प्रवाद ज्ञान को चेतन मानकर है या ज्ञानवान् को ? तब तो नैयायिकों की आत्मा कभी ज्ञानस्वरूप नहीं है, अतः सर्वदा जडस्वरूप हुई; प्रलय, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ बताने की क्या जरूरत ? ज्ञानस्वरूप चेतन मानने पर अवस्थाओं की कोई आवश्यकता नहीं। यदि ज्ञानवान् को चेतन मानें, तो अवस्थाओं का उदाहरण सार्थक होगा; क्योंकि और समय ज्ञानवान् आत्मा चेतन हो सकती है; किन्तु प्रलयादि अवस्थाओं में, ज्ञान न रहने से, आत्मा ज्ञानवान् नहीं है, इसलिए जड है। यदि कहिए कि ठीक है, ज्ञानवान् को ही चेतन मानकर जड बताया गया,तब तो वेदान्तियों की ज्ञानस्वरूप आत्मा कभी ज्ञानवान् नहीं, सर्वदा जड है। इसलिए, परकीय खण्डन में किसीके सिद्धान्त को नहीं मान बैठना चाहिए।

नैयायिक की आत्मा सदा चेतन है, किसी भी अवस्था में जड नहीं, अतएव नैयायिक ग्रन्थों में आत्मा को जड नहीं लिखा गया है। यदि आत्मा जड होती, तो नैयायिक लिखते क्यों नहीं; इसलिए जड-अजड में दर्शनों का विरोध नहीं है, बल्कि उसकी परिभाषा के विषय में है। वेदान्ती ज्ञान को चेतन कहते है, ज्ञानरूप ही आत्मा मानते हैं, इसलिए अपनी आत्मा को चेतन कहते हैं। उनके यहाँ ज्ञानभिन्न सभी जड है। नैयायिक ज्ञान को चेतन नहीं कहते, किन्तु चैतन्य कहते हैं। ज्ञानवाले को, ज्ञान जिसमें पैदा हो सकता हो, हुआ हो, उसे चेतन कहते है। उदयनाचार्य की लक्षणवाली पुस्तक के अनुसार ज्ञान का अत्यन्ताभाव जिसमें न हो, उसे चेतन कहते हैं। जिसमें ज्ञान हो, या पैदा होनेवाला हो, अथवा कभी पैदा हुआ हो, उसमें अत्यन्ताभाव नहीं रहता, ऐसा उनका

सिद्धान्त है। ध्वंसप्रागभाव के अधिकरण में अत्यन्ताभाव नहीं रहता जैसा उनका सिद्धान्त कहा जाता है, जिसकी सूचना मुक्तावली के अभाव-प्रकरण में आई है। प्रलय और सुषुप्ति में कुछ ज्ञान पहले उत्पन्न हो गये हैं, कुछ होनेवाले हैं। मुक्ति में ज्ञान पीछे नहीं पैदा होनेवाले हैं, पहले पैदा हो चुके हैं। इसलिए, किसी भी अवस्था में आत्मा ज्ञानात्यन्ताभाववाली नहीं है, इसलिए सर्वदा चेतन है। नैयायिक की ज्ञान-भिन्न ज्ञानाश्रय आत्मा वेदान्त की परिभाषा से जड है और वेदान्त की ज्ञानरहित ज्ञानस्वरूप आत्मा न्याय की परिभाषा से जड है!

स्व-प्रकाश—ज्ञान स्वयं प्रकाश है। ज्ञानस्वरूप आत्मा भी स्वयं प्रकाश है। वेदान्त का स्व-प्रकाश-निरूपण बहुत सूक्ष्म है। उसमें नव्य न्याय की भाषा की विशेष आवश्यकता पड़ जाती है। उसका उल्लेख यहां बहुत कठिन होगा। अतः साधारण रीति से कुछ परिचय कराने का प्रयास करता हूँ।

जो दूसरी वस्तु का प्रकाश हो, तथा उसका कोई प्रकाश न हो, वह स्व-प्रकाश कहा जाता है। जैसे प्रदीप दूसरों का प्रकाश है, तथा उसके लिए प्रकाशान्तर की जरूरत नहीं; वैसे ही ज्ञान वस्तु का प्रकाश है, ज्ञान का दूसरा कोई प्रकाशक नहीं। प्रदीप-दृष्टान्त से ज्ञान के स्व-प्रकाश में कुछ अन्तर भी समझना चाहिए। प्रदीप प्रकाशक कहा जाता है। उसमें प्रकाश और प्रकाशक दो चीजें मालूम पड़ती हैं। ज्ञान में ऐसा नहीं है। वह प्रकाश ही है, प्रकाशक नहीं। दूसरे, यह भी है कि प्रदीप का प्रकाश—व्यवहार से, प्रभा-किरण आदि दूसरे से जन्य, अधीन, आश्रित प्रकाश मालूम पड़ता है। ज्ञान वैसा नहीं है। वह किसी प्रकाशक से जन्य, अधीन या आश्रित नहीं, वह स्वयं नित्य स्वतन्त्र है। तीसरे, यह भी कि यद्यपि प्रदीप के लिए दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं है, फिर भी नेत्र-प्रकाश के बिना वह व्यर्थ है। नेत्र भी मन के बिना व्यर्थ है, अर्थात् प्रदीप-प्रकाश भी नेत्रप्रकाश, मनःप्रकाश की अपेक्षा रखता है, किन्तु ज्ञान किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं करता, वह ऐसा स्व-प्रकाश है। ज्ञान का कोई दूसरा प्रकाशक भी नहीं है। इसके लिए शास्त्र में प्रसिद्ध है—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारका नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥'

आत्मप्रकाश-स्थल पर आत्मप्रकाश के बिना लोक-प्रसिद्ध बड़े प्रकाशक, सूर्य-चन्द्र, तारा और विद्युत्, प्रकाश नहीं कर पाते, तो यह अग्नि कैसे प्रकाश कर सकता है? प्रकाशमान उस प्रकाश के पीछे ये सब प्रकाश करते हैं, उसी आत्म-प्रकाश से सभी चीजें प्रकाशित होती हैं, यही इसका साधारण आशय है। यह केवल शास्त्रीय ही नहीं, वैज्ञानिक तथ्य भी है। यह ठीक है कि सूर्य, चन्द्र आदि बड़े-बड़े तेज प्रकाशक हैं, लेकिन नेत्र के बिना ये सभी व्यर्थ हैं; इसलिए नेत्र के काम ये नहीं कर पाते; क्योंकि नेत्र अन्धकार में भी कुछ देख ही लेता है। इस तरह यदि सूर्यादि की अपेक्षा नेत्र-प्रकाश को बड़ा मानें, तो बाह्य प्रकाश की अपेक्षा अध्यात्म-प्रकाश की मुख्यता आ गई। इसके बाद भी सूक्ष्म विचार करें, तो और भी आगे बढ़ सकते हैं। मस्तिष्क के अन्य चिन्तन में आसक्त

या अलस होने पर, सामने पड़ी हुई भी चीज दीख नहीं पड़ती। इससे सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क के विना आँखें काम नहीं करतीं, पर आँखों के विना भी मस्तिष्क कुछ प्रकाश कर ही लेता है। इसलिए, आँखों तथा और इन्द्रियों से मस्तिष्क बड़ा प्रकाश हुआ। फिर भी, मस्तिष्क का परिवर्त्तन, विकार और आलस्य आदि हमें अपना मालूम होता है। परिवर्त्तनशील प्रकाश परिवर्त्तनों का अनुसन्धान नहीं कर सकता। स्वयं विकारी विकार को नहीं समझ सकता। विकृत, अविकृत दोनों अवस्थाओं को जो देखनेवाला एक होगा, वही विकार को समझ सकेगा। अतः, नित्य कूटस्थ एक प्रकाश मानना पड़ेगा। उसे चेतन-प्रकाश या आत्म-प्रकाश कहते हैं।

इस तरह का चेतन उपनिषदों में आया है, उसका स्व-प्रकाश में तात्पर्य है। न्याय-दर्शन में ऐसा स्व-प्रकाश न मानने से न्यूनता है। कहीं-कहीं न्याय-ग्रन्थों में ज्ञान के लिए लिखा भी रहता है कि वह स्व-प्रकाश में प्रमाण नहीं है।

निष्कर्ष यह कि न्याय-दर्शन भी वैदिक है, श्रुति-समन्वय भी उसका कर्त्तव्य है। न्याय-ग्रन्थों में कहीं-कहीं उपनिषदों का समन्वय भी मिलता है। कुछ न भी मिलता हो, तो सिद्धान्तानुसार समन्वय कर लेना चाहिए। न्याय-ग्रन्थों में स्व-प्रकाश का जो निषेध आया है, वह दूसरे विचार से। नैयायिक निर्विषयक ज्ञान नहीं मानते, अर्थात् उनके अनुसार ज्ञान होने पर, किसका ज्ञान है, यह विषय भी मालूम होना चाहिए। ज्ञान है, और किसी विषय का ज्ञान नहीं है, ऐसा निर्विषयक ज्ञान वे नहीं मानते। पूर्वोक्त रीति से मस्तिष्क के बाद परिवर्त्तन या विकारों का अनुसन्धान करने के लिए नित्य स्थिर कूटस्थ की आवश्यकता बताई गई है। न्याय की नित्य कूटस्थ आत्मा ही परिवर्त्तन और विकारों का अनुसन्धाता है, वही चेतन-प्रकाश सर्वोपरि प्रकाश है।

जो दूसरा अनुभव, स्व-प्रकाश में, वेदान्ती बताते हैं, उसके अनुसार भी न्याय की आत्मा स्व-प्रकाश चेतन सिद्ध हो जाती है, जैसे जड और चेतन दो तरह की वस्तुएँ हैं; जड पर-प्रकाश्य है, प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने पर ही वह मालूम पड़ेगा, प्रकाश के साथ सम्बन्ध न होने पर विद्यमान भी जड मालूम नहीं होगा, प्रकाशित नहीं हो सकेगा। अप्रकाशित या आवृत रहने पर यह नहीं है, ऐसा भ्रम हो सकेगा; अथवा है या नहीं, ऐसे संशय का पात्र भी हो सकेगा। जो स्व-प्रकाश है, उसको तो किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं है; इसलिए, स्व-प्रकाश वस्तु सर्वदा एकरस प्रकाशमान रहेगी; अतः, उसको भ्रम और संशय नहीं छू सकेंगे। छिपी हुई चीज में 'यह नहीं है' ऐसा भ्रम या 'है या नहीं' ऐसा संशय हो सकता है। जो प्रकाशमान है, उसमें 'नहीं है' ऐसा भ्रम अथवा 'है या नहीं' ऐसा संशय कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि जिसका भ्रम-संशय कभी नहीं होता, वह स्व-प्रकाश है, ऐसी चीज आत्मा है। 'मैं नहीं हूँ' यह भ्रम और 'मैं हूँ कि नहीं' ऐसा संशय किसीको किसी समय नहीं होता, इसलिए आत्मा स्व-प्रकाश चित् है। ऐसा वेदान्तियों का प्रतिपादन है।

इस पर नैयायिकों का कहना है—'ठीक है, जैसे आत्मा के विषय में वेदान्तियों को

भ्रम-संशय नहीं होता, उसी तरह नैयायिकों को भी नहीं होता; इसलिए जैसे वेदान्तियों की आत्मा स्व-प्रकाश है, वैसे ही नैयायिकों की भी। ऐसा तो नहीं देखा जाता कि जो वेदान्त पढ़े, उसको 'मैं नहीं हूँ' या 'मैं हूँ कि नहीं' ऐसा ज्ञान न हो, और जो न्याय पढ़े, उसे हो। यह तो साधारण बात है कि किसीको भी वैसा भ्रम-संशय नहीं होता। सबकी आत्मा इस रीति से स्व-प्रकाश है, इसलिए ऐसे स्व-प्रकाश में दर्शनों का विवाद नहीं। ऐसा नैस्व-प्रकाश यायिक को भी इष्ट है।

विवाद का विषय यह है कि वेदान्ती स्व-प्रकाश का लक्षण अवेद्यत्व-घटित अवेद्य-अज्ञेय विशेषण से युक्त बताते हैं, अर्थात् स्व-प्रकाश वस्तु किसी भी ज्ञान का विषय नहीं है, नैयायिकों की आत्मा ज्ञान का विषय है। यह विवाद भी बहुत सूक्ष्म है। वेदान्ती भी स्व-प्रकाश को अन्तःकरण की वृत्ति का विषय मानते हैं, न्याय में वृत्ति और ज्ञान दो चीजें हैं ही नहीं। इस तरह, स्व-प्रकाश की परिभाषा में अन्तर अवश्य है, किन्तु स्व-प्रकाश का साधन-प्रकार और आत्मा स्व-प्रकाश है, इसमें विवाद नहीं।

इससे एक बात और समझनी चाहिए कि पूर्वोक्त स्व-प्रकाश का सिद्धि-प्रकार आत्मा को स्व-प्रकाश सिद्ध करता है, किन्तु आत्मा ज्ञान-स्वरूप है या ज्ञानाश्रय है; इसीसे वह उदासीन रहता है। चाहे आत्मा का जो स्वरूप हो, किन्तु वह स्व-प्रकाश है, इतना ही सिद्ध करता है।

न्याय-ग्रन्थों में स्व-प्रकाश-व्यवहार का उल्लेख ढूँढें, तो प्रायः नहीं मिलेगा। किन्तु, 'अविदिते प्रमाणाभावः', प्रत्यक्ष नहीं, मालूम नहीं, और है, इसमें प्रमाण नहीं, ऐसा उल्लेख मिलेगा। वह भी दुःख-सुख ज्ञान और आत्मा के विषय में सम्बद्ध होता है। भाव यह है कि ये विषय यदि रहेंगे, तो इनका प्रत्यक्ष होगा ही, इसलिए ये मालूम न पड़ें और रहें, ऐसा नहीं होता। कारण कि आत्मा और सुख-दुःखादि योग्य गुणों के प्रत्यक्ष के लिए बहिरिन्द्रिय या बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल सदा सन्निहित मन से ही प्रत्यक्ष हो सकता है। आत्मा तो हमेशा रहनेवाली है, किन्तु सुख-दुःखादि जैसे आत्मा में उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उनका प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस प्रतिपादन में आत्मा के विषय में कुछ अन्तर पड़ेगा। आत्मा सर्वदा स्थिर है, किन्तु उसका निरन्तर प्रत्यक्ष नहीं होता। उसका स्वभाव है कि ज्ञान-इच्छादि विशेष गुणों के होने पर ही उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब तो ज्ञान आदि विशेष गुणों के न रहने पर आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होगा, फिर तो प्रत्यक्ष का व्यभिचार हो गया! तब आत्मा स्व-प्रकाश कैसे हो सकती है?

इसका उत्तर कुछ विशेष ध्यान देने पर मालूम पड़ेगा। वेदान्तियों का अनुभव है कि जिस विषय का 'है नहीं' ऐसा भ्रम नहीं तथा 'है या नहीं' ऐसा संशय नहीं, वह स्व-प्रकाश है। यह भ्रम-संशय भी आत्मा का विशेष गुण है, आत्मा में ही होगा; जब यह होगा, तब इसके सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी हो जायगा। जब आत्मा का प्रत्यक्ष होगा, तब 'मैं नहीं हूँ', 'मैं हूँ या नहीं' इत्यादि भ्रम-संशय नहीं रहेगा। निष्कर्ष यह

हुआ कि पूर्वोक्त भ्रम-संशय आत्म-प्रत्यक्ष की सामग्री है। आत्म-प्रत्यक्ष की सामग्री पूर्वोक्त भ्रम-संशय का विरोधी है, इसलिए पूर्वोक्त भ्रम-संशय आत्मा में कदापि नहीं हो सकता। अतः, वेदान्ती की आत्मा में जिस तरह स्व-प्रकाशत्व-सिद्धि है, उसी तरह नैयायिक भी आत्मा के विषय में निर्बाध है।

आनन्द—वेदान्तियों के यहाँ दो तरह के आनन्द माने जाते हैं—एक, लोक-व्यवहारसिद्ध, जो 'मैं सुखी' इत्यादि में आता है। वह उत्पाद-विनाशी है और प्रायः विषय-सम्पर्क से होता है, और अन्तःकरण का धर्म है। दूसरा आत्म-रूप आनन्द है, जो अविद्यावश संसारावस्था में तिरोहित रहता है, और अविद्या का नाश होने पर मोक्षावस्था में प्रकट होता है। इस आत्मानन्द की सिद्धि पञ्चदशी में इस प्रकार की गई है—

'इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते॥'

यह चिद् आत्मा परमानन्द है; क्योंकि परम प्रेम का पात्र है। जो सर्वातिशय प्रीति का पात्र होगा, वह परमानन्द है; जो परमानन्द नहीं है, वह परम प्रीति का पात्र भी नहीं है; जैसे, सांसारिक सुख-साधन। यह परम प्रेम का विषय नहीं है; क्योंकि यह कभी दुःखद भी होता है। जिसमें कभी द्वेष न हो, राग ही हो, वह परमप्रिय कहा जाता है। लौकिक साधन परमप्रिय नहीं हैं; क्योंकि उनमें द्वेष भी होता है। जो दुःख से मिश्रित नहीं है, उसी सुख में कभी द्वेष नहीं होता, सर्वदा राग ही रहता है; इसलिए सुख ही परमप्रिय है। सुख की तरह आत्मा में भी कभी 'मैं न होऊँ' ऐसा द्वेष नहीं होता तथा 'होऊँ ही' ऐसा राग सर्वदा होता है, इसलिए आत्मा परमप्रिय होने से परमानन्द है, किसीको 'मैं नहीं होऊँ' ऐसा अपने में द्वेष नहीं होता। 'मैं दुःखी न होऊँ' इत्यादि द्वेष केवल आत्मविषयक नहीं है, किन्तु दुःखविषयक है। जो कोई अपने जीवन से द्वेष करता है, उसका द्वेष भी केवल आत्मविषयक नहीं है, अपितु दुःखित जीवनविषयक है। अपने जीवन से द्वेष है, अपनेपन से नहीं। इसी तरह, 'मैं होऊँ' यह राग आत्मविषयक है, इसलिए परमानन्द है। एक आनन्द ही ऐसा है, जिसमें द्वेष नहीं होता, केवल राग ही होता है। सुख-साधन भी ऐसा नहीं है। साधन में कष्ट का अनुभव होने से द्वेष हो जाता है। सुख-साधन में द्वेष न होता, तो सभी लोग सुख-साधनों का ही अनुष्ठान करते, कोई छोड़ता नहीं। किन्तु, साधन में कष्ट हो जाने से द्वेष हो जाता है, इसलिए वे भी सभी सुख-साधन नहीं कर पाते। जिसकी सुख-लालसा प्रबल है, जो परिणाम-सुख को अधिक महत्त्व देता है, कष्टों को गौण समझता है, वही सुख-साधन में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए, सुख ही एक चीज है, जिसमें द्वेष नहीं होता, राग ही होता है। इसी तरह, आत्मा में द्वेष नहीं होता, राग ही होता है। इसलिए, आत्मा सुख है। व्यावहारिक सुख और आत्म-सुख में इतना साम्य है कि दोनों द्वेष के विषय नहीं, राग के विषय हैं। अन्तर यह है कि व्यावहारिक सुख अनित्य और किसी साधन से पैदा होनेवाला है, आत्मसुख आत्मा की

तरह नित्य और किसी से न पैदा होनेवाला है, न उसका कोई साधन है। मोक्ष के साधन उसके प्राकट्य के साधन हैं; पैदा करनेवाले नहीं हैं।

यदि यह कहा जाय कि पूर्वोक्त रीति से आत्मा सुख-रूप भले हो, परमसुख या परमानन्द क्यों माना जाय, तो इस पर मनन करने के लिए तत्त्वदीप पञ्चदशी की दूसरी कारिका है—

'तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः॥'

वह प्रेम अपने लिए होने से दूसरी चीजों में होता है, दूसरे के लिए अपने में नहीं होता। इसलिए, यह आत्मसुख परम है, और आत्मा की परमानन्दता है, यह इसका शब्दार्थ हुआ। इसकी घोषणा है कि जहाँ कहीं प्रेम होता है, वह अपने लिए होता है, अर्थात् ममतावश अथवा आत्मसम्बन्ध से होता है। इसकी परीक्षा कीजिए : कोई पदार्थ आपका प्रिय है। वह किसके लिए है ? आपके लिए ? या उस पदार्थ के लिए, अथवा दूसरे के लिए ? जैसे, धन पर आपका प्रेम है, वह आपके लिए है, या धन के लिए, या दूसरे के लिए ? सोचने से मालूम पड़ेगा कि धन पर आपका जो प्रेम है, वह आपके लिए, अर्थात् आपका है, इसलिए प्रेम है। धन के लिए धन में प्रेम का अभिप्राय होगा कि धन धन है, इसीलिए प्रीति-पात्र है। किन्तु, ऐसा होता नहीं; क्योंकि धन किसीका हो, कहीं हो, वह धन ही है। दूसरे के पास या दूसरी जगह रहने पर धन न कहा जाय, ऐसी बात नहीं है। तब उसको अपनाने की आवश्यकता क्या ? अथवा चोर के पास जाने पर भी धन ही कहा जायगा। तब उसके संरक्षण की क्या आवश्यकता ? अपनाने की या संरक्षण की इच्छा है, तो स्पष्ट है कि धन में प्रेम धनत्व से नहीं, अपितु धन में विद्यमान या भावी जो अपनापन है, उससे प्रेम है। इसी प्रेम को आत्मा के लिए प्रेम कहते हैं। दूसरा यदि पुत्र है, उसका धन है और उसमें प्रेम है, तो पुत्र-धन के कारण प्रेम नहीं है। संसार के सभी धन किसी के पुत्र के धन हैं। सभी में समान प्रेम होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। किन्तु, अपने पुत्र के धन में प्रम है, तो वहाँ भी अपनापन है। कहिए कि धन में प्रेम और किसी के लिए नहीं है, वरन् अपने सुख के लिए है, तो भी अपनापन आ ही गया; क्योंकि केवल सुख के लिए प्रम नहीं, बल्कि अपने सुख के लिए है। इस तरह पुत्र में प्रेम नहीं, किन्तु अपने पुत्र में है। देव में भी, अपने देव में; धर्म में भी, अपने धर्म में प्रेम होता है। इसलिए, सिद्ध है कि कहीं भी प्रेम ममता = आत्मसम्बन्ध-प्रयुक्त है। जिसमें द्वेष नहीं, प्रेम ही हो, वह प्रिय है, जो प्रिय है, वह आनन्द है, जैसे सुख। आत्मा ऐसी चीज है कि अपने सम्बन्ध से दूसरे को प्रिय कर देती है, अतः आत्मा परमप्रिय हुई। परमप्रिय होने से परमानन्ददायिनी हुई। जिस इत्र के कतिपय बिन्दुओं से एक बोतल तेल सुगन्धित हो गया, उस तेल की सुगन्ध की अपेक्षा उस इत्र की सुगन्ध उच्च होगी। उसी तरह, जिस आत्मा के सम्बन्ध से अन्य वस्तुएँ आनन्द बन जाती हैं, उन वस्तुओं के आनन्द की अपेक्षा आत्मरूप सुख या आनन्द उत्कृष्ट है। इसलिए, आत्मा महासुख या परमानन्द है।

इस निबन्ध के लिए अपेक्षित न होने पर भी यह समझ लेना अप्रासङ्गिक न होगा कि अतिशय प्रीति भक्ति है। परम प्रीति आत्मा में ही हो सकती है, तो आत्मरूप से ईश्वर या अन्य देव की उपासना ही उच्च भक्ति हो सकती है। आत्मा जितनी प्रिय है, उतना आत्मीय प्रिय नहीं हो सकता। तब जो प्रवाद है कि अद्वैत दर्शन में भक्ति नहीं है, वह ठीक नहीं, बल्कि सबसे उच्च भक्ति अद्वैत में ही हो सकती है।

इस तरह, आत्मा की वैदिक तथा वैज्ञानिक आनन्दरूपता न होने के कारण न्याय-दर्शन की न्यूनता है, ऐसा वेदान्तियों का कहना है।

इस पर नैयायिकों का उत्तर है कि जो वैदिक या वैज्ञानिक है, उसको मानना नैयायिकों को भी सम्मत है। सुख या आनन्द शब्द दो तरह का है—एक है जातिवाचक संज्ञा, जो लोकसिद्ध सुख को बताती है। वही न्याय-शास्त्र में आत्मगुण है और वेदान्तियों के यहाँ अन्तःकरण का धर्म है। लोक में स्वारसिक प्रयोग उसीका है। कोई भी अपने को सुख नहीं समझता है, न बताता है। 'मैं सुख हूँ' ऐसा व्यवहार नहीं होता, किन्तु 'मैं सुखी हूँ' यही व्यवहार होता है। इसी प्रसिद्ध सुख का न्याय-दर्शन में उल्लेख है। यह सुख-रूप आत्मा उसको मान्य नहीं है; क्योंकि लोकविरुद्ध तो है ही, असुखं इत्यादि श्रुति-विरुद्ध भी है। सुख शब्द का स्वाभाविक अर्थ आत्मसुख नहीं है, लोक में उसका व्यवहार नहीं होता और लोक-व्यवहार के अनुसार ही शब्दार्थ निश्चित किया जाता है।

पूर्व रीति से बताई गई आत्मा में द्वेष नहीं होता, राग ही होता है। आत्मा में स्वाभाविक प्रेम होता है, और जगह आत्मसम्बन्ध से प्रेम होता है, इत्यादि मान्य है। इसीका नाम यदि सुख, आनन्द और परमानन्द है, तो उसे मानने में कोई बाधा नहीं, अर्थात् पारिभाषिक आनन्दादि शब्दों का प्रयोग आत्मा में मान लेते हैं। पारिभाषिक सुख, आनन्द शब्द दुःखाभाव तथा आत्मा में भी प्रयुक्त होते है। जैसे आत्मा में द्वेष का अभाव और राग का भाव है, वैसा ही दुःखाभाव में भी है। आत्मसुख जैसे स्वतःप्रिय है, वैसे ही दुःखाभाव भी स्वतःप्रिय है। शास्त्रों में आत्मा की जो परमप्रियता उपवर्णित है, वह मान्य है। आत्मा का आनन्द, सबसे व्यवहार करने में, परमप्रियता के कारण ही मालूम पड़ता है। उसी परमप्रियता के कारण आत्मा को भी आनन्द कहा जाय, तो इसमें कोई बाधा नहीं। जिसमें दूसरे के लिए प्रेम न हो, अपितु स्वभाव से ही हो, वह परमप्रिय है। जैसे, सुख-साधन में प्रेम होता है सुख के लिए, सुख में प्रेम किसीके लिए स्वाभाविक नहीं; अतः सुख स्वतःप्रिय या परमप्रिय है, वैसे ही आत्मा का दुःखाभाव भी परमप्रिय समझना चाहिए।

**साक्षिप्रमातृ-विचार**—वेदान्ती के मन में शुद्ध चैतन्य आत्मा है। उसमें सुखी, दुःखी इत्यादि विशेष व्यवस्था स्वतः सम्भव नहीं होती। इसलिए, आत्मा में अन्तःकरण विशेषण लगा है, अर्थात् उसे अन्तःकरणविशिष्ट शुद्ध चैतन्य प्रमाता माना जाता है। वही व्यवहारोपयोगी आत्मा है। वह विशेषण-विशेष्य की व्यावृत्ति तो करती है, किन्तु विशेष्य के कार्य पर भी अपना प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ, अनेक प्रकार के

अभिनय में कुशल अभिनेता क्रम से नायक, उपनायक, विदूषक का अभिनय करता है, लेकिन एक समय एक ही अभिनय करेगा, दूसरा नहीं; क्योंकि नायकादि का अभिनय उसमें विशेषण है। दो विरुद्ध विशेषण एक समय में नहीं हो सकते; इसलिए नायक की अवस्था में उपनायक नहीं हो सकेगा। जब विदूषक आदि का अभिनय विशेषण न होकर केवल परिचय तथा प्रतिष्ठा के लिए उपाधि होता है, तब उस कला-कुशल अभिनेता को एक ही समय कोई विदूषकजी, कोई नायकजी, ऐसा कहता है। जिस समय विदूषक का अभिनय हो रहा है, उसी समय वह अभिनय विशेषण है, दूसरे समय नहीं, अर्थात् वह अभिनेता के दूसरे कार्य का विरोध करता है, उपाधि-रूप से तो जीवन-भर उपयुक्त होता है। आज तो विदूषकजी नायक का अभिनय कर रहे हैं, आज विदूषकजी भाषण देंगे, इत्यादि व्यवहार में उपाधि का व्यवहार है। यह भी नहीं समझना चाहिए कि उपाधि का प्रयोग व्यर्थ है, कुछ करता नहीं; क्योंकि इसने कभी विदूषक का अभिनय किया है, यह इसका परिचायक है। इससे यह समझना चाहिए कि विशेषण-अवस्था उपाधि-अवस्था की अपेक्षा परिवर्त्तनशील है, उपाधि-अवस्था चिरस्थायी है।

निष्कर्ष यह कि सुख और दुःखादि-रूप से अन्तःकरण विशेषण परिवर्त्तनशील है। उस विशेषण से प्रभावित प्रमाता जीव भी परिवर्त्तनशील स्थायी नहीं है। मनुष्य को स्थायी आत्मा की आवश्यकता है; क्योंकि अतीत अनेक सुखी और दुःखी आदि अवस्थाओं का अनुसन्धान होता है, इसलिए उसी परिवर्त्तनशील अन्तःकरण को उपाधि भी बनाया गया। अन्तःकरण के विशेषण से प्रमाता कहा जाता है, उपाधि से साक्षी। इस तरह, मतभेद से अनेक प्रकार साक्षिप्रमातृ की परिभाषा वेदान्त में आती है। जैसे, न्यायालय में लोभादि से बदलनेवाला वादी प्रतिवादी बनता है तथा घूस वगैरह से नहीं बदलनेवाला तथा वादी-प्रतिवादी के कार्यों को देखनेवाला साक्षी कहा जाता है. उसी तरह प्रमाता के अनुसार नहीं बदलनेवाला तथा तटस्थ होकर प्रमाता की अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करनेवाला स्थायी साक्षी माना जाता है। इस तरह. आत्मा का विश्लेषण न्याय-दर्शन में न होने से न्यूनता आती है।

किन्तु, सोचने पर मालूम होगा कि यह न्यूनता का प्रवाद दर्शन-स्वरूप का परिशीलन नहीं करने से है। वेदान्त में निर्विशेष शुद्ध चैतन्य आत्मा है। उसमें कोई चीज पैदा नहीं हो सकती, किसी तरह की उसमें विशेषता लाई नहीं जा सकती; किन्तु परिवर्त्तन-विशेषता प्रतिक्षण मालूम पड़ती है। इसलिए, अन्तःकरण के अध्यास को उसके साथ जोड़ना पड़ा; फलतः अन्तःकरण के सम्बन्ध के विशिष्ट में परिवर्त्तन होने लगा। इसलिए, साक्षी स्थिर माना गया। न्याय-दर्शन को देखिए : जीवात्मा में कारणान्तरों से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, किन्तु उन गुणों से मूल आत्मस्वरूप में कुछ परिवर्त्तन नहीं होता; क्योंकि गुण-गुणी, धर्म-धर्मी का भेदवाद विराजमान है। वेदान्ती को, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी में अभेद से, अनेक प्रक्रियाएँ अपनानी पड़ती है। नैयायिक को इनकी आवश्यकता नहीं; इसलिए न्याय में न्यूनता नहीं।

साक्षिभास्य—वेदान्त-दर्शन में साक्षिभास्य और वृत्तिभास्य या प्रमाणभास्य दो तरह, विषयों का विभाजन किया गया है। पहला, अन्तःकरण और उसमें रहनेवाली या सम्बद्ध वस्तुएँ; दूसरा, उनसे भिन्न बाह्य वस्तुएँ। मन अन्तःकरण की एक विशेष अवस्था है, मन को वेदान्ती इन्द्रिय नहीं मानते। अन्तःकरण और तत्सम्बद्ध वस्तुएँ मन से साक्षात् सम्बद्ध हैं, इसलिए मन उनके प्रत्यक्ष के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करता। अतः, वे प्रमाण के विना ही भास्य है, इसलिए साक्षिभास्य कहे जाते है। बाह्य विषयों में मन स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु बहिरिन्द्रियों की अपेक्षा से बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है। इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, इसलिए बाह्यविषय प्रमाणभास्य या वृत्तिभास्य कहे जाते हैं। न्याय-दर्शन में भी ये विभाग हैं, किन्तु दूसरे नामों से हैं; इसलिए उसमें न्यूनता है, ऐसा बहुतों को भ्रम है।

न्याय-दर्शन में भी वस्तु ऐसी ही है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष और बाह्य प्रत्यक्ष, ऐसा ही विभाग है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष बहिरिन्द्रियों के विना केवल मन से होता है, आत्मा तथा आत्मा के योग्य विशेष गुण इसके विषय होते है, मन बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष बहिरिन्द्रियों की अपेक्षा से करता है। इतना अवश्य है कि न्याय में मन इन्द्रिय है और वेदान्त में नहीं, इसलिए एक तरह की परिभाषा हो भी नहीं सकती, वस्तु बराबर है।

शाब्द प्रत्यक्षवाद—अमुक विषय का शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा वेदान्त-दर्शन मानता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की योग्यता इन्द्रियों पर आश्रित नहीं है, अपितु विषय पर आश्रित है। अन्तःकरण से साक्षात्सम्बद्ध विषयों की शब्द से भी प्रत्यक्षात्मिका वृत्ति ही होती है। कुछ अनुभव भी किया जाता है। जब श्रोता के अन्तःकरण में सुख या दुःख विद्यमान है, तब यदि कोई कहे कि तुम सुखी या दुःखी हो, उस समय श्रोता को सुख और दुःख का प्रत्यक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं। इस पर वेदान्तियों का जोर इसलिए है कि 'तत् त्वं असि', तुम वह ब्रह्म हो, इत्यादि चार महावाक्य माने जाते हैं, जिनसे असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता, शुद्ध चेतन-रूप जीव का प्रत्यक्ष होता है। यदि शब्द से परोक्ष ही ज्ञान माना जाय, तो वहाँ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होगा। परोक्ष ज्ञान से वहाँ काम नहीं चल सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष भ्रम का निराकरण प्रत्यक्ष प्रमा से ही हो सकता है। जीवों में 'मैं गौर या श्याम हूँ', 'कर्त्ता, भोक्ता, सुखी या दुःखी हूँ,' इत्यादि भ्रम प्रत्यक्ष हैं। इनका बाध प्रत्यक्ष से ही हो सकता है। शब्द से परोक्ष ज्ञान मानने पर, 'मैं शुद्ध ब्रह्मरूप हूँ', ऐसा परोक्ष ज्ञान ही हो सकेगा। सैकड़ों परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष भ्रम को नहीं मिटा सकते। तब ये वाक्य निष्फल हो जायेंगे।

जैसे, मन्द अन्धकार में कोई रस्सी को सर्प समझकर भय से विह्वल होकर काँपने लगता है, तो उस समय उसका आप्त सुहृद् कहता है कि यह सर्प नहीं है, रस्सी है। यह सुनकर उसे थोड़ा धैर्य होता तो है, फिर भी रस्सी के पास वह मारे डर के जाता नहीं, काँपता ही रहता है; क्योंकि उसका सर्प-ज्ञान प्रत्यक्ष है, सुहृद्-वाक्य से होनेवाला विपरीत

परोक्ष ज्ञान उसको नहीं मिटा पाता। जब दीप ले जाकर वह रस्सी का प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसका सर्प-भ्रम सर्वथा मिट जाता है; इसलिए प्रत्यक्ष भ्रम का प्रत्यक्ष ही विपरीत ज्ञान बाधक हो सकता है, यह मानना होगा। दिग्भ्रम में भी ऐसा ही होता है ; सूर्योदय अथवा दूसरे के वचन से ठीक व्यवहार करने पर भी बहुत दिनों तक दिग्भ्रम नहीं टूटता, ऐसा देखा गया है।

पञ्चदशी में 'दशमस्त्वमसि' दसवें तुम हो, इत्यादि दृष्टान्तों से समझाया गया है कि अतिसन्निहित अन्तःकरण से सम्बद्ध विषयों का शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। 'दशमस्त्वमसि' इस लौकिक वाक्य से 'तत् त्वमसि' इस वैदिक वाक्य की तुलना की गई है। दस मित्र कहीं साथ-साथ नहाने गये। साथ ही डुबकी लगाकर लौटते समय 'हमलोगों में कोई भूला तो नहीं' ऐसी जिज्ञासा हुई। गिनने लगे। नौ को गिनकर अपने को दसवाँ गिनना किसी को न सूझा। इससे बड़ी घबराहट हुई। कोई अन्य सज्जन आये तो गिनकर 'तुम दसवें हो', ऐसा समझाया। तब घबराहट दूर हुई। इसी तरह 'तुम ब्रह्म हो' इस वाक्य से जीव-ब्रह्म का ऐक्य प्रत्यक्ष होता है, उससे क्रमिक विदेह-मुक्ति होती है, इसे समझाने के लिए क्रमिक आठ अवस्थाएं मानी गई हैं। उनका संक्षेप में परिचय प्रस्तुत है —

### वैदिक वाक्य

१. अज्ञान—मैं शरीरादि से भिन्न नहीं हूँ, मैं गोरा और मोटा हूँ।

२. आवरण—शरीरादि के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं मालूम पड़ती।

३. विक्षेप—स्वभाव से ही मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ, शरीरादि निमित्त से नहीं। इससे संसार में शोकादि होते हैं।

४. परोक्ष ज्ञान; असत्त्वांश-निवृत्ति—गुरु के उपदेश से 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा परोक्ष ज्ञान होता है। उससे शरीरादि भिन्न असंग जीव हो सकता है, जिससे उसकी असत्त्व-असम्भव की निवृत्ति होती है; किन्तु आवरण रहने से मालूम नहीं पड़ता कि ऐसी प्रतीति चलती ही है।

५. वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान—आत्मा के विषय में शास्त्र और युक्ति से मनन करता है; उसके द्वारा वैदिक वाक्य से ही शुद्ध असंग आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

६. तृप्ति—स्वभाव से ही अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग हूँ, मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं, कर्म के उपयोगी शरीरादि से कोई काम नहीं; आसक्ति की हानि और सन्तोष होता है।

७. शान्ति—यद्यपि प्रारब्ध कर्म के रहने से इस शरीर का भोग होगा, तथापि तत्त्व-ज्ञान से अनेक जन्म-परम्परा का नाश होने से जीवन्मुक्त होता है, दुःख आने पर भी विवेक से उसको दबा देता है, आसानी से सहता है, घबराता नहीं।

८. विदेह-मुक्ति—बार-बार तत्त्वज्ञान के जागरण से प्रारब्ध कर्म का भोग होने पर विदेह-मुक्ति होती है।

**लौकिक वाक्य**

१. अज्ञान—दसवाँ नहीं है।

२. आवरण—गिनने पर भी दसवाँ नहीं मालूम पड़ा।

३. विक्षेप—दसवाँ नदी में डूब गया, इससे रोना पीटना।

४. परोक्ष ज्ञान; असत्त्वांश-निवृत्ति—कोई दयालु कहता है कि तुम दसवें हो, उससे परोक्ष ज्ञान होता है, असत्त्व-असम्भव की निवृत्ति होती है; किन्तु आवरण रहने से दसवाँ कहाँ है, मालूम नहीं पड़ता, यह क्रम चलता रहता है।

५. वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान—नौ गिनने के बाद 'दसवें तुम हो', इस वाक्य से 'दसवाँ मैं हूँ', ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

६. तृप्ति—अहो, मैं ही दसवाँ हूँ, बड़ी भूल हुई, इत्यादि, और रोना-पीटना बन्द होता है।

७. शान्ति—रोने-पीटने से शरीर-पीड़ा, सिर में चोट यद्यपि रहती है, तथापि वह दसवें के मिलने के आनन्द से आसानी से सही जाती है, कष्ट नहीं मालूम पड़ता।

८. स्वस्थता—प्रसन्न मन से औषध-सेवन द्वारा कष्ट छूटने पर स्वस्थ होता है।

इस तरह, शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता है। न्याय-दर्शन में शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है, इसलिए न्यूनता है।

**इसपर न्याय-मत**—यह ठीक है कि प्रत्यक्ष भ्रम प्रत्यक्ष प्रमा से ही निवृत्त होता है, परोक्ष प्रमा से नहीं। यह भी ठीक है कि आत्मा में सुख-दुःख रहने पर 'तुम सुखी हो', 'तुम दुःखी हो' इत्यादि वाक्य सुनने के बाद सुख-दुःख का प्रत्यक्ष होता है, तथा अमुक अवस्था में 'तुम शरीरादि-भिन्न अकर्त्ता, अभोक्ता हो', 'तुम दसवें हो', इत्यादि वाक्य सुनने के बाद वैसी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, और शब्द-प्रयोज्य भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; किन्तु साक्षात् शब्द-जन्य शाब्द या शाब्दबोध-रूप प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, बल्कि परोक्ष ही होता है।

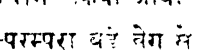
पूर्वोक्त पञ्चम अवस्था में 'तत् त्वमसि', महावाक्य से वेदान्त के अनुसार ही परोक्ष ज्ञान होता है। अन्तर इतना है कि न्याय-मत में जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं, इसलिए 'बालक सिंह है', इसके समान ही 'तुम उसके सदृश, ब्रह्म-सदृश हो' ऐसा परोक्ष ज्ञान होता है। शास्त्र और युक्ति द्वारा मनन करने से आत्मा में अकर्त्तृत्व, अभोक्तृत्व, असंगत्व रूप की दृढता होने पर, छठीं अवस्था के अनुसार, उसी वाक्य के श्रवण के बाद, तुम ब्रह्म-सदृश हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दर्शन के अनुसार उनकी निम्नलिखित प्रक्रिया होगी—

(१) मन से आत्मा का लौकिक प्रत्यक्ष होता है। महावाक्य से जो 'तुम ब्रह्म-सदृश हो' ऐसा शाब्दबोध होता है, वह ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष हो जाता है। लौकिक-अलौकिक दोनों सन्निकर्ष से 'मैं ब्रह्म-सदृश हूँ' ऐसा मानस-प्रत्यक्ष हो जाता है। अलौकिक शब्द से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इसका लोक में कहीं और उपयोग नहीं होता।

इन शब्दों से व्यवहृत सन्निकर्ष है और इसका ऐहिक-लौकिक व्यवहार में भी उपयोग होता है। ब्रह्म-सदृश ज्ञान होने से विभु, शरीरादि-भिन्न अभोक्ता इत्यादि स्वयं ज्ञात हो जाते हैं। यह ज्ञान-रूप सन्निकर्ष यदि दृढ रहता है, तो अलौकिक प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष भ्रम का निराकरण करता है। इस महावाक्य का शाब्दबोध मनन द्वारा दृढ है, शब्द से पैदा हुआ है और प्रत्यक्ष का प्रयोजक है; इसलिए यह भी प्रत्यक्ष शब्द-कृत है।

(२) इस महावाक्य के मनन के बाद दृढ परोक्ष ज्ञान शाब्दबोध होता है। उससे बलवती आत्मा की दिदृक्षा होती है। तब मन से आत्मा का लौकिक प्रत्यक्ष होता है। आत्मा में विशेषण अकर्तृत्व-कृति का अभाव, अभोक्तृत्व-भोग भी मन के योग्य ही हैं। कृति-भोग मन के योग्य हैं, तो उनका अभाव भी मन के योग्य है। शरीरादि-भिन्नत्व भी मन के योग्य ही समझना चाहिए। शरीर मन के योग्य नहीं है, तो भी शरीरादि-भेद मन के योग्य है। इसके लिए न्याय-ग्रन्थों में लिखा रहता है कि अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित होती है और भेद के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की योग्यता नहीं, वरन् अधिकरण की योग्यता अपेक्षित होती है। यह सिद्धान्त इस अनुभव पर स्थित है कि किसी भी मनुष्य की देह में 'पिशाच है' या 'पिशाच नहीं है' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु 'यह देह पिशाच नहीं है', ऐसा प्रत्यक्ष होता है।

इस तरह, और भी जो कोई न्यूनता मालूम पड़े, उसका समाधान न्याय-दर्शन में है। उसको निकाल कर सामने रखने की जरूरत है। इसलिए, न्याय-दर्शन परिपूर्ण और स्वतन्त्र दर्शन है। इसी तरह, सांख्यादि दर्शनों के विषय में भी समझना चाहिए। न्याय की अपेक्षा सांख्य में अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ेगी; क्योंकि उसके प्रमेयों का परिष्कार अभी थोड़ा ही हुआ है। अभी बहुतेरे भारतीय दर्शनों के ऐसे प्रमेयांश हैं, जो ग्रन्थों में नहीं मिलते। वे भारतीय अध्ययन-परम्परा में निहित हैं और विदेशी अध्ययन-परम्परा से प्राप्य नहीं हैं। यदि अतिशीघ्र उपयोग किया जाय, तो अभी यह प्रमाणित किया जा सकता है; लेकिन भारतीय अध्ययन-परम्परा बड़े वेग से नष्ट हो रही है। कुछ ही वर्षों में इसे प्रमाणित करना भी असम्भव हो जायगा।



# प्रज्ञा-सूत्र और कहावत

डा० कन्हैयालाल सहल: बिड़ला आर्ट्स-कालेज, पिलानी

अँगरेजी का Aphorism शब्द ग्रीक Aphorismos से निकला है, जिसका अर्थ है—परिभाषा देना। 'Apo' का अर्थ है 'से' और 'Horos' का अर्थ है 'सीमा'। इस प्रकार, Aphorism शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ—'किसी विचार-बिन्दु को सीमाबद्ध करके उसका लक्षण निर्धारित करना, अर्थात् उसे निश्चयात्मक रूप देना। Aphorism, अर्थात् प्रज्ञा-सूत्र, एक प्रकार की ऐसी संक्षिप्त उक्ति है, जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति

हुई हो[1]। कहावत और प्रज्ञा-सूत्र में मुख्य अन्तर यह है कि कहावत का सम्बन्ध सामान्य जनता से है, वह लोक की उक्ति, अर्थात् लोकोक्ति है; जब कि प्रज्ञा-सूत्र का सम्बन्ध विद्वानों अथवा प्राज्ञों से है, वह प्राज्ञों की उक्ति अथवा प्राज्ञोक्ति है।

पाश्चात्य देशों में प्रज्ञा-सूत्रों का जन्मदाता विश्वविख्यात ग्रीक-वैद्य हीपोक्रेटस था, जो ईसा के ४६० वर्ष पहले हुआ था; किन्तु भारतवर्ष में सूत्रों की परम्परा बहुत प्राचीन है। हीपोक्रेटस से भी हजारों वर्ष पहले इस देश में सूत्रों की रचना होती आई है। ब्रह्मज्ञान तथा उस समय की अन्यान्य विद्याओं की रचना सूत्रों के रूप में हुई थी। अपने यहाँ सूत्र शब्द की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की गई है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥'

अर्थात्, सूत्र उसे कहते हैं, जिसमें थोड़े अक्षर हों, अस्पष्टता न हो, अर्थ-गौरव से युक्त हो, विश्वतोमुख हो, जिसमें पुनरावर्तन न हो और जो निर्दोष हो।

भारतीय ग्रन्थों को देखते हुए सूत्रों के दो वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं— १. प्रज्ञा-सूत्र, और २. विद्या-सूत्र।

प्रज्ञा-सूत्रों का सम्बन्ध है आध्यात्मिक ज्ञान, धार्मिक तथा नैतिक उपदेश आदि से, जब कि विद्या-सूत्रों का सम्बन्ध ज्यौतिष, व्याकरण, छन्द, नाट्य आदि विद्याओं से है। यहाँ प्रज्ञा-सूत्र तथा विद्या-सूत्र के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

प्रज्ञा-सूत्र—१. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति; २. विद्ययामृतमश्नुते; ३ अध्यात्मविद्या विद्यानाम्; ४. आचारः प्रथमो धर्मः ५. यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।

विद्या सूत्र—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि का प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' विद्या-सूत्र के उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है। इसी प्रकार, 'योगाद्वृद्धिर्बलीयसी' जैसे शाब्दीय न्याय भी, जिनका व्याकरण से सम्बन्ध है, विद्या-सूत्र के अन्तर्गत हैं।

प्रज्ञा-सूत्र और व्यवहार सूत्र—बहुतेरे लोग ऐसे हैं, जो प्रज्ञा-सूत्रों और व्यवहार-सूत्रों (Maxims) को एक ही समझते हैं, किन्तु वास्तव में इन दोनों शब्दों में बड़ा अन्तर है। Maxim, अर्थात् व्यवहार-सूत्र, लैटिन शब्द Maxima से निकला है, जिसका अर्थ है सबसे बड़ा। अंगरेजी शब्द-कोष में सर्वाधिक गुरुतापूर्ण उक्ति को Maxim की संज्ञा दी गई है। प्रज्ञा-सूत्र (Aphorism) और व्यवहार-सूत्र (Maxim) दोनों ही जीवन की किसी सचाई को प्रकट करते हैं, किन्तु दोनों की पद्धति भिन्न-भिन्न है। प्रज्ञा-सूत्र विचार के अनुसार प्रवृत्त होता है तथा व्यवहार-सूत्र का सम्बन्ध आचार-व्यवहार से है। प्रज्ञा-सूत्र तथा व्यवहार-सूत्र दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

---

१—Aphorism is a short, pithy statement containing a truth of general import.

—A Treasury of English Aphorisms by Logan Pearssall Smith, पृ० ४४।

शेक्सपियर की प्रसिद्ध पंक्ति 'Eminent posts make great men greater and little men less' एक प्रज्ञा-सूत्र है, जब कि 'When in doubt, keep silent.' यह व्यावहारिक दृष्टि से शिक्षाप्रद होने के कारण एक व्यवहार-सूत्र है।

**मर्मोक्ति और प्रज्ञा सूत्र**—पाश्चात्य देशों में प्रथम श्रेणी के मर्मोक्तिकार के रूप में La Rochefoucauld का नाम अत्यन्त विख्यात है। अपनी मर्मोक्तियों (Epigrams) द्वारा इन्होंने फ्रांसीसी साहित्य को बहुत समृद्ध बनाया है। मर्मोक्तियों के अतिरिक्त इन्होंने प्रायः ७०० व्यवहार-सूत्रों की भी सृष्टि की है, जिनका विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। ये मर्मोक्तियां तथा व्यवहार-सूत्र जितने संक्षिप्त हैं, उतनी ही विशुद्ध और ललित है उनकी अभिव्यक्ति। मानव-स्वभाव की गूढ़ता को प्रदर्शित करने में ये बेजोड़ सिद्ध हुए है।

किसी ऐसी मर्मयुक्त उक्ति को, जो अपने पीछे एक प्रकार का दंश छोड़ जाय, मर्मोक्ति कहते हैं[1]। मर्म (Point) और दंश (Sting), मर्मोक्ति के ये दो प्राण-बिन्दु हैं। संक्षिप्तता और भाषा-लालित्य यदि मर्मोक्ति का शरीर है, तो मर्म और दंश इसकी अर्थ-चातुर्य-रूप आत्मा है। किसी ने कहा है कि मधुमक्खी में जो गुण होते हैं, वे ही गुण मर्मोक्ति के लिए अनिवार्य है। छोटी-सी मधुर देह और पूंछ में डंक, ये ही मधुमक्खी की विशेषताएँ हैं, जो मर्मोक्ति में भी मिलती है[2]। मर्मोक्ति में डंक से तात्पर्य उसके दंश से है।

अँगरेजी में जिसे Epigram (मर्मोक्ति) कहते हैं, उसका सम्बन्ध विद्या-सूत्रों से न होकर प्रज्ञा-सूत्रों से है, किन्तु प्रज्ञा-सूत्र और मर्मोक्ति में भी अन्तर है। प्रज्ञा-सूत्र के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह मर्मयुक्त अथवा निश्चित हो, किन्तु मर्मोक्ति के लिए ऐसा होना अनिवार्य है।

विषय के स्पष्टीकरण के हेतु कुछ मर्मोक्तियों के उदाहरण यहा दिये जा रहे हैं—

क. कविता जिसके वश में है, वह कवि नहीं है; जो कविता के वश में है, वही कवि है। (कवि नर्मद)

---

१—चबराकियांनु तत्व-दर्शन (फिरोजशाह रुस्तमजी मेहता), पृ० ८३।

२—"The qualities rare in a bee that we meet,
In an epigram never should fail;
The body should always be little and sweet,
And sting should be left in its tail;
What is an epigram? A dwarfish whole,
Its body brevity, and wit its soul"

—Stevenson के Book of Proverbs, Maxims, and Familiar phrases; पृ० ७०४ पर उद्धृत।

ख. जहाँ आशा निराशा बन जाती है, वहाँ निराशा ही आशा का रूप धारण कर लेती है। (गोवर्धनराम त्रिपाठी)

ग. संयम बिना तलवार राक्षस को और तलवार बिना संयम साधु को शोभा देता है। (धूमकेतु)

घ. यह स्पष्ट है कि कोई उपन्यास इतना बुरा नहीं हो सकता कि वह प्रकाशित करने योग्य न हो। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि कोई उपन्यास इतना अच्छा हो कि वह प्रकाशित करने योग्य न हो। (जार्ज बर्नर्ड शा)

ङ. जो मनुष्य यह कहता है कि उसने जीवन को समाप्त कर दिया है, उसका तात्पर्य सामान्यतः यह होता है कि जीवन ने ही उसे समाप्त कर दिया है। (आस्कर वाइल्ड)

संस्कृत-साहित्य में सूत्र, सूक्ति, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, नर्मोक्ति, मर्मोक्ति, मुक्तक तथा सुभाषित आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु, सुभाषित एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, जिसमें प्रज्ञा-सूत्र, व्यवहार-सूत्र तथा मर्मोक्ति आदि सभी का समावेश किया जा सकता है। संस्कृत के सुभाषितों में से इन तीनों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

प्रज्ञा-सूत्र—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्', अर्थात् धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा हुआ है।

व्यवहार-सूत्र—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्' (भारवि), अर्थात् सहसा कोई काम नहीं करना चाहिए; क्योंकि अविवेक आपत्तियों का परम पद है।

मर्मोक्ति—भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ (वैराग्यशतक : भर्तृहरि)

अर्थात्, हमने भोग नहीं भोगे, हम ही भोग लिये गये; हमने तप नहीं तपा, हम ही तप्त हो गये; काल नहीं व्यतीत हुआ, हम ही व्यतीत हो गये; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये। उक्त श्लोक की प्रत्येक पंक्ति एक-एक मर्मोक्ति है।

प्राज्ञोक्ति और लोकोक्ति—ऊपर की पंक्तियों में प्रज्ञा-सूत्र, व्यवहार-सूत्र और मर्मोक्ति, इन तीनों के पारस्परिक अन्तर को सोदाहरण दिखलाने का प्रयास किया गया है, किन्तु 'बाङ्ला प्रवाद' के विद्वान् सम्पादक श्रीसुशीलकुमार दे ने सभी प्रकार की उक्तियों को लोकोक्ति और प्राज्ञोक्ति, इन दो वर्गों में विभक्त कर दोनों के सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किये हैं, वे मननीय हैं। उन्हींके शब्दों में प्राज्ञोक्ति, जिसे लैटिन में Sententia कहते हैं, सदा लोकोक्ति का रूप धारण नहीं कर लेती। प्राज्ञोक्ति में ज्ञानी के ज्ञान का जो निष्कर्ष हमें मिलता है, वह सुचिन्तित होता है और प्रायः उपदेशमूलक नीति-वाक्य के रूप में देखा जाता है; किन्तु प्रवाद या लोकोक्ति पाण्डित्य, चिन्तन तथा उपदेशात्मकता को लेकर अग्रसर नहीं होती। लोकोक्ति तो स्वतःप्रसूत होती है और

सरस तथा संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त होती है, किन्तु प्राज्ञोक्ति ज्ञान और चिन्तन के परिपक्व फल के रूप में देखी जाती है। नीति, शिक्षा, तत्त्व-ज्ञान और उच्च आदर्श लोकोक्तियों के प्रेरक हेतु नहीं हैं[1]।

लोकोक्ति और प्राज्ञोक्ति में अनेक बार एक बड़ा अन्तर यह देखा जाता है कि प्राज्ञोक्ति नैतिक जगत् का सत्य होते हुए भी व्यावहारिक जगत का तथ्य नहीं है, और लोकोक्ति व्यावहारिक जगत् का तथ्य होते हुए भी नैतिक जगत् का सत्य नहीं[2]। विषय के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित साखी पर विचार कीजिए—

'जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोको फूल के फूल है, वाको है तिरसूल॥'

यह कबीर की एक सूक्ति है, जिसमें नैतिक जगत का सत्य होते हुए भी व्यावहारिक जगत् का तथ्य नहीं है। अर्थात्, यथार्थ जगत में इस सूक्ति के अनुसार आचरण बहुत कम देखने में आता है। इसी प्रकार कुछ राजस्थानी कहावतें लीजिए—

१. 'पराई पीर परदेस बराबर', अर्थात् परदेश के आदमी की यदि कोई चिन्ता करे, तो पराये दुःख की करे; दूसरे के कष्टों की सभी उपेक्षा करते हैं।

२. 'दूसरे की थाली में घी घणो दीसे', अर्थात् दूसरे की थाली में घी अधिक दिखलाई पड़ता है।

३. 'सै आप-आपकी रोटियां के नीचे आंच लगावै', अर्थात् सब अपनी-अपनी रोटियों के नीचे आंच लगाते हैं।[3]

उक्त लोकोक्तियों में व्यावहारिक जगत का तथ्य होते हुए भी नैतिक जगत् का सत्य नहीं मिलता।

ऊपर के तुलनात्मक उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोकोक्ति नैतिक ज्ञान नहीं है, वह है सांसारिक ज्ञान; लोकोक्ति परोक्ष चिन्तन नहीं है, वह है प्रत्यक्ष अनुभूति। लोकोक्ति न तो काव्य है, न तत्त्व-चिन्तन है, न नीति-प्रचार है, वह तो सांसारिक ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

---

१—'बाङ्ला प्रवाद' (श्रीसुशीलकुमार दे), द्वितीय संस्करण, पृ० ४।

२—'नैतिक जगतेर सत्य हइले ओ व्यावहारिक जगतेर तथ्य नय,
व्यावहारिक जगतेर तथ्य हइले ओ नैतिक जगतेर सत्य नय।' वही, पृ० ४।

३—मिलाइए :

Russian : 'The burden is light on the shoulders of another.'

French : 'One has always enough strength to bear the misfortune of one's friends.'

Latin : 'Men cut thongs from other men's leather.

Italian : 'Every one draws the water to his own mill.'

लोकोक्तियाँ ग्राम्य होती हैं, यह कहना भी ठीक नहीं। यह सच है कि नगरों की अपेक्षा ग्रामों में ही लोकोक्तियों का विशेष निर्माण तथा प्रचार देखा जाता है, किन्तु इसी कारण लोकोक्तियों को ग्राम्य करार देना उचित नहीं। अवश्य ही लोकोक्तियों की भाषा जोरदार होती है; क्योंकि जीवन की घनिष्टता से उनका सम्बन्ध रहता है. अनेक कहावतों में सत्य को खुल्लमखुल्ला प्रकट कर दिया जाता है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि लोकोक्तियों की सफलता उनके वर्ण्य विषय पर उतनी निर्भर नहीं करती, वरन् उनकी सफलता निर्भर करती है उनकी अभिव्यक्ति की भंगिमा पर, सहज बुद्धि के चमत्कार पर तथा संक्षिप्त एवं साभिप्राय प्रयोगों की सार्थकता पर।

किन्तु, कभी-कभी प्राज्ञोक्ति और लोकोक्ति में अन्तर मालूम करना बड़ा कठिन हो जाता है। संस्कृत के महाकाव्यों में अर्थान्तरन्यास के रूप में प्रयुक्त अनेक प्राज्ञोक्तियाँ उपलब्ध है। हो सकता है कि उनमें से कुछ उक्तियाँ प्रचलित जनश्रुतियों के संस्कृत-रूपान्तर हों और शेष कवियों द्वारा स्वयं निर्मित हों। जो उक्तियाँ कवियों द्वारा निर्मित है, वे लोक की उक्तियाँ नहीं हैं; इसलिए हम उनको लोकोक्तियाँ नहीं कह सकते, उन्हें प्राज्ञोक्तियों के नाम से अभिहित करना ही समीचीन होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, वस्तुतः कहावत (प्रावर्ब) केवल लोकोक्ति नहीं है। वह कई बार प्राज्ञोक्ति भी है। तुलसीदासजी की अनेक पंक्तियाँ कहावत बन गई है। उन्हें लोकोक्तियाँ नहीं कहा जा सकता, वे प्राज्ञोक्तियाँ हैं, जो लोक में साहित्य के माध्यम से प्रचलित हुई हैं। डा० द्विवेदी ने कहावत शब्द में लोकोक्ति और प्राज्ञोक्ति दोनों का अन्तर्भाव कर इस शब्द को और भी व्यापकता प्रदान कर दी है।

स्टीवेन्सन ने लोकोक्ति और व्यवहार-सूत्र (Maxim) का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि व्यवहार-सूत्र किसी सामान्य सत्य अथवा आचार-व्यवहार की अभिव्यक्ति है, या मार्विन[1] के शब्दों में यह कहावत तो है, किन्तु है झिनगे की अवस्था में। पर उगने पर ही झिनगा उड़ सकता है, इसी प्रकार व्यवहार-सूत्र लोकोक्ति का रूप तभी धारण करता है, जब इसको लोक-हृदय ने स्वीकार कर लिया हो और यह सर्वसाधारण में प्रचलित हो गया हो।

व्यवहार-सूत्र एकत्र किये हुए सिक्के है, जब कि लोकोक्तियों को प्रचलित सिक्कों के नाम से अभिहित किया जा सकता है। व्यवहार-सूत्र यदि प्रचलित न हों, तो केवल

---

१—"Maxim is the sententious expression of some general truth or rule of conduct, that it is a proverb in the caterpillar-stage, as Marvin puts it and that it becomes a proverb when it gets its wings by winning popular acceptance, and flutters out into the high-ways and by-ways of the world."

—Stevenson के Book of Proverbs, Maxims and Familiar phrases की भूमिका से।

पुस्तकों की शोभा बढ़ाते हैं, जब कि लोकोक्तियां जनता की जिह्वा पर नृत्य करती रहती हैं।

ऊपर जो बात व्यवहार-सूत्र और लोकोक्ति के अन्तर के सम्बन्ध में कही गई है, वही लोकोक्ति तथा प्रज्ञा-सूत्र अथवा मर्मोक्ति के अन्तर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किसी भी उक्ति को, चाहे वह प्राज्ञोक्ति ( Aphorism ) हो, आचारोक्ति ( Maxim ) हो अथवा मर्मोक्ति ( Epigram ) हो, लोकोक्ति की संज्ञा तभी मिल सकेगी, जब लोक-मानस उसे स्वीकार कर ले, अन्यथा नहीं। 'कच्छी कहेवतो' के संग्राहक श्रीदुलेराय एच० काराणी ने यथार्थ ही कहा है कि सुभाषित जहां एक दूकान से दूसरी दूकान पर चलनेवाली हुण्डी है, वहां कहावत एक ऐसा राजमान्य लोक-सिक्का है, जो सच्चे बाजार में, बेधड़क चाहे जहां, चलाया जा सकता है[1]।



## काशकृत्स्न व्याकरण तथा उसके उपलब्ध सूत्र

श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक, प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, करोलबाग, देहली

यद्यपि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में आचार्य काशकृत्स्न का वैयाकरण के रूप में उल्लेख नहीं किया है, तथापि वैयाकरण-सम्प्रदाय में काशकृत्स्न-व्याकरण अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है[2]। काशकृत्स्न-व्याकरण का साक्षात् उल्लेख निम्नांकित प्राचीन ग्रन्थकारों ने किया है—

१. बोपदेव[3] (वि० सं० १३००-१३४०) ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में प्रसिद्ध आठ शाब्दिक आचार्यों में काशकृत्स्न का भी उल्लेख किया है—

---

१—"सुभाषित एक अमुक दुकान पर थोड़ा बटावी शकाय एवी हुंडी के चेक छे ज्यारे कहेवत रस्ते चालतां बजार मां बेधड़क बटावी शकाय एवं राजमान्य चलणी नाणुं छे, लोक-सिक्को छे।"—कच्छी कहेवतो, पृ० ५।

२—हमने सं० २००७ वि० में प्रकाशित 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ (भाग १, पृ० ७८—८६) में काशकृत्स्न-व्याकरण का वर्णन किया था। उसके पश्चात् (सं० २००८ वि०) काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी चन्नवीर कवि-कृत कन्नड-टीका में काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १४० सूत्र उपलब्ध हो चुके हैं। इसी प्रकार, अन्य दिशा से भी काशकृत्स्न-व्याकरण पर कुछ नया प्रकाश पड़ा है। हमने इस लेख में सभी नवीन तथा प्राचीन सामग्री का उपयोग किया है।—ले०

३—इस लेख में बिना प्रमाण दिये जिन ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का काल-निर्देश किया है, इसके लिए उपर्युक्त 'सं० व्या० शा० का इति०' का तत्तत् प्रकरण देखना चाहिए। काल-निर्देश सर्वत्र विक्रम-संवत् से किया गया है।—ले०

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा[1] जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः॥'

२. पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता क्षीरस्वामी (सं० ११०० वि०) अपनी क्षीरतरङ्गिणी में काशकृत्स्न-व्याकरण-सम्बन्धी एक मत उद्धृत करता है—

'काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः।'[2]

३. धातुवृत्तिकार सायण के निर्देशानुसार किसी काश्यप[3] नामक व्याकरण ने भी काशकृत्स्न का 'आश्वस्त' पदविषयक मत उद्धृत किया था। सायण लिखता है—

'आश्वस्तः—निष्ठायामिटं नेच्छन्ति काशकृत्स्ना इति स्वामीकाश्यपौ'[4]।

४. कैयट (सं० ११०० वि० से पूर्व) अपने महाभाष्य-प्रदीप में दो स्थानों पर काशकृत्स्न के सूत्र अथवा सूत्रांश उद्धृत करता है। यथा—

(क) 'काशकृत्स्नस्य 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' सूत्रम्, तद्विचारयति' (२।१।५०)

(ख) 'आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्व 'अग्नये' इति वचनात्' (५।१।२१)

५. विक्रम-संवत् ४५० से पूर्ववर्ती[5] महावैयाकरण भर्तृहरि वाक्यपदीय आगमकाण्ड की स्वोपज्ञ-टीका में दो सूत्र उद्धृत करता है—

(क) 'धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्'[6] (पृ० ४०)[7]

(ख) 'लिङ्ग' किमिति विभक्तौ एतन्नाम' (पृ० ४०)

वाक्यपदीय स्वोपज्ञ-टीका का व्याख्याता वृषभदेव इन सूत्रों के विषय में लिखता है—'धातुरिति काशकृत्स्नानां सूत्रम्···लिङ्ग इति'···(पृ० ४१)

---

१—अभयनन्दी-कृत महावृत्तिसहित जैनेन्द्र-व्याकरण का सम्पूर्ण ग्रन्थ अभी अभी भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) से प्रकाशित हुआ है। उसके आरम्भ में प्रकाशित 'जैनेन्द्र शाब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' नामक लेख में हमने जैनेन्द्र-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक लुप्त ग्रन्थों का परिचय दिया है।—ले०

२—द्र० हमारे द्वारा सम्पादित, रामलालकपूर-ट्रस्ट (अमृतसर) से प्रकाश्यमान संस्करण, पृ० १८५। तुलनीय : 'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः—आश्वस्तः।'—(काशिका, ७०।२।१६)।

३—यह काश्यप क्षीरस्वामी से प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, यह अभी अनिर्णीत है।

४—धातुवृत्ति, पृ० २६४, काशी, चौखम्बा-सीरीज।

५—द्र० 'सं० व्या० शा० का इतिहास', भाग १, पृ० २५८-२६३, तथा प्रो० साधुराम जी, एम्० ए०, का 'भर्तृहरीज् डेट' शीर्षक अँगरेजी, लेख।

६—वाक्यपदीय स्वोपज्ञ-टीका में मुद्रित काशकृत्स्न-सूत्र का पाठ भ्रष्ट है। वृषभदेव की व्याख्या भी अशुद्ध है। सूत्र का शुद्ध पाठ तथा शुद्ध व्याख्या आगे द्रष्टव्य है।

७—यह पृष्ठसंख्या रामलालकपूर-ट्रस्ट संस्करण की है।

६. भर्तृहरि प्रकीर्णकाण्ड में पुनः लिखता है—

'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे ।'[1]

इसकी व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

'आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते ।'

अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में (पाणिनि-प्रोक्त) 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र नहीं था ।

७. भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम 'पस्पश' नामक आह्निक के अन्त में आपिशलि तथा पाणिनि-प्रोक्त व्याकरणों के साथ काशकृत्स्न-प्रोक्त व्याकरण का भी उल्लेख किया है । यथा—

'प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोत्पद्यन्ते । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः । किन्तर्हि ? सूत्रम् ।'

अर्थात्, ( यदि व्याकरण-पद का अर्थ 'शब्द' है, तो ) प्रोक्त आदि अर्थों में होनेवाले तद्धित-प्रत्यय उत्पन्न नहीं होंगे । (जैसे,) पाणिनि से प्रोक्त पाणिनीय, आपिशल, काशकृत्स्न । पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया । तो किसका (किया) ? सूत्रों का ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पाणिनि और आपिशलि के समान काशकृत्स्न (काशकृत्स्नि) ने भी किसी शब्दानुशासन का प्रवचन किया था ।

८. संवत् २००८ वि० (का अन्त, मार्च, १९५२ ई० ) में चन्नवीर कवि-कृत कन्नड-टीका-सहित काशकृत्स्न-धातुपाठ के प्रकाश में आ जाने से काशकृत्स्न-व्याकरण का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो गया । इस दुर्लभ ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री ए० एन्० नरसिंहिया को है ।

९. काशकृत्स्न-धातुपाठ की उक्त कन्नड-टीका में काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १४० सूत्रों के उपलब्ध हो जाने से उसके स्वरूप का ज्ञान भी सम्यक् रूप से हो गया है । (इन सूत्रों को हम अन्त में देंगे) ।

**परिचय : नाम**—काशिका (५।१।५८) में एक उदाहरण है—'त्रिकं काशकृत्स्नम्' । जैन शाकटायन की अमोघा-वृत्ति (३।२।१६१) में इसका पाठ है-'त्रिकं काशकृत्स्नीयम्' । इन दोनों उदाहरणों की तुलना से इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों उदाहरणों में निश्चयपूर्वक किसी एक ही ग्रन्थ का संकेत है । परन्तु, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नीय पदों में श्रूयमाण तद्धित-प्रत्यय से विदित होता है कि एक काशकृत्स्नि-प्रोक्त है और दूसरा काशकृत्स्न-प्रोक्त । न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका के ४।३।१०१ के उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—"आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निनशब्दाभ्याम् 'इञश्च' (४।२।११२)

---

१—वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, पृ० ७१४, काशी-संस्करण ।

इत्यण्"[१]। अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न में (अपत्यार्थक इञ्प्रत्ययान्त) आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से प्रोक्त अर्थ में 'इञश्च' सूत्र से अण् प्रत्यय होता है तथा काशकृत्स्नीय पद में अपत्यार्थक अण् प्रत्ययान्त काशकृत्स्न शब्द से प्रोक्त अर्थ में 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से छ (= ईय) प्रत्यय होता है।

**काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न का एकत्व**—यद्यपि काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न नामों में अपत्य-प्रत्यय का भेद है, तथापि दोनों नाम एक ही आचार्य के हैं। अकारान्त कशकृत्स्न शब्द से अपत्य अर्थ में 'अत इञ्' (अष्टा०, ४।१।९५) से इञ् होकर काशकृत्स्नि शब्द निष्पन्न होता है और उसी कशकृत्स्न से अपत्यार्थ में सामान्य विधायक 'तस्यापत्यम्' (अष्टा०, ४।१।९२) से अण् होकर काशकृत्स्न शब्द बनता है। यद्यपि 'अत इञ्' सूत्र 'तस्यापत्यम्' का अपवाद है, तथापि 'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते'[२] (कहीं-कहीं अपवाद = विशेष विधायक सूत्र के विषय में उत्सर्ग = सामान्य सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है) नियम से सामान्य अण् प्रत्यय भी हो जाता है। इसी नियम के अनुसार भगवान् वाल्मीकि ने दाशरथि राम के लिए दाशरथ शब्द का भी प्रयोग किया है[३]। अतः, जिस प्रकार एक ही दशरथ-पुत्र राम के लिए दाशरथि और दाशरथ दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार इञ्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्नि और अण्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्न दोनों शब्द निश्चय एक ही व्यक्ति के वाचक हैं[४]।

**काशकृत्स्नि का अन्यत्र उल्लेख**—काशकृत्स्नि आचार्य का नाम निम्नाङ्कित ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—

---

१—इसी प्रकार, पाणिनि शब्द से भी प्रोक्त अर्थ में अण् होकर 'पाणिन' शब्द निष्पन्न होगा। लोकप्रसिद्ध पाणिनीय पद पर्याय पाणिन से निष्पन्न होता है। द्र० न्यास, ४।३।१०१। पूर्वनिर्दिष्ट भाष्यवचन 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' में अर्थ निदर्शनमात्र है, न कि विग्रह। पाणिनि शब्द आपिशलि और काशकृत्स्नि के समान गोत्रवाची है, उससे 'इञश्च' (४।२।११२) से अण् ही होगा।

२—सीरदेव-परिभाषावृत्ति, संख्या ३३; परिभाषेन्दुशेखर, सं० ५९। यही नियम स्कन्दस्वामी ने 'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते' शब्द से उद्धृत किया है। द्र० निरुक्त-टीका, भाग २, पृ० ८२।

३—प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली'—रामा०, युद्ध०, १४, ३; काशिकाकार जयादित्य ने इसमें शेष विवक्षा, अर्थात् 'तस्येदम्' (अष्टा०, ४।३।१२०) से अण् प्रत्यय किया है, यह चिन्त्य है।

४—इसी प्रकार, भारतीय वाङ्मय में अनेक व्यक्तियों के लिए दो-दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा, अष्टाध्यायी के रचयिता के लिए पाणिनि और पाणिन, वार्तिककार के लिए कात्य और कात्यायन तथा संग्रहकार के लिए दाक्षि और दाक्षायण। द्र० हमारा 'सं० व्या० शा० का इतिहास', तत्तत् प्रकरण।—ले०

१. पूर्वमहाभाष्य का एक वचन उद्धृत किया है। उसमें काशकृत्स्न-व्याकरण का उल्लेख है। पूर्वनिर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय की व्यवस्था के अनुसार स्पष्ट है कि पतञ्जलि काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रवक्ता का नाम काशकृत्स्न मानते थे।

२. पतञ्जलि ने महाभाष्य में काशकृत्स्न-प्रोक्त मीमांसा का भस्मकृत् उल्लेख किया है[1]।

३. महाकवि भास ने[2] यज्ञफलनाटक में भी काशकृत्स्न-प्रोक्त मीमांसा का निर्देश किया है[3]।

४. आचार्य कात्यायन ने श्रौतसूत्र (४।३।१७) में काशकृत्स्न का मत उद्धृत किया है[4]।

**काशकृत्स्न का अन्यत्र उल्लेख**—काशकृत्स्न आचार्य का उल्लेख निम्नोद्धृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—

१. वोपदेव के पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक में अष्ट शाब्दिकों में आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख स्पष्ट है।

२. शाकटायन अमोघा-वृत्ति के पूर्वनिर्दिष्ट 'अकं काशकृत्स्नीयम्' उदाहरण में स्मृत ग्रन्थ का प्रवक्ता तद्धित-प्रत्यय-व्यवस्थानुसार काशकृत्स्न है।

३. भट्टपराशर ने तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में संकर्षकाण्ड (मीमांसा, अ० १३-१६) को काशकृत्स्न-प्रोक्त कहा है[5]।

४. तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का एक यजुःसम्बन्धी मत उद्धृत किया है[6]।

५. बौधायन गृह्यसूत्र में काशकृत्स्न का मत निर्दिष्ट है[7]।

६. वेदान्तसूत्र (१।४।२२) में काशकृत्स्न का मत स्मृत है[8]।

**उपर्युक्त ग्रन्थों में दो नामों से स्मृत एक ही व्यक्ति—काशकृत्स्न और**

---

१—महाभाष्य, ४।१।१४-९३; ४।३।१५५।

२—अनेक विद्वान् यज्ञफलनाटक को भास-कृत नहीं मानते। परन्तु, हम अन्तरङ्ग परीक्षा से इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह भास-कृत ही है।

३—'काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्'। अंक ४, पृ० ११६।

४—,सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः।'

५—'तत्त्वरत्नाकराख्ये भट्टपराशरग्रन्थे संकर्षाख्यश्चतुर्लक्षणात्मको मध्यकाण्डः काशकृत्स्नकृत इत्युच्यते'। अधिकरणसारावली-प्रकाशिका में उद्धृत। द्र० मद्रासराजकीय हस्तलेख-सूची, भाग ४, खण्ड १, बी० नं० ३५५०, पृ० ५२८१।

६—अष्टौ अनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः (पूना-संस्क० २६)।

७—'आहारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः।'
अग्निहोत्रं तथात्रेयः काशकृत्स्नस्तत्पूर्वताम्॥'

८—'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'।

काशकृत्स्न दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में जहां-जहां काशकृत्स्न का स्मरण है, वहां सर्वत्र एक ही व्यक्ति स्मृत है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

**एकता में हेतु**—भारतीय प्राचीन ग्रन्थकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम-निर्देश में बहुत सावधान रहा करते थे। जब इतिहास में एक नाम के अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध होते थे, तब प्राचीन ग्रन्थकार उनमें परस्पर-भेद दरसाने के लिए कोई-न-कोई विशेषण अवश्य प्रयुक्त करते थे[1]। यथा—

कण्वनार्षद ( जै० ब्रा० ); कण्वश्रायस ( तै० सं० २।४।७; मै० सं० ३।२।६; काठक सं० २१।८) कण्वसौश्रवस (का० सं० १३।२); तथा कण्वघौर (ऋक्सर्वा १।३७ का ऋषि)।

यतः उपरिलिखित स्थानों में काशकृत्स्न और काशकृत्स्न का कोई विशेषण उपलब्ध नहीं होता, अतः इन स्थानों में स्मृत व्यक्ति एक ही है, यह निश्चित है।

**वंश**—बौधायन श्रौतसूत्र के तृतीय प्रवराध्याय में लिखा है—

'भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः···पेङ्गलायनाः, वैहीनरयः, काशकृत्स्नाः, पाणिनि-वाल्मीकि···आपिशलयः।'

इस वचन से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-गोत्र भृगुवंश का है। अतः, काशकृत्स्न आचार्य भार्गव है।

**पितृ-नाम**—काशकृत्स्न और काशकृत्स्न में निर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय के अनुसार इन नामों का मूल शब्द काशकृत्स्न था। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कशकृत्स्न शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दरसाई है—

"कशाभिः कृन्तन्ति 'कृते वस्ने इयाट्त्वे च ह्रस्वश्च बहुलम्'[2] इत्यनेन ह्रस्वत्वे कशकृत्स्नः" (पृष्ठ २४)।

अर्थात्, कशापूर्वक कृती छेदने धातु से वस्न प्रत्यय और आकार को ह्रस्व होता है।

**आचार्य-नाम**—तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में भट्टपराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण का शिष्य कहा है। बादरायण कृष्णद्वैपायन का ही नाम है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है।

**शिष्य**—काशिका-वृत्ति (६।२।१०४) में उदाहरण हैं—'पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपर-काशकृत्स्नाः'। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के अनेक शिष्य थे और वे पूर्व तथा अपर दो विभागों में विभक्त माने जाते थे। किस सीमा को मान कर पूर्व और अपर भेद किया जाता था, यह अज्ञात है।

---

१—इतिहास में एक नामवाले व्यक्तियों का सांकर्य न हो जाय, इसके लिए प्राचीन आचार्यों ने तद्धित-प्रत्ययान्त नाम रखने का निषेध किया है—'कृतं कुर्यात् तद्धितम्'। इस अभिप्राय के वचन सभी गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं।

२—यह सूत्र किस व्याकरण का है, यह अज्ञात है।—ले०

जिस प्रकार, पाणिनि ने कुछ शिष्यों को अष्टाध्यायी का लघु पाठ पढ़ाया और कुछ को महापाठ[1]। वे क्रमशः पूर्वपाणिनीय तथा अपरपाणिनीय नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी प्रकार, सम्भव है, काशकृत्स्न ने भी अपने शास्त्र का दो रूपों में प्रवचन किया हो। निरुक्त आदि अनेक प्राचीन शास्त्रों के लघु और महत् दो-दो प्रकार के प्रवचन उपलब्ध होते हैं[2]।

**देश**—काशकृत्स्न आचार्य कहाँ का निवासी था, यह अज्ञात है। पाणिनि अरीहणादि गण (४।२।८०) में काशकृत्स्न पद पढ़ता है। वर्धमान यहाँ कशकृत्स्न का निर्देश करता है[3]। तदनुसार, काशकृत्स्न अथवा कशकृत्स्न से निर्मित अथवा जहाँ इनका निवास था, वह नगर अथवा देश कशकृत्स्न कहलाता था, इतना निश्चित है। पर, इस नगर अथवा देश की स्थिति कहाँ थी, यह अज्ञात है।

काशकृत्स्न सम्भवतः उत्तरभारतीय था—दैवं ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्णलील शुकमुनि (सं० १३०० वि०) पुरुषकार, पृष्ठ ६१ पर, लिखता है—

'धनपालस्तु तमेव प्रत्युत्याह—वनु घटादिषु पठन्ति द्रमिडाः। तेषां (नित्यं) मित्संज्ञा—वनयति। आर्यास्तु विभाषामित्त्वमिच्छन्ति। तेषां वानयति वनयति।'

अर्थात्, धनपाल कहता है कि द्रमिड वनु धातु का 'वनयति' रूप मानते हैं और आर्य 'वानयति' तथा 'वनयति' दो रूप।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के 'ग्लाम्नावनुवमश्वनकर्म्मामचमः' सूत्रानुसार 'वन' धातु की विकल्प से मित्-संज्ञा होती है और वानयति, वनयति दो रूप निष्पन्न होते हैं[4]।

**काल**—हमारे मित्र पं० श्रीक्षितीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय (कलकत्ता) का विचार है कि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती है,[5] परन्तु उन्होंने इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया।

**पाणिनि से पूर्ववर्ती**—काशकृत्स्न निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. पाणिनीय गणपाठ के अन्तर्गत उपकादि गण (२।४।६८) में 'कशकृत्स्न' और अरीहणादिगण (४।२।८०) में 'काशकृत्स्न' पठित है।

२. वेदान्तसूत्र निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। अतः उनमें स्मृत आचार्य कृष्णद्वैपायन का समकालिक होगा, अथवा उससे पूर्ववर्ती।

---

१—'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० १५१।

२—'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० १५१।

३—डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने 'काशकृत्स्न' शुद्ध पाठ माना है—'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष', पृ० ४८८।

४—काशकृत्स्न-धातुपाठकन्नड-टीका, पृ० १४३।

५—टेक्निकल टर्म्स आफ् संस्कृत-ग्रामर, पृष्ठ २७७।

३. तत्त्वरत्नाकर के रचयिता भट्टपराशर के मतानुसार काशकृत्स्न बादरायण = कृष्णद्वैपायन का शिष्य था।

४. महाभाष्य, पस्पशाह्निक के अन्त में क्रमशः पाणिनि आपिशलि और काशकृत्स्न-प्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख है—'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्।'

इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है। अतएव, उसका पाणिनि के अनन्तर निर्देश किया है। इसी क्रमानुसार काशकृत्स्न न केवल पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होगा, अपितु वह आपिशलि से भी पूर्ववर्त्ती होगा।

५. तीन-चार वर्ष हुए, काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाशित हुआ है। उसमें पाणिनि के धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएँ अधिक हैं। भारतीय ग्रन्थ-प्रवचन-परिपाटी के अनुसार ग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेपीकरण हुआ है। व्याकरण के उपलब्ध ग्रन्थों के अवलोकन से इस बात की सत्यता भली भाँति समझी जा सकती है। इससे मानना होगा कि काशकृत्स्न-धातुपाठ पाणिनीय धातुपाठ से प्राचीन है।

६. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक धातुओं के दो-दो रूप हैं। यथा, 'ईड ईल स्तुतौ' (पृष्ठ १७०)। पाणिनि ने इनमें से केवल ईड रूप पढ़ा है। अतएव, उत्तरवर्त्ती वैयाकरण इडा और इला शब्दों की सिद्धि एक ही ईड धातु से करते हुए, ड-ल वर्णों का अभेद मानते हैं।

७. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक ऐसी धातुएँ हैं, जो उभयपदी हैं। उनके परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों प्रक्रियाओं के रूप होते हैं। यथा, 'वस निवासे' (१६१), 'ट्वोश्वि गतिवृद्ध्योः' (पृष्ठ १६१) और 'वद व्यक्तायां वाचि' (पृष्ठ १६१)। पाणिनि इन्हें केवल परस्मैपदी पढ़ता है।

संख्या ६ के प्रमाण से विदित होता है कि काशकृत्स्न के समय ईड और ईल दोनों धातुओं के आख्यात के स्वतन्त्र प्रयोग लोक में प्रचलित थे। इसलिए, उसने दोनों धातुओं को स्वतन्त्र रूप से पढ़ा। परन्तु, पाणिनि के समय ईड धातु के ही रूप लोकप्रचलित रह गये। अतः, उसने ईल का पाठ नहीं किया, केवल ईड धातु ही पढ़ी। इसी प्रकार, संख्या ७ के अनुसार काशकृत्स्न के धातुपाठ में वस, श्वि और वद धातु को उभयपदी पढ़ना इस बात का प्रमाण है कि उसके काल में इन धातुओं के दोनों प्रकार के रूप लोक में प्रचलित थे। पाणिनि के समय केवल परस्मैपद के रूप अवशिष्ट रह गये थे, अतएव इन्हें केवल परस्मैपदी पढ़ा।

८. महाभाष्य, ५।१।२१ पर कैयट लिखता है—

'आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचनात्।'

अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनीय 'शताच्च ठन्यतावशते' (५।१।२१) सूत्र के स्थान में 'शताच्च ठन्यतावग्रन्थे' पाठ था। आपिशल पाणिनि से प्राचीन है। अतः, उसके साथ स्मृत काशकृत्स्न भी पाणिनि से प्राचीन होगा। इतना ही नहीं, यदि यह माना जाय कि पाणिनि आपिशलि के सूत्रपाठ में कुछ अनौचित्य

समझकर 'अग्नये' का 'अग्नते' रूप में परिष्कार किया है, तो निश्चय ही मानना होगा कि आपिशलि के समान 'अग्नये' पढ़नेवाला काशकृत्स्न भी पाणिनि से पूर्वभावी है। यह नहीं हो सकता कि पाणिनि आपिशल-सूत्र का परिष्कार करे और पाणिनि से उत्तरवर्ती (जैसा कुछ व्यक्ति मानते हैं) काशकृत्स्न पाणिनि के परिष्कार को छोड़कर पुनः आपिशलि के अपरिष्कृत अंश को स्वीकार कर ले।

९. भर्तृहरि के 'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे' वचन की व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

'आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते।' वाक्यपदीय, काण्ड ३, पृ० ७१४ (काशी-संस्क०)।

अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनि द्वारा पठित 'तदर्हम्' सूत्र नहीं था।

प्रतीत होता है, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में 'तदर्हम्' सूत्र के न होने के कारण ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के इस सूत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन बड़े यत्न से किया है। यदि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती होता, तो निश्चय ही वह पाणिनि का अनुकरण करता, न कि आपिशलि का।

१०. कातन्त्र-व्याकरण में एक सूत्र है—'भिस् ऐस् वा', अर्थात् अकारान्त शब्दों से परे तृतीया विभक्ति के बहुवचन 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' विकल्प करके होता है[1]। यथा, देवैभिः, देवैः।

कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है, यह आगे दरसायेंगे। तदनुसार, कातन्त्रकार ने यह सूत्र अथवा मत काशकृत्स्न से लिया होगा। पाणिनि के अनुसार लोक में केवल 'ऐस्' के 'देवैः' आदि प्रयोग होते हैं। कातन्त्र विशुद्ध लौकिक शब्दों का व्याकरण है[2]। अतः, उसका उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण उस काल की रचना होना चाहिए, जब भाषा में 'भिस्' और 'ऐस्' दोनों के 'देवैभिः, देवैः' रूप प्रयुक्त हों। वह काल पाणिनि से निश्चय ही पर्याप्त प्राचीन होगा।

११. पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादि गण के तथा स्वादि गण के अन्त में 'छन्दसि' निर्देशपूर्वक जो धातुएँ पढ़ी हैं, प्रायः वे सभी धातुएँ काशकृत्स्न-धातुपाठ में 'छन्दसि' निर्देश के विना ही पढ़ी गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न पाणिनि से बहुत प्राचीन है। पाणिनि के समय वैदिक मानी जानेवाली धातुएँ उसके काल में लोक में भी प्रचलित थीं। अन्यथा, वह भी पाणिनि के समान इनके लिए 'छन्दसि' का निर्देश करता।

---

१—टीकाकारों ने इस सूत्र के अर्थ में बड़ी खींचातानी की है।

२—शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्ययमुच्यते। नह्ययं (कातन्त्रकारः) छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयति। कातन्त्रवृत्ति, परिशिष्ट, पृ० ५३०।—सं०

इन उपयुक्त प्रमाणों और हेतुओं से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही बहुत पूर्ववर्ती है। इतना ही नहीं, हमारे विचार में तो काशकृत्स्न आपिशलि से भी प्राचीन है।

पाश्चात्य ऐतिहासिक पाणिनि को विक्रम से ४००—६०० वर्ष पूर्व मानते हैं। यह मत भारतीय अनवच्छिन्न परम्परा के अनुसार नितान्त मिथ्या है। पाणिनि विक्रम से निश्चय ही २८०० वर्ष प्राचीन है, यह हम अपने संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के इतिहास में सप्रमाण प्रमाणित कर चुके हैं[1]। तदनुसार, काशकृत्स्न का काल भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) के आसपास मानना होगा।

काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्ववर्ती मानने में एक प्रमाण बाधक हो सकता है, वह है काशिका ६।२।३६ का पाठ—'आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः'। इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। यदि अगले उदाहरणों में भी इसी प्रकार पौर्वापर्य-व्यवस्था मानी जाय, तो पाणिनि से अर्वाचीन रौढि और उससे अर्वाचीन काशकृत्स्न को मानना होगा। परन्तु, यह कल्पना पूर्वोक्त प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य है। इतना ही नहीं, वर्धमान के मतानुसार 'पाणिनीयरौढीयाः रौढीय-पाणिनीयाः' आदि दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं (गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २६)। अतः, स्पष्ट है कि काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है।

## काशकृत्स्न-व्याकरण का परिचय

**नाम**—अभी कुछ वर्ष हुए, काशकृत्स्न का कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसका नाम है—काशकृत्स्नशब्दकलाप धातुपाठ। इस नाम में शब्द-कलाप पद धातुपाठ का विशेषण है, अथवा काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम है, यह सन्दिग्ध है। 'शब्दानां प्रकृत्यात्मिकां कलां पाति रक्षति, (= शब्दों की प्रकृति रूप कला = अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति के अनुसार यह धातुपाठ का विशेषण हो सकता है। परन्तु, हमारा विचार है कि शब्दकलाप काशकृत्स्न-शब्दानुशासन का प्रधान नाम था। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

---

१—इसके लिए द्र० हमारा 'सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० १३५-१४०। डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ (हिन्दी-संस्करण) अभी प्रकाशित हुआ है। हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ६ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। परन्तु, आपने अपने ग्रन्थ में पाणिनि के काल की विवेचना करते हुए हमारे एक भी प्रमाण की आलोचना बिना किये पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित काल ही स्वीकार किया है। 'गतानुगतिको लोकः' कहावत के अनुसार उन्हें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित काल-विभाग का अनुसरण करना ही उचित प्रतीत हुआ होगा।—ले०

कातन्त्र, अपरनाम कलापक-व्याकरण[१] के 'कलापक' नाम में ह्रस्व अर्थ में जो 'क' प्रत्यय (अष्टा०, ५।३।८६) हुआ है[२], उससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र-व्याकरण जिस तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है[३], उसका मूलनाम 'कलाप' है। हम आगे सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि वर्त्तमान कातन्त्र, अपरनाम कलापक अथवा कौमार-व्याकरण[४] काशकृत्स्न के महातन्त्र[५] का ही संक्षेप है। अतः, काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम 'कलाप' ही प्रतीत होता है।

**शब्दकलाप का अर्थ**—हम बहुत विचार के अनन्तर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'शब्दकलाप' पद का अर्थ शब्दों की 'कलाओं = अंशों का पान करनेवाला', अर्थात् किसी बृहत् शब्दानुशासन का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें निम्नाङ्कित कारण है—

काशिका, ४।३।१।१५, जैन शाकटायन, ३।१।१८२ की चिन्तामणि-वृत्ति तथा सरस्वती-कण्ठाभरण, ४।३।२।४५ की हृदयहारिणी टीका में एक उदाहरण है—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्'। यह उदाहरण जिस सूत्र का है, उसके अनुसार इसका अर्थ है—काशकृत्स्न ने किसी के उपदेश के विना अपनी प्रतिभा से अपने शास्त्र में शब्दों के गौरव-लाघव का विचार करके अनन्त शब्दराशि में लोकप्रसिद्ध मुख्य शब्दों का ही उपदेश किया और अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया। अर्थात्, काशकृत्स्न ने शब्द-शास्त्र के संक्षेप करने में शब्दों के गौरव= प्रसिद्धि और लाघव = अप्रसिद्धि पर अधिक ध्यान दिया। अतः, उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने किसी पूर्व व्याकरण-शास्त्र में अप्रसिद्ध शब्दविषयक सूत्रों को कम कर दिया, अर्थात् किसी पूर्व बृहत् शास्त्र का संक्षेप से उपदेश किया। इसलिए, शब्दकलाप का उपरि-विवृत अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के सम्पादक श्री ए० एन्० नरसिंहिया ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में 'शब्दकलाप' नाम के विषय में अपना कुछ भी विचार प्रकट नहीं किया।

---

१—सम्प्रति इसका 'कलाप' नाम से भी व्यवहार होता है। यह व्यवहार चिन्त्य है, ऐसा अगले विवेचन से स्पष्ट है।

२—दशपादी-उणादि-वृत्तिकार ने ३।५ (पृ० १३०) पर कलापक शब्द में 'कला' उपपद होने पर 'आङ्'-पूर्वक 'पा पाने' धातु से 'क्वुन्' प्रत्यय माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने धातुपारायण (पृ० ६) तथा उणादि (पृ० १०) में दशपादी-वृत्तिकार का ही अनुसरण किया है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों लेखकों की व्युत्पत्तियाँ अशुद्ध हैं।

३—कातन्त्र शब्द का अर्थ भी ईषत् तन्त्र है। द्र० 'सं० व्या० शा० का इतिहास', पृ० ३९७।

४—कातन्त्र की रचना छोटे बालकों के लिए हुई, यह इस नाम से स्पष्ट है।

५—हमारे विचार में गायकवाड़-संस्कृत-सीरिज में प्रकाशित बालिद्वीपीय ग्रन्थ-संग्रह के अन्तर्गत कारक-संग्रह के अन्तिम श्लोक 'कातन्त्रं च महातन्त्रं दृष्ट्वा तेन उदाहृत।' में स्मृत महातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र ही है।—ले०

केवल 'काशकृत्स्न शब्दकलाप-धातुपाठ नाम के कारण कुछ लोगों का कहना है कि इसका सम्बन्ध कलाप-व्याकरण से है। कलाप-व्याकरण के कुमार-व्याकरण और कातन्त्र-व्याकरण नामान्तर है' इतना ही लिखकर इस प्रश्न को टाल दिया है।

**परिमाण : तीन अध्याय**—काशकृत्स्न-व्याकरण में कितने अध्याय, पाद तथा सूत्र थे, इसका निर्देशक कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काशिका और अमोघा-वृत्ति के पूर्व उद्धृत 'त्रिकं काशकृत्स्नम्, त्रिकं काशकृत्स्नीयम्' उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के किसी सूत्रात्मक ग्रन्थ में तीन अध्याय थे। हमारे विचार में, उक्त उदाहरणों में स्मृत अध्यायत्रयात्मक काशकृत्स्न-ग्रन्थ व्याकरणविषयक था, इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. काशिका, ५।१।४८ तथा जैन शाकटायन, ३।२।१६१ की अमोघा-वृत्ति में पूर्वोद्धृत उदाहरणों के साथ निर्दिष्ट 'अष्टकं पाणिनीयम्' आदि उदाहरणों में जितने अन्य सूत्र-ग्रन्थ स्मरण किये गये है, वे सब निश्चय ही व्याकरणविषयक है[1]। इसलिए, साहचर्य-नियम से उनके साथ स्मृत काशकृत्स्न का अध्यायत्रयात्मक ग्रन्थ भी व्याकरणविषयक ही होना चाहिए।

२. कलापक, अपरनाम कातन्त्र-व्याकरण काशकृत्स्न-व्याकरण का संक्षेप है, यह हम आगे सप्रमाण दरसायेंगे। मूल कातन्त्र-व्याकरण[2] में भी तीन ही अध्याय है। अतः, यह अधिक सम्भव है कि कातन्त्र-व्याकरण के उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण में भी तीन ही अध्याय हों।

पाणिनि-व्याकरण के संक्षेपक चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में पाणिनीय तन्त्रवत् आठ ही अध्याय रखे थे[3]। पाणिनीय तथा चान्द्र व्याकरणों के अनुसर्त्ता भोज ने भी अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण को आठ अध्यायों में ही विभक्त किया है। इतना ही नहीं, स्वयं पाणिनि ने भी व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों को अपने उपजीव्य आपिशल-व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों के अनुसार क्रमशः आठ अध्यायों तथा आठ प्रकरणों में विभक्त किया है[4]।

---

१—'दशकं वैयाद्युपद्यम्' के लिए द्र० हमारा 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० ८६।

२—मूल कातन्त्र आख्यातान्त है। उत्तर-कृदन्त-भाग (अध्याय ४) कात्यायन द्वारा परिवर्द्धित है। द्र० 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास'।

३—उपलब्ध चान्द्र व्याकरण में केवल छह ही अध्याय हैं, परन्तु मूल ग्रन्थ में आठ अध्याय थे। बौद्धमतानुयायियों की उपेक्षा के कारण अन्त के स्वरवैदिक-प्रक्रिया-सम्बन्धी दो अध्याय लुप्त हो गये। हमने इन लुप्त दो अध्यायों के अनेक सूत्र उपलब्ध कर लिये हैं। विशेष द्र० 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० ४१६।

४—हरदत्त के लेखानुसार ( पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ६-७ ) पाणिनीय व्याकरण का उपजीव्य आपिशल-व्याकरण है। द्र० 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० ९५। आपिशल और पाणिनीय-शिक्षा के लिए द्र० हमारे द्वारा सम्पादित 'शिक्षासूत्राणि' (आपिशलपाणिनीयचान्द्र शिक्षासूत्र) ग्रन्थ।—ले०

इसी प्रकार, कातन्त्र के व्याकरणप्रवक्ता ने भी तीन अध्यायों का विभागीकरण अपने उपजीव्य काशकृत्स्न-तन्त्र के अनुरूप ही किया हो, यह अधिक सम्भव है।

इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि कातन्त्र-धातुपाठ में काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान ही धातुओं को नव गणों में विभक्त किया है ( जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्गत माना है)।

प्रति अध्याय पाद-संख्या—काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रत्येक अध्याय में कितने पाद थे, यह ज्ञात नहीं। काशकृत्स्न से लघु पाणिनीय तन्त्र में आठ अध्याय हैं और प्रति अध्याय चार-चार पाद। ऐसी अवस्था में काशकृत्स्न-व्याकरण के तीन अध्यायों में प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अवश्य ही अधिक रही होगी। कातन्त्र के तीन अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच तथा दस पाद हैं।

काशकृत्स्न-तन्त्र संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय तन्त्र से विस्तृत—हम पहले लिख चुके हैं कि काशकृत्स्न का शब्दानुशासन किसी प्राचीन महातन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। मूल काशकृत्स्न-व्याकरण के अनुपलब्ध होने पर भी हमारा विचार है कि काशकृत्स्न का व्याकरण संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय अनुशासन से अधिक विस्तृत था। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. काशकृत्स्न-व्याकरण के आज तक हमें जितने सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनकी पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलना करने से विदित होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में अनेक ऐसे पदों का अन्वाख्यान था, जिनका पाणिनीय तन्त्र में निर्देश नहीं है। यथा—

(क) ब्रह्म—'बर्हेरुरो मनि'; पृ० ६७।

(ख) कश्यप, कशिपु—'कशेर्यप इपुश्च'; पृ० ७९।

(ग) पुलस्त्य, अगस्ति—'पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च'; पृ० ८९।

(घ) लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्ष्मण—'लक्षेर्मीमनमनाः'; पृ० २५३।

२. चन्नवीरकवि-कृत कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसमें पाणिनीय धातुपाठ से लगभग ४५० धातुएं अधिक हैं[1]।

जिस व्याकरण में धातुओं की संख्या जितनी अधिक होगी, निश्चय ही वह व्याकरण भी अधिक विस्तृत होगा।

वैशिष्ट्य—किस व्याकरण में क्या वैशिष्ट्य है, इसका ज्ञान विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों में उल्लिखित निम्नाङ्कित उदाहरणों से होता है। यथा—

---

१—वस्तुतः, काशकृत्स्न-धातुपाठ में लगभग ६५० धातुएँ ऐसी हैं, जो पाणिनीय धातुपाठ में नहीं हैं। लगभग २०० धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ में ऐसी हैं, जो काशकृत्स्न-धातुपाठ में नहीं हैं। अतः, दोनों ग्रन्थों की पूर्ण धातु-संख्या की दृष्टि से काशकृत्स्न-धातुपाठ में ४५० धातुएँ अधिक लिखी हैं।—ले०

१. 'आपिशलं पुष्करणम्'[१], काशिका, ४।३।११५; 'आपिशलमान्तःकरणम्'[२], सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका, ४।३।२४५।

२. पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्', काशिका, ४।३।११५; जैन शाकटायन, चिन्तामणि-वृत्ति, ३।१।१८२; 'पाणिनीयप्रत्यमकालकं व्याकरणम्', काशिका, ६।२।१४।

३. 'चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्', सरस्वतीकण्ठाभरण-हृदयहारिणी टीका, ४।३।२४५; 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्', चान्द्रवृत्ति, २।२।८६; वामनीय लिङ्गानुशासन, पृ० ७।

इसी प्रकार, काशकृत्स्न-व्याकरण की विशिष्टता का बोधक एक उदाहरण है—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्'।

यह उदाहरण काशिका, ४।३।११५, सरस्वतीकण्ठाभरण, ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका तथा जैन शाकटायन, ३।१।१८२ की चिन्तामणि-टीका में उपलब्ध होता है।

इन सब उदाहरणों से व्यक्त है कि जिस प्रकार पाणिनीय तन्त्र की विशेषता काल-परिभाषाओं का अनिर्देश है, चान्द्र तन्त्र की विशेषता संज्ञा-निर्देश विना किये शास्त्र-प्रवचन है, उसी प्रकार काशकृत्स्न-तन्त्र की विशेषता गुरु-लाघव है।

**गुरु-लाघव शब्द का अर्थ**—हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (पृ० ८३) में लिखा था—

"व्याकरण-शास्त्र की सूत्र-रचना में गुरु-लाघव (गौरव-लाघव) का विचार सबसे प्रथम काशकृत्स्न आचार्य ने प्रारम्भ किया था। उससे पूर्व सूत्र-रचना में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता था।"

पुनः इसी पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी में लिखा था—

"हमारा विचार है, काशकृत्स्न से पूर्व सूत्र-रचना सम्भवतः ऋक्प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध होती थी। छन्दोबद्ध रचना होने पर गौरव-लाघव का विचार पूर्णतया नहीं रखा जा सकता। उसमें श्लोकपूर्त्यर्थ अनेक अनावश्यक पदों का समावेश करना पड़ता है।"

इनका भाव यह है कि सूत्रों की लघुता के लिए गद्य का आश्रय सबसे पूर्व काशकृत्स्न ने लिया था, उससे पूर्व सूत्र-रचना छन्दोबद्ध होती थी।

**पूर्वलेख अशुद्ध**—काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी कन्नड-टीका में १३५ सूत्रों के प्रकाश में आ जाने से हमें पूर्वविचार छोड़ना पड़ा। काशकृत्स्न-सूत्रों की कातन्त्र-सूत्रों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण भी सम्भवतः श्लोकबद्ध रहा होगा।

---

१-२—इन उदाहरणों का अभिप्राय अस्पष्ट है। वामन ने काशिका-वृत्ति, ६।२।१४ में 'आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्' उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि यहाँ मूल पाठ 'आपिशल्युपज्ञं दुष्करणम्, काशकृत्स्न्युपज्ञं गुरुलाघवम्' रहा होगा। मध्य में से 'दुष्करणं काशकृत्स्न्युपज्ञं' पाठ त्रुटित हो गया। तुलनीय: काशिका, ४।३।११५—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्।'—ले०

**गुरु-लाघव का नवीन अर्थ**—हम पहले लिख चुके हैं कि भारतीय इतिहास और व्याकरण के उपलब्ध तन्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि व्याकरण-शास्त्र के प्रवचन में उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। काशकृत्स्न ने अपने संक्षिप्त (पूर्वापेक्षया) शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव = लोक में प्रयोग और लाघव = लोक में अप्रयोग को मुख्यता दी। दूसरे शब्दों में काशकृत्स्न ने अपने शास्त्र-प्रवचन में लोक में अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया, अतः उसका शास्त्र पूर्वतन्त्रों की अपेक्षा बहुत छोटा हो गया। इसी कारण, उसका नाम लोक में 'शब्दकलाप' प्रसिद्ध हुआ।

**काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध**—काशकृत्स्न का व्याकरण ऋक्प्रातिशाख्य के समान पद्यबद्ध था, न कि पाणिनीय तन्त्र के समान गद्यबद्ध। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. मूल कातन्त्र-व्याकरण का पर्याप्त भाग छन्दोबद्ध है। कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षिप्त प्रवचन है। इससे अनुमान होता है कि काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध रहा होगा।

२. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो विकीर्ण सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें प्रत्यय-निर्देश दो प्रकार से मिलता है। सूत्र में जहां एक से अधिक प्रत्ययों का निर्देश है, वहां कहीं प्रत्ययों का समास से निर्देश किया है, कहीं पृथक्-पृथक्। यथा—

समस्तनिर्देश—'लक्षेर्मीमनमनाः' (पृ० २५३); 'नाम्न उपमानादाचारे आयङीयौ' (पृ० ३००)।

असमस्तनिर्देश—'कर्तर्यप इषुच्च' (पृ० ७६); 'पुल्यगस्तिभ्यामस्त्योस्तिश्च' (पृ० ८६)।

प्रत्ययों का इस प्रकार समस्त और असमस्त उभयथा निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब सूत्र-रचना छन्दोबद्ध हो और छन्दोऽनुरोध से कहीं समस्त और कहीं असमस्त निर्देश करना पड़े।

३. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें कतिपय स्पष्ट श्लोक अथवा श्लोकांश हैं। यथा—

(क) 'भूते भव्ये वर्त्तमाने भावे कर्त्तरि कर्मणि।
प्रयोजके गुणे साम्ये धातुभ्यः स्युः क्रियादयः॥

(ख) 'गृहाः पुंसि च नाम्न्येव'।

(ग) 'अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यड्स्मृतः॥

काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, वे उसके तन्त्र के विविध प्रकरणों के हैं, इसलिए गद्यबद्ध प्रतीयमान सूत्रों के विषय में भी श्लोकबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण नहीं होता।

## काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप कातन्त्र

कातन्त्र-व्याकरण केवल लौकिक शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन करता है, परन्तु उसमें कतिपय कार्य ऐसे भी निर्दिष्ट हैं, जो पाणिनीय वैयाकरणों की दृष्टि से वैदिक

शब्द-सम्बन्धी है[1]। एक विशुद्ध और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त लौकिक व्याकरण में वैदिक शब्द-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख होना बड़े आश्चर्य का विषय है। हम कातन्त्र का गम्भीर अनुशीलन करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कातन्त्र किसी ऐसे प्राचीन व्याकरण का संक्षेप है, जिसके काल में पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा वैदिक कहे गये पद लोक-भाषा में प्रयुक्त थे। इसी विचार से हमने सं० २००७ वि० में प्रकाशित 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में लिखा था—

"कातन्त्र किसी अत्यन्त प्राचीन तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है। अतः, उसमें कुछ प्राचीन (उत्तरकाल में छान्दस माने गये) अंश का विद्यमान रहना स्वाभाविक है" (पृ० २६)।

काशकृत्स्न के कतिपय उपलब्ध सूत्र—हमने संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के इतिहास में काशकृत्स्न के चार-पांच सूत्र उद्धृत किये थे। तत्पश्चात्, सं० २००८ वि० के अन्त में काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाश में आया। ऐसे दुर्लभ और पाणिनि से प्राचीन आर्यग्रन्थ के अनुशीलन के लिए मन लालायित हो उठा, परन्तु कन्नड-भाषा का परिज्ञान न होने के कारण उससे वंचित रह गये। अन्त में, हमने किसी प्रकार सं० २०११ वि० में इसकी नागराक्षरों में प्रतिलिपि करवाई। इस नये ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत-भाषा और उसके व्याकरण के सम्बन्ध में जहां अनेक रहस्य विदित हुए, 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' के प्रथम अध्याय में उल्लिखित प्राचीन संस्कृत-भाषा-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि हुई, वहां काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १३५ नये सूत्र उपलब्ध हुए।

**काशकृत्स्न और कातन्त्र-सूत्रों की समानता**—कातन्त्र-व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त है। उसके मूल ग्रन्थ में कृदन्त-प्रकरण भी नहीं है[2]। अतः, काशकृत्स्न के उपलब्ध समस्त सूत्रों की उपलब्धि उसमें सम्भव ही नहीं। पुनरपि, काशकृत्स्न के ३० सूत्र कातन्त्र में उपलब्ध हो जाते हैं। उनमें से अधिकांश अक्षरशः समान हैं, कतिपय स्वल्प भेद से हैं।

**संज्ञाओं में समानता**—काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों और कातन्त्र-व्याकरण में प्रयुक्त संज्ञाएं परस्पर समान हैं। इस प्रकार, उपयुक्त हेतुओं से हमने अनुमान किया था कि कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है।

**कातन्त्र धातुपाठ की उपलब्धि**—लगभग ढाई वर्ष की बात है, हमने अपने मित्र श्रीकपिलदेव, साहित्याचार्य, एम्० ए० को पी-एच्० डी० के लिए पाणिनीय गणपाठ पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया था। गणपाठ के संशोधन के लिए उन्होंने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत किये। उनका उपयोग करके उन्होंने हमें उनका संक्षिप्त विवरण लिखा। उसीमें संकेत किया कि बाहर से मँगवाये गये गणपाठ के हस्तलेखों में कातन्त्र-सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ था, जिसपर गणपाठ लिखा था, परन्तु था वह धातुपाठ का। इसलिए, हमने उसे लौटा दिया।

---

१—'सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', पृ० २८—३०।

२—कृदन्त-भाग कात्यायन (वररुचि)-कृत है। द्र० 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ४०५।—ले०

कातन्त्र-व्याकरण में प्राक्पाणिनीय व्याकरण-सामग्री का निर्देश होने से हमें उसके साथ स्वाभाविक अनुराग हो गया है। क्षीरस्वामी-कृत पाणिनीय धातुपाठ-व्याख्या के सम्पादक लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में, परिशिष्ट में शर्ववर्मकृत धातुपाठ का तिब्बती अनुवाद छापा है। शर्ववर्म का कातन्त्र से गहरा सम्बन्ध होने के कारण इसे ही कातन्त्र का धातुपाठ समझते थे। इसलिए, हम उसके मूल संस्कृत-पाठ के लिए वर्षों से प्रयत्नशील थे। अपने मित्र की उक्त सूचना पाते ही हमने लिखा कि वे इस अलभ्य ग्रन्थ को, जैसे भी हो, पुनः मंगवाकर, उसकी प्रतिलिपि करा कर हमारे पास भेजें। ग्रन्थ के मंगवाने तथा प्रतिलिपि कराने में समय लगना स्वाभाविक था, परन्तु हम उसे देखने के लिए अत्यन्त लालायित थे। श्रीकपिलदेवजी ने कातन्त्र-धातुपाठ की प्रतिलिपि भेजी। मूल ग्रन्थ पुरानी बंगला-लिपि में लिखा हुआ है। कपिलदेवजी ने अपने एक बंगाली मित्र की सहायता से इसकी प्रतिलिपि की थी। ग्रन्थ कई स्थानों पर खण्डित है। पुनरपि, यह बड़े महत्त्व और शोध का ग्रन्थ है।

**दोनों धातुपाठों की समानता**—चिरकाल से इच्छित कातन्त्र-धातुपाठ को प्राप्त कर हर्ष होना स्वाभाविक था, परन्तु जब हमने उसकी काशकृत्स्न-धातुपाठ के साथ तुलना की, तब हर्ष की कोई सीमा न रही। कातन्त्र धातुपाठ संक्षिप्त होते हुए भी काशकृत्स्न-धातुपाठ का अनुकरण करता है। यद्यपि संक्षिप्त होने के कारण बीच-बीच में कतिपय धातुएं नहीं मिलती हैं, तथापि धातु का स्वरूप, अनुबन्ध, अर्थ-निर्देश-क्रम और गण-विभाग आदि में वह पूर्णतया काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान है। इससे भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि कातन्त्र वस्तुतः काशकृत्स्न का संक्षिप्त संस्करण है।

**वैदिक धातुओं का उभयत्र समान पाठ**—काशकृत्स्न पाणिनि से पर्याप्त पूर्ववर्ती है, यह हम पहले लिख चुके हैं। पाणिनीय धातुपाठ में जुहोत्यादि और स्वादि गण के अन्त में कुछ ऐसी धातुएं पढ़ी गई हैं, जिनके आदि अथवा अन्त में 'छन्दसि' सूत्र से उनका छान्दसत्व व्यक्त किया गया है। परन्तु, काशकृत्स्न-धातुपाठ में इन धातुओं का पाठ साधारण रूप से है, 'छन्दसि' का निर्देश उसमें नहीं है। काशकृत्स्न के उत्तर-काल में पाणिनि द्वारा इनके छान्दसत्व की घोषणा हो जाने पर भी ये धातुएं काशकृत्स्न का संक्षेप होने के कारण कातन्त्र-धातुपाठ में स्थान पा गईं।

जिस प्रकार, कातन्त्र-सूत्रपाठ में कुछ वैदिक माने गये शब्दों के नियम उपलब्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार धातुपाठ में भी कतिपय छान्दस मानी गई धातुएं उपलब्ध हैं। इस सादृश्य से भी यही प्रकट होता है कि जैसे कातन्त्र-धातुपाठ काशकृत्स्न-धातुपाठ का क्रमशः संक्षेप है, वैसे ही कातन्त्र का सूत्रपाठ भी काशकृत्स्न का संक्षेप होगा।

## काशकृत्स्न-धातुपाठ से प्रभावित चान्द्रधातुपाठ

आचार्य चन्द्रगोमी-प्रोक्त सूत्रपाठ यद्यपि पाणिनीय अष्टाध्यायी से अधिक प्रभावित है, तथापि धातुपाठ पाणिनीय पाठ से विशेष प्रभावित नहीं है। पाणिनीय धातुपाठ में भ्वादिगण में तथा अन्यत्र भी यथासम्भव आत्मनेपद-परस्मैपद धातुओं को

साथ-साथ पढ़ा गया है। यथा, धातुपाठ के आरम्भ में पहले तवर्गीयान्त आत्मनेपदी एधादि धातुएँ, तत्पश्चात् तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातुएँ। तदनन्तर, कवर्गीयान्त आत्मनेपदी, पुनः कवर्गीयान्त परस्मैपदी। परन्तु, चान्द्र धातुपाठ में पहले सभी (अवान्तर गणविशेष को छोड़कर) परस्मैपदी धातुएँ पढ़ी गई हैं, तदनन्तर आत्मनेपदी, तत्पश्चात् उभयपदी। इसी प्रकार, पाणिनीय धातुपाठ में जो एकार्थक धातुएं पृथक्-पृथक् पढ़ी गई थीं, यथा अद भक्षणे और प्सा भक्षणे, उन्हें चान्द्र धातुपाठ में एकत्र पढ़ा गया है, यथा अदप्सा भक्षणे।

काशकृत्स्न-धातुपाठ की उपलब्धि के पूर्व समझ में नहीं आता था कि चन्द्रगोमी ने धातुपाठ में पाणिनि का अनुकरण न करके स्वतन्त्र क्रम-निर्धारण क्यों किया। परन्तु, काशकृत्स्न-धातुपाठ की उपलब्धि होने से स्पष्ट हो गया कि चन्द्रगोमी ने यह क्रम काशकृत्स्न धातुपाठ से लिया है। चन्द्रगोमी धातुपाठ के प्रवचन में, धातुक्रम-निर्देश में नब्बे प्रतिशत काशकृत्स्न का अनुकरण करता है, कहीं-कहीं पाणिनीय धातुपाठ का भी। यह काशकृत्स्न, पाणिनीय तथा चान्द्र धातुपाठ की तुलना से सर्वथा स्पष्ट है।

## काशकृत्स्न-धातुपाठ कल्पित नहीं है

काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-लिपि में छपा है, अतः वह अभी पाश्चात्य और तदनुयायी भारतीय विद्वानों की दृष्टि में विशेष रूप से नहीं आया। परन्तु, कालान्तर में जभी इस धातुपाठ की ओर पाश्चात्य तथा तदनुयायी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होगा, तभी वे एकबार इसे कल्पित (जाली) कह उठेंगे। क्योंकि, इस धातुपाठ से पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों पर भारी कुठाराघात होता है[1] और प्राचीन संस्कृत अथवा अतिभाषा अथवा आदिभाषा[2] के दिव्य स्वरूप पर महान् प्रकाश पड़ता है। शतशः ऐसे शब्द, जिसे पाश्चात्य भाषाविदों ने अभारतीय अथवा प्राकृत और अपभ्रंश आदि के स्वीकार किये हैं, इस धातुपाठ के प्रकाश में विशुद्ध संस्कृत भाषा के प्रतीत होते हैं, यह सिद्ध होता है।

चान्द्र तथा कातन्त्र-धातुपाठ का उपजीव्य होने से काशकृत्स्न-धातुपाठ निश्चय ही इन दोनों से प्राचीन है। कातन्त्र-धातुपाठ पर कातन्त्र-व्याख्याता दुर्गसिंह की व्याख्या भी है। माधवीया धातुवृत्ति तथा क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत दुर्गमतानुसारी धातुएँ इस कातन्त्र-धातुपाठ में प्रायः मिलती हैं। सम्भव है, यदि हमारा कातन्त्र-धातुपाठ का हस्तलेख शुद्ध और त्रुटित न होता, तो सभी पाठ मिल जाते। दुर्गसिंह-विरचित धातुवृत्ति के हस्तलेख कई स्थानों पर उपलब्ध हैं।

इस लेख के उत्तरार्द्ध में हम काशकृत्स्न-व्याकरण के अद्यावधि उपलब्ध समस्त सूत्रों की व्याख्या और टिप्पणी-सहित उद्धृत करेंगे।



---

१—इस विषय पर हम किसी अन्य लेख में प्रकाश डालेंगे।—ले०

२—नाट्यशास्त्र, १७।२८ में प्रयुक्त। 'वैदिकशब्दबाहुल्यादार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्याः' (अभिनवगुप्तविवृति)।—ले०

# सूफी-काव्य की परम्परा और उसकी सामान्य विशेषताएँ

**प्रो० गोपाल राय**; हिन्दी-विभाग, पटना-कालेज, पटना

भारत में सूफी-काव्य की परम्परा का प्रवर्त्तन मुसलमानों के आगमन के बाद हुआ। यों तो, भारत और अरब का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन है—वह ईसवी-सन् के पूर्व से ही आरम्भ हो गया था—किन्तु, मुसलमानों का भारत से विशेष सम्बन्ध ईसा की आठवीं शताब्दी के आस-पास स्थापित हुआ। सन् ७१२ ई० में मुहम्मद कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया। इसके बाद भी पश्चिमी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होते ही रहे। उधर दक्षिण-भारत में मालाबार के तट पर अरबी सौदागर हिन्दू-राजाओं की सहायता से इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार, भारत में इस्लाम के अनुयायियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। मसूदी जब, १०वीं शताब्दी में, भारत आया था, तब उसने चोल-राज्य में १० हजार मुसलमानों की बस्ती देखी थी। इब्नबतूता को भी खम्बात से मालाबार तक मुसलमानों की अच्छी आबादी देखने को मिली थी।

ईसा की ११वीं शताब्दी से भारत में इस्लाम का प्रचार और भी जोरों से प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम-आक्रमणकारियों के साथ सूफी फकीर और दरवेश भी आते थे। सन् १००५ ई० में शेख इस्माइल नाम का सूफी दरवेश बुखारा से भारत आया और उसने सैकड़ों हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। इसके बाद अब्दुल्लाह यमनी नूर सतागर, दाता गंजबख्श आदि अनेक सूफी सन्तों ने इस्लाम के प्रचार में योग दिया। ईसा की १२वीं शताब्दी से सूफियों के विभिन्न सम्प्रदाय भी भारत में स्थापित होने लगे। इसी समय प्रसिद्ध सूफी ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने चिश्तिया-सम्प्रदाय की स्थापना की। ईसा की ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध सूफी फकीर अलहुज्विरी ने अपने ग्रन्थ 'कश्फुल महजूब' में १२ सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, किन्तु भारत में विशेष रूप से प्रसिद्ध होनेवाले सम्प्रदाय चार हैं—चिश्तिया-सम्प्रदाय, सुहर्वदिया-सम्प्रदाय, कादिरिया-सम्प्रदाय और नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय। भारत में सुहर्वदिया-सम्प्रदाय की स्थापना १३वीं शताब्दी में सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश के द्वारा हुई थी। सैयद मुहम्मद गौसबालापीर ने १५-१६वीं शताब्दी में कादिरिया-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार किया। भारत में नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय की स्थापना ख्वाजा बाकी निहला 'बेरंग' ने ईसा की १६वीं शताब्दी में की। इस तरह ११वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक, और उसके बाद भी सूफी दरवेश भारत में सूफी मत का प्रचार करते रहे।

इन दरवेशों के अतिरिक्त सूफी धर्म के प्रचार में उन सूफी कवियों का भी कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं, जिन्होंने प्रेम-काव्यों के द्वारा अपने मत का प्रचार किया। ये कवि लोक-प्रचलित प्रेम-कहानियों को आधार बनाकर मसनवी-शैली में प्रेम-काव्यों की रचना करते थे। और उन्हींके द्वारा जनता में सूफी सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे।

हिन्दी में इन सूफी कवियों की एक लम्बी परम्परा है, जिसका आरम्भ मुल्लादाऊद की 'चन्दायन', 'चन्दावन' या 'चन्दावत' नामक रचना से माना जाता है।

हाल-हाल तक 'चन्दायन' लुप्त मानी जाती थी। सुप्रसिद्ध इतिहासकार अलबदाउनी के उल्लेख के आधार पर विद्वानों को केवल इतना ही मालूम था कि इसका लेखक मुल्लादाऊद नाम का एक मुस्लिम कवि था, जिसने जूनाशाह के सम्मान में इस ग्रन्थ की रचना की थी। अलबदाउनी ने इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है—"मुझे इस पुस्तक की प्रशंसा में कुछ भी नहीं कहना; क्योंकि दिल्ली में यह पुस्तक स्वयं अत्यन्त प्रसिद्ध है। मखदूम शेख तकीउद्दीन वायज रव्वानी मुल्लादाऊद की कुछ कविताएँ, जिनमें चन्दायन नामक रचना भी थी, जब पढ़ते थे, तब जनता बहुत प्रभावित होती थी।.....यह समस्त आख्यान एक ईश्वरीय सत्य है, पढ़ने में मनोरंजक है, प्रेमियों को आनन्द-भरे चिन्तन की सामग्री देनेवाला है, कुरान की कुछ आयतों का उपदेश देनेवाला है और हिन्दुस्तानी गायकों—भाटों के गीत-जैसा है। जनता में इसे गाने से बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ता है[1]।" इस उल्लेख के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में और कोई जानकारी हिन्दी-लेखकों को नहीं थी। इधर हाल में पटना-कालेज के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष सैयद हसन अस्करी को मनेर के एक खानकाह से 'चन्दायन' की एक अधूरी प्रति प्राप्त हुई है, जिस पर उन्होंने पटना-कालेज की पत्रिका, 'करेण्ट स्टडीज़', में एक निबन्ध लिखा है[2]। इस हस्तलिखित प्रति से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हुआ है। इसके पहले 'चन्दायन' की निर्माण-तिथि का वास्तविक ज्ञान किसीको नहीं था। अनुमान के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने इसका रचना-काल ई० सन् १३२८,[3] डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ई० सन् १४४०,[4] डा० रामकुमार वर्म्मा[5] तथा परशुराम चतुर्वेदी[6] ने ई० सन् १३१८ तथा डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने ई० सन् १३७०[7] निर्धारित किया था। किन्तु, ये सभी तिथियाँ गलत हैं। मनेर की पोथी में चन्दायन का रचना-काल स्पष्ट रूप में दिया है—"बरस सात सय होवे एकासी। तेही कबी सरसिउ भासी।" इस प्रकार, 'चन्दायन' का रचना-काल ७८१ हि०, अर्थात् सन् १३७९ ई०, प्रमाणित होता है।

---

१—हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य (प्रथम संस्करण); ले० डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ९-१०।

२—'रेयर फ्रैगमेण्ट्स आफ् चन्दायन एण्ड मृगावती' (करेण्ट स्टडीज़, १९५५); ले: सैयद हसन अस्करी, पृ० ६।

३—मिश्रबन्धु विनोद; भाग १, पृ० २४१।

४—हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय; पृ० २०।

५—हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; पृ० ३०६।

६—सूफी-काव्य-संग्रह; पृ० ६३।

७—हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य; पृ० ११।

'चन्दायन' में लोरिक या नूरक और चन्दा की प्रेम-कहानी अत्यन्त सरस रूप में वर्णित है। यह कहानी बहुत प्राचीन है तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में किञ्चित् भिन्न रूपों में प्राप्त होती है[1]।

'चंदायन' के बाद प्राप्त होनेवाला दूसरा सूफी-काव्य कुतुबन का 'मृगावत' है, जिसकी रचना ९०९ हि०, अर्थात् सन् १५०३ ई०, में हुई थी। 'चन्दायन' और 'मृगावत' के बीच की दीर्घ अवधि में किसी सूफी प्रेम-काव्य की रचना नहीं हुई होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सूफियों ने इस अवधि में प्रेमाख्यानों की रचना अवश्य की होगी, किन्तु अभी तक उनका पता नहीं चल सका है। हिजरी सन् ९२७—४७ (सन् १५२१–४० ई०) में रचित 'पद्मावत' में, मलिक मुहम्मद जायसी ने कुछ प्रेम-कहानियों का उल्लेख किया है[2], जिन्हें रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, अयोध्या सिंह उपाध्याय एवं सत्यजीवन वर्मा पद्मावत के पूर्व की रचना मानते हैं। जायसी ने पद्मावत के राजागढ़-लंका-खंड में लोकप्रसिद्ध प्रेमी नायकों के प्रेम का वर्णन करते हुए लिखा है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधूपाछ मृगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुवँर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥

उद्धरण का यह पाठ रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' से लिया गया है। कुछ प्रतियों में 'सपनावति', 'मधूपाछ', 'मृगुधावति' तथा 'साधु कुवँर खंडावत' के स्थान पर क्रमशः 'चम्पावत', 'सुदेवाछ एवं सिरीभोग', 'खंडरावती' तथा 'साधा कुवँर मनोहर' पाठ मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी के पूर्व अनिरुद्ध एवं उषा, विक्रम एवं सपनावति या चम्पावति, मधूपाछ एवं मृगुधावति या खंडरावति, राजकुवँर एवं मिरगावति, मनोहर एवं

---

१—सैयद हसन अस्करी, कुतुबन्स मृगावत—ए यूनीक मैनुस्क्रिप्ट इन परसियन स्क्रिप्ट; (दी जर्नल आफ् बिहार-रिसर्च-सोसाइटी, Vol. I, Part IV, दिसम्बर, १९५५ ई०, पृ० ४५३।)

२—इस ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सर्वाधिक प्रचलित मत यह है कि जायसी ने इसे ९२७ हि० (सन् १५२१ ई०) में लिखना आरम्भ किया और ९४७ हि० (सन् १५४० ई०) में पूरा किया। कुछ विद्वानों का कहना है कि जायसी ने इस ग्रन्थ को रचना सन् १५२१ ई० में आरम्भ की और इसे चार-पाँच वर्षों में पूरा किया। इसके बाद समय-समय पर इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ बनती रहीं। शेरशाह के राज्य-काल (सन् १५४० ई०) में सम्भवतः इस ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि तैयार की गई और कवि ने इसमें शाहेवक्त शेरशाह की प्रशंसा जोड़ दी। (पद्मावत-टीका, भूमिका, वासुदेवशरण अग्रवाल)

मधुमालति तथा सुरपुर एवं प्रेमावति जैसे नायक-नायिकाओं के आधार पर कम-से-कम छह प्रेम-कहानियाँ प्रचलित रही होंगी। किन्तु, आचार्य शुक्ल, डा० वर्मा, सत्यजीवन वर्मा आदि विद्वानों का यह अनुमान कि ये प्रेम-कहानियाँ लिखित रूप में प्रचलित थीं, भ्रमात्मक-सा जान पड़ता है। असल में, इन विद्वानों ने 'मृगावती' की खण्डित प्रति मिल जाने के कारण यह अनुमान किया। 'मधुमालती' की प्रति भी इस समय उपलब्ध है, किन्तु उसकी रचना, जैसा शुक्लजी आदि विद्वानों का अनुमान था, जायसी के पूर्व न होकर बहुत बाद हुई थी। उपर्युक्त चौपाइयों में उल्लिखित अन्य कहानियाँ प्राप्त नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त जायसी ने विभिन्न स्थानों पर दुष्यन्त-शकुन्तला, अनिरुद्ध-उषा, कृष्ण-गोपी, भर्तृहरि-पिंगला, गोपीचन्द आदि की लगभग १५ प्रेम-कहानियों का उल्लेख किया है[1]। जिनके सम्बन्ध में हम नहीं कह सकते कि वे उस समय लिखित रूप में प्रचलित थीं। अतः, ए० जी० शिरेफ, कमल कुलश्रेष्ठ, परशुराम चतुर्वेदी आदि का यह कथन सत्य मालूम पड़ता है कि जायसी ने प्रेम-कहानियों की जो नामावली प्रस्तुत की है, वह लिखित प्रेम-काव्यों की न होकर लोक-प्रचलित कहानियों की है।

कुतुबन-लिखित 'मृगावती' (रचना-काल सन् १५०३ ई०) की खण्डित प्रति की सूचना नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की खोज-रिपोर्ट में दी गई है, किन्तु वह प्रति इस समय उपलब्ध नहीं है। इस कारण, 'मृगावती' के सम्बन्ध में भी विद्वानों की जानकारी अधूरी ही थी। इधर हाल में उपर्युक्त प्रो० सैयद हसन अस्करी ने दिल्ली से 'मृगावत' की पूरी प्रति ढूंढ निकाली है, जिसका विस्तृत परिचय उन्होंने अपने एक निबन्ध[2] में दिया है। इस काव्य में चन्द्रनगर के राजकुंवर तथा कंचनपुर की मृगावती की कहानी वर्णित है।

सूफी-काव्य-परम्परा की तीसरी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत' है, जिसमें चित्तौर के राजा रत्नसेन और सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का सरस वर्णन है। 'पद्मावत' सूफी-काव्य-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, तथा कवि ने इस काव्य द्वारा अपने सिद्धान्तों का सफल प्रतिपादन किया है।

उसके बाद पद्मावत की शैली में और भी अनेक सूफी-काव्यों की रचना हुई। ९५२ हि० (सन् १५४५ ई०) में मंझन ने 'मधुमालत' नामक एक प्रेम-काव्य की रचना की। रामचन्द्र शुक्ल, जगन्मोहन वर्मा, सत्यजीवन वर्मा आदि विद्वानों के अनुसार मंझन जायसी के पूर्ववर्ती थे, किन्तु रामपुर-रियासत के राजकीय पुस्तकालय में 'मधुमालत' की जो पूर्ण प्रति प्राप्त हुई है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मंझन ने इस ग्रन्थ की रचना शेरशाह के पुत्र सलीमशाह के राज्य-काल में, ९५२ हिजरी (सन् १५४५ ई०) में की थी, जब

---

१—हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य; ले० डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ३१।

२—सैयद हसन अस्करी, कुतुबन्स मृगावत—एक यूनीक मैनुस्क्रिप्ट इन परसियन स्क्रिप्ट; (दि जर्नल आफ् बिहार-रिसर्च-सोसाइटी, Vol. XLI, Part IV, दिसम्बर, १९५५ ई०।)

'पद्मावत' ९४७ हि० (सन् १५४० ई०) में पूरी हो चुकी थी। इस काव्य में कनेसर के राजपुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। इस काव्य में भी, पद्मावत के समान, समासोक्ति-पद्धति पर, परमात्मा की ओर संकेत है।

हि० सन् १०२२ (ई० सन् १६१३) में गाजीपुर-निवासी उसमान ने 'चित्रावली' नामक प्रेमाख्यान की रचना की, जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजान-कुमार और रूपनगर की चित्रावली का प्रेम-वर्णन है। इस काव्य में आध्यात्मिक संकेत के साथ-साथ नीति, भूगोल आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक न्यामत खाँ (जानकवि) नाम के एक प्रतिभाशाली सूफी कवि ने लगभग ७० ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से २१ की गणना प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत की जा सकती है। इनके नाम क्रमशः ये हैं—'रतनावती', 'लैला-मजनूँ' 'रतनमंजरी', 'नल-दमयन्ती', पुहुपवरिषा', 'कमलावती', 'छविसागर', 'कामलता', 'कलावती', 'छीता', 'रूपमंजरी', 'मोहिनी-चन्द्रसेन', 'सील-निधानि', 'कामरानी', 'पीतमदास', 'कथा कलन्दर की', 'देवलदेवी', 'कनकावती', 'कौतूहली', 'सुमरराइ' और 'बुद्धिसागर'। इनमें पाँच, ('कनकावती', 'कामलता', 'मधुकर-मालती' (?), 'रतनावती' और 'छीता') बहुत प्रसिद्ध हैं।

कवि ने अपने ग्रन्थों में 'शाहेवक्त' की प्रशंसा करते समय जहाँगीर, शाहजहाँ एवं औरंगजेब की प्रशंसा की है, जिससे जान पड़ता है कि कवि दीर्घायु थे। जानकवि दो-ढाई पहर से १२ दिनों तक की अवधि में अपने ग्रन्थ पूरा कर लेते थे।

हि० सन् १०२६ (सन् १६१९ ई०) में शेखनबी नामक सूफी कवि ने ज्ञानदीप और देवयानी की प्रेम-कहानी के आधार पर 'ज्ञानदीप' काव्य लिखा। इन्होंने शाहेवक्त के रूप में सम्राट् जहाँगीर की प्रशंसा की है। इस काव्य की रचना मसनवी-पद्धति पर ही की गई है, किन्तु कवि ने सिद्धान्त-निरूपण का अधिक प्रयास नहीं किया है।

हि० सन् ११३८ (सन् १७२५ ई०) में हुसेन अली ने (उपनाम सदानन्द) 'पुहुपावती' नामक प्रेमाख्यान की रचना की। इसका रचना-काल संदिग्ध है; क्योंकि ग्रन्थ में केवल ११३८ दिया हुआ है। अनुमानतः यह हिजरी सन् ही होगा। इस काव्य में काशीपुर के राजा मानिकचन्द और रूपनगर की राजकुमारी पुहुपावती का प्रेमाख्यान है।

कासिमशाह नामक सूफी कवि ने, ११४९ हि० (सन् १७३६ ई०) में, 'हंसजबाहिर' लिखा, जिसमें राजकुमार हंस और राजकुमारी जवाहर की प्रेम-कथा का वर्णन है। शाहेवक्त की प्रशंसा करते हुए कवि ने दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह के रूप एवं ऐश्वर्य का बखान किया है।

ईसा की उन्नीसवीं सदी में नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती', 'नलदमन' और 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना की। 'इन्द्रावती' की रचना हि० सन् ११५७, अर्थात् सन् १७४४ ई०, में हुई थी। यह कवि की आरम्भिक रचना है। इसमें कालिंजर के राजकुमार 'राजकुँवर' और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कथा वर्णित है।

हि० सन् ११७८ (सन् १७६४ ई०) में कवि ने 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना की, जिसमें जीवात्मा और मनोवृत्तियों को लेकर एक रूपक खड़ा किया गया है। इस काव्य की भाषा संस्कृत-गर्भित है और इसमें चौपाई तथा बरवै छन्दों का प्रयोग हुआ है। 'नलदमन', जो अभी अप्राप्य है, की रचना कवि ने सन् १७४४ और १७६४ ई० के बीच कभी की होगी। इन्होंने अपनी रचनाओं में कट्टरपंथी इस्लामी भावनाओं का स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया है।

हि० सन् १२०५ (सन् १७९०ई०) में शेख निसार ने 'यूसुफ-जुलेखा' नामक प्रेम-काव्य की रचना की, जिसका कथानक शामी-परम्परा से लिया गया है। इनके पूर्ववर्ती सूफी कवियों ने भारतीय प्रेम-कहानियाँ अपनाई थीं, किन्तु बाद में शामी-परम्परा की प्रेम-कथाएँ भी इनके काव्यों में स्थान पाने लगीं। 'यूसुफ-जुलेखा' में यूसुफ और जुलेखा की प्रसिद्ध कहानी वर्णित है। शेख निसार ने 'मेहर निगार', 'रसमनोज', 'दीवान', 'अहसन जौहर' आदि ग्रन्थों की भी रचना की थी।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शाह नजफ अली सलोनी नाम के एक सूफी कवि का पता चलता है, जिन्होंने 'अखरावटी' और 'प्रेम-चिनगारी' नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। 'अखरावटी' का रचना-काल हि० सन् १२२४ (सन् १८०९ ई०) है, किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'प्रेम-चिनगारी' का रचना-काल हि० सन् १२६१, अर्थात् सन् १८४५ ई०, दिया हुआ है। इस ग्रन्थ में कवि ने हजरत मूसा और एक चरवाहे की कथा का उदाहरण देकर ज्ञान की तुलना में प्रेम की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

हि० सन् १३२३ (सन् १९०५ ई०) में ख्वाजा अहमद ने 'नूरजहाँ' नामक प्रेम-काव्य लिखा, जिसमें सरनदीप के राजकुमार खुरशेदशाह और रूपशहर के सुलतान की पुत्री गुलबोस तथा खुतमशहर की शाहजादी नूरजहाँ के प्रेम का वर्णन है।

हि० सन् १३३३ (सन् १९१५ ई०) में शेख रहीम ने 'भाषा-प्रेम-रस' नामक काव्य की रचना की, जिसमें रूपनगर की राजकुमारी चन्द्रकला और उसी राज्य के मन्त्री के पुत्र प्रेमसेन का प्रेम-वर्णन है। हि० सन् १३३५ (सन् १९१७ ई०) में कवि नसीर ने 'प्रेम-दर्पण' लिखा, जिसमें यूसुफ और जुलेखा की प्रसिद्ध कहानी वर्णित है।

इन प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सूफी-काव्य भी प्राप्त हुए हैं, जिनके रचना-काल अज्ञात हैं। इस प्रकार की रचनाओं में 'कामरूप की कथा' और 'कथा कुवँरावत' के नाम लिये जा सकते हैं। 'कामरूप की कथा' का लेखक अज्ञात है, किन्तु इसके आरम्भ को देखने पर यह अनुमान करना सरल हो जाता है कि वह मुसलमान होगा। कवि अपने ग्रन्थ के आरम्भ में, अन्य सूफी कवियों की भाँति, परमेश्वर की कर्तृत्व-शक्ति की वन्दना करके, 'इश्क' की व्याप्ति की चर्चा करता है। इस ग्रन्थ में अवधपुर के राजकुमार कामरूप और सरनदीप की राजकुमारी कामकला के प्रेम का वर्णन है।

'कथा कुवँरावत' के रचयिता अली मुराद थे। कवि के सम्बन्ध में अबतक केवल इतना ही ज्ञात हो पाया है। इस काव्य में अगमनगर की राजकुमारी फूलमती और एक अज्ञात 'कुवँर' की प्रेम-कथा वर्णित है।

इस प्रकार, 'चन्दायन' से 'प्रेम-दर्पण' तक सूफी-काव्यों की विस्तीर्ण परम्परा प्राप्त होती है। अभी तक सूफी-काव्यों की खोज पूरी नहीं हुई है, और अनेक काव्य-ग्रन्थों की प्राप्ति की सम्भावना बनी हुई है। कुछ ग्रन्थों का तो केवल उल्लेख ही मिलता है। इसी प्रकार की रचनाओं में शेख रिजक़ल्ला मुश्ताकी (सन् १४९२—१५८१ ई०) की रचना 'प्रेमवनजोवनिरंजन' है। औरङ्गजेब के शासन-काल (सन् १६५८—१७०७ ई०) में किसी 'पेमी' नामक कवि का 'पेमपरकास' भी ऐसी ही कृति है। मुहम्मद अफजल की रचना 'बारहमासा उर्फ विकट कहानी' (सन् १५९१ ई०) तथा फाजिलशाह-लिखित नूरशाह एवं माहे मुनीर की प्रेम-कथा 'प्रेमरतन' (सन् १८४८ ई०) भी इसी प्रकार की रचनाओं में परिगणित की जाती हैं।

सूफी कवियों ने प्रधानतः प्रेम-काव्यों की ही रचना की, किन्तु मुक्तक-रचना की ओर से भी वे बिलकुल उदासीन न थे। मुल्लादाऊद के समकालीन अमीर खुसरो के प्राप्त दोहों और पदों को सूफी मुक्तक-साहित्य का प्रारम्भ-बिन्दु माना जा सकता है। खुसरो के बाद एक दीर्घ अवधि तक इस प्रकार के सूफी मुक्तकों के उदाहरण नहीं मिलते। सम्भव है कि इस अवधि में सूफियों ने मुक्तक-साहित्य की रचना की हो, पर वह आज उपलब्ध नहीं है। अमीर खुसरो के बाद प्राप्त होनेवाले सूफी मुक्तक-काव्य हैं जायसी के 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम', जिनमें कवि ने क्रमशः सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन और कयामत में होनेवाले ईश्वरीय न्याय का वर्णन किया है। 'वर्णमाला' के क्रम पर सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले मुक्तक-काव्यों में 'अखरावट' के अतिरिक्त जानकवि का 'बर्ननामा', यारी साहब का 'आलिफनामा' तथा वजहन का 'वजहननामा' उल्लेखनीय हैं। 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत शेख-फरीद (मृ० सन् १५५३ ई०) के 'सलोक', यारी साहब 'पेमी', हाजीवली (१९वीं शताब्दी) तथा बुल्लेशाह (सन् १६७९—१७५३ ई०) के स्फुट पद और दोहे, अब्दुल समद के भजन, नजीर के प्रेमातिरेक में रचित पद, दीनदरवेश (१९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) की कुण्डलिया आदि मुक्तक सूफी-काव्य के अन्तर्गत ही परिगणनीय हैं।

अतः, यह निश्चित है कि हिन्दी में सूफी-काव्य की परम्परा, प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक दोनों ही रूपों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस साहित्य की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं, जो इसे सहज ही हिन्दी-साहित्य की अन्य परम्पराओं से अलग और विशिष्ट रूप प्रदान करती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इन विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

उपर्युक्त सभी प्रेम-काव्यों के रचयिता मुसलमान और तसव्वुफ के अनुयायी थे। इन सभी काव्यों की रचना मसनवी-शैली पर हुई है। मसनवी-शैली में काव्य प्रारम्भ करने के पूर्व खुदा की वन्दना, मुहम्मद साहब तथा उनके चार मित्रों की प्रशंसा, सृष्टि की उत्पत्ति, शाहेवक्त का गुणगान, आत्मपरिचय तथा गुरु का उल्लेख आदि बातें रहती हैं। हिन्दी के सभी सूफी कवियों ने इस परम्परा का पालन अपने काव्यों में किया है। अपवाद-स्वरूप जानकवि के कुछ ग्रन्थ तथा नूर मुहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' है, जिनमें इस नियम की उपेक्षा है। जानकवि ने अपने कुछ ग्रन्थों में इस नियम का पालन किया है, किन्तु

ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिन्हें विशुद्ध प्रेम-कथा की संज्ञा दी जा सकती है। इन विशुद्ध प्रेम-कथाओं में सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। सम्भवतः, इसीलिए जानकवि ने इन प्रेमाख्यानों के आरम्भ में खुदा की वन्दना, सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन नहीं किया है। नूर मुहम्मद ने अपने काव्य 'इन्द्रावती' में अन्य सूफी प्रेम-काव्यों की भाँति निर्गुण ब्रह्म, रसूल मुहम्मद, उनके चार दोस्तों, शाहेवक्त आदि की प्रशंसा की है, यद्यपि इनके क्रम पर उतना आग्रह नहीं है। 'अनुराग-बाँसुरी' में कवि ने इस नियम की बिलकुल ही उपेक्षा की है।

हिन्दी के अधिकतर सूफी कवियों ने उत्तर-भारत में प्रचलित लोक-कथाओं को अपने काव्यों का आधार बनाया है। मलिक मुहम्मद जायसी-जैसे एक-आध कवियों ने लोक-कथा के साथ ऐतिहासिक घटनाओं को भी आधार बनाया है, किन्तु अधिकतर सूफी-काव्यों का मेरुदण्ड लोककथाएँ ही हैं। इस प्रकार, अधिकांश प्रेमाख्यानों का मूल स्रोत भारतीय है। अपवादस्वरूप कुछ उत्तरवर्त्ती सूफी कवियों ने शामी-परम्परा की कथाओं को भी लिया। उदाहरणतः, शेख-निसार ने अपने प्रेमाख्यान 'यूसुफ-जुलेखा' में और कवि नसीर ने अपने 'प्रेम-दर्पण' में कुरान में वर्णित 'यूसुफ-जुलेखा' की प्रेम-कथा का आधार लिया है। इन दोनों कवियों पर जामी की मसनवी 'यूसुफ-जुलेखा' का भी प्रभाव है। शाह नजफ अली सलोनी ने अपने काव्य 'प्रेम-चिनगारी' में, कुरान में वर्णित हजरत मूसा और गड़ेरिये की कहानी को आधार बनाया है। 'हंसजवाहिर' के रचयिता कासिम शाह ने कथा के घटना-स्थलों के लिए बलख, चीन एवं रूम देशों को चुना है, किन्तु यहाँ के निवासी पात्रों के नाम भारतीय ही हैं। कासिम शाह के समान ही 'नूरजहाँ' के रचयिता ख्वाजा अहमद ने भी दूरस्थित खुतन, ईरान एवं रूम को कथा के घटना-स्थल के रूप में चुना है। इस कथा के अधिकतर पात्र—मलिकशाह, नूरताब, खुरशेदशाह, नूरजहाँ, गुलबोस आदि मुसलमान हैं।

इन प्रेम-काव्यों में लोक-कथाओं की कथानक रूढियाँ और आश्चर्य-तत्त्व प्रायः अक्षुण्ण रूप में प्राप्त होते हैं। इनकी आत्मा पूर्णतः लोक-कथाओं की आत्मा है। अधिकतर कथाओं में नायक का जन्म दैवी कृपा से होता है। कुतुबन के 'मृगावत' का चन्द्रगिरि का राजा गनपतिदेव निस्सन्तान था। प्रार्थना और तपस्या के फलस्वरूप उसने राजकुवँर नाम का पुत्र प्राप्त किया था, जो 'मृगावत' का नायक है। 'चित्रावली' के नायक सुजान का जन्म शिव की कृपा से होता है। जानकवि के 'कथा पुहुपबतीसा', 'कथा कनकावती', 'कथा कलावती' आदि काव्यों के नायक भी दैवी कृपा से जन्म ग्रहण करते हैं। शेख नबी-कृत 'ज्ञानदीप' के नायक ज्ञानदीप का जन्म भी शिव की अनुकम्पा का परिणाम है। 'हंस-जवाहिर' के नायक हंस की उत्पत्ति खिज्र ख्वाजा की कृपा से होती है। 'इन्द्रावती' की नायिका इन्द्रावती का जन्म शिव को आराधना के परिणामस्वरूप हुआ था और ख्वाजा अहमद-कृत 'नूरजहाँ' का नायक खुरशेदशाह दस्तगीर नामक पीर की कृपा का फल था। 'भाषा-प्रेम-रस' के दम्पती को लक्ष्मी की कृपा से चन्द्रकला की प्राप्ति हुई थी और 'कामरूप की कथा' के नायक कामरूप का जन्म भी दान-पुण्य के फलस्वरूप हुआ था।

लोक-कथाओं के सभी आश्चर्यजनक तत्त्व इन प्रेम-कथाओं में मिल जाते हैं। कुतुबन के 'मृगावत' में मृगावती मृगवेश में राजकुँवर को फँसाती है तथा वह उड़ने की विद्या जानती है। 'मधुमालत' में अप्सराएँ मनोहर और मधुमालती का मिलन कराती है तथा मधुमालती अपनी माँ के शाप से पक्षी बनकर उड़ जाती है। 'चित्रावली' का नायक सुजान जब अन्धा होकर जंगलों की खाक छान रहा है, तब एक अजगर उसे निगल जाता है। किन्तु, सुजान का विरह-ताप इतना दाहक है कि अजगर को विवश होकर उसे उगल देना पड़ता है। बनमानुस द्वारा प्राप्त अंजन से सुजान की आँख ठीक हो जाती है। तत्पश्चात्, सुजान को एक हाथी पकड़ लेता है, पर हाथी को भी एक पक्षिराज आकाश में ले उड़ता है, और हाथी सुजान को छोड़ देता है। जानकवि ने भी अपने प्रेमाख्यानों में आश्चर्य-तत्त्वों की प्रचुर योजना की है। देव, राक्षस, हाथी, दरवेश, अग्नि-बाण, पवन-बाण, चमत्कारयुक्त पत्थर आदि का उल्लेख उनके ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'ज्ञानदीप' की सुरज्ञानी को मन्त्रसिद्धि है। वह एक माया-अश्व का निर्माण करती है, जो आरम्भ में छलपूर्वक और फिर नित्य स्वेच्छा से ज्ञानदीप को देवयानी के पास पहुँचाता है। अन्य सूफी-काव्य भी इस प्रकार के आश्चर्य-तत्त्वों से युक्त हैं।

लोक-कथाओं की अन्य रूढ़ियाँ, जैसे नायक के मार्ग में समुद्र का मिलना, नाव का तूफान में पड़ना और डूब जाना तथा काठ के तख्ते पर एक ओर नायक का और दूसरी ओर नायिका का बह जाना, किसी शिकार के पीछे नायक का दूर निकल जाना और मार्ग भूल जाना, नायक का भूलकर किसी निर्जन स्थान में पहुँचना और वहाँ एक सुन्दरी को प्राप्त करना, किसी सुन्दर स्त्री का किसी देव या राक्षस की बन्दिनी होना, नायक का देव या राक्षस को मारकर सुन्दरी से विवाह करना, पक्षियों की बोली समझना, पक्षी के द्वारा सन्देश भेजना आदि इन प्रेमाख्यानों के सामान्य तत्त्व हैं। सूफी कवियों ने इन सभी स्वाभाविक-अस्वाभाविक कथानक-रूढ़ियों के साथ भारतीय लोक-कथाओं को अपने प्रेम-काव्यों के लिए स्वीकार किया था।

सूफी प्रेम-काव्यों के कथानक, सूफी कवियों के दृष्टिकोण के अनुसार, सुखान्त और दुःखान्त दोनों हैं। कुतुबन का 'मृगावत', जायसी का 'पद्मावत', कासिम शाह का 'हंस-जवाहिर', नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती', शेख निसार का 'यूसुफ-जुलेखा', कवि नसीर का 'प्रेम-दर्पण' और अली मुराद का 'कथा कुँवरावत' आदि काव्य दुःखान्त हैं। शेष सूफी-काव्य सुखान्त हैं।

समस्त सूफी प्रेमाख्यान निरपवादतः राज-दरबारों से सम्बद्ध है। इन प्रेम-कहानियों में सामान्य-जनों के प्रेम का वर्णन नहीं किया गया है। इनमें राजकुमारों और राजकुमारियों के प्रेम का ही वर्णन है। प्रेमी राजकुमार जब अपनी प्रेमिकाओं की खोज में निकलते हैं, तब उन्हें जंगलों की खाक छाननी पड़ती है और भयानक समुद्रों को पार करना पड़ता है। अनेक विकट परिस्थितियों में उनके प्रेम का विकास होता है। परिणामतः, इन प्रेम-कथाओं का विस्तार राजदरबारों से लेकर जंगलों, पहाड़ों और समुद्रों तक दीख पड़ता है।

स्पष्ट है कि इन प्रेमाख्यानों का मुख्य विषय प्रेम है। प्रेम ही वह धुरी है, जिस पर इन काव्यों का समस्त कथानक चक्कर काटता है। इनका आरम्भ प्रेम से होता है और अन्त भी प्रेम से ही। प्रियतमा की प्राप्ति के लिए प्रेमी अनेक प्रकार के कष्ट झेलता है और अन्त में उसे सफलता मिलती है। मिलन के बाद वियोग और वियोग के बाद पुनर्मिलन इन कहानियों की सामान्य विशेषता है। अन्य सभी घटनाएँ प्रेमी-प्रेमिका के संयोग या वियोग में सहायक-मात्र हैं, उनका कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं है। युद्ध, समुद्र-यात्रा आदि जितनी भी अवान्तर घटनाएँ हैं, वे प्रेमियों के मिलन या विरह में सहायता पहुँचाती हैं।

सभी सूफी कवियों ने स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण एवं साक्षात् दर्शन के द्वारा विवाह के पूर्व ही प्रेमोत्पत्ति का वर्णन किया है। इनमें स्वप्न-दर्शन और साक्षात् दर्शन से प्रेमोत्पत्ति का उल्लेख सर्वाधिक है। राजकुँवर मृगवेशधारिणी मृगावती को प्रत्यक्ष देखकर प्रेम-निमग्न हुआ था। 'मधुमालती', 'कथा छीता', 'मधुकरमालति', 'ज्ञानदीप', 'भाषा-प्रेम-रस' और 'कथा कुँवरावत' के नायकों का अपनी प्रेमिकाओं के प्रति प्रेम साक्षात् दर्शन से जागरित होता है। 'पद्मावत', 'कथा पुहुपबरिणा', 'कथा कँवलावती' और 'अनुराग-बाँसुरी' में प्रेम का प्रारम्भ गुण-श्रवण से होता है। 'चित्रावली' और 'कथा रतनावती' में प्रेमोत्पत्ति का कारण चित्र-दर्शन है। पुहुपावती' में चित्र-दर्शन और रूपगुण-श्रवण दोनों पद्धतियों की सहायता ली गई है। स्वप्न-दर्शन के द्वारा प्रेम का आरम्भ होनेवाले काव्यों में 'कथा रतन-मंजरी', 'कथा कामलता', 'कथा कनकावती', 'हंस-जवाहिर', 'इन्द्रावती', 'यूसुफ-'जुलेखा', 'नूरजहाँ', 'प्रेम-दर्पण' और 'कामरूप की कथा' हैं।

अधिकांश सूफी-काव्यों में प्रेम का आरम्भ अस्वाभाविक ढंग से होता है। किसी सुन्दरी का चित्र या स्वप्न देखकर या रूप-गुण की चर्चा सुनकर बेहोश हो जाना और उसकी खोज में योगी होकर निकल पड़ना स्वाभाविक व्यापार नहीं है। साक्षात् दर्शन से प्रेमोत्पत्ति अधिक स्वाभाविक है, यद्यपि यह आकर्षण भी अधिकांशतः कामजन्य ही होता है। सच्चा प्रेम प्रेमी और प्रेमिका के साहचर्य से उत्पन्न होता है। अधिकतर सूफी कवियों ने आकस्मिक प्रेम का ही चित्रण किया है, जो मनोवैज्ञानिक नहीं है। सम्भवतः, इसका कारण सूफियों का धार्मिक दृष्टिकोण है। सूफी मत के अनुसार गुरु के द्वारा ईश्वरीय सौन्दर्य का संकेत पाते ही साधक के हृदय में 'विरह की चिनगी' जग जाती है। सूफी-काव्यों में नायक साधक का और नायिका ईश्वरीय ज्योति का प्रतीक होती है। तोता आदि गुरु के प्रतीक हैं। इस प्रकार, तोते के मुख से नायिका का रूप-गुण श्रवण कर, नायिका का चित्र या स्वप्न देखकर, अथवा मालिन आदि की सहायता से नायिका को प्रत्यक्ष देखकर नायक के हृदय में उसके प्रति तीव्र प्रेम जग जाता है और वह उसकी खोज में निकल पड़ता है। सूफी-काव्यों का अधिकांश प्रेम इसी प्रकार का है, किन्तु कुछ कवियों ने साहचर्यजनित प्रेम का चित्रण भी किया है। जानकवि की 'कथा छीता' में छीता और राजा राम का प्रेम वर्षों के साहचर्य से उद्बुद्ध होता है। 'मधुकरमालति' में मधुकर और मालती एक साथ चटसार में पढ़ने

जाते हैं और एक दूसरे को प्यार करने लगते हैं। किशोरावस्था का वह प्रेम यौवन के प्रेम में परिणत हो जाता है। ग्रन्थ 'लैला-मजनूँ' में भी लैला और मजनूँ का प्रेम पाठशाला से ही आरम्भ होता है। 'ज्ञानदीप' में देवयानी और ज्ञानदीप का प्रेम नित्य दोनों के मिलने से वृद्धि पाता है। शेख रहीम-कृत 'भाषा-प्रेम-रस' साहचर्यजनित प्रेम का बहुत सुन्दर उदाहरण है। चन्द्रकला और प्रेमसेन दोनों एक ही पाठशाला में पढ़ा करते थे। दोनों में शनैः-शनैः प्रेम उत्पन्न हो चला। इस प्रकार, उनके प्रेम में दृढता आ गई। किसी अन्य सूफी कवि ने इस तरह के साहचर्यजनित दृढ प्रेम का चित्रण नहीं किया है।

फारस की मसनवियों और भारतीय साहित्य में चित्रित प्रेम-पद्धतियों में एक मौलिक अन्तर है। फारसी की मसनवियों में प्रेम का वेग नायक-पक्ष में अधिक दीख पड़ता है। नायिका की प्राप्ति के लिए नायक आकाश-पाताल एक कर देता है तथा नायिका के विरह में वह दिन-रात तड़पता रहता है। भारतीय साहित्य में प्रेम का वेग नायिका-पक्ष में अधिक दिखाया जाता है। हिन्दी के सूफी कवियों ने इन दोनों पद्धतियों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। 'पद्मावत' में रत्नसेन का विरह-वर्णन तो है ही, पद्मावती की विरहजनित व्यथा का वर्णन भी कवि ने किया है। 'मधुमालती' में नायक, नायिका दोनों के विरह का वर्णन है। 'चित्रावली' में तो प्रिय की प्राप्ति का प्रयास नायिका की तरफ से ही होता है। जानकवि के ग्रन्थों में भी यह सन्तुलन बराबर बना हुआ है। 'ज्ञानदीप' में देवयानी की विरह-वेदना ज्ञानदीप को देखते ही तीव्र हो जाती है। 'हंस-जवाहिर', 'इन्द्रावती', 'अनुराग-बाँसुरी', 'पुहुपावती', 'प्रेम-चिनगारी', 'नूरजहाँ', 'भाषा-प्रेम-रस' आदि ग्रन्थों में भी नायक और नायिका दोनों की विरहजन्य वेदना का समान रूप से वर्णन किया गया है।

फारसी की मसनवियों का प्रेम प्रायः लोकबाह्य, ऐकान्तिक और मंगल-भावना से शून्य होता है। वह इस संसार की वस्तु नहीं होता। सामाजिकता से उसका सम्बन्ध प्रायः कुछ भी नहीं होता। हिन्दी के सूफी कवियों का प्रेम फारसी की मसनवियों के प्रेम से मूलतः भिन्न है। यह कहीं भी अभारतीय नहीं हुआ है। इस प्रेम में समाज-विरोधी अनैतिक तत्त्व नहीं मिलते। नायक सर्वदा किसी कुमारी से ही प्रेम करता है। किसी भी हिन्दी सूफी-काव्य में नायक को किसी विवाहित युवती से प्रेम करते नहीं दिखाया गया है। साथ ही नायक जिस युवती से प्रेम करता है, उससे विवाह भी अवश्य ही करता है, वह किसी युवती को अपनी वासना का शिकार बनाकर छोड़ नहीं देता। विवाह के पूर्व नायक नायिका के साथ शारीरिक सम्पर्क स्थापित नहीं करता। यह प्रेम पवित्र और नैतिक है। 'मधुमालत' में कवि ने नायक एवं नायिका दोनों का मिलन रात्रि के एकान्त में कराया है, किन्तु कहीं भी मर्यादा या संयम का उल्लंघन नहीं है। दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं और एक दूसरे की अँगूठी धारण कर लेते हैं, किन्तु तबतक संयम का निर्वाह करते हैं, जबतक मधुमालती के माता-पिता कन्यादान कर उसे मनोहर की पत्नी बनने की आज्ञा नहीं देते। 'मधुमालत' में वर्णित प्रेम कहीं भी अमर्यादित

नहीं है। कवि को लोकाचार, समाज एवं कुल की मर्यादा का पूर्ण ध्यान है। इसी प्रकार, प्रेमा एवं मनोहर की दृढता भी प्रशंसनीय है। ताराचन्द एवं मधुमालती का सम्बन्ध सदाचार का उत्तम उदाहरण है। माता-पिता के अनुमोदन के पश्चात् भी ताराचन्द का मधुमालती से एवं मनोहर का प्रेमा से विवाह करने से इनकार करना उनकी चारित्रिक दृढता का परिचायक है।

'मधुमालत' के समान अन्य सूफी-काव्यों में भी नैतिकता और भारतीयता की पूरी-पूरी रक्षा हुई है, यहाँ तक कि जो कथानक शामी-परम्परा से लिये गये हैं, उनमें भी भारतीय संस्कृति के विपरीत कोई बात नहीं है। इन काव्यों का प्रेम वासना की वह बरसाती नदी नहीं है, जो सामाजिक नियमों के किनारे ध्वस्त कर प्रवाहित होती है, वरन् वह पावन सरिता है, जो अपनी मर्यादा कभी नहीं छोड़ती।

इन सूफी कवियों ने हिन्दू-पात्रों के सम्बन्ध में लिखते हुए उनकी पौराणिक मनोवृत्तियों का बराबर ध्यान रखा है और उनकी सामाजिक रीति-नीति, प्रचलित प्रथाओं, धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक जीवन के नियमों का पूरा-पूरा उल्लेख किया है। नूर मुहम्मद जैसे कवि भी, जो इस्लाम के प्रचार को ही अपना उद्देश्य मानते हैं, हिन्दू-पात्रों के जीवन-सम्बन्धी सूक्ष्म विवरणों और शास्त्रीय मन्तव्यों का स्पष्ट परिचय देते है। कासिम शाह और शेख निसार जैसे कवियों ने भी, जिन्होंने कुरान से कथाएँ ली हैं, अपने पात्रों को भारतीय वातावरण में चित्रित किया है।

सभी सूफी-काव्यों में दो प्रकार के पात्र पाये जाते है। कुछ पात्र मानवीय होते हैं, कुछ मानवेतर। नायक-नायिका, उनके माता-पिता, सखी-सहेलियाँ, मित्र आदि मानवीय पात्र हैं और अप्सराएँ, शिव-पार्वती, देव, राक्षस, परेवा, तोता, हाथी आदि मानवेतर पात्र। 'पद्मावत' के शिव-पार्वती, तोता; 'मधुमालत' की अप्सराएँ, राक्षस; 'चित्रावली'के शिव-पार्वती, देव, परेवा, बनमानुप, हाथी, पक्षिराज आदि मानवेतर पात्र हैं। अन्य सूफी-काव्यों में भी इस प्रकार के मानवेतर पात्रों की योजना की गई है।

इन काव्यों के नायक और नायिकाएं राजकुमार और राजकुमारियां हैं। नायक निरपवादतः सुन्दर युवा होता है। किसी भी प्रेम-काव्य का नायक असुन्दर नहीं है। नायिकाएँ भी अनुपम सुन्दरी होती हैं। नायक से प्रेम करनेवाली स्त्रियों की संख्या एकाधिक होती है। अधिकतर सूफी प्रेमाख्यानों के नायक बहुपत्नीव्रती हैं। 'मृगावत' के राजकुँवर के मृगावती और रुकमन नामक दो पत्नियाँ थीं। 'पद्मावत' के रत्नसेन के पद्मावती के अतिरिक्त, नागमती नामकी पत्नी थी। 'चित्रावली' का नायक सुजान चित्रावली और कँवलावती दो युवतियों का पति है। 'ज्ञानदीप' के नायक के देवजानी (देवयानी)और सुरज्ञानी नामक दो पत्नियाँ हैं। 'हंस-जवाहिर' का नायक हंस जवाहिर के अतिरिक्त दिनौर की बहन से भी विवाह करता है। 'इन्द्रावती' के नायक राजकुँवर के भी दो पत्नियाँ हैं। 'अनुराग-बाँसुरी' के नायक अन्तःकरण के महामोहिनी के अतिरिक्त सर्वमंगला नामक पत्नी है। 'नूरजहां' के नायक खुरशेदशाह के भी दो पत्नियाँ हैं। परन्तु, कुछ ऐसे सूफी

प्रेम-काव्य भी हैं, जिनके नायक एकपत्नीव्रती हैं। ऐसे ग्रन्थों में 'मधुमालत', जानकवि के अधिकांश ग्रन्थ, 'पद्मावती', 'यूसुफ-जुलेखा, 'भाषा-प्रेम-रस', 'प्रेम-दर्पण', 'कामरूप की कथा' और 'कथा कुँवरावत' के नाम लिये जा सकते हैं।

सूफी-काव्यों के सभी नायक अपनी प्रियतमा की खोज में योगी का वेश धारण करते हैं। 'मृगावत', 'पद्मावत', 'मधुमालत', 'चित्रावली', 'हंस-जवाहिर', 'इन्द्रावती', 'अनुराग-बाँसुरी' आदि ग्रन्थों के नायकों ने अपनी प्रेमिकाओं के विरह में योगी का वेश धारण किया था। इनका योगी-वेश गोरखपंथी साधुओं से बिलकुल मिलता-जुलता है। वे नाथपन्थी योगियों के समान मेखला, कन्था, जटा, चक्र, मुद्रा, जपमाला, डंडा, घंघोर, पँवारी, रुद्रक-छाला, भस्म, त्रिशूल, किंगरी आदि धारण करते हैं। कुतुबन तथा जायसी ने इनकी वेश-भूषा का पूरा-पूरा वर्णन किया है।

सूफी-काव्यों में शृङ्गार का रसराजत्व सर्वत्र दीख पड़ता है। प्रेमी और प्रेमिका के रतिजनित आकर्षण से सभी काव्य ओतप्रोत हैं। अपवादस्वरूप शाह नजफ अली सलोनी-कृत 'प्रेम-चिनगारी' का नाम लिया जा सकता है, जिसमें शान्त रस की प्रधानता है। पर इसी कारण इस काव्य को प्रेम-काव्यों की श्रेणी में रखने में हिचक भी होती है। सूफी-काव्यों में शृङ्गार के अतिरिक्त कहीं-कहीं वीर, करुण, बीभत्स और वात्सल्य के भी दर्शन होते हैं, यद्यपि ये रस गौण हैं। 'मधुमालत' में शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य किसी रस की योजना नहीं मिलती।

सूफी कवियों ने शृङ्गार रस के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का विस्तृत वर्णन अपनी प्रेम-कथाओं में किया है। परन्तु, संयोग-वर्णन में इन कवियों की वृत्ति पूरी-पूरी रमती नहीं प्रतीत होती। इनका संयोग-वर्णन परम्परागत और रूढिवादी है। अधिकतर सूफी कवियों ने संयोग के अवसर पर चौपड़-शतरंज खेलने, पहेलियाँ बुझाने, वाक्-चातुर्य, हास-परिहास आदि का वर्णन किया है। अपवादस्वरूप, कवि मंझन ने यह रूढि नहीं अपनाई है।

सूफी कवियों पर यह आरोप लगाना ठीक नहीं जान पड़ता कि उनका संयोग-वर्णन अश्लील हो गया है। जायसी के 'पद्मावत', उस्मान की 'चित्रावली', जानकवि के कुछ ग्रन्थों और नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' पर अश्लीलता का आरोप कुछ अंशों तक सही है, किन्तु अन्य प्रेम-काव्यों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मंझन का 'मधुमालत' अश्लीलता के दोष से सर्वथा मुक्त है। 'ज्ञानदीप' के कवि ने संयोग का वर्णन, इसके लिए अवकाश रहने पर भी, नहीं किया है। कासिम शाह के 'हंस-जवाहिर' के संयोग-वर्णन में अश्लीलता का आभास तक नहीं मिलता। नूर मुहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' में भी संयोग-शृङ्गार के वर्णन का अभाव है। 'यूसुफ-जुलेखा' में भी संयोग-वर्णन नहीं के बराबर है। 'नूरजहाँ' और 'भाषा-प्रेम-रस' के संयोग-वर्णन में भी अश्लीलता नहीं है। अतः, सूफी कवियों पर सामान्य रूप में अश्लीलता का दोष नहीं मढ़ा जा सकता, यह दूसरी बात है कि इनका संयोग-वर्णन परम्परागतवर्णन-प्रधान और नीरस है।

जैसा कहा जा चुका है, संयोग-वर्णन में सूफी कवियों का मन रमा नहीं है। पर

विरह-वर्णन में इन कवियों ने जिस मार्मिकता और सूक्ष्मता का परिचय दिया है, वह साहित्य के इतिहास में क्वचित्-कुत्रचित् ही मिलता है। सूफी कवियों ने संयोग की तुलना में विप्रलम्भ की महत्ता स्थापित की है। सभी सूफी कवियों ने विरह को मिलन से श्रेष्ठ माना है। मंझन के अनुसार दुःख या विरह की एक रात्रि पर मिलन की अनेक रात्रियाँ न्योछावर की जा सकती हैं। समस्त प्रकृति, वासुकि नाग, इन्द्र और कुबेर परम सौन्दर्य-शाली परमात्मा के वियोग में विकल दीख पड़ते हैं। 'मधुमालती' की प्रेमा कहती है—

मोहि न आज उपज्यो दुख तोरा। तोर दुख आदि सेंघाती मोरा॥
मैं यह दुख की रैन बलिहारी। सहस सुख यह दुख पर वारी॥
सूरज चन्द्र तराइन, बासुकि इन्द्र कुबेर।
पेमा दुक्ख सम रोई, धरती गगन सुमेर॥

सूफी कवियों के अनुसार विरह ही इस सृष्टि का आदि और अन्त है। विरह-व्यथा का कभी अन्त नहीं हो सकता। समस्त सृष्टि परमात्मा के विरह में दिन-रात तड़पती रहती है। संसार के सभी प्राणी परमात्मा से वियुक्त हो गये हैं। मनुष्य तभी तक सांसारिक सुख के भ्रम में पड़ा हुआ है, जबतक कोई सच्चा गुरु उसके हृदय में 'विरह की चिनगी' नहीं जगा देता। विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित होने के बाद साधक परमात्मा को प्राप्त करने के प्रयत्न में जुट जाता है। इसी कारण सूफी मत में विरह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूफियों के लिए विरह-वेदना का महत्त्व कितना अधिक है, यह निम्नलिखित उक्ति से प्रमाणित होता है—'कुफ्र काफिर रा, वा दीन दीन-दार रा, कतरा-ए-दर्द-ए-दिल अत्तार रा।' (अर्थात् नास्तिकों को उनका नास्तिकपन और धर्मवालों को उनका धर्म चाहिए, मगर अत्तार—सूफी कवि को तो चाहिए दिल के दर्द का एक कतरा। उसे वही काफी है।)

सूफी-काव्यों का नायक साधक का तथा नायिका ब्रह्म का प्रतीक है। जिस प्रकार, सूफी साधक ब्रह्म के विरह में तड़पता रहता है, उसी प्रकार सूफी-काव्यों का नायक अपनी प्रेमिका के विरह में कष्ट पाता है। सभी सूफी कवियों ने विरह का वर्णन विस्तार से किया है। विरहजन्य शारीरिक कृशता, विलाप और उन्माद के अतिरिक्त मानसिक वेदना का वर्णन इन काव्यों में प्रधान है। शास्त्रीय ढंग पर विरह की दशाओं का वर्णन नूर-मुहम्मद की 'इन्द्रावती' के अतिरिक्त किसी अन्य काव्य में नहीं मिलता। सभी कवियों ने बारहमासा की रचना की है, जिसमें प्रत्येक मास के प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि में नायिका की विरह-व्यथा का वर्णन है।

जानकवि के अधिकतर ग्रन्थों में, अपवादस्वरूप, विरह की व्यापकता का वर्णन नहीं मिलता। कुछ ग्रन्थों में तो विरह-व्यथा का संकेतमात्र कर दिया गया है। फिर भी, उनके कुछ काव्यों, जैसे 'कथा पुहुपबरिषा', 'कथा कँवलावती', 'कथा कनकावती' आदि में विरह का विस्तार दीख पड़ता है।

सूफी-काव्यों में नख-शिख-वर्णन, जल-क्रीडा-वर्णन, नगर-वर्णन, हाट-वर्णन, समुद्र-यात्रा-वर्णन, भोज-वर्णन, युद्ध-यात्रा-वर्णन, युद्ध-वर्णन, आखेट-वर्णन आदि का प्राचुर्य है।

नख-शिख-वर्णन तो प्रायः सामान्य रूप से सभी प्रेम-काव्यों में प्राप्त होता है। नख-शिख-वर्णन में सूफी कवि अपने काव्य की नायिकाओं का सौन्दर्य-वर्णन करते हैं। यह सौन्दर्य-वर्णन अधिकांशतः परम्परागत और पिटा-पिटाया है। सौन्दर्य के उपमान नितान्त रूढ हैं। उपमानों की नवीनता का अभाव इन प्रेमाख्यानों में सर्वत्र खटकता है। कुछ कवियों ने नायिका के सौन्दर्य-वर्णन के व्याज से ईश्वर के सौन्दर्य की तरफ संकेत किया है। नख-शिख-वर्णन के अतिरिक्त अन्य वर्णन भी परम्परागत हैं। उनमें कोई नवीनता नहीं। अधिकांश वर्णनों में वस्तु-परिगणन-परिपाटी पर वस्तुओं के नाम-भर गिना दिये गये हैं।

सूफी प्रेमाख्यानों के प्रकृति-वर्णनों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इन कवियों ने प्रकृति का वर्णन स्वतंत्र रूप से न करके उद्दीपन की दृष्टि से या रहस्यवादी भावनाओं के स्पष्टीकरण के लिए किया है। सरोवर, उपवन, जलक्रीडा, वनविहार आदि के रूप में प्रकृति-वर्णन तो मात्र रूढि-पालन के लिए हुआ है। बारहमासा के रूप में जो प्रकृति-वर्णन इन कवियों ने किया है, वह भी उद्दीपन के रूप में ही है। इन कवियों ने प्रकृति के साथ मानवीय भावनाओं का साम्य दिखलाया है और समस्त प्रकृति को, मनुष्य के सुख-दुःख में सहानुभूति दिखाते हुए, चित्रित किया है। इस प्रकार, इन कवियों ने प्रकृति को जीवन्त रूप में चित्रित करने की कोशिश की है।

हिन्दी के सूफी प्रेम-काव्यों में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। अधिकांश काव्यों में प्रतीकों का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही किया गया है। सामान्यतः, नायक साधक का, नायिका ईश्वर का और तोता या पक्षी गुरु का प्रतीक है। 'हंस-जवाहिर' में इन्द्रियजनित वासनाओं के लिए ठग एवं बटमार-जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। 'चित्रावली' में गुरुपुत्र 'सुबुद्धि' विवेक का प्रतीक है। इसी ग्रन्थ में रूपनगर के बीच में पड़नेवाले नगरों के नाम भी प्रतीक-रूप में आये हैं। कवि ने उन्हें विभिन्न पुरों की संज्ञा दी है। जो व्यक्ति इन पुरों में भटक जाता है, उसे 'रूपनगर' या अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। 'भोगपुर' इन्द्रियजनित भोगों और शारीरिक सुखों का प्रतीक है। 'गोरखपुर' बाह्याडम्बर का तथा 'नेहनगर' आनन्द-वृत्ति का प्रतीक है। कवि ने इन्द्रियों को तस्कर की संज्ञा दी है।

नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-बाँसुरी' में प्रतीकों का बहुल प्रयोग किया है। 'इन्द्रावती' में राजकुँवर की आगमपुर-यात्रा में कुछ वन पड़ते हैं, जिनका उपयोग प्रतीकों के रूप में हुआ है। पहला वन रूपाकर्षण का, दूसरा वन शब्द-सुख का, तीसरा वन गन्ध-सुख का, चौथा वन रस-आनन्द का और पाँचवाँ वन स्पर्श-सुख का प्रतीक है। इस प्रकार, ये वन इन्द्रिय-सुखों के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं, जिन्हें पार करके ही साधक अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकता है। इसी काव्य में 'देहालपुर' विषय-वासनाओं एवं शारीरिक सुखों तथा ऐश्वर्यों के नाश का प्रतीक है। 'जिउपुर', आगमपुर का राजा 'जगपति', 'आनन्द', 'मनपुर' सभी प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'अनुराग-बाँसुरी' के पात्रों के नामकरण में भी नूर मुहम्मद ने प्रतीक-योजना

की है। प्रत्येक पात्र का नाम गुण-विशेष का द्योतक है। 'मूर्त्तिपुर', 'अन्तःकरण', 'संकल्प', 'विकल्प', 'बुद्धि', 'चित्त', 'सरवन', 'ज्ञातस्वाद', 'मणिमाला' आदि का प्रयोग प्रतीकों के रूप में हुआ है।

सूफी कवियों ने कुछ अन्य सामान्य प्रतीकों का प्रयोग भी किया है। समुद्र प्रेम का प्रतीक है। समुद्र में 'मरजीया' होकर मोती (तत्त्व) निकालने की बात भी इन ग्रन्थों में मिलती है। सिंहलगढ़ का वर्णन कहीं-कहीं कायागढ़ के रूप में भी हुआ है। नूर मुहम्मद ने लट का विस्तृत वर्णन किया है, जो अज्ञान का प्रतीक है। 'चित्रावली' में तिल को शून्य का प्रतीक माना गया है। 'इन्द्रावती' में चश्म या आँख ईश्वरीय अनुकम्पा का प्रतीक है। इसी काव्य में लब या अधर परमेश्वर की जीवन-दायिनी शक्ति का प्रतीक है। परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम को इन कवियों ने कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक और पतंग, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हरिण आदि प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। सूफी-कवियों ने दर्पण को साधक के हृदय का प्रतीक माना है। इस प्रकार, प्रत्येक सूफी-कवि ने प्रतीकों का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में किया है।

समस्त सूफी-काव्यों की भाषा निरपवादतः अवधी है। इन कवियों ने फारसी को वह सम्मान नहीं दिया, जो बोलचाल की अवधी को दिया। इसका कारण यह है कि ये कवि हिन्दुओं के बीच इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। अवधी-भाषा को काव्य-भाषा के धरातल पर उन्नीत करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है। इन्होंने ठेठ अवधी में अपने ग्रन्थ लिखे और अरबी-फारसी के केवल उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया, जो लोकभाषा में घुल-मिल गये थे। कुछ कवियों की भाषा में ब्रजभाषा का पुट भी दिखाई पड़ता है। जायसी कवि की भाषा ब्रजभाषा से अधिक प्रभावित ज्ञात होती है। ब्रजभाषा का प्रयोग उनके 'हौं', 'वामें', 'तातें', 'बतियाँ' ऐसे प्रयोगों में स्पष्ट देखा जा सकता है। नूर मुहम्मद की अवधी-भाषा में भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा का पुट दिखाई पड़ता है।

सूफी कवियों ने छन्द के रूप में दोहा-चौपाई का प्रयोग किया है। अलंकारों का प्रयोग इन काव्यों में हुआ है, किन्तु इनकी तरफ इन कवियों की विशेष रुचि नहीं दिखाई पड़ती। सामान्यतः, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार इनके काव्यों में मिलते हैं। इन्होंने सप्रयास अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है। जो अलंकार स्वाभाविक रूप से चले आये हैं, उन्हींको इन कवियों ने प्रश्रय दिया है। जिन उपमानों का प्रयोग इन कवियों ने किया है, वे परम्परागत हैं। भारतीय साहित्य में प्रयुक्त रूढ उपमानों को इन कवियों ने अपना लिया है। कहीं-कहीं फारसी-साहित्य के उपमान भी, जैसे रक्त के आँसू के लिए धीरबहूटी तथा विरहदग्ध हृदय के लिए भुँजे मांस, इन्होंने अपनाये हैं।

इस प्रकार, विषय और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों ही क्षेत्रों में, सूफी-काव्यों में अनेक सामान्य विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। इनके आधार पर ही सूफी-काव्यों को एक श्रेष्ठ साहित्य में परिगणनीय माना जाता है।

## तिथि-क्रम

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १००५ | ३९६ (८ अक्टूबर से प्रारम्भ) | शेख इस्माइल का बुखारा से भारत-आगमन और इस्लाम का प्रचार; | एक प्रसिद्ध सूफी सन्त | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य (लें० डा० सरला शुक्ल), पृ० १९; |
| १०६७ | ४६० (११ नवम्बर से प्रारम्भ) | अब्दुल्लाह यमनी का गुजरात में इस्लाम का प्रचार; | इन्हें बोहरे लोग अपना प्रथम प्रचारक मानते हैं। | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १९; |
| १०७२ | ४६५ (१७ सितम्बर से प्रारम्भ) | मखदूम सैयद अली या अलहुज्विरी दातागंज बख्श की मृत्यु; | इस्लाम का एक प्रसिद्ध प्रचारक। इसका निवास-स्थान जुल्लाब और हुज्विर गजनी के पास था। | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २१; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ३५; |
| १०७८ | ४७१ (१४ जुलाई से प्रारम्भ) | बगदाद के शेख अब्दुल क़ादिर जीलानी का जन्म; | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का आदि प्रवर्त्तक | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (लें० डा० रामकुमार वर्मा), तृतीय संस्करण, पृ० ३०५; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४२; |
| ११४२ | ५३७ (२७ जुलाई से प्रारम्भ) | चिश्तिया-सम्प्रदाय को भारत में लाने-वाले सीस्वान के ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती का जन्म; | भारत में चिश्तिया-सम्प्रदाय का प्रचारक | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०४; |
| ११६६ | ५६२ (२८ अक्टू० से प्रारम्भ) | शेख अब्दुल क़ादिर जीलानी की मृत्यु | दे० १०७८ ई० | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०५; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४२; |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| ११७३ | ५६९ (१२ अगस्त से प्रारम्भ) | फरीदुद्दीन शकरगंज | 'काकी' का प्रमुख शिष्य सन्त और प्रचारक; | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ३८; |
| ११८२ | ५७८ (७ मई से प्रारम्भ) | बहाउद्दीन जकारिया का मुल्तान में जन्म; | सुहर्वर्दिया-सम्प्रदाय का प्रचारक | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ३९; |
| ११८७ | ५८३ (१३ मार्च से प्रारम्भ) | शाहबाज लाल सुहर्वर्दी की मृत्यु | इसने बंगाल में सूफी मत का का प्रचार किया। | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० ३६; |
| ११९२ | ५८८ (१८ जनवरी से प्रारम्भ) | सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश 'शाहमीर' की मृत्यु; | बाशरा सुहर्वर्दिया के अन्तर्गत जलाली शाखा के प्रवर्त्तक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २३; |
| | | ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भारत में चिश्तिया-सम्प्रदाय का प्रचार किया। | दे० ११४२ ई० | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०४; |
| ११९५ | ५९२ (६ दिसम्बर से प्रारम्भ) | ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर में अपना प्रधान केन्द्र स्थापित किया। | दे० ११४२ ई० | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृ० ३०४; |
| ११९९ | ५९६ (२३ अक्टूबर से प्रारम्भ) | सुहर्वर्दिया-सम्प्रदाय को भारत में सर्वप्रथम प्रचारित करनेवाला सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश का जन्म; | सुर्खपोश का जन्म बुखारा में हुआ था। यह स्थायी रूप से ऊच ( सिन्ध ) में निवास करता था। | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृ० ३०४; |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १२३६ | ६३४ (४ सितम्बर से प्रारम्भ) | ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की अजमेर में मृत्यु; | भारत में चिश्तिया सम्प्रदाय का संस्थापक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २०; हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृ० संस्करण, पृ० ३०४; |
| १२३८ | ६३६ (१४ अग० से प्रारम्भ) | निज़ामुद्दीन औलिया का जन्म | चिश्तिया-सम्प्रदाय का एक प्रधान साधक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २२; |
| १२६५ (लगभग) | ६६४ (१३ अक्टू० से प्रारम्भ) | शेख फरीदुद्दीन शकरगंज चिश्तिया की मृत्यु; | चिश्तिया-सम्प्रदाय का एक प्रमुख साधक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २२; |
| १२६७ | ६६६ (२२ सितम्बर से प्रारम्भ) | बहाउद्दीन जकारिया की मृत्यु | दे० ११८२ ई० | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४०; |
| १२९१ | ६९१ (२४ दिसम्बर से प्रारम्भ) | अहमद साबिर की मृत्यु | चिश्तिया-सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय साबिर-चिश्तिया का संस्थापक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २२; |
| | | सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश की मृत्यु | सुहर्वर्दिया-सम्प्रदाय का भारत में प्रथम प्रचारक; | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृ० ३०४; |
| १३१८ | ७१८ (५ मार्च से प्रारम्भ) | ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी का जन्म | दक्खिनी-हिन्दी का प्रथम सूफी ग्रन्थकार; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १३७९ | ७८१ (१४ अप्रैल से प्रारम्भ) | मुल्लादाऊद ने 'चन्दायन' की रचना की। | सूफी काव्य परम्परा का प्रथम अधूरा प्राप्त ग्रन्थ; | 'बरस सात सय होवे एकासी। तेही कवि सरसिउ भाखी।' श्री सैयद हसन अस्करी के J. B. R.S, Vol. XLI, Part IV में प्रकाशित Qutban's Mrigavat नामक निबन्ध से। |
| १३८४ | ७८६ (२४ फरवरी से प्रारम्भ) | अहमद कबीर की मृत्यु | बाशरा सुहर्वर्दिया-सम्प्रदाय के अन्तर्गत जल्लाली शाखा का साधक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २३; |
| १३८९ | ७९२ (२० दिसम्बर से प्रारम्भ) | ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द की मृत्यु | नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय का आदि प्रवर्त्तक (तुर्किस्तान); | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृ० २०६; जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २४; |
| १४२२ | ८२५ (२६ दिसम्बर से प्रारम्भ) | ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी की मृत्यु; | दक्खिनी-हिन्दी का सर्वप्रथम ग्रन्थकार और सूफी कवि; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १४२८ | ८३२ (११ अक्टूबर से प्रारम्भ) | शेख अब्दुल्ला सत्तार की मृत्यु | सत्तारी-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २५; |
| १४४९ | ८५३ (२४ फरवरी से प्रारम्भ) | मूसा सुहाग की मृत्यु | बाशरा सुहर्वर्दिया की 'रसूलशाही' शाखा का एक साधक और सुहागिया शाखा का प्रवर्त्तक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २३; |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १४५० | ८५४ (१४फर० से प्रा०) | शेख इब्राहीम फरीद सानी का जन्म | इस्लाम का एक प्रचारक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १४७५ | ८८० (७ मई से प्रा०) | सैयद मुहम्मद शाह आलम की मृत्यु | सुहर्वर्दिया-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध प्रचारक | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०५; |
| १४८२ | ८८७ (२० फरवरी से प्रारम्भ) | सैयद बन्दगी मुहम्मद गौस ने भारत (सिन्ध) में क़ादिरिया-सप्रदाय का सर्वप्रथम प्रचार किया। | यह शेख अब्दुल क़ादिर जिलानी का वंशज था। | हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृ० ३०५; |
| १४८५ | ८९० (१८ जनवरी से प्रारम्भ) | मदारशाह की मृत्यु | मदारी-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २५; |
| १४९२ | ८९८ (२३ अक्टूबर से प्रारम्भ) | शेख रिज़कुल्ला मुश्ताकी का जन्म | इसने 'प्रेमवनजोवनिरंजन' की रचना की थी। यह पुस्तक अप्राप्य है। | सूफी-काव्य-संग्रह (ले० श्रीपरशुराम चतुर्वेदी); प्रथम संस्करण, पृ० ६३; |
| १५०३ | ९०९ (२६ जून से प्रारम्भ) | कुतुबन की मृगावती का रचना-काल | सूफी प्रेम-काव्य-धारा की प्रथम पूर्ण प्राप्त पुस्तक। (इसकी पूर्ण प्रति पटना कालेज के प्राध्यापक श्रीसैयद हसन अस्करी के पास है।) | श्रीसैयद हसन अस्करी का निबन्ध "Qutban's Mrigavat—A unique Ms in persian script—J. B. R. S. Vol. XLI, Part IV.<br>'इन्हके राज यह टे हम कहै<br>नौ से नौ जो सम्वत अहै।'<br>सूफी-काव्य-संग्रह (श्रीपरशुराम चतुर्वेदी), प्र० सं०, पृ० ९;<br>'पहिले पख भादौ छठी अही।.....<br>.....ही। नौ सौ नव जब संवत अही।' |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १५१५ | ९२१ (१५ फरवरी से प्रारम्भ) | शेख इब्राहीम फरीदसानी की मृत्यु | इस्लाम का एक प्रचारक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १५१७ | ९२३ (२४ जनवरी से प्रारम्भ) | सैयद मुहम्मद गौस 'वालापीर' की मृत्यु | भारत में क़ादिरिया-सम्प्रदाय का प्रथम प्रचारक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २४; हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०५; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४२; |
| १५१८ | ९२४ (१३ जनवरी से प्रारम्भ) | नजीमुद्दीन कलन्दर की मृत्यु | कलन्दरिया-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४८; जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २५; |
| १५२१ | ९२७ ❀ (३० नवम्बर को अन्त) | मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' का रचना-काल; | सूफी-काव्य-धारा का सर्वप्रधान काव्य | 'सन् नौ सै सत्ताइस अहा, कथा अरंभ वैन कवि कहा।'—(पद्मावत, स्तुति-खण्ड) |

❀ सर्वाधिक प्रचलित मत के अनुसार जायसी ने 'पद्मावत' की रचना ९२७ हिजरी-सन् में प्रारम्भ की थी और उसे उन्होंने ९४७ हिजरी-सन् में, शेरशाह के राज्य-काल में पूरा किया था।—ले०

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १५३६ | ९४६ (१९ मई से प्रारम्भ) | माधौलाल हुसेन का जन्म | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का एक सूफी सन्त | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १५४५ | ९५२ (१५ मार्च से प्रारम्भ) | मंझन-कृत 'मधुमालत' का रचना-काल | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सन् नौ से बावन जब भए, सने बरख कुल परिहर गए। तब हमजी उपजी अभिलाषा, कथा एक बाधों बस भाषा।' —'मधुमालत' |
| १५५० | ९५७ (२० जनवरी से प्रारम्भ) | मियाँ मीर का जन्म | क़ादिरिया-सम्प्रदाय को 'मियाँ खेल'-शाखा का प्रवर्त्तक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २४; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४३; |
| १५६३ | ९७१ (२१ अगस्त से प्रारम्भ) | (१) शाह मुहम्मद गौस की मृत्यु<br>(२) मुहम्मद फ़ज़ल अल्लाह की मृत्यु<br>(३) अहमद फारूखी का जन्म | (१) सत्तारी-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध साधक;<br>(२) अल् तुहुफुल अल् मुरसाविल नबीं का लेखक;<br>(३) नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय को भारत में प्रचारित करने का सबसे अधिक श्रेय इसको दिया जाता है। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४७;<br>जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २५;<br>जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २६;<br>सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४४; |
| १५७२ | ९८० (१४ मई से प्रारम्भ) | शेख सलीम चिश्ती की मृत्यु | चिश्तिया-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध साधक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २२; |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १५८१ | ९८९ (५ फरवरी से प्रारम्भ) | शेख रिज़कुल्ला मुश्ताकी की मृत्यु | दे० सन् १४९२ ई० | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ६३; |
| १५९४ | १००३ (१६ सितम्बर से प्रारम्भ) | माधौलाल हुसेन की मृत्यु | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध सन्त; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १५९९ | १००८ (२४ जुलाई से प्रारम्भ) | (१) शाहलाल हुसेन की मृत्यु | कादिरिया-सम्प्रदाय की हुसेनी शाखा का प्रवर्त्तक; | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २४;<br>श्रीपरशुराम चतुर्वेदी (सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४३) के मतानुसार इसका जन्म सं० १६५७ वि०, अर्थात् १६०० ई०, में हुआ था। |
| | | (२) मुहम्मद मासूम का जन्म | एक प्रसिद्ध सूफी सन्त | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४५; |
| १६०३ | १०१२ (११ जून से प्रारम्भ) | ख्वाजा बाकीनिल्ला बेरंग को मृत्यु | इसने भारत में नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रचार किया। | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २४;<br>हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०६;<br>सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४३; |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १६०४ | १०१३ (३० मई से प्रारम्भ) | मीरान मुहम्मद शाह की मृत्यु | मोराशाही शाखा का प्रवर्त्तक | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४०; |
| १६१३ | १०२२ (२१ फरवरी से प्रारम्भ) | उसमान-कृत 'चित्रावली' का रचना-काल; | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सन् सहस्र बाइस जब अहै। तब हम बचन चारि एक कहै॥' (चित्रावली, पृ० १४) |
| १६१८ | १०२७ (१८ दिसम्बर को अन्त) | जानकवि-कृत 'कनकावती' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सोलह सै पचहत्तरैं, जहांगीर के राज। तीन द्यौस में जान कहि, पहु साज्यो सब साज॥' —'कथा कनकावती' |
| १६१७ | १०२६ ※ (६ जनवरी से प्रारम्भ) | शेख नबी-कृत 'ज्ञानदीप' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'एक हजार सन् रहै छबीसा। राज सुलही गनहु बरीसा॥ संवत सौलह से छिहरा। उक्ति गरत कीन्ह अनुसारा॥' —'ज्ञानदीप' |
| १६२१ | १०३० (१५ नवम्बर को अन्त) | (१) सेवक के 'जंगनामा' की रचना<br>(२) जानकवि-कृत 'कामलता' की रचना | (१) दक्खिनी-हिन्दी का सूफी ग्रन्थ<br>(२) एक सूफी प्रेम-गाथा | (१) जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५;<br>(२) 'सोलह से अठहंत्तर, कथा कथी कवि जान। बोरविबोरहु भूलि जिन, अनबन बाचहु बान।' —'कामलता' |

※ डा० सरला शुक्ल ने अपने महाप्रबन्ध 'जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य', पृ० ४१६ में ज्ञानदीप का रचना-काल हिजरी-सन् १०२६, अर्थात् सन् १६१९ ई०, बताया है। यह गणना अशुद्ध है। वस्तुतः, ९ जनवरी १६१७ ई० से १०२६ हिजरी-सन् का प्रारम्भ होता है। किन्तु, शेख नबी ने ग्रन्थ का रचना-काल १०२६ हिजरी-सन् के साथ-साथ १६७६ वि० संवत् भी दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शेख नबी का दिया हुआ वि० संवत् अशुद्ध है। द्र०—Comparative Tables of Muhammadan & Christian Dates, पृ० २१।—ले०

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त-कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १६२४ | १०३४ (१४ अक्टूबर से प्रारम्भ) | ख्वाजा हुज्जतुल्ला का जन्म | प्रसिद्ध सूफी सन्त। औरंगजेब पर इसका प्रभाव था। इसीके प्रभाव में पड़कर औरंगजेब ने हिन्दुओं पर फिर से जजिया कर लगाया था। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४६; |
| १६२५ | १०३५ ( ३ अक्टूबर से प्रारम्भ) | (१) गवासी की मसनवी सैफुल्मजूक व बदीउज्जमाल की रचना;<br>(२) शेख अहमद फारूखी सरहिन्दी की मृत्यु; | (१) फारसी किस्सा का पद्यानुवाद ( दक्खिनी-हिन्दी );<br>(२) कुछ विद्वान् इसीको भारत में नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय के प्रचार का श्रेय देते हैं। | (१) जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५;<br>(२) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०६; |
| १६३१ | १०४१ (३० जुलाई से प्रारम्भ) | सुल्तान बाहू का जन्म | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का एक सन्त | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १६३४ | १०४४ (२७ जून से प्रारम्भ) | जानकवि-कृत 'मधुकरमालति' तथा 'रतनावति' की रचना; | सूफी प्रेम-गाथाएँ | 'सोलह सै इक्यानुवौ, ही फागुन वदि एक।<br>जानिकवि कीनी कथा, करिकै ग्यान विवेक॥'<br>—'मधुकरमालति'<br>'सोरै सै ईकानवे बरस रितनावति॥<br>बांधी में हरष।···सन् सहस चार चालीस॥'<br>—'रतनावति' |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १६३५ | १०४५ (१७ जून से प्रारम्भ) | मियाँ मोर की मृत्यु | दे० १५५० ई० | जायसी के परवर्त्ती कवि और काव्य, पृ० २४; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४३; |
| १६३६ | १०४६ (५ जून से प्रारम्भ) | जानकवि-कृत 'छीता' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सोरह सै जु तिरानुवै, कथा कथी यहु जान । कातिग सुद दठ पूरन, छीताराम बषान ॥' —'छीता' |
| १६३६ | १०४६ (४ मई से प्रारम्भ) | गवासी-कृत 'तूतीनामा' की रचना | दक्खिनी-हिन्दी का सूफी ग्रन्थ | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १६४० | १०५० (२३ अप्रैल से प्रारम्भ) | मुकीमी की मसनवी 'चन्दरवन' और 'महियार' की रचना; | इसमें एक मुसलमान युवा महियार और हिन्दू युवती चन्दरवन की प्रेम-कथा वर्णित है। (दक्खिनी-हिन्दी) | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १६४६ | १०५६ (१५ जनवरी से प्रारम्भ) | अमीन बहराम व हसनबानो रुस्तामी का स्थविरनामा की रचना; | दक्खिनी-हिन्दी का सूफी ग्रन्थ | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १६५३ | १०६४ (२२ नवम्बर से प्रारम्भ) | अहमद जुवेदी की 'माहपैकर' की रचना; | दक्खिनी-हिन्दी का सूफी ग्रन्थ | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य; पृ० १३५; |
| १६५५ | १०६६ (३१ अक्टूबर से प्रारम्भ) | निशाती की मसनवी फूलवन की रचना | फारसी किस्सा विसातीन का अनुवाद (दक्खिनी-हिन्दी); | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १६६८ | १०७६ (११ जून से प्रारम्भ) | मुहम्मद मासूम की मृत्यु | एक प्रसिद्ध सूफी सन्त; द्वितीय 'कयूम' कहलाता था। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४५; |
| १६७६ | १०८७ (१६ मार्च से प्रारम्भ) | दौलतशाह की मृत्यु | दौलतशाही शाखा का प्रवर्तक, जिसका मुख्य पवित्र स्थान गुजरात (पंजाब) समझा जाता है। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४६; |
| १६८० | १०९१ (२ फरवरी से प्रारम्भ) | (१) गुलामअली की 'पवाअत' नामक मसनवी की रचना;<br>(२) बुल्लेशाह का जन्म | (१) दक्खिनी-हिन्दी का सूफी ग्रन्थ<br>(२) क़ादिरिया-सम्प्रदाय का सन्त औरंगजेब का समकालीन; | (१) जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५;<br>(२) जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १६८३ | १०९५ (२० दिसम्बर से प्रारम्भ) | हाफिज मुहम्मद इस्माइल की मृत्यु | इस्माइलशाही शाखा का प्रवर्त्तक, इसके अनुयायी विशेषकर लाहौर के आसपास पाये जाते हैं। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४१ |
| १६९० | ११०२ (५ अक्टूबर से प्रारम्भ) | अली हैदर का जन्म | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का सन्त, इसकी कव्वालियों का संग्रह 'मूकम्मल मज्मुआ आवयात अली हैदर' के नाम से लाहौर से प्रकाशित हुआ है। | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १३९१ | ११०३ (२४ सित० से प्रारम्भ) | सुलतान बाहू की मृत्यु | क़ादिरिया-सम्प्रदाय का सन्त | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १६९९ | ११११ (२९ जून से प्रारम्भ) | काजी महमूद बहरी को 'मनलगन' की रचना; | दक्खिनी-हिन्दी का एक सूफी ग्रन्थ | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३५; |
| १७०० | ११११ (१८ जून से प्रारम्भ) | हाजी मुहम्मद की मृत्यु | नौशाही शाखा का प्रवर्त्तक | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४२, |
| १७२० | ११३३ (२ नवम्बर से प्रारम्भ) | फर्द फकीर का जन्म | कई सूफी ग्रन्थों का लेखक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १७२५ | ११३८ (९ सितम्बर से प्रारम्भ) | कवि हुसेन अली-कृत 'पदुपावती' की रचना; | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'ग्यारह से अरतीस सनो,<br>पदुपावती कथा तब भनी।' —'पुहुपावती' |
| १७३३ | ११४५ (२४ जून से प्रारम्भ) | शेख निसार का जन्म | एक सूफी कवि | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० ५०९; |
| १७३६ | ११४९ (१२ मई से प्रारम्भ) | कासिम शाह-कृत 'हंस-जवाहिर' की रचना; | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'ग्यारह सौ उनचास जो भ्राजा,<br>तब यह कथा प्रेम कवि साजा।'<br>—(हंस-जवाहिर, पृ० ८) |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त-कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १७४० | ११५३ (२९ मार्च से प्रारम्भ) | हाफिज मुहम्मद इस्माइल की मृत्यु, जुनैद की मृत्यु; | बाशरा सुहर्वर्दिया के अन्तर्गत 'इस्माइल शाही' शाखा का प्रवर्त्तक; इसने औरंगजेब की मृत्यु के बाद होनेवाले उसके पुत्रों के झगड़े में प्रत्यक्ष भाग लिया; यह चौथे 'कयूम' के नाम से विख्यात था। | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ४६; |
| १७४४ | ११५७ (३ फरवरी से प्रारम्भ) | नूर मुहम्मद-कृत 'इन्द्रावती' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सव इग्यारह सै रहेउ, सत्तावन उपनाह।<br>कहै लगेउ पोथी तबै, पाय तपीकर बांह।'<br>—'इन्द्रावती' |
| १७५३ | ११६७ (२९ अक्टूबर) से प्रारम्भ) | हाशिम शाह का जन्म | पंजाबी के सूफी कवि | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १७५८ | ११७२ (४ सितम्बर से प्रारम्भ) | बुल्लेशाह की मृत्यु | दे० १६८० ई० | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |
| १७६४ | ११७८ (१ जुलाई से प्रारम्भ) | नूर मुहम्मद-कृत 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना; | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'यह इग्यारह सै अठहत्तर,<br>फेर सुनाएउ वचन मनोहर।'<br>—'अनुराग-बाँसुरी' |
| १७८५ | १२०० (४ नवम्बर से प्रारम्भ) | अली हैदर की मृत्यु | दे० १६९० ई० | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६; |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १७९० | १२०५ (१० सितम्बर से प्रारम्भ) | (१) फर्द फकीर की मृत्यु;<br>(२) शेख निसार-कृत 'यूसुफ-जुलेखा' की रचना; | (१) दे० १७२० ई०<br>(२) एक सूफी प्रेम-गाथा | (१) जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३६;<br>(२) 'हिजरी सन् बारह सै पांचा,<br>बरनेउ प्रेम कथा यह सांचा।<br>अट्ठारह सै सैंतालीसा,<br>संवत् विक्रम सेन नरेसा।'<br>—'यूसुफ-जुलेखा' |
| १७९१ | १२०६ (३१ अगस्त से प्रारम्भ) | ख्वाजा मुहम्मद की मृत्यु | चिश्तिया-सम्प्रदाय का एक प्रचारक | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० २२; |
| १८०९ | १२२४ (१६ फरवरी से प्रारम्भ) | शाह नजफ अली-कृत 'अखरावटी' की रचना; | यह ग्रन्थ अप्राप्य है। | 'सन बारह सौ चौबीस, एकतिस अच्छर बूझ।<br>कह्यो नजफ अखरावटी, मनहि परा जस सूझ॥'<br>—'अखरावटी' |
| १८२२ | १२३९ (७ सितम्बर से प्रारम्भ) | हाशिम शाह की मृत्यु | दे० १७५३ ई० | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० १३; |
| १८३० | १२४६ (२२ जून से प्रारम्भ) | कवि ख्वाजा अहमद का जन्म | एक सूफी कवि | जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० ५३८; सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० १८५; |
| १८४५ | १२६१ (१० जनवरी से प्रारम्भ) | शाह नजफ अली सलोनी-कृत 'प्रेम-चिनगारी' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'सन् बारह सौ यकसठ माहां'<br>कहि यह कथा प्रेम औगाहां।'<br>—'प्रेम-चिनगारी' |
| १९०५ | १३२३ (८ मार्च से प्रारम्भ) | ख्वाजा अहमद-कृत 'नूरजहाँ' की रचना; दो महीने बाद कवि की मृत्यु; | एक सूफी प्रेम-गाथा | सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० १८५;<br>जायसी के परवर्त्ती सूफी कवि और काव्य, पृ० ५३८; |

| खृष्ट-सन् | हिजरी-सन् | सूफी सन्त, कवि तथा काव्य | विशेषता | द्रष्टव्य |
|---|---|---|---|---|
| १६१५ | १३२३ (८ नवम्बर को अन्त) | शेख रहीम-कृत 'भाषा-प्रेम-रस' की रचना; | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'तीन बारह सन् उनइस ईसा,<br>बरनूं कथा सुमिर जगदीसा।'<br>—'भाषा-प्रेम-रस' |
| १६१७ | १३२५ ❀ (१६ अक्टूबर को अन्त) | कवि नसीर-कृत प्रेम-दर्पण' की रचना | एक सूफी प्रेम-गाथा | 'हिजरी तेरह सौ पैंतीसा,<br>था जैकीर मास चौबीसा।<br>संवत उन्नीस सौ चौहत्तर,<br>भादो वदी दवादस अन्तर॥'<br>—'प्रेम-दर्पण' |



❀

❀ हिजरी की तिथियाँ Lt.-Colonel Sir Wolseley Haig, K. C. I. E., C. S. I., C. M. C., C. B. E, M. A., (Dublin) द्वारा संकलित Comparative Tables of Muhammadan and Christian Dates से दी गई हैं।—ले०

# नवीन...और...उलोच्य

## कविता

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

दो परतें[1] एक ऐसा कविता-संग्रह है, जिसकी सिफारिश हम बच्चन की 'मधुयुगीन' कविताओं के उन प्रेमियों से कर सकते हैं, जो अब अपने प्रिय कवि की रचनाओं में व्यर्थ ही उस रूमानियत की तलाश करते हैं, जिसकी आपूर्त्ति के लिए, कवि के साथ न्याय किया जाय तो, वह आज भी कुछ उठा नहीं रखता, और वृद्धा को मुग्धा बनाये रखने की चेष्टा में, अपने को हास्यास्पद बनाता चला जा रहा है। महाराजकृष्ण रसगोत्र की कविताएँ पुराने बच्चन-कलम की ही सही, ऐसी हैं, जिनमें अनल्प मुग्धता और रूमानियत है। मैं सोचता हूँ, अवश्य ही ये कविताएँ बच्चन के तरन्नुम में पढ़ी जाने के लिए लिखी गई होंगी, इन्हें लिखनेवाला इन्हें बच्चन की तरह पढ़ भी सकता होगा।

मैं शीघ्र ही कह दूँ कि रसगोत्र की पुस्तक की समीक्षा के सिलसिले में बच्चन का घसीटा जाना कुछ इसलिए नहीं हो गया है कि मैं उन्हें ऐसा गजलगो माना किया हूँ, जिसका अनुकरण अनेक युवा कवियों के लिए घातक सिद्ध हुआ है। इस प्रसंग में बच्चन का उल्लेख आवश्यक इसलिए है कि दो परतें के कवि ने, जैसा सुनते हैं उर्दू में होता था, ईमानदार शागिर्द की तरह बच्चनजी से इसलाह लेने की बात कही है और, यह सब अपने ढंग से कहते हुए, उन्हें एक तरह से अपना उस्ताद माना है। बच्चनजी ने, भूमिका में लिखा भी है—"बाद को जो कुछ भी लिखते मुझे भेजते थे और मैं उस पर अपनी सम्मति अथवा आलोचना उन्हें लिख भेजता था।" ये व्यक्तिगत बातें हैं, किन्तु यदि इनकी चर्चा पुस्तक और भूमिका के लेखक अनावश्यक नहीं समझते, तो इनसे जो निष्कर्ष निकलता है, उसका प्रारम्भ में ही विहित निर्देश क्षम्य समझा जाना चाहिए।

बच्चन और रसगोत्र में, दूसरे की

'आ विदा ले लें, अलग हैं
आज से राहें हमारी,
तम, तड़ित, तूफान में हो
है पहुँचना पार, प्यारी!'

ऐसी पंक्तियों के कारण ही, समानधर्मिता नहीं है; इसलिए भी है कि दोनों ने संसार की समृद्धतम भाषाओं में से एक के काव्य से परिचित होने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त करने पर भी अपने को उसके प्रभाव से पुष्करपलाशवत् बचाये रखा है। काव्य-सिद्धान्त के स्तर पर, भूमिका में विचार करते हुए, बच्चनजी ने हिन्दी-काव्य के अभाव-विशेष की

---

१—रचयिता : श्रीमहाराजकृष्ण रसगोत्र; प्रकाशक : श्री प्रेमनाथ रसगोत्र, ४-१४, रूपनगर, दिल्ली; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

पूर्त्ति के लिए जो नुस्खा बताया है, वह आजमूदा होने के कारण, आत्म-विश्वास से पूर्ण है—"अगर हिन्दी-मुक्तछन्दों को बोल-चाल की गति देनी है, तो उर्दू से अनिवार्य रूप से सहायता लेनी होगी।"

किन्तु, मुक्त छन्द की बात तो यहाँ स्थगित रहे, मैं यह जरूर मानता हूँ कि हिन्दी के प्रकार-विशेष के गेय पद्य के लिए उर्दू से ली गई सहायता अवश्य ही अमोघ सिद्ध हो चुकी है—गजल, जिससे यह सहायता ली गई, भले अब उर्दू के लिए ही भुक्तोज्झित काव्य-रूप हो।

इस सबके बावजूद मैं स्वीकार करता हूँ कि रसगोत्र यदि हिन्दी-कविता की दो परतें ही नहीं, इनके बाद की परतें भी खोलकर देखेंगे, तो अवश्य ऐसी कविताएँ लिख सकेंगे, जो अधिक महत्त्व की अधिकारिणी सिद्ध होंगी।

०

**बनपाखी सुनो**[1] में नरेश मेहता की अधिकांशतः सन् १९५३ ई० के बाद की लिखी कविताएँ संगृहीत हैं, यद्यपि कुछेक काफी पहले की भी हैं। 'शीर्षबन्ध' में दी हुई इस सूचना के साथ कवि की यह टिप्पणी कि पुरानी और नई कविताओं में 'वैषम्य अधिक नहीं लगेगा' ठीक ही है : नरेश मेहता सूक्ष्म संवेदनाओं के कवि हैं, किन्तु अपने लिए जो लीक उन्होंने प्रारम्भ में ही बना ली, उसी पर चलते रहने में वे सन्तुष्ट रहे हैं।

'यदि एक पंक्ति भी सार्थक लगे, तो मेरा धर्म सार्थक हो जायगा' कहनेवाले इस अल्पाकांक्षी कवि ने एकाधिक पंक्तियाँ ही नहीं, अनेक कविताएँ ऐसी लिखी हैं, जो सार्थक हैं। कवि का यह कहना कि "मुझे सुख यही है कि मेरे कवि से 'विशेष' की आशा किसीको भी नहीं, इसलिए 'स्वागत', 'तिरस्कार' का प्रश्न ही नहीं उठता" पाठकों और आलोचकों के सम्बन्ध में कवि की ऐसी अनास्था का परिचायक है, जो सर्वथा अकारण है। नरेश मेहता के पाठक हैं—अब यह दूसरी बात है कि कविता पढ़नेवाले कम होते ही हैं—और उन्होंने हिन्दी के सजग अध्येताओं का ध्यान आकृष्ट किया है।

उनका बालू को बालु बना देना, संस्कृत की सप्तमी विभक्ति का प्रेम और डाक-भाँग-जैसा बँगलापन अवश्य हास्यास्पद, निरर्थक और कभी-कभी खीझ उत्पन्न करनेवाले वैलक्षण्य हैं; किन्तु असह्य या अक्षम्य इसलिए नहीं हैं, क्योंकि इनका प्रयोगकर्त्ता अपना काम जानता है। नरेश मेहता के चित्र दर्शन, श्रवण, स्वर, घ्राण और स्पर्श का अनुभव प्रदान करने में क्षम हैं और प्रायशः कविता के भाव के साथ एकतान। इस समन्वय पर निर्भर सांगीतिकता नरेश मेहता की कविताओं की दुर्लभ विशेषता है।

नरेश मेहता के विकास पर हममें से बहुतों का ध्यान रहेगा।

०

---

१—रचयिता : श्रीनरेश मेहता; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

ताजमहल[1] राजमणि राय 'मणि'-लिखित कृशकाय खण्ड-काव्य है—प्रचार-पुस्तिकाकार, मात्र पैंतीस पृष्ठों का। 'घटा', 'बिजली' और 'पानी' नामक इसके तीन, ईषत्प्रतीकात्मक, भाग किये गये हैं। पूरी पुस्तिका की कविता १६+१२ मात्राओंवाली चतुष्पदी में निबद्ध है, किन्तु वर्णप्रस्तार-शैली के क्रम तथा स्थापना के अद्भुत उद्देश्य में उसकी छान्दसता अस्वाभाविक, अतएव अनाकर्षक हो गई है।

काव्य के कथानक में मुमताज की मृत्यु मार्मिकता के साथ मुखरित हुई है। प्रांजल भाषा में अभिव्यक्त मंजुल भावों का मार्दव मन को आविष्ट करता है।

ताजमहल की कविता अपने उक्त वैशिष्ट्य के बावजूद, अधिकांशतः अन्वितिहीन भी हो गई है, इसलिए उसके विकास ( बिजली ) और उपसंहार (पानी) आरम्भ (घटा) के अनुकूल नहीं हो सके हैं। आरम्भ का मुखर कथानक मध्य और अन्त में मौन और निष्प्राण हो गया है। यह ताजमहल का सौभाग्य होता, यदि मणिजी उसे प्रेस से जल्दी बाहर लाने का व्यामोह न रखते।

०

मुक्ता[2] में सिद्धिलाल माणिक की सन् '४० से '५५ ई० तक के बीच विरचित, शृंगार, राष्ट्रीयता और प्रगति तीनों प्रकार के स्वरोंवाली, तिरपन स्फुट कविताएँ संकलित हैं। विभिन्न स्वरोंवाली ये कविताएँ अक्रमबद्ध रूप से रखी गई हैं, जिससे स्वर-तारतम्य की अपेक्षा स्वरसांकर्य का आभास मिलता है। कवि के रिरंसु शृंगार-स्थौल्य में स्पष्टतः अधिस्वर है। इसके प्रबल पुष्ट उदाहरण के रूप में, 'याचना', 'अनुरोध', 'नयन-मिलन', 'उलाहना', 'रूप, रुपैया और जवानी', 'कविप्रिया' आदि शीर्षकों से उपन्यस्त कविताएँ, रखी जा सकती हैं।

इनके विपरीत 'कम्प', 'तृप्ति और तृष्णा', 'अकिंचन', 'स्वप्न और सत्य', 'दर्शन' आदि कुछ ऐसी कविताएँ भी है, जो कवि की सम्भावना का संकेत करती हैं। ये भाषा और भाव की दृष्टि से भी पर्याप्त प्रांजल और मंजुल हैं। कवि अपने दुःखातिरेक को, दीर्घ निःश्वास में प्रच्छन्न संयम के प्रग्रह से बाँधकर, और भी मार्मिक बना सकेगा—ऐसी आशा हम उससे करें।

राष्ट्रीयता और प्रगति के स्वरवाली कविताएँ, चूंकि अब राष्ट्रीयता और प्रगति का स्वर ही बदल गया है, यातयाम, फलतः गतरस हो गई हैं। मुद्रण धूमिल नहीं लगता—यदि उसे अनुकूल कागज का अत्यन्ताभाव नहीं होता।

०

१—रचयिता : श्रीराजमणि राय 'मणि'; प्रकाशक : गीतकुंज, समस्तीपुर; मूल्य : एक रुपया मात्र।
२—रचयिता : श्रीसिद्धिलाल माणिक; प्रकाशक : श्रीविश्वनाथ माणिक, 'सिद्धि-सदन', स्वराज्यपुरी रोड, गया; मूल्य : सवा रुपये मात्र।

## बाल और किशोर-साहित्य

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

आओ करें सवारी,[१] निराला जानवर,[२] वीर पुत्रियाँ,[३] श्रीकृष्ण,[४] गौतम बुद्ध,[५] रवीन्द्रनाथ टैगोर,[६] के प्रकाशक दिल्ली के राजपाल एण्ड संज हैं। प्रौढ साहित्य की समीक्षा के सिलसिले में प्रकाशक का विशेष रूप से उल्लेख प्रायः अनावश्यक होता है, किन्तु बाल-साहित्य में कदाचित् उसीका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है : यह नहीं कि लेखक का महत्त्व कम होता है, किन्तु यह कि लिखित वस्तु को सचित्र और सुसज्जित बनाने में प्रकाशक की रुचि, साधन और दूरदर्शिता का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इन छह पुस्तकों को जिस रूप में और जितने कम मूल्य में प्रकाशक ने सुलभ बनाया है, उनके लिए वह विशेष श्रेय का अधिकारी है, यद्यपि, सामान्य रूप से, इन पुस्तकों का प्रकाशन अप्रत्याशित न होकर इस प्रकाशन-संस्था के सर्वथा अनुरूप ही है।

आओ करें सवारी और निराला जानवर अल्प वय-वर्ग के बालक-बालिकाओं के लिए योग्यतापूर्वक और अत्यन्त रोचक शैली में लिखी गई पुस्तकें हैं। यह विशेष रूप से सन्तोषजनक बात है कि पुस्तकों की भाषा को यथासम्भव शुद्ध रखने का प्रयास किया गया है और मुद्रण सर्वथा निर्दोष है।

दोनों पुस्तकों के रंगीन आवरण सुरुचिपूर्ण और आकर्षक हैं और अन्दर के चित्र बाल-मनोविज्ञान की समझ रखनेवाले कुशल चित्रकारों के बनाये हुए हैं।

वीर पुत्रियाँ, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध और रवीन्द्रनाथ टैगोर आदर्श जीवनियाँ प्रस्तुत करनेवाली ऐसी पुस्तकें हैं, जो उच्चतर वय-वर्ग के पाठकों के लिए हैं। इनके आकार-प्रकार, सजावट और चित्रण में पाठकों के वय-वर्गानुरूप सादगी है और पठनीय सामग्री रोचक शैली में प्रस्तुत होने पर भी सोद्देश्य एवं शिक्षाप्रद है।

समीक्षित पुस्तकें इस प्रकार की विदेशी पुस्तकों के समकक्ष हैं और हिन्दी में अनुकरणीय प्रतिमान स्थापित करती हैं।

गुलिवर की यात्राएँ,[७] राबिनसन क्रूसो,[८] कठपुतला,[९] खजाने की खोज में,[१०] अँगरेजी के ऐसे प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हैं, जो किशोरोपयोगी हैं और जिनमें से पहले दो तो श्रेयस्यता प्राप्त कर चुके हैं।

---

१—लेखक : श्रीरामचन्द्र तिवारी, मूल्य पचहत्तर नये पैसे मात्र; २—लेखक : श्रीप्रकाश पण्डित; मूल्य पचहत्तर नये पैसे मात्र; ३, ४, ५ और ६—लेखक : श्रीप्राणनाथ वानप्रस्थी; मूल्य : पचहत्तर नये पैसे मात्र। १—६ के प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६।

७-१०—अनुवादक : श्री श्रीकान्त व्यास; मूल्य : एक रुपया, पचास नये पैसे मात्र; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६।

अनुवादक श्रीकान्त व्यास ने अपरिचित स्थान, नाम और वातावरण से युक्त कथाओं को बड़ी सफलता के साथ अनूदित किया है—संक्षेपीकरण का श्रेय सम्भवतः अँगरेजी के ही किसी संक्षिप्त संस्करण को है, जिसका उल्लेख नहीं किया गया है, जो यह देखते हुए आश्चर्यजनक नहीं कि मूल लेखकों तक का उल्लेख—परिचय तो दूर की बात है—नहीं है।

किशोरोपयोगी मौलिक हिन्दी-उपन्यासों के अभाव का परिणाम यह हो रहा है कि वय से प्रौढ पाठकों की रुचि का लाभ उठाने के लिए लिखे गये उपन्यास ही किशोर भी पढ़ते है। इस वय-वर्ग के पाठकों के लिए उत्कृष्ट मौलिक उपन्यासों का अभाव शीघ्र दूर हो सकेगा, इसकी सम्भावना, हिन्दी के अच्छे उपन्यासकारों की सीमित संख्या को देखते हुए, नहीं है। अतः, किशोरोपयोगी विदेशी उपन्यासों के ऐसे अनुवाद अवश्य ही श्रेयस्कर सिद्ध होंगे।

प्रकाशक ने आवरण-सज्जा, चित्र, कागज, मुद्रण और मूल्य की दृष्टि से पुस्तकों को पूर्णतः संतोषजनक और अनुकरणीय बनाया है।

०

**जातक कथाएँ**[1] समीक्ष्य पुस्तक में सोलह ऐसी जातक-कथाएँ है, जो किशोर पाठकों को ध्यान में रखकर, संक्षिप्त रूप में, प्रस्तुत की गई हैं। सफल संक्षेपीकरण के लिए किसे साधुवाद मिलना चाहिए, इसकी सूचना, जाने क्यों, इन बातों में सामान्यतः सावधान प्रकाशक ने, देने की जरूरत नहीं समझी है, यद्यपि जहां तक मुद्रण-चित्रण आदि का प्रश्न है, इन दृष्टियों से पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण है।

०

**संगीत की कहानी**[2], **भारतीय भवनों की कहानी**[3], **हमारे पड़ोसी**[4], **एटम की कहानी**[5] किशोरोपयोगी ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें हैं। भारतीय भवनों की कहानी की तरह ही संगीत की कहानी भी भारतीय सभ्यता के ही तत्त्व-विशेष के सरल किन्तु प्रामाणिक विवरण तक सीमित है। लेखक ने इन दोनों पुस्तकों में भारतीय स्थापत्य और संगीत के विभिन्न रूपों और शैलियों का इतिहास साधिकार प्रस्तुत किया है। लेखक की विशेषज्ञता कहीं बाधक सिद्ध नहीं हुई है और भारतीय सभ्यता के इतिहास के दो तत्त्व वस्तुतः कहानी-जैसी रोचकता के साथ वर्णित हुए हैं।

हमारे पड़ोसी में उपर्युक्त पुस्तकों के लेखक ने ही भारत के पड़ोसी देशों के भूगोल, सभ्यता, व्यापार आदि के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें ऐसी सहज ग्राह्य शैली में कह

---

१—लेखक : उल्लेख नहीं; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य : एक रुपया, पच्चीस नये पैसे मात्र।

२-३—लेखक : श्री भगवतशरण उपाध्याय; मूल्य : एक रुपया, पच्चीस नये पैसे मात्र।

४-५—मूल लेखक : श्री जान लेवलेन; मूल्य : एक रुपया मात्र। २—५ के प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६।

दी हैं कि इतिहास-भूगोल से भागनेवाले किशोर पाठक भी इन विषयों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और उन्हें अपनी रुचि पर भार भी नहीं मालूम पड़ेगा। भगवतशरण उपाध्याय ऐसे किशोरोपयोगी साहित्य की रचना के लिए पहले से प्रसिद्ध हैं। यहाँ समीक्षित पुस्तकें उनकी प्रसिद्धि के सर्वथा अनुरूप हैं।

चौथी पुस्तक एटम की कहानी, मूल अँगरेजी-पुस्तक का अनुवाद है। अनुवादक विराज और चित्रकार ईदा शेईब ने अपने काम बड़ी खूबी के साथ किये हैं। विवरण प्रामाणिक होने के बावजूद, आसानी से समझ में आ जाते हैं—पढ़नेवाला प्रस्तुत समीक्षक-जैसा विज्ञान-विरहित हो, या विज्ञान में रुचि रखनेवाला वह किशोर पाठक, जिसके लिए पुस्तक लिखी गई है।

०

माँ और मुन्ना[1] का बाल-साहित्य के अन्तर्गत ही समीक्षित होना इस कारण युक्ति-रहित न होगा कि यह बालक की माता के लिए धात्री-विज्ञान-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों को अभिनव शैली में सुलभ बनानेवाली पुस्तक है। वार्त्तालाप और पत्र आदि के रूप में लिखी गई यह पुस्तक माताओं के लिए निस्संदेह अतिशय उपयोगी सिद्ध होगी।

०

## संस्कृत-नाटकों के अनुवाद

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

मृच्छकटिक[2], मुद्राराक्षस[3] दोनों ही संस्कृत के प्रमुख नाटकों में परिगणित होते हैं और उनके अनुवाद आवश्यक थे। इनमें से दूसरे का सफल अनुवाद स्वयं भारतेन्दु ने किया था। फिर भी नया अनुवाद आवश्यक था; क्योंकि यह मान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक युग में श्रेयस साहित्य का नवीन अनुवाद होना चाहिए।

इन अनुवादों से उक्त आवश्यकता की सर्वांशतः पूर्त्ति होती है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इन्हें इस दिशा में श्लाघ्य प्रयास माना जा सकता है। रांगेय राघव ने बृहत् परिमाण में मौलिक साहित्य की रचना करने के अतिरिक्त, अँगरेजी और संस्कृत से, बृहत्तर परिमाण में, अनुवाद किये हैं, जिनमें से कुछेक की समीक्षा पिछले अंकों में की जा चुकी है। बहुत अधिक लिखने से जो लाघव उन्होंने अर्जित किया है, वह अनिवार्यतः त्वरा-जनित त्रुटियों से क्षति-ग्रस्त भी हुआ है। यही कारण है कि इन अनुवादों को 'युग का अनुवाद' नहीं कहा जा सकता, ये इस अभाव की अंशतः पूर्त्ति करनेवाले प्रयास-मात्र हैं।

---

१—लेखक : श्री हरिश्चन्द्र; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

२-३—अनुवादक : श्रीरांगेय राघव; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य : क्रमशः तीन रुपये और दो रुपये मात्र।

'युग का अनुवाद' भारतेंदु-कृत मुद्राराक्षस का अनुवाद है, जिसमें बड़ी सावधानी और निपुणता के साथ गद्य-पद्य का मूलवत् गद्य-पद्य में अनुवाद है—युग के अनुरूप ही गद्य का खड़ीबोली में और पद्य का व्रजभाषा में। प्रस्तुत अनुवादकर्त्ता ने गद्य-पद्य दोनों का गद्य में ही अनुवाद किया है और, अनुवाद की प्रक्रिया में, मूल का अतिशय सरलीकरण भी कर दिया है।

इन अनुवादों के पक्ष में यह कहना पड़ेगा कि ये हिन्दी के साधारण पाठकों को संस्कृत के मूल नाटकों की कथा से परिचित कराने में अवश्य ही समर्थ होंगे और, विशद भूमिकाओं से युक्त होने के कारण, पाठकों को अधिक जानने के लिए प्रेरित करेंगे।

०

## उपन्यास

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

दुखमोचन[1] प्रगतिवादी नागार्जुन का गांधीवादी तो नहीं, किन्तु सरकारवादी उपन्यास जरूर ही है। यह उपन्यास आकाशवाणी के लखनऊ-केन्द्र से प्रसारित हो चुका है और यह पर्याप्त प्रमाण है कि नागार्जुन बायें से दायें खिसके हैं। वे अपने पहले के 'इष्टदेव को आसन से गिरा' मानते हैं या नहीं, इसकी जानकारी समीक्षक को नहीं है, किन्तु वे स्वयं अपने आसन से अवश्य हिले हैं।

नागार्जुन का यह खिसकना या हिलना उनके विकास का परिचायक नहीं है। उनके पहले के उपन्यासों के उत्कट यथार्थ से, उनमें प्रेमचन्द की तरह लगे मतवाद-विशेष से असहमत होते हुए भी, एकदम अप्रभावित बने रहना कठिन था; उनका प्रस्तुत उपन्यास वर्णित सुधारवाद के बावजूद, शिथिल और साधारण है। नागार्जुन की रचनाओं में सामान्य रूप से पर्याप्त प्रखरता रहती है। अपनी कृति पर वे प्रखरतापूर्वक विचार करें, तो यह उनकी भावी कृतियों के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है।

उपन्यास की मेरी प्रति उस लाल-नीली पेंसिल से अनेक स्थलों पर विरूप हो गई है, जिसे निर्मम होकर चलाना मेरा पेशा है। किश्त (किस्त); बुडबुड़ाना (बड़बड़ाना); वारिश (बारिश); चिड़वा (पंजाब में होता भी हो, मिथिला में तो अवश्य नहीं, और हिन्दी में भी नहीं! यों, शब्द का हिन्दी और बिहारी रूप भी प्रयुक्त हुआ है—चिवड़ा, चिउड़ा); नित्या बाबू के स्वर (का स्वर); पेशाब लग आई (आया; हिन्दी के लेखक नित्य-कर्म का उल्लेख किये बिना नहीं रहते, अब क्या यथार्थता के लिए स्पष्टतर उल्लेख नितान्त आवश्यक है? पृ० ६९ पर पुनः इस क्रिया का पण्डिताऊ भाषा में उल्लेख है!); चाबुक पड़ी (पड़ा); पछिआ, पछिमा हवा (यों तो दोनों ही रूप अपरिनिष्ठित हैं, किन्तु एक ही पृष्ठ पर द्विरूपता!); ध्वजा की ऊपरी छोर पर (के) : ये कुछेक दृष्टान्त हैं, जिन्हें भाषा की अशुद्धि कहते हैं, और जिनसे बचने का उपाय यह है कि लेखक या प्रकाशक पांडुलिपियों के संशोधन

---

१—लेखक : श्रीनागार्जुन; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

की कोई व्यवस्था अवश्य रखें। प्रस्तुत समीक्षक ने नागार्जुन से प्रसिद्धतर और उत्कृष्टतर लेखकों की कृतियों की समीक्षा करते हुए बहुशः इसकी ओर लेखकों और प्रकाशकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

पुस्तक के समीक्षक से अधिक उसके स्वतः नियुक्त सम्पादक के इस काम के सिलसिले में ही यह निर्देश कर देना भी आवश्यक है कि पृ० १८ पर दुखमोचन की 'औरत' हैजा से और पृ० ७१ पर टी० बी० से मरी, ऐसा परस्पर-विरोधी कथन है—यों कहने के लिए कहा जा सकता है कि वह मर तो गई ही, हैजा से हो या टी० बी० से, फर्क क्या पड़ता है! चौथे परिच्छेद के अन्त में, खाली स्थान पर, उपन्यास की मेरी प्रति के एक अन्य सजग पाठक की यह टिप्पणी है, जो शायद ठीक ही है—"अप्पी की माँ की बरखी के दस-बारह रोज बाकी हैं, मामी काम करने जाती है, दुखमोचन डाकखाने टिकट लाने जाता है, डाकखाने से टिकट लेकर लौटते समय वेणीमाधव के बरामदे में वह आराम करता है, उस समय अप्पी की माँ की बरखी हुए तीन दिन गुजर चुके होते हैं!" मेरे एक छात्र ने प्रेमचन्द के उपन्यासों तक में ऐसी एकाधिक असंगतियाँ ढूंढ निकाली हैं; नागार्जुन अपने को ऐसी असंगतियों के लिए क्षम्य मानें, तो उनकी ओर से यह तर्क प्रस्तुत है।

यदि ऐसी कुछेक पुस्तकें पाठ्यक्रम में स्वीकृत रहें, तो अध्यापकों का काम एक हद तक सरल हो जाय—शुद्ध प्रयोगों के निर्देश के लिए अशुद्ध ढूंढने में उन्हें श्रम नहीं करना पड़ेगा—मम्मट ने श्रीहर्ष के बारे में जिस नीयत से कुछ ऐसी ही बात कही हो, आज का मम्मट आज के श्रीहर्ष के लिए यदि ऐसा कुछ कह रहा है, तो इसके लिए क्या अधिक उदाहरण अपेक्षित हैं?

पुस्तक लिखना कष्टप्रद कार्य है, यह सभी मानते हैं; समीक्षक के कष्ट को लेखक ही समझे, तो समझे।

प्रकाशक ने, प्रकाशक का जो करणीय है, उसे बखूबी किया है, यानी उपन्यास का मुद्रण सर्वाङ्गसुन्दर है; प्रकाशक ने, प्रकाशक को जो नहीं करना चाहिए, वह नहीं किया है, अर्थात् उसने पुस्तक का बहुत ढिंढोरा नहीं पीटा है, और उसकी समीक्षा उनके लिए छोड़ दी है, जिनका यह काम है।

०

उनसे न कहना,[1] रात और प्रभात[2] के लेखक भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दुखमोचन के लेखक से बहुत पहले से लिखते आ रहे हैं, यद्यपि उन्होंने औसत किस्म के उपन्यास ही लिखे हैं, जो परिमाणतः प्रभावोत्पादक होते हुए भी, प्रकारतः उल्लेख्य एवं विचारणीय नहीं सिद्ध हुए हैं। ये दोनों उपन्यास उनके बहुसंख्य अन्य उपन्यासों के समान ही हैं: पर्याप्त रोचक कथानक; बीच-बीच में पाठकों से आँसू ऐंठने की कोशिश—जो शरत् बाबू के

---

१-२—लेखक : श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य : क्रमशः पाँच रुपये तथा तीन रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

घटते प्रभाव के साथ, गनीमत है, कम हो गई है; सीधी-सादी भाषा के बीच असावधानी से प्रयुक्त संस्कृत शब्द, जिनके कारण भाषा 'फीलपाँवी' हो जाती है, जिसे देखते हुए प्रसाद की भाषा को 'फीलपाँवी' कहना मेरी अत्युक्तियों में से एक प्रमाणित होती है; और एक अच्छी बात यह कि समाज, संस्कृति, कला इत्यादि सम्बन्धी अपने विचारों को पात्रों के कथोपकथन के रूप में खपाने की अधिक चेष्टा न करना—कुछ तो चेष्टा रहती है !

और, सम्पादन कहिए या स्कूल-टीचरी, वाजपेयीजी के समान पुराने लेखक की भाषा के सम्बन्ध में भी इसकी पूरी आवश्यकता है। कुछ उदाहरण हैं, और केवल उनसे न कहना से—तेज़ और ओज (तेज); अहम और दम्भ (अहम्); भिद जाता है; वर्षा के दिनों में कल्याणी खुले आकाश के नीचे सोना पसन्द करती है (बरसात में, या वर्षा की रातों में होना चाहिए—वर्षा के दिनों में कोई क्यों खुले आकाश के नीचे सोने लगा ! ); उसकी विदा के लिए आये (बिदाई); अपनी स्थापना का श्रीगणेश कर दिया था (स्थापना भी ठीक, श्रीगणेश भी, फिर भी यह शैली कैसी है ! ); धूप न हो तो निदाघ-ज्वाला, डूब-डूबकर इधर-उधर अपने पांव पसार-पसारकर (शैली का दृष्टान्त); पृथ्वी-तल को शस्य-श्यामला बना देती है ( या तो तल हटायें या श्यामल करें ); उस समय कल्याणी की माँ बनी हुई थी ( बनी हुई मुहावरा तो यहां खूब है ! ); माँ की कलह ( के ); तुमको मिथ्या प्रशंसा का पात्र लोलुप बना दिया है; इसी प्रकार दिन चलते गये और ग्रन्थि पर पानी पड़ता गया; तुमको बात करने की तमीज नहीं है ( तुम्हें ); पवन-दोलन में गरमाहट प्रतीत होने लगी (पवन-दोलन ही कहना है, तो उष्णता कहें, हालांकि दोलन में उष्णता कैसी, वह तो पवन में ही हो सकती है, दोलन मन्द-तीव्र हो, तो हो); खपरैल से आवृत्त (आवृत); चप्पल से पैर मात्र ही खुए हुए दिखलाई पड़ते; दोनों परिवारों के बच्चों के मन के तार अभी टूट न पाये थे (जैसे टूट जाने चाहिए थे, दुर्भाग्य कि टूट न पाये थे; अभी टूटे न थे, कहा यों जायगा); रशीदा की साड़ी का अंचल कन्धे से खिसककर भूमि-तल पर फिसलने लगता, आधुनिकतम कंचुकी का युग्म-कन्दुक-मिलन-द्वार अनावृत्त हो उठता (अब लेखक की 'जानकारी' और 'शैली' के बारे में अवश्य कुछ कहना अनावश्यक है); केले, सन्तरे और लीची लेकर (लीची एक ही ?); आजानु अनावृत्त केशराशि (आजानुप्रलम्बता परम्परागत विशेषता है, कदाचित् आधुनिक विशेषता अनावृत्त—अनावृत—होना हो ! )। समीक्षा में यह विवरण बहुत विस्तृत हो सकता है—पूर्व-समीक्षित उपन्यास-सम्बन्धी ऐसे सम्भाव्य विवरण से भी अधिक विस्तृत। किन्तु अलमतिविस्तरेण !

लेखक से कहीं अधिक प्रकाशक ने अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखा है।

०

**भूदानी सोनिया**[1] : रहस्य-रहित शीर्षकवाले इस उपन्यास को मैं बहुत उत्कण्ठा के

---

१—लेखक : श्री उदयराज सिंह, प्रकाशक : उल्लेख नहीं; मुद्रक : अशोक प्रेस,पटना-६; मूल्य : चार रुपये मात्र।

साथ पढ़ने के लिए अपने को तैयार कर सका, यदि यह सत्य नहीं है, तो यह असत्य भी नहीं है कि एक बार पढ़ना शुरू कर देने पर उसे जारी रखना बहुत कठिन नहीं पाया और पुस्तक पढ़ने पर सन्तोष अनुभव किया।

भूदान से दुष्कर आचरण का ही सम्बन्ध हो सकता है, मैं यही समझता रहा हूँ। उसे उपन्यास का विषय भी बनाया जा सकता है, यह उदयराज सिंह ने कर दिखाया है। यह कौतूहलवर्द्धक बात है, यद्यपि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उदयराज सिंह की शैली में भूदान और उसके प्रवर्त्तक के व्यक्तित्व को खूबसूरत सादगी आ गई है। अवश्य ही उदयराजजी की शैली के इस शोभन रूप में उनकी विकसमान कला का भी योग है, जिसने उन्हें उत्तराधिकारवत् प्राप्य 'लीक' को छोड़कर चलने का आधार प्रदान किया है।

शैली की तरह आवरण भी निराडम्बर, किन्तु आकर्षक है। पुस्तक की दो अन्य साहित्येतर विशेषताएं हैं श्रीजयप्रकाश नारायण की लिखी प्रस्तावना और यह प्रकाशकीय घोषणा कि 'इस पुस्तक से प्राप्त कुल आय भूदान-यज्ञ को निवेदित है।'

०

राह न रुकी[1], पक्षी और आकाश[2] एक ऐसे लेखक के लिखे उपन्यास हैं, जिसकी रचनाओं के परिमाण से अनुमेय आलोचक की समस्त आशङ्काएँ, सत्य सिद्ध होती हैं। हीन-भावना-ग्रस्त लेखक सम्पादित आलोचना के खिलाफ पेशबन्दी करता हुआ, राह न रुकी की भूमिका में कहता है—"उपन्यास या कला-कृति केवल मनोरंजन के लिए नहीं, वह निम्न स्तर के आलोचकों तक उतरने के लिए भी नहीं। उसे सहज होना होगा पाठकों के लिए, किन्तु उतना ही उठना होगा आलोचक को उसे समझने के लिए।"

आलोचना के खट्टे अंगूर अवश्य ऐसी रचनाओं के लिए दुष्प्राप्य बने रहते हैं। रही 'उतरने', 'उठने' की बात, तो फल खुद नहीं 'उतरते', 'उठने' की ताकत हो, तो उनकी तृष्णा रखनेवाला उठे, या न उठ सके, तो उन्हें खट्टा कहकर सन्तोष कर ले!

आलोचक बिचारे लेखक के प्रति हमदर्दी रखने के बावजूद अपनी आलोचना को किस निम्नता तक 'उतारे'! राह न रुकी के स्तर के कुछेक दृष्टान्त ही, लेखक के अतिरिक्त और सभी के लिए पर्याप्त होंगे—हम क्षत्रीय हैं; उस खो में दो चपत क्यों नहीं देता; आँख मिलाकर चकड़-चकड़ करने लगे; इत्यादि। यह उपन्यास बुद्ध-महावीर-युग का पुनर्जागरण प्रस्तुत करता है—किस खूबी के साथ, इसका अनुमान उपर्युक्त उद्धरणों से कर लें, जो प्रारम्भ के सत्ताईस पृष्ठों में ही अनायास मिल गये हैं।

पक्षी और आकाश में ऐसे बहुसंख्य अप-प्रयोग हैं—मैंने तीनों भाइयों को मेरी ओर देखते हुए; आधीन; रलपयित; आशीस; स्वर्ण-रत्नजटित किरीट (रत्नजटित स्वर्ण-

---

१-२—लेखक : श्रीरांगेय राघव; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; मूल्य : क्रमशः तीन रुपये और चार रुपये मात्र।

*

करोट); कितने ही तरह के व्यंजन; उच्छ्वासित; साक्षी दिला दी; मेरे अपमान; नाम डूबा दिया; मैंने झूठ बोला था; श्वसुर; इत्यादि।

इस उपन्यास में, पहले की अनर्गल भूमिका को तरह कोई भूमिका नहीं है। यह अच्छी बात है। जो 'दो शब्द' हैं, उनके लिए, पता नहीं, लेखक उत्तरदायी है या प्रकाशक। जो भी हो, उसका यह दावा कि 'आज से हजार साल बाद भी इस उपन्यास की रोचकता वही रहेगी, जो आज है' वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में उसकी आशावादिता का परिचायक है। किन्तु, दोनों ही उपन्यासों में ऐसी रोचकता अवश्य है, जो साधारण पाठक की रुचि के अनुकूल सिद्ध हो सकती है। पक्षी और आकाश की रोचकता आकस्मिकताओं पर निर्भर है और चन्द्रकान्त-'संतति' है; राह न रुकी इस दृष्टि से उत्कृष्टतर है।

पुस्तकें साहित्य की शोभा भले न हों, अलमारी की जरूर बढ़ा सकती हैं।

०

गुलाब के दो फूल,[1] बुढ़िया की गाय,[2] पथेर पांचाली,[3] में पहले दो अँगरेजी से और तीसरा बँगला से अनूदित उपन्यास हैं। गुलाब के दो फूल स्टेवेंसन के एक ऐसे उपन्यास का अनुवाद है, जिससे हिन्दी का भाण्डागार नहीं भरता—और अनुवाद इसी दृष्टि से होने चाहिए। हाँ, अँगरेजी न जाननेवाले पाठकों को एक कौतूहलवर्द्धक उपन्यास जरूर मिल जाता है। अनुवादक महावीर अधिकारी ने साधिकार अनुवाद किया है।

मुल्कराज आनन्द के अँगरेजी-उपन्यास का अनुवाद हिन्दी के साधारण उपन्यास-पाठक को भी प्रभावित नहीं करेगा। इससे हिन्दी के साधारण उपन्यासकार का भी आत्म-विश्वास बढ़ सकता है; क्योंकि ऐसा उपन्यास वह भी लिख लेता है। पति पत्नी को कितनी बार पीट सकता है, इसका निर्घृण विवरण देनेवाला यह उपन्यास 'बीभत्स'प्रधान है।

पथेर पांचाली का अनुवाद तो होना ही था—चित्रपट के रूप में इसे इतनी प्रसिद्धि जो मिली है! किन्तु जहाँ तक उपन्यास का प्रश्न है, बँगला के ही शरत् बाबू ने पाठकों से आँसू वसूलने में इससे कहीं अधिक सफल उपन्यास लिखे हैं और उनसे हिन्दी के पाठक सर्वथा सुपरिचित हैं। शरत् बाबू के उपन्यासों में अश्रु-तत्त्व से अधिक भी कुछ रहता है, पथेर पांचाली में यही एकमात्र उल्लेखनीय तत्त्व है।

चोखेर बाली का हिन्दी नामान्तरण आँख की किरकिरी कुछ बुरा तो नहीं था, किन्तु पथेर पांचाली हिन्दी में भी पथेर पांचाली ही है। अनुवाद की भाषा अनेक स्थलों में हिन्दी की अपेक्षा बँगला के निकटतर है; नाम पूर्णतः बँगला रह गया, तो क्या आश्चर्य!

---

१—मूल लेखक : श्रीराबर्ट लुई स्टेवेंसन; अनुवादक : श्रीमहावीर अधिकारी; मूल्य : पाँच रुपये मात्र; २—मूल लेखक : श्रीमुल्कराज आनन्द; अनुवादक : श्रीमुनीश सक्सेना; मूल्य : पाँच रुपये, पचास नये पैसे मात्र; ३—मूल लेखक : श्रीविभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय; अनुवादक : श्रीमन्मथनाथ गुप्त; मूल्य : पाँच रुपये मात्र। १ और ३ के प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज; दिल्ली; २—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

हिन्दी के उत्साही प्रकाशक हिन्दीतर भाषाओं के श्रेष्ठ उपन्यासों के ही अनुवाद प्रकाशित करें, तो वे अपने साधनों का सदुपयोग करेंगे।

०

## छोटी कहानियाँ

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

**छेनी और हथौड़ी**[1] ऐसी कहानियों का संग्रह है, जिनमें कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कामयाबी के साथ जिद्यान-जैनेन्द्र-शैलियों की खिचड़ी पकाई गई है। यह प्रयास शरत्-कृष्णचन्दर की खिचड़ी पकाने से जरूर ही अच्छा है, जो हिन्दी की कहानी-पत्रिकाओं में छपनेवाली कहानियों की विशेषता है।

०

**तुम बड़ी पागल हो**[2] में संगृहीत कहानियाँ 'बीस-बाईस वर्ष की उम्र में लिखी गई हैं।' बीस-बाईस वर्ष की हर कहानी-लेखिका कैथेराइन मैंस्फील्ड ही सिद्ध होगी, इसकी अपेक्षा तो खैर किसीको क्या होगी, किन्तु तुम बड़ी पागल हो की लेखिका मालती परुलकर इस्मत चुगताई भी नहीं है। तुम बड़ी पागल हो, इस शीर्षक के बावजूद, संग्रह की कहानियों में पागलपन या भावुकता अनियन्त्रित नहीं है।

०

**लम्बे दिन जलती रातें**[3] की कहानियों में वही बीभत्सता है, जिसका निर्देश ऊपर, उपन्यासविशेष की समीक्षा में, हो चुका है। मनुष्य की क्रूरता कहानी में व्यक्त हो तो सकती है, किन्तु इसके लिए मर्द के द्वारा औरत के बार-बार पिटने का वर्णन आवश्यक नहीं है। बीभत्स और भयंकर हिन्दी के कुछ लेखकों के प्रिय रस होते जा रहे हैं। लेकिन, यह इन रसों के साथ अन्याय है—उनका रस तो 'हारर' है। वे प्रौढ पाठकों के लिए 'हारर' कहानियाँ लिखने को स्वतन्त्र हैं। ब्रिटेन और भारत की सरकारों ने अमरीका से आनेवाले 'हारर कामिक्स' पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। मैं सरकारी प्रतिबन्ध का समर्थक नहीं हूँ। मुझे पाठकों की सुरुचि में अविश्वास नहीं है।

संगरजी की कहानी—पुस्तक कुछ लोगों को ही नीलकंठ बनायगी—जिनमें ईर्ष्या के सर्वथा अयोग्य यह समीक्षक भी है—आशा यही की जाय!

०

---

१—लेखक : श्रीराजेन्द्र प्रसाद; प्रकाशक : जिज्ञा प्रकाशन, जमालपुर; मूल्य : दो रुपये मात्र।

२—लेखिका : सुश्री मालती परुलकर; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

३—लेखक : श्रीसत्यप्रकाश संगर; प्रकाशक : विजय प्रकाशन, भोपाल—अकोला; मूल्य : दो रुपये मात्र।

बँगला की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ,[१] उर्दू की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ,[२] बँगला और उर्दू की प्रायः अच्छी कहानियाँ हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ बनाती हैं। बँगला की कहानियाँ शायद पुस्तक के प्रस्तावना-लेखक, राधेश्याम पुरोहित, ने चुनी हैं—स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जिसने भी कहानियाँ चुनकर अनूदित-सम्पादित की है; उसने अपना काम योग्यतापूर्वक किया है। रवीन्द्रनाथ से नारायण गंगोपाध्याय तक की जो चौदह कहानियाँ इस संग्रह में हैं, वे पाठकों को संख्या में अपर्याप्त मालूम पड़ेंगी—संग्रह को यह बहुत बड़ी सफलता है। सभी कहानीकारों के संक्षिप्त परिचय कहानियों के प्रारम्भ में दिये गये हैं। इनसे पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है।

प्रकाश पंडित के द्वारा सम्पादित दूसरी पुस्तक के बारे में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है : हिन्दी के कुछ पाठक उर्दू की और अधिक कहानियाँ पढ़ने के लिए उत्सुक बनेंगे। यह अनुवादक-सम्पादक का दोष नहीं है कि उर्दू की ये औसत कहानियाँ बँगला की इन औसत कहानियों की तुलना में निम्न स्तर की हैं!

✡

# संकलन

## आचार्य आपिशलि

संस्कृत-भाषा के प्राप्त व्याकरण-ग्रन्थों में पाणिनि का अष्टाध्यायी सबसे प्राचीन तथा सर्वाङ्गपूर्ण है। किन्तु, यह नहीं समझना चाहिए कि पाणिनि के पूर्व कोई व्याकरण-ग्रन्थ नहीं था। स्वयं पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में, विभिन्न स्थानों पर व्याकरण के दस आचार्यों के मत स्वीकार किये हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध आपिशलि हैं। अष्टाध्यायी में तो केवल एक स्थान पर, 'वा सुप्यापिशलेः' वर्णन मिलता है। किन्तु, महाभाष्य, काशिका तथा जैनग्रन्थों में इनका पर्याप्त वर्णन मिलता है। आपिशलि शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है। इस शब्द की व्युत्पत्ति काशिका में, अपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः। अत इञ्। ६। २। ३६।' दी गई है। इस प्रकार, काशिकाकार ने अपिशल से आपिशलि बनाया है। इसकी पुष्टि गणरत्नमहोदधि में विस्तार से की गई है—'पिशतीत्यौणादिककलप्रत्यये पिशलः, न पिशलोऽपिशलः कुलप्रधानम्, तस्यापत्यम्।' गणरत्नमहोदधिकार ने एक बात और बतलाई है कि 'अपिशल' शब्द कुल के लिए आता है। वैसे, पिशल का अर्थ क्षुद्र और अपिशल का अर्थ महान् होता है।

बौधायन श्रौत के प्रवराध्याय में भृगुवंशीय आपिशलि-गोत्र का उल्लेख मिलता है।

---

१-२—अनुवादक : उल्लेख नहीं; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट दिल्ली-६; मूल्य : क्रमशः दो रुपये, पचास नये पैसे तथा तीन रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

मत्स्यपुराण में पिशलि-गोत्र का वर्णन है—'द्रौणायनोरौक्यायनः पिशली चापिकायनिः, हंसजिह्वस्तथैतेषामार्षेयाः प्रवरा मताः' (१९४।४१)। अपिशलवंशीय आपिशलि का समय क्या होगा, इसके विषय में अधिक सोच-विचार नहीं करना है; क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र 'वा सुप्यापिशलेः' ने इतना तो सिद्ध ही कर दिया है कि आचार्य आपिशलि पाणिनि से पूर्व हुए थे। अब यह निर्णय करना है कि आपिशलि का काल पाणिनि से कितना पूर्व है। इस विषय में पदमञ्जरी (भाग १) में दो स्थलों पर वर्णन मिलता है—'कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, आपिशलिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वेण व्याकरणेन।' तथा 'पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्त एवमापिशलिः।' इससे ज्ञात होता है कि आचार्य आपिशलि पाणिनि से कुछ ही पूर्व हुए थे। पाणिनि का काल लगभग ईसा से ७०० वर्ष पूर्व पड़ता है तथा आपिशलि का काल ८०० वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा।

आपिशलि-व्याकरण के जो सूत्र मिलते हैं, उनमें लौकिक और वैदिक दोनों भाषाओं के लिए व्यवस्था है। आपिशलि-व्याकरण का विषय-निर्धारण, कहने का ढंग तथा आकार-प्रकार लगभग वैसा ही था, जैसा पाणिनि-व्याकरण का है। आपिशलि के एक सूत्र 'विभक्त्यन्तं पदम्' को पाणिनि के सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' से मिलाइए। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने द्विवचन, विभाषा, गुण, पद, सार्वधातुक आदि संज्ञाएँ मानी हैं। ठीक इन्हीं संज्ञाओं को आपिशलि ने भी स्वीकार किया था। पतञ्जलि के समय में आपिशलि के व्याकरण का देश में खूब प्रचार था। साथ ही, वह इतना सरल एवं सुबोध था कि स्त्रियाँ भी इसका अध्ययन करती थीं। इसका उदाहरण महाभाष्य में मिलता है—'आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी' (म० भा० ४।१।१४)। व्याकरण के अतिरिक्त आपिशलि ने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, शिक्षा, कोष, साम प्रातिशाख्य आदि की भी रचना की थी।

—'आचार्य आपिशलि'; ले० श्रीकालिकाप्रसाद त्रिपाठी

[मासिक 'युगचेतना' (लखनऊ); वर्ष ४, अङ्क ४; अप्रैल, १९५८ ई०]

०

## भारतीय इतिहास : नवीन दृष्टिकोण की अपेक्षा

अबतक हमारे प्रयास केवल आनुवंशिक तथा राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण तक ही सीमित थे। डा० ए० एस्० अल्तेकर ने 'राष्ट्रकूटज़ एण्ड देयर टाइम्स' तथा डा० आर० सी० मजुमदार ने 'हिष्ट्री आव बंगाल' के द्वारा राजनीतिक इतिहास-मात्र के स्थान पर उत्कृष्ट सांस्कृतिक ढाँचा उपस्थित किया। परन्तु, आवश्यकता है अखिलभारतीय स्तर पर राजनीतिक इतिहास से हटकर सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर आने की। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक और वंशानुक्रमिक ऐतिहासिक क्षेत्र उच्च अध्ययन के लिए मौलिक रूप से आवश्यक है। परन्तु, अपनी उच्च तथा परिष्कृत ऐतिहासिक दिशाओं के प्रति हमारे अनुराग और जिज्ञासा के बीच उसे बाधक नहीं होना चाहिए। समग्र जनजीवन और

विशेषतः उसकी निर्माण-चेतना हमारे अध्ययन का विषय होना चाहिए। जीवन के आर्थिक आधार, भौतिक जीवन को नियन्त्रित करनेवाली आर्थिक मान्यताओं का गठन, उत्पादन और वितरण, वाणिज्य-व्यवसाय, सांस्कृतिक गतिविधियां, बौद्धिक परिकल्पनाएँ तथा दार्शनिक अनुभव आदि के सम्बन्ध में गहन विवेचन होना चाहिए, जिनके बीच होकर सार्वजनीन सुख-समृद्धि और संस्कृतियाँ प्रवाहित होती है।

इतिहास-विज्ञान की कला में भी एक नवीन दृष्टिकोण की अपेक्षा है। इस युग के सम्बन्ध में अभीतक ऐतिहासिक ढांचे के पुनर्निर्माण के लिए तत्त्वों का संकलन और परीक्षण ही ऐतिहासिकों का प्रधान कार्य रहा है। विश्लेषण, व्याख्या, समीक्षा और तुलना की या तो उपेक्षा की गई या उसे छोड़ दिया गया। दूसरे शब्दों में अभीतक इतिहास केवल वर्णनात्मक तथा अपने चरम लक्ष्य मानव-समस्याओं के प्रति अन्तर्दृष्टि प्रदान करने में कदाचित् ही समर्थ रहा है। इतिहास को और अधिक रोचक, पठनीय एवं उपयोगी बनाने के लिए केवल सारिणीकरण और वर्णनों से परे जाकर इसका विवेचन करना होगा।

—'भारतीय इतिहास के पूर्व मध्ययुग की समस्याएँ'; ले० डा० राजवली पाण्डेय
[त्रैमासिक 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (वाराणसी); वर्ष ६२, अङ्क १; वि० सं० २०१४]

०

## हिन्दी-पाठालोचन और सम्पादन : ग्रियर्सन-काल (सन् १८८८ से १९१० ई०)

ग्रियर्सन ने सम्पादन का जो दिशा-निर्देश किया था, वह परवर्त्ती काल में कोई विशेष आगे नहीं बढ़ा। इसलिए, इस काल में ग्रियर्सन के बाद का भी अधिकांश समय ले लिया गया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने जो तथाकथित सम्पादन किया, उसमें ग्रियर्सन के कार्यों का ही आधार ग्रहण किया गया था। जहाँ कहीं स्वतन्त्र पग बढ़ाये गये हैं, वहाँ मूल-पाठ का प्रायः अर्थ ही हुआ है। अतः, ग्रियर्सन ने जो रूप सम्पादन का अग्रेसर किया था, उसका प्रभाव सन् १९४२ ई० तक के सम्पादनों पर देखा जाता है। इसीलिए, इस काल-सीमा में उक्त सन् तक को रख लिया गया है। इस समय तक प्राचीन साहित्य अत्यन्त तीव्र गति से लोगों के सम्मुख मुद्रित रूप में आने लगा। विभिन्न व्यक्तिगत संस्थाओं के अतिरिक्त इस समय नागरी-प्रचारिणी सभा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा हिन्दी-परिषद्, प्रयाग-विश्वविद्यालय आदि साहित्यिक संस्थाओं ने सम्पादन की ओर ध्यान दिया। अनेक महत्त्व के प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन इस काल में हुआ। इस काल के प्रारम्भ में ही जो दो व्यक्ति हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, वे हैं (१) डा० सर जार्ज ग्रियर्सन और (२) श्रीभागवतप्रसाद खत्री।

डा० ग्रियर्सन अँगरेज थे और उनका परिचय भारतीय भाषाओं से कम था। परन्तु, भारतीय ज्ञान के प्रति जिज्ञासा होने के कारण उन्होंने यहाँ पर भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया और उसके लिए जिन सामग्रियों का दान दिया, वे अमूल्य हैं। उनके अन्य कार्य यथा, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, भाषा-सर्वेक्षण आदि तो अँगरेजी के माध्यम

से हुए, परन्तु सम्पादन में भूमिकाओं को छोड़कर मूल-पाठ हिन्दी में देना ही आवश्यक था। इस दृष्टि से वे पं० सुधाकर द्विवेदी से अपने सम्पादनों में सहायता लेते रहे। सन् १८८८ ई० में उन्होंने 'बिहारी-सतसई' का सम्पादन किया, जो रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ के सम्पादन में उन्होंने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता न ली, प्रत्युत लल्लूलाल द्वारा तैयार की गई 'लाल-चन्द्रिका' के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया। लल्लूलालजी की 'लाल-चन्द्रिका' 'बिहारी-सतसई' के आजमशाही क्रम से सजे हुए दोहों की प्रतियों के आधार पर तैयार की गई थी। इस क्रम को आजमगढ़ के हरजू नामक कवि ने आजमगढ़ के अधीश आजम खाँ या आजमशाह के लिए तैयार किया था। उन्होंने दूसरा सम्पादन 'रामचरितमानस' का किया, जो खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) से प्रकाशित हुआ था। 'बिहारी-सतसई' के सम्पादन की ही भाँति मानस के भी सम्पादन में उन्होंने न तो किसी सिद्धान्त का अनुगमन किया और न ही बहुत-सी हस्तलिखित पोथियों का उपयोग।

उनका तीसरा और प्रमुख सम्पादन 'पद्मावत' का था, जिसे उन्होंने पं० सुधाकर द्विवेदी के साथ सम्पन्न किया। यह सन् १९१० ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल से प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में ग्रियर्सन साहब ने अपने उन सम्पादन-सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जिनका अनुगमन उन्हें स्वीकार्य था—(१) एक विशिष्ट प्रति का आधार ग्रहण करना, जो उन्हें सर्वाधिक प्रामाणिक और मूल के निकटतम प्रतीत हुई; (२) सभी प्राप्त प्रतियों में जो पाठ बहुतों में हो, उन्हें स्वीकार करना परन्तु उनके सम्पादित पाठ की समीक्षा करने पर पता चलता है कि उन्होंने पाठ-निर्णय करते समय अपने द्वारा ही निर्धारित दोनों सिद्धान्तों की उपेक्षा की है। साथ ही, यह भी विचारणीय है कि उन्होंने जिस प्रति को आधार माना, वह मूल के सर्वाधिक निकट नहीं थी और मिलनेवाली प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण के विना उनका बहुमत ग्रहण करना कितना अहितकर होता है, इसे पाठ-विज्ञान के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। इस प्रकार, उनके सम्पादन प्रामाणिक होने पर भी अवैज्ञानिक थे।

भागवतप्रसाद खत्री ने रामचरितमानस तथा तुलसी के अन्य ग्रन्थों का सम्पादन किया। उन्होंने हस्तलिखित पोथियों के आधार पर ही पाठ तैयार किया। साथ ही, उपयुक्त लगनेवाले पाठों का ग्रहण किया तथा अन्यों को पाद-टिप्पणी में दे दिया। उन्होंने उपयुक्त पाठों के चयन तक ही अपने-आपको सीमित रखा। पाठ-सुधार के द्वारा पाठों में हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की। इस प्रकार, उनके पाठों में पाठ-मिश्रण तो है, परन्तु पाठान्तरों के द्वारा उसे सुविधा से अलग किया जा सकता है। पाठ-विकृति और प्रक्षेप प्रायः कम ही आ पाये हैं।

—'हिन्दी-पाठालोचन और सम्पादन का इतिहास'; श्रीकन्हैया सिंह

[ त्रैमासिक 'सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग); भाग ४४, संख्या १; पौष-फाल्गुन, शक १८७९ ]

# संकल्प : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २६वें अधिवेशन (मुँगेर) में स्वीकृत

संकल्प-संख्या १ : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का यह अधिवेशन, बिहार के सर्वमान्य जननायक तथा हिन्दी के महान् उन्नायक बिहार-विभूति डा० अनुग्रहनारायण सिंह, बिहार-विश्वविद्यालय के उपकुलपति एवं सम्मेलन के भूतपूर्व उपसभापति पद्मभूषण श्रीश्यामनन्दन सहाय, प्रगतिशील बिहार के यशस्वी नेता और विचारक श्रीफूलनप्रसाद वर्मा, हिन्दी के सुविख्यात कवि एवं साहित्यकार श्रीजगदम्बाप्रसाद 'हितैषी', हिन्दी के पुराने सेवक तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता श्रीभगवानदास केला, श्रीरामजीशरण विन्ध्याचल 'कविकिंकर', ठाकुर श्रीनन्दकिशोर सिंह 'किशोर', श्रीबाबूलाल गुप्त, श्रीरामेश्वरीप्रसाद 'राम' और श्रीद्वारकाप्रसाद गुप्त के असामयिक एवं दुःखद निधन पर हार्दिक शोक तथा उनके शोक-सन्तप्त परिवारों के प्रति समवेदना प्रकट करता है और परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वे दिवंगत आत्माओं को चिरशान्ति प्रदान करें।

—सभापति द्वारा

०

संकल्प-संख्या २ : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का यह अधिवेशन इस बात पर प्रसन्नता प्रकट करता है कि देश के विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का जो चित्र अब देश-मानस में दिखाई दे रहा है, वह सुस्पष्ट और आशापूर्ण है। सम्मेलन इस बात को देश की एकता के लिए उपयोगी समझता है कि प्रत्येक क्षेत्र की जनता अपने क्षेत्रीय प्रयोजनों के लिए स्वेच्छानुसार अपनी क्षेत्रीय भाषा अथवा हिन्दी का उपयोग करे और केन्द्रीय शासन एवं अन्तःप्रान्तीय व्यवहार की भाषा हिन्दी हो तथा सुप्रीम कोर्ट और हाइकोर्ट के सभी कार्य भी हिन्दी में किये जायँ।

किन्तु, सम्मेलन को खेद है कि देश के सामने प्राकृतिक रूप से विकसित भाषा-विषयक यह चित्र कुछ लोगों को पसन्द नहीं है और वे नाना प्रकार से देश में ऐसे कृत्रिम एवं अनुचित आन्दोलन चला रहे हैं, जिनका ध्येय अँगरेजी के वर्त्तमान पद को अक्षुण्ण रखना तथा भारतीय भाषाओं की प्रगति का विरोध करना है। सम्मेलन की राय में, इन दुर्भाग्य-पूर्ण आन्दोलनों के मुख्य प्रवर्त्तक और आयोजक वे लोग हैं, जो अंगरेजी में दक्षता प्राप्त करने के कारण सत्ता-अधिकार और नौकरियों के क्षेत्र में अन्य लोगों से आगे रहते आये हैं और जिनके मन में सम्भवतः अब यह भय समा गया है कि यदि सत्ता-अधिकार और नौकरियों के द्वार हिन्दी तथा देश की अन्य भाषाओं के लिए खोल दिये गये, तो जो अधिकार आज मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में सीमित है, वह फैलकर अपार जनता के हाथों में चला जायगा और तब अफसर, नौकर और सत्ताधारी केवल वे ही नहीं होंगे, जिनके सुखी एवं समृद्ध अभिभावकों ने उन्हें अँगरेजी की अच्छी शिक्षा दी है, बल्कि वे लोग भी होंगे, जो भारतीय भाषाओं में शिक्षा पाकर जीवन के लिए तैयार हुए हैं। अँगरेजी के हटने पर

सत्ता और अधिकार की जो जगहें खाली होंगी, वे केवल हिन्दी को नहीं मिलेंगी; बल्कि उनका अधिकांश भाग विभिन्न भारतीय भाषाओं को प्राप्त होगा। अतएव, यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि संघर्ष, वास्तव में भारतीय भाषाओं और अँगरेजी के बीच है। भाषा-विषयक संघर्ष के इस सीधे-सादे रूप पर पर्दा डालकर जो लोग जनता में यह भ्रम उत्पन्न करना चाहते हैं कि हिन्दी भारत की अन्य भाषाओं का दलन करना चाहती है, वे सम्मेलन की राय में, भारतीय एकता की कुसेवा कर रहे हैं। अतः, जनता को, विशेषतः अहिन्दी-भाषी जनता को, ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए। तमिल, तेलुगु, बँगला आदि भारतीय भाषाओं का भाग्य अँगरेजी के साथ नहीं, प्रत्युत हिन्दी के साथ जुड़ा हुआ है और जो लोग आज अँगरेजी का पक्ष लेकर खड़े हैं, वे केवल हिन्दी का ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारतीय भाषाओं का विरोध कर रहे हैं, जिनमें उनकी अपनी मातृभाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

सम्मेलन का दृढ विश्वास है कि प्रत्येक क्षेत्र की जनता अपनी मातृभाषा की उन्नति चाहती है और वह बहुत शीघ्र अँगरेजी के पक्षपातियों के इस कुचक्र का रहस्य समझ लेगी तथा उन्हें इस बात के लिए विवश कर देगी कि वे अँगरेजी का मोह छोड़कर अपनी मातृभाषा को अपने क्षेत्र में उस पद पर आने दें, जहाँ आज अँगरेजी विराजमान है।

भारतीय राजभाषा-आयोग ने देश की भाषाविषयक समस्याओं को सुलझाने के लिए जो विविध सुझाव दिये हैं, वे सम्मेलन की राय में, न्यायसंगत, व्यावहारिक और राष्ट्रीय एकता के अनुकूल हैं, अतएव उन्हें यथासम्भव शीघ्र-से-शीघ्र काम में लाना चाहिए।

सम्मेलन यह भी विश्वास करता है कि अखिलभारतीय काँगरेस और उसकी कार्य-समिति ने सन् १९४९ ई० से अब तक अपने प्रस्तावों और घोषणाओं द्वारा भारतीय भाषाओं के विषय में देश को जो नेतृत्व दिया है, वह मूलतः सही है और समस्त देश का यह परम कर्त्तव्य है कि वह उस नेतृत्व का आदर करे तथा जिस प्रकार सारा देश, आशा और सद्भाव के साथ, संविधान की भाषाविषयक व्यवस्था को काम में लाने की कोशिश अबतक करता रहा है, वह उससे अधिक सद्भाव के साथ उस कोशिश को जारी रखे।

सम्मेलन का दृढ मत है कि भारत की भाषाविषयक समस्या ऐसी नहीं है, जिसका समाधान नहीं हो। वास्तव में, कल्पित-अकल्पित सभी कठिनाइयों के समाधान के उपाय काँगरेस के पूर्वोक्त प्रस्तावों और राजभाषा-आयोग के सुझावों में पूर्ण रूप से दरसाये जा चुके हैं और उक्त समाधान के जितने भी प्रगतिशील विकल्प अबतक देश के सामने लाये गये हैं, उन्हें कार्यान्वित करने से हमारी कठिनाइयाँ सहज ही समाप्त हो जा सकती हैं।

सम्मेलन का यह भी दृढ विचार है कि देश की एकता बहुत बड़ा वरदान है और उसे किसी भी अवस्था में दुर्बल नहीं होने देना चाहिए। भारतीय भाषाओं के पक्षपाती लोग राष्ट्रीय एकता के अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से ऐसे किसी भी निर्णय को स्वीकार करने के पक्ष में हैं, जिससे सभी राज्यों की जनता के साथ एक समान न्याय होता हो। किन्तु,

इस दिशा में, हमारा राष्ट्र जहाँ तक आ चुका है, वहाँ से वह पीछे हटने को तैयार नहीं है। अतएव, सभी कठिनाइयों का समाधान इस बात को दृष्टिगत रखते हुए किया जाना चाहिए कि केवल हिन्दी-क्षेत्रों में ही नहीं, प्रत्युत गुजरात, महाराष्ट्र और कर्णाटक में भी अनेक विश्वविद्यालयों में, शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाएँ मान्य हो चुकी हैं और उनके स्नातक अब भारतीय भाषाओं के माध्यम से तैयार हो रहे हैं। अतएव, यह आवश्यक है कि केन्द्रीय नौकरियों के द्वार भारतीय भाषाओं के लिए अविलम्ब खोल दिये जायँ और यह स्थिति स्पष्ट घोषित कर दी जाय कि प्रत्येक उम्मीदवार अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार अँगरेजी भाषा या जिस भाषा के माध्यम से उसने शिक्षा पाई है, उस भाषा के माध्यम से केन्द्रीय सरकार की नौकरियों की प्रतियोगिता-परीक्षाओं में सम्मिलित हो सकता है। यह इसलिए आवश्यक है कि जिन राज्यों में अँगरेजी के लिए अनुचित आग्रह नहीं है, वहाँ अब हमारे शिक्षार्थी हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष भारतीय भाषाओं के माध्यम से परीक्षोत्तीर्ण होकर स्नातक की उपाधियाँ प्राप्त कर रहे हैं। अतः, निश्छल न्याय का यह तकाजा है कि केन्द्र की सभी नौकरियों के द्वार इन स्नातकों के लिए शीघ्रातिशीघ्र खोल दिये जायँ। यदि यह नहीं हुआ, तो जनता और भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा पानेवाले नवयुवकों को यह समझना होगा कि जो लोग अँगरेजी में दक्ष होने के कारण सत्तारूढ हैं, वे भारतीय भाषाओं के स्नातकों को केन्द्रीय नौकरियों से वंचित और अधिकार से दूर रखना चाहते हैं। सम्मेलन का स्पष्ट मत है कि यह स्थिति अथवा ऐसी कोई भी स्थिति, जिससे भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनानेवाले राज्यों द्वारा उन लोगों के लिए जीविका के क्षेत्र सुलभ बनाये जाते हैं, जो अँगरेजी में दक्ष हैं, किसी भी प्रकार स्वीकार्य अथवा सह्य नहीं होगी।

सम्मेलन का यह सुनिश्चित मत है कि ज्ञानार्जन की भाषा के रूप में अँगरेजी का भारत में विशिष्ट स्थान है और रहना भी चाहिए। किन्तु, अँगरेजी को शिक्षा तथा शासन की भाषा के रूप में देश पर लादे रखने के प्रयास को यह सम्मेलन देश की जनता को सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप से पराधीन रखने का अवांछनीय प्रयत्न मानता है और सम्मेलन का विश्वास है कि यदि केन्द्रीय सरकार या राज्य-सरकारों द्वारा इस कुप्रयास को प्रोत्साहन या प्रश्रय दिया गया, तो देश अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसका प्रतिरोध करेगा।

प्रस्तावक : श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र; समर्थक : श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'

०

संकल्प-संख्या ३ : भारतीय संविधान की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा संघटित राजकीय भाषा-आयोग ने अपने प्रतिवेदन में 'देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी-भाषा' को सार्वदेशिक राजकीय भाषा के रूप में, क्रमशः, अधिकाधिक परिमाण में, व्यवहृत करने के सम्बन्ध में जो विविध उपयोगी एवं व्यावहारिक अभिस्ताव प्रस्तुत किये हैं, उनका यह सम्मेलन स्वागत करता है और भारत-सरकार के गृहमन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त एवं अन्यान्य उच्चाधिकारियों तथा राजकीय भाषाविषयक संसदीय समिति के मान्य

सदस्यों से साग्रह अनुरोध करता है कि वे राष्ट्रपति से निवेदन करें कि वे पूर्वोक्त आयोग के अभिस्तावों के शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वयन का आदेश दें और संविधान में निर्धारित अवधि में, हिन्दी को देशव्यापी राजकीय भाषा के रूप में सुप्रतिष्ठित करने के लिए एक स्वतन्त्र मन्त्रालय की स्थापना की व्यवस्था कृपया करें।

प्रस्तावक : श्रीदेवव्रत शास्त्री; समर्थक : श्रीरामनारायण शास्त्री

०

संकल्प-संख्या ४ : बिहार-राज्य-सरकार ने, बिहार-राजकीय भाषा-कानून, १९५० ई० के अनुसार उसकी स्वीकृति की तिथि से ७ वर्षों के बाद, अर्थात् २९ नवम्बर, १९५७ ई० से राज्य-भर में, सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए अनिवार्य रूप से देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी-भाषा के व्यवहार करने का जो निर्णय किया था, उसे कार्यान्वित न कर, पूर्वोक्त ७ वर्षों की अवधि में और ३ वर्षों की वृद्धि करने का जो निर्णय किया है, उस पर यह सम्मेलन खेद प्रकट करता है और यह अनुभव करता है कि उक्त काल-वृद्धि के फलस्वरूप इस राज्य के सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी-भाषा के अनिवार्य व्यवहार की प्रगति में और अधिक शिथिलता होने की आशङ्का है, अतएव यह सम्मेलन बिहार के मुख्य मन्त्री बिहार-केसरी डा० श्रीकृष्ण सिंह एवं अन्य उत्तराधिकारियों से साग्रह अनुरोध करता है कि वे पूर्वोक्त निर्णय पर कृपया पुनः विचार करें और ऐसी व्यवस्था करें कि बिहार-राजकीय भाषा-कानून, १९५० ई० के मूल उद्देश्य की पूर्त्ति अधिक-से-अधिक आगामी एक वर्ष की अवधि में अवश्य हो जाय।

साथ ही, यह सम्मेलन राज्य-सरकार को यह परामर्श देता है कि उक्त उद्देश्य की सम्यक् पूर्त्ति के लिए एक स्वतन्त्र राजकीय विभाग की स्थापना अविलम्ब करे और प्रत्येक राजकीय विभाग तथा सम्बद्ध राजकीय कार्यालय में इस कार्य की सिद्धि के लिए कम-से-कम एक विशेषाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था करे।

प्रस्तावक : श्रीमथुराप्रसाद दीक्षित; समर्थक : श्रीशत्रुघ्नप्रसाद सिंह

०

संकल्प-संख्या ५ : पंजाब-राज्य में, विगत कुछ मास से विविध राजकीय प्रयोजनों के लिए तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में भारत की राजकीय भाषा हिन्दी के व्यवहार के सम्बन्ध में जो कटुतापूर्ण विवाद हो रहा है, उस पर यह सम्मेलन खेद प्रकट करता है और उक्त विवाद का अन्त करने के लिए हिन्दी-रक्षा-समिति तथा अन्य मान्य सज्जनों द्वारा जो सत्प्रयास किये गये हैं, उनका यह सम्मेलन समर्थन करता है और भारत-सरकार के उच्चाधिकारियों से सादर अनुरोध करता है कि वे पंजाब-राज्य-सरकार की भाषा-सम्बन्धी वर्त्तमान नीति में समुचित संशोधन कर ऐसी व्यवस्था करें कि पूर्वोक्त अशोभन विवाद का अविलम्ब अन्त हो जाय।

प्रस्तावक : श्रीरामनारायण शास्त्री; समर्थक : श्रीरामलखनप्रसाद गुप्त

संकल्प-संख्या ६ : बिहार राज्य में उच्चशिक्षा-सम्बन्धी पाठ्यक्रम में राजभाषा हिन्दी के अध्ययन एवं अनुशीलन की समुचित व्यवस्था के अभिप्राय से बिहार-विश्वविद्यालय और पटना-विश्वविद्यालय ने अबतक जो आयोजन किये हैं, उन पर यह सम्मेलन सन्तोष प्रकट करता है। किन्तु, इस सम्मेलन का सुदृढ मत है कि पूर्वोक्त विश्वविद्यालयद्वय ने शिक्षा एवं परीक्षा के माध्यम के रूप में विभिन्न परीक्षाओं के लिए देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी-भाषा के व्यवहार के सम्बन्ध में तथा प्रत्येक शिक्षार्थी के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी के अध्ययन को क्रमशः अनिवार्य बनाने के विषय में अबतक जो कार्य-प्रगति की है, वह असन्तोषजनक एवं कुछ अंशों में असन्तोषजनक भी है। अतएव, यह सम्मेलन उन दोनों विश्वविद्यालयों के कुलपतियों एवं उपकुलपतियों तथा अन्यान्य उच्चाधिकारियों से साग्रह अनुरोध करता है कि वे कला, विज्ञान, चिकित्सा, विधि, वाणिज्य, कृषि, पशु-चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा एवं परीक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी-भाषा के अनिवार्य व्यवहार की समुचित व्यवस्था सन् १९६० ई० तक अवश्य कर लें और कार्यालय-सम्बन्धी विविध कार्यों के सम्पादन तथा विभिन्न परीक्षाओं के लिए प्रश्न-पत्र प्रस्तुत करने के लिए भी हिन्दी-भाषा के व्यवहार को अविलम्ब अनिवार्य कर लें।

प्रस्तावक : डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश;' समर्थक : प्रिन्सिपल कपिल

०

संकल्प संख्या ७ : भारतीय संविधान में, सार्वदेशिक आधार पर राजकीय भाषा के रूप में देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी-भाषा के अनिवार्य व्यवहार की जो व्यवस्था की गई है, उसे ध्यान में रखते हुए, यह सम्मेलन अनुभव करता है कि माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के स्तर पर, शिक्षा एवं परीक्षा के माध्यम के रूप में, हिन्दी-भाषा का व्यवहार सम्पूर्ण देश में यथासम्भव शीघ्र अधिकाधिक परिमाण में होना चाहिए। इस सम्बन्ध में भारतीय राजभाषा-आयोग ने जो अनेक व्यवहारोपयोगी सुझाव दिये हैं, उनका यह सम्मेलन समर्थन करता है और देश-भर के सभी विश्वविद्यालयों के उच्चाधिकारियों तथा अन्यान्य शिक्षाधिकारियों से सानुनय अनुरोध करता है कि वे इस राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और अपनी अधीनस्थ शिक्षण एवं परीक्षण-संस्थाओं में, माध्यम के रूप में, हिन्दी-भाषा के व्यवहार के निमित्त समुचित व्यवस्था शीघ्रातिशीघ्र करने की कृपा करें।

प्रस्तावक : श्रीउमानाथ ; समर्थक : श्रीकृष्णचन्द्र भार्गव

०

संकल्प-संख्या ८ : विगत दस वर्षों की अवधि में हिन्दी-साहित्य का जो बहुमुखी विकास हुआ है, उस पर यह सम्मेलन सन्तोष प्रकट करता है। हिन्दी में, काव्य, नाटक, कथा, निबन्ध, आलोचना, अनुवाद आदि ने, प्रकार और परिमाण में आश्चर्यजनक उन्नति की है, और निःसन्देह अब हिन्दी-साहित्य विश्व के उत्कृष्टतम साहित्य के समकक्ष बन

गया है। भाषा तथा साहित्यविषयक अनुसन्धान और ज्ञान-प्रसार के क्षेत्रों में, प्रतिकूल बनी रहनेवाली परिस्थितियों के बावजूद, हिन्दी के माध्यम से प्रशंसनीय कार्य हुआ है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा डी० लिट्, पी-एच्० डी० आदि की उच्चतम उपाधियों के लिए स्वीकृत हिन्दी-सम्बन्धी प्रायः सौ महाप्रबन्ध (थीसिस) प्रकाशित हो चुके हैं! और, प्रायः पाँच सौ शोधकर्त्ता (रिसर्च-स्कालर) हिन्दी-भाषा-साहित्य के विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में शोध-कार्य कर रहे हैं, तथा प्रायः प्रतिमास वैज्ञानिक एवं प्राविधिक विषयों की शताधिक प्रामाणिक पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। फिर भी, यह सम्मेलन भारत-सरकार और विभिन्न राज्य-सरकारों के उच्चाधिकारियों तथा देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं अनुशीलन-संस्थानों के संचालकों से यह अनुरोध करता है कि वे भविष्य में, इस दिशा में, अधिकाधिक कार्य-प्रगति को समुचित व्यवस्था करें।

प्रस्तावक : श्रीशत्रुघ्नप्रसाद सिंह; समर्थक : श्रीनलिनविलोचन शर्मा

०

संकल्प-संख्या ६ : यह सम्मेलन बिहार-राज्य-सरकार का ध्यान सन् १९४८ ई० में दिये गये उस राजकीय आदेश की ओर आकृष्ट करता है, जिसके द्वारा देश के विभिन्न राष्ट्रीय एवं हिन्दी-विद्यापीठों की विभिन्न परीक्षाओं को अधिकृत विश्वविद्यालयों की विभिन्न परीक्षाओं के समकक्ष घोषित किया गया था। उस विषय में ऐसी व्यवस्था अविलम्ब की जाय कि सन् १९४७ ई० के बाद विभिन्न राष्ट्रीय एवं हिन्दी-विद्यापीठों की विभिन्न परीक्षाओं में उत्तीर्ण होनेवाले व्यक्तियों को भी पूर्वोक्त राजकीय आदेश द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ विधिवत् प्राप्त हो जायँ।

प्रस्तावक : श्रीमोहनजी; समर्थक : श्रीराधावल्लभ शर्मा

०

संकल्प-संख्या १० : यह सम्मेलन अनुभव करता है कि सार्वदेशिक आधार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के यथेष्ट प्रसार और अनिवार्य व्यवहार की समुचित व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों, पत्रकारों, शिक्षाशास्त्रियों तथा साहित्यिक एवं शिक्षण-संस्थाओं के संचालकों का हार्दिक सहयोग अविलम्ब प्राप्त किया जाय। अतएव, यह सम्मेलन कार्य-समिति को यह निर्देश देता है कि इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सम्मेलन की ओर से कम-से-कम पाँच व्यक्तियों का एक शिष्टमण्डल दक्षिण-भारत के विभिन्न राज्यों तथा नैपाल और सिक्किम भेजने का आयोजन यथासम्भव शीघ्र करे और उक्त शिष्टमण्डल की कार्य-प्रगति का प्रतिवेदन विधिवत् सम्मेलन की ओर से प्रकाशित कराने का प्रबन्ध करे।

प्रस्तावक : श्रीहरिहरप्रसाद उपाध्याय; समर्थक : श्रीरामेश्वरनाथ तिवारी

०

संकल्प-संख्या ११ : सम्मेलन की स्थायी समिति द्वारा संघटित नियमावली-उपसमिति के प्रतिवेदन पर यथेष्ट विचार-विमर्श के बाद यह सम्मेलन निश्चय करता है कि उक्त प्रतिवेदन में समाविष्ट अभिस्तावों तथा इस अधिवेशन के अवसर पर प्रस्तुत सुझावों को

ध्यान में रखते हुए सम्मेलन-नियमावली में आवश्यक एवं समुचित संशोधन करने के लिए निम्नलिखित तीन व्यक्तियों की समिति संघटित की जाय—

१. सभापति, २. श्रीदेवव्रत शास्त्री और ३. श्रीव्रजशङ्कर वर्मा (संयोजक)।

साथ ही, यह सम्मेलन निश्चय करता है कि उक्त समिति सम्मेलन-नियमावली के अन्तिम संशोधित स्वरूप को आज से अधिक-से-अधिक तीन मास की अवधि में, अवश्य स्वीकृत कर दे और यह सम्मेलन स्थायी समिति को यह निर्देश देता है कि पूर्वोक्त संशोधित नियमावली को, नियमावली-समिति की अन्तिम स्वीकृति के बाद, कम-से-कम एक मास के अन्दर, कार्यान्वित करने की व्यवस्था विधिवत् करे।

प्रस्तावक : श्रीअजितनारायण सिंह 'तोमर'; समर्थक : श्रीराधावल्लभ शर्मा

०

संकल्प-संख्या १२ : सम्मेलन-नियमावली के नियम, संख्या १४, के अनुसार प्रतिवर्ष सम्मेलन की स्थायी समिति का संघटन वार्षिक अधिवेशन के बाद अविलम्ब होना चाहिए, किन्तु अबतक इस राज्य के सभी जिलों में, नियम-सं० २७ के अनुसार, जिला-सम्मेलनों का संघटन विधिवत् न हो सकने के कारण, पूर्वोक्त नियम-सं० १४ के अनुसार नवीन स्थायी समिति का संघटन अभी सम्भाव्य नहीं है। अतएव, यह सम्मेलन निश्चय करता है कि नवीन स्थायी समिति का संघटन निम्नलिखित रूप से किया जाय—

(क) सम्मेलन के वर्त्तमान तथा भूतपूर्व सभापति और प्रधान मन्त्री; (ख) सम्मेलन के सभी संरक्षक तथा आजीवन सदस्य; (ग) सम्मेलन की वर्त्तमान सम्बद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि; (घ) सम्मेलन के वर्त्तमान अधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित सदस्य, जिनकी संख्याएँ विभिन्न जिलों के लिए निम्नलिखित होंगी : (१) पटना-५, (२) शाहाबाद-५, (३) गया-५, (४) मुजफ्फरपुर-५, (५) दरभंगा-५, (६) सारन-५, (७) चम्पारन-५, (८) हजारीबाग-५, (९) राँची-५, (१०) धनबाद-३, (११) सिंहभूमि-५, (१२) पलामू-३, (१३) भागलपुर-५, (१४) मुँगेर-५, (१५) सहरसा-३, (१६) पूर्णियाँ-५, (१७) सन्ताल परगना-५, (१८) केन्द्र-स्थान-१०, (१९) राज्य के बाहर-३, (२०) सभापति द्वारा मनोनीत-५; (ङ) बिहार-विश्वविद्यालय, पटना-विश्वविद्यालय, बिहार-संस्कृत-समिति, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, बदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय तथा हिन्दी-विद्यापीठ (देवघर) के एक-एक प्रतिनिधि।

साथ ही, यह सम्मेलन निश्चय करता है कि इस प्रस्ताव के अनुसार संघटित नवीन स्थायी समिति का कार्यकाल आगामी वार्षिक अधिवेशन तक हो।

प्रस्तावक : श्रीपरमेश्वर सिंह; समर्थक : श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

०

संकल्प-संख्या १३ : राजकीय भाषा-आयोग के एक सदस्य डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने, आयोग के प्रतिवेदन से संलग्न अपने मतभेदसूचक मन्तव्य में हिन्दी-भाषा और हिन्दी-

भाषी क्षेत्रों की सांस्कृतिक परम्परा के प्रति जो हीनताव्यंजक तिरस्कार-भावना व्यक्त की है, उसका यह सम्मेलन तीव्र विरोध करता है और उस पर क्षोभ प्रकट करता है। सम्मेलन की राय में उनका यह कथन कि "हिन्दी के साथ न तो कोई महत्त्वपूर्ण बौद्धिक परम्परा जुड़ी हुई है और न हिन्दी-भाषा को कोई सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक प्रमुखता प्राप्त है", सर्वथा निराधार, पक्षपातपूर्ण एवं अज्ञानताजनित है।

प्रस्तावक : श्रीसूर्यकुमार शास्त्री; समर्थक : श्रीदिनेश्वरप्रसाद सिंह

०

संकल्प-संख्या १४ : इस सम्मेलन का सुदृढ मत है कि 'बिहार-राजकीय भाषा-कानून' के अनुसार विभिन्न राजकीय प्रयोजनों के लिए, निर्धारित अवधि में, देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी-भाषा को, राज्य-भर में, पूर्णतः व्यवहृत करने तथा तत्सम्बन्धी समुचित कार्य-प्रगति की व्यवस्था यथेष्ट रूप में करने के लिए यह आवश्यक है कि बिहार-राज्य-सरकार के मन्त्रिमण्डल में, विशेषतः इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के लिए, एक नये मन्त्री का पद स्वीकृत किया जाय। अतएव, यह सम्मेलन बिहार के मुख्य मन्त्री बिहार-केसरी डा० श्रीकृष्ण सिंह से सादर अनुरोध करता है कि वे इस संकल्प को अविलम्ब कार्यान्वित करने तथा किसी उपयुक्त व्यक्ति को बिहार के राजभाषा-मन्त्री के पद पर विधिवत् नियुक्त करने की व्यवस्था करें।

प्रस्तावक : श्रीदेवव्रत शास्त्री; समर्थक : श्रीत्रिगुणानन्द शुक्ल

✿

## स्थायी समिति : २६वें अधिवेशन (मुँगेर) में संघटित

### भूतपूर्व सभापति

(१) राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह; (२) देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद; (३) आचार्य बदरीनाथ वर्मा; (४) पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'; (५) श्रीसांवलियाविहारीलाल वर्मा; (६) महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; (७) आचार्य शिवपूजन सहाय; (८) प्रि० मनोरंजनप्रसाद सिंह; (९) प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र; (१०) श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'; (११) श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी; (१२) पं० छविनाथ पाण्डेय; (१३) श्रीदेवव्रत शास्त्री; (१४) श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'; (१५) पं० मथुराप्रसाद दीक्षित।

### वर्त्तमान सभापति

(१) पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

### भूतपूर्व एवं वर्त्तमान प्रधान मन्त्री

(१) श्रीब्रजशङ्कर वर्मा

### जिलेवार निर्वाचित सदस्य

(क) पटना—(१) श्रीगंगाशरण सिंह; (२) श्रीपरमानन्द दोषी; (३) श्रीमथुराप्रसाद सिंह; (४) श्रीशुकदेवप्रसाद 'विप्लवेन्द्र' (५) श्रीरामो गहाई।

(ख) गया—(१) श्रीपन्नालाल महतो 'हृदय'; (२) श्रीगोवर्द्धनप्रसाद 'सदय'; (३) श्रीगुलाब खंडेलवाल; (४) श्रीमदनमोहन सिन्हा 'सरोज'; (५) सुश्री गीता श्रीवास्तव ।

(ग) शाहाबाद—(१) श्रीरामप्रीत शर्मा 'प्रियतम'; (२) प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी; (३) श्रीअंजनिकुमार सिन्हा 'आजाद'; (४) श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'; (५) श्रीबनारसीप्रसाद 'भोजपुरी' ।

(घ) सारन—(१) श्रीकपिलदेवनारायण सिंह 'सहृद'; (२) श्रीशङ्करनाथ विद्यार्थी; (३) श्रीदामोदर मिश्र; (४) श्रीपागडेय कपिल; (५) श्रीमहेन्द्र शास्त्री ।

(ङ) चम्पारन—(१) पं० गणेश चौबे; (२) श्रीव्रजकिशोर नारायण; (३) श्रीशत्रुघ्नप्रसाद सिंह; (४) श्रीराधावल्लभ शर्मा; (५) श्रीबलदेवप्रसाद श्रीवास्तव ।

(च) दरभंगा—(१) श्रीमहेश शर्मा; (२) श्रीचन्द्रनाथ मिश्र 'अमर'; (३) श्रीविनोदानन्द ठाकुर; (४) श्रीचन्द्रभानु साहित्यालंकार; (५) श्रीनागार्जुन ।

(छ) मुजफ्फरपुर—(१) श्रीअजितनारायण सिंह 'तोमर'; (२) श्रीदिनेशप्रसाद सिंह; (३) श्रीरामचन्द्र भारद्वाज; (४) श्रीसुशीलकुमार सिंह; (५) डा० हरिनन्दन पागडेय ।

(ज) मुँगेर—(१) पं० श्रीकृष्ण मिश्र; (२) प्रो० कुमार विमल; (३) प्रो० रामेश्वर प्रसाद सिंह; (४) श्रीवाल्मीकिप्रसाद 'विकट'; (५) श्रीनवलकिशोर 'धवल' ।

(झ) भागलपुर—(१) डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' (२) श्रीउपेन्द्रनारायण चौधरी; (३) श्रीतारकेश्वर प्रसाद; (४) श्रीरामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र' (५) श्रीशिवेन्द्र नारायण ।

(ञ) पूर्णियाँ—(१) प्रो० हरिहरप्रसाद उपाध्याय; (२) श्रीअनूपलाल मंडल; (३) श्रीफणीश्वरनाथ 'रेणु'; (४) श्रीनरेन्द्रप्रसाद 'स्नेही'; (५) श्रीरूपलाल मंडल ।

(ट) संताल परगना—(१) श्रीबुद्धिनाथ झा 'कैरव'; (२) श्रीगोपाललाल वर्मा; (३) श्रीरामानन्द शर्मा; (४) श्रीशम्भुनाथ बलियासे 'मुकुल'; (५) श्रीडोमन साहु 'समीर' ।

(ठ) सहरसा—(१) श्रीविद्याकर कवि; (२) प्रो० हरिमोहन मिश्र; (३) श्रीकृष्णदत्त झा ।

(ड) राँची—(१) श्रीयोगेन्द्रनाथ सिन्हा; (२) श्रीराधाकृष्ण; (३) श्रीजगदीश त्रिगुणायत; (४) श्रीपरमेश्वर सिंह; (५) श्रीमती शुभाङ्गी देवी ।

(ढ) हजारीबाग—(१) श्रीबदरीदत्त शास्त्री; (२) श्रीविजयकिशोर प्रसाद; (३) श्रीरघुवीर प्रसाद, (४) डा० गिरीन्द्रपति त्रिपाठी; (५) श्रीराधागोविन्द प्रसाद ।

(ण) सिंहभूमि—(१) श्रीगंगाप्रसाद कौशल; (२) प्रो० मदनमोहन प्रसाद; (३) प्रो० सत्यदेव ओझा; (४) श्री कृष्णप्रसाद गुप्त 'शशिकर'; (५) श्रीरमेन्द्र शर्मा ।

(त) पलामू—(१) प्रो० जगदीशनारायण दीक्षित; (२) श्रीचन्द्रदीप सहाय वकील; (३) श्रीकामेश्वर प्रसाद वकील ।

(थ) धनबाद—श्रीमुकुटधारी सिंह; (२) श्रीलालजी सहाय (३) श्रीब्रह्मदेव सिंह शर्मा ।

केन्द्र स्थान

(१) प्रो० नलिनविलोचन शर्मा; (२) श्रीउमानाथ; (३) श्रीप्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त';

(४) प्रो० श्रीमती विद्यावती गुप्त; (५) श्रीकृष्णचन्द्र भार्गव; (६) श्रीराजेन्द्र शर्मा; (७) श्रीभुवनेश्वर द्विवेदी; (८) श्रीशिवचन्द्र शर्मा; (९) श्री श्रीनरेश; (१०) श्रीरामदयाल पाण्डेय।

अन्तर-प्रान्तीय सदस्य

(१) श्रीललितकुमार सिंह 'नटवर'; (२) श्रीव्रजनन्दन आजाद; (३) श्रीबालेश्वर अग्रवाल।

बिहार-विश्वविद्यालय

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।

पटना-विश्वविद्यालय

श्रीजगन्नाथ राय शर्मा।

बिहार-संस्कृत-समिति

श्रीरामपदार्थ शर्मा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री।

बदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय

श्रीव्रजनाथ माधव वाजपेयी।

हिन्दी-विद्यापीठ (देवघर)

श्रीबालमुकुन्द 'राही'।

अध्यक्ष द्वारा मनोनीत सदस्य

(१) श्रीमती सुमित्रा देवी; (२) श्रीरासबिहारी लाल; (३) श्रीनवलकिशोर गौड़; (४) श्रीअक्षयकुमार सिंह; (५) श्रीमोहनलाल विश्नोई।

सम्बद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधि

(१) श्रीशुद्धदेव झा 'उत्पल'; (२) श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री; (३) श्रीरामनारायण शास्त्री; (४) श्रीश्रुतिदेव शास्त्री; (५) श्रीरामगोपाल शर्मा 'रुद्र'; (६) श्रीदेवेन्द्रकिशोर जैन; (७) श्रीभानुप्रताप सिन्हा; (८) श्रीगदाधरप्रसाद श्रीवास्तव; (९) श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव; (१०) श्रीजगन्नारायण पाण्डेय 'विधुर'; (११) श्रीरामसागर मिश्र (१२) श्रीगिरीशदेव मिश्र; (१३) श्रीउमाशंकर बहादुर; (१४) श्रीमदनमोहन प्रसाद; (१५) श्रीअयोध्याप्रसाद केसरी; (१६) श्रीहरेन्द्रदेव नारायण; (१७) श्रीठाकुर प्रसाद; (१८) श्रीनवलकिशोर शर्मा; (१९) सुश्री सावित्री शुभा; (२०) श्रीपरमानन्द सिंह; (२१) श्रीदेवीप्रसाद वर्मा; (२२) श्रीकेदारनाथ अग्रवाल; (२३) प्रो० केसरीकुमार सिंह।

सम्मेलन से कुल ४१ संस्थाएँ सम्बद्ध हैं, जिनमें उपर्युक्त २३ के प्रतिनिधियों के नाम आ चुके हैं। अन्य १८ संस्थाओं के प्रतिनिधियों के नाम अबतक नहीं प्राप्त हुए हैं।

—प्रधान मन्त्री




वर्ष ६ : अङ्क २ } आषाढ, विक्रमाब्द २०१५ : शकाब्द १८८० : जुलाई, १९५८ ई० { वार्षिक ७)
शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

# सम्पादकीय

## दो प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों का स्वर्गवास

हिन्दी के दो पुराने साहित्यकारों—पण्डित ज्वालादत्त शर्मा और पण्डित रघुनाथशरण पाण्डेय—का आकस्मिक देहावसान हो गया। दोनों सज्जन द्विवेदी-युग के यशस्वी हिन्दी-सेवक थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में दोनों की रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थीं—शर्माजी की मौलिक कहानियाँ और पाण्डेयजी की सरस कविताएँ। अपनी स्मरणीय सेवाओं के लिए साहित्य-संसार में वे सदैव आदरणीय रहेंगे। उनके निधन से हिन्दी की जो क्षति हुई है, निकट भविष्य में उसकी पूर्त्ति की आशा नहीं दीखती।

१

पण्डित ज्वालादत्त शर्मा मुरादाबाद के किसरौल मुहल्ले के निवासी थे। उन्होंने द्विवेदी-युग में ही 'प्रतिभा' नामक एक सुन्दर मासिक पत्रिका निकाली थी। वह उस युग की सुसम्पादित पत्रिकाओं में गिनी जाती थी। उसमें पुरातत्त्वविषयक, संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी और आलोचनात्मक लेख अच्छे छपते थे। जब हिन्दी में उर्दू-साहित्य की चर्चा बहुत कम थी, तभी शर्माजी ने उर्दू के कई कवियों—गालिब, दाग, जौक आदि—की सुन्दर जीवनी और शायरी की आलोचना पहले-पहल लिखी थी। वे पुस्तकें हरिदास-कम्पनी (कलकत्ता) से निकली थीं। उर्दू-फारसी पर उनका अच्छा अधिकार था, संस्कृत के भी पण्डित थे। इनके सिवा बँगला, गुजराती, मराठी और अँगरेजी में भी उनकी अच्छी गति थी। हिन्दी के विचारशील एवं समर्थ लेखकों में उनका सम्मानपूर्ण स्थान था। पत्र-सम्पादक, आलोचक और कथाकार के रूप में उन्होंने बड़ी ख्याति पाई थी। मुरादाबाद से 'शङ्कर' नामक एक पत्र निकलता था। उसमें उनके दार्शनिक और ज्योतिष-शास्त्र-सम्बन्धी लेख भी छपे थे। स्पष्ट है कि अध्यात्म-शास्त्र और प्रत्यक्ष-शास्त्र में भी उनकी पैठ थी।

हमने 'मतवाला'-मण्डल ( कलकत्ता ) में उनका और पण्डित पद्मसिंह शर्मा का विदग्धतापूर्ण वार्त्तालाप सुना था। दोनों ही बात-बात में संस्कृत की सूक्तियाँ और उर्दू के शेर कहते जाते थे। धुरन्धर साहित्यसेवियों में परस्पर जो साहित्यिक बातचीत होती है, उसे तत्क्षण लिपिबद्ध कर लेने की परिपाटी हिन्दी में चल पड़ती, तो साहित्य का शृङ्गार होता चलता। शर्माजी बड़े प्रखर वक्ता भी थे। हमने लखनऊ में उनका भाषण सुना था। उस समय हम वहाँ 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में काम करते थे। गङ्गा-पुस्तकमाला में उनकी 'भवभूति' नामक पुस्तक उसी समय प्रकाशित हुई थी। उसकी पाण्डुलिपि और प्रूफ देखने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। उस गवेषणापूर्ण पुस्तक से उनके पाण्डित्य और अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। उन्हीं दिनों संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और 'साहित्यदर्पण' के हिन्दी-तिलककार पण्डित शालग्राम शास्त्री के मृत्युंजय-औषधालय में एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन हुआ था। शर्माजी ही मुख्य अतिथि थे। उनके ओजस्वी भाषण से ज्ञात हुआ कि उन्होंने व्रजभाषा-काव्य और वंग-भाषा के रवीन्द्र-साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया है। लखनवी उर्दूदाँ भी उनकी जबानदानी की सराहना करने लगे। एक बार काशी में भी प्रोफेसर रामदास गौड के घर पर हमने गौडजी के साथ उनकी बातचीत सुनी थी। विषय था—'तुलसीदास का ज्योतिष-ज्ञान'। गौडजी प्रसिद्ध वैज्ञानिक तो थे ही, तुलसी-साहित्य और ज्योतिष-विज्ञान के भी मर्मज्ञ माने जाते थे। वे भी शर्माजी के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा करते न अघाये। उस युग के वयोवृद्ध साहित्यिकों की स्मृति-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी। लखनऊ और बनारस में रहते समय हमें शर्माजी के दर्शन एवं सत्संग के अनेक सुअवसर उपलब्ध हुए थे। खेद है कि मुरादाबाद के पुराने साहित्यसेवियों के संस्मरण शर्माजी के साथ ही चले गये। 'मानस'-टीकाकार पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र, 'टॉड-राजस्थान' के हिन्दी-अनुवादक पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र, 'सनातनधर्मपताका' के सम्पादक और 'हनुमन्नाटक' के हिन्दी-टीकाकार पण्डित रामस्वरूप शर्मा आदि मुरादाबादी साहित्यकारों के अनूठे संस्मरण उनसे सुनने का सौभाग्य हमें प्रयाग में प्राप्त हुआ था, जब वहाँ द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ यन्त्रस्थ था। यह बड़ी ग्लानि का विषय है कि हिन्दी के अनेक पुराने साधक-सेवक अपने साथ ही साहित्यिक संस्मरणों को लेते चले गये। इस शोचनीय क्षति की पूर्त्ति अब असम्भव है। हिन्दी की इस अपार निधि के लुप्त हो जाने का मुख्य कारण प्रकाशकों की उदासीनता है।

शर्माजी पत्र-लेखन-कला में बड़े दक्ष थे। उनके पत्रों में संस्कृत के श्लोकार्द्ध और उर्दू-शेरों के टुकड़े बड़ा आनन्द देते थे। उनके अक्षर आचार्य द्विवेदीजी से मिलते-जुलते होते थे। यदि उनकी कोटि के लेखकों के साहित्यिक पत्रों के प्रकाशन का प्रयत्न किया जाय, तो कई धुरन्धर लेखकों की लुप्तप्राय कला का उद्धार हो सकता है। पत्र-साहित्य और संस्मरण-साहित्य के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् के शोधकर्त्ताओं को बड़ा लाभ होगा।

उनका लम्बा-तगड़ा शरीर, उनकी सफेद दाढ़ी और चश्मे के अन्दर से मनःप्रसाद की झलक दिखानेवाली उनकी सतेज आँखें उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती थीं।

उनकी वाणी में भी बड़ा आकर्षण था। जिस समाज में बैठ जाते थे, अपना रंग जमा देते थे। दुःख है कि गत २४ मार्च ( १९५८ ई० ) को अनेक हृदयों में शोकसंचार कर वे संसार से गुपचुप चले गये। उस दिन वे मुरादाबाद से दिल्ली अकेला ही जा रहे थे। सुना है कि रास्ते में रेल के डब्बे में ही उनका शरीरपात हो गया। स्वयं चादर तानकर सोये और उसी दशा में दिल्ली-स्टेशन पर उनकी लाश उतारी गई। वहाँ उनके जामाता ने उनका शव पहचाना। कैसा हृदयद्रावक दृश्य रहा होगा वह! अच्छे ज्योतिषी होकर भी वे यह न जान सके कि यह यात्रा आगे जाकर महायात्रा होगी! उनके लिए तो यह शान्तिपूर्ण महा-प्रस्थान अच्छा ही समझा जायगा, पर उनके निजी तथा साहित्यिक परिवार के लिए तो चिरन्तन दुःखदायक ही है।

२

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय लखनऊ के रानीकटरा मुहल्ले के निवासी थे। अपनी आयु के पचहत्तरवें वर्ष में, गत १२ जून ( १९५८ ई० ) को, अपने घर पर ही वे अचानक चल बसे। वर्त्तमान शताब्दी का चौथाई भाग उन्होंने पत्र-सम्पादन-कला की सतत साधना में ही बिताया था। नागरी-प्रचारक, निगमागम-चन्द्रिका, इन्दु, कान्यकुब्ज, माधुरी आदि प्रसिद्ध मासिक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन उन्होंने जिस योग्यता और सफलता से किया, वह हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। पाण्डेयजी जब काशी में कविवर श्रीजयशङ्कर प्रसादजी के घर पर रहकर भारत-धर्म-महामण्डल की मुखपत्रिका 'निगमागम-चन्द्रिका' और 'इन्दु' का सम्पादन करते थे, तब हम भी बनारस की दीवानी अदालत में हिन्दी-लिपिक थे और साहित्यानुराग-वश प्रायः नागरी-प्रचारिणी सभा में जाया करते थे। वहीं पर सर्वप्रथम प्रसादजी के साथ-साथ उनके भी दर्शन हुए थे। फिर उनसे परिचित होने का भी सुयोग मिला और अन्त में उनके साथ साहित्यिक काम करने के सुदिन भी नसीब हुए। अपने सहकारी के प्रति उनकी सहानुभूति आदर्श थी।

उनका घरेलू जीवन बड़ा नियमित था। उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग स्वाध्याय और साहित्याराधन में ही किया। यही कारण है कि पत्र-सम्पादन-कार्य के अतिरिक्त वे अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं की राशि से हिन्दी के साहित्य-भाण्डार की शोभा बढ़ा गये। उनकी बहुत-सी लिखित, अनूदित एवं सम्पादित पुस्तकें दूसरे सज्जनों के नाम से भी प्रकाशित हुई हैं। द्रव्योपार्जन के लिए विवश होकर उन्हें ऐसा करना पड़ता था; क्योंकि उनका व्यक्तिगत बजट बहुत लम्बा-चौड़ा था। अच्छे-से-अच्छे भोजन, वस्त्र, सुगन्ध आदि के बड़े शौकीन थे। मगही पान, जर्दा, किमाम और सुरती वे बनारस से भी मँगाते थे। गाजीपुर और कन्नौज से बढ़िया इत्रों का पार्सल डाक से आता था। सन्ध्या समय भङ्ग-भवानी का सेवन करने पर उत्तम मिठाइयों और रबड़ी-मलाई की आवश्यकता अनिवार्य थी। गोरा छरहरा बदन, सिर पर किश्तीनुमा टोपी या साफा, कभी झलमली धोती या चूड़ीदार पाजामा, पालिशदार जूता, कोट की जेब में घड़ी, हाथ में चिकनी छड़ी, दो-दो सुवासित रूमाल, मुँह में पान की गिलौरी, आँखों में सुरमा, खासे

छैल-छबीला बनकर आइने के सामने मुस्कराते हुए खड़े होते थे और बाहर निकलने पर साथी-सङ्गी के लिए अपने ही पैसों के साथ न्याय करते थे। जैसे शाहखर्च, वैसे ही मजाक-पसन्द भी। बहुत ही अच्छी तबीयत पाई थी पाण्डेयजी ने।

संस्कृत और बँगला की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं के खरीदने में भी उनके काफी पैसे खर्च होते थे। कई ऐसी पत्रिकाओं के वे नियमित ग्राहक थे। उनके कितने ही लेखों और टिप्पणियों का सार-सङ्कलन 'माधुरी' के विविध स्तम्भों में प्रकाशित करते थे। अँगरेजी के पत्रों से भी सारांश ग्रहण करने में उनका कौशल दर्शनीय था। अँगरेजी की पर्याप्त शिक्षा न पाने पर भी वे उसके लेखों का मर्म समझकर नोट तैयार कर लेते थे। श्रीमद्भागवत-महापुराण का अक्षरशः हिन्दी-अनुवाद (शुकोक्तिसुधा-सागर) उन्होंने बड़ी ललित शैली में किया था, जो विगत दूसरी दशाब्दी में ही बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। वंग-भाषा के विख्यात नाटककार श्रीद्विजेन्द्रलाल राय के सभी नाटकों का हिन्दी-अनुवाद उन्होंने ही किया था। कई वंगीय उपन्यास भी उनके द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। अनुवादों के अतिरिक्त उनकी बहुत-सी मौलिक पुस्तकें भी छपी हैं। उनके अध्ययन-कक्ष में पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ यथास्थान सजी-सजाई रखी रहती थीं। मेज-कुर्सी पर लिखने-पढ़ने में उन्हें आराम नहीं मिलता था। मोटे गद्दे पर मसनद के सहारे या छाती के नीचे तकिया लगाकर पढ़ते-लिखते थे। बैठने पर डेस्क का उपयोग करते थे। इसी कारण, माधुरी-कार्यालय में कभी-कभी एकाध ही घण्टे के लिए आते थे, अधिकतर अपने घर पर ही एकान्त में लेखों और प्रूफों का सम्पादन-संशोधन किया करते थे। सम्पादन-कार्य में उनका घोर परिश्रम आचार्य द्विवेदीजी का स्मरण कराता था। वास्तव में सम्पादकीय परिश्रम की दृष्टि से उनका स्थान पूज्य द्विवेदीजी के बाद ही था। हमने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन-काल में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में संचित द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित लेखों को देखा था। यदि पाण्डेयजी द्वारा सम्पादित लेख भी आज कहीं संचित होते, तो अनुसन्धायकों को तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिलता। श्रमशील सम्पादक की कार्यकुशलता का प्रमाण संगृहीत रहने से शोधकर्त्ताओं को एक नई दिशा मिल सकती है।

पाण्डेयजी बड़े सुन्दर-सुडौल अक्षर लिखते थे। शीघ्रता में लिखने पर भी वे मोती ही पिरोते थे। लेख-सम्पादन और प्रूफ-संशोधन भी ऐसी सफाई से करते थे कि प्रेस को कभी कोई कठिनाई नहीं होती थी। कितने ही लेखों को आपाद-मस्तक रँग डालते थे, फिर भी लेखक की मौलिकता की नस पर नस्तर नहीं लगने पाता था। उनकी इस कला की प्रशंसा श्रीगणेशशङ्कर विद्यार्थीजी ने अपने 'प्रताप' में की थी। विद्यार्थीजी का प्रशंसा-पत्र पाना सहज न था, वे आचार्य द्विवेदीजी के सहकारी रह चुके थे और बड़ी संयत लेखनी के धनी भी थे।

पाण्डेयजी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भी थे। उनकी 'कविरत्न' उपाधि सार्थक थी। उनकी 'वन-विहङ्गम' कविता हिन्दी-जगत् में बहुत लोकप्रिय हुई। उनका एकमात्र पुत्र जब बाल्य-काल में ही काल-कवलित हो गया था, तब उन्होंने द्विवेदी युग की 'सरस्वती' में 'दलित

कुसुम' शीर्षक कारुणिक कविता लिखी थी। उन्हीं दिनों उनकी 'हृदयेश्वरी' कविता की भी खासी चर्चा रही। पर, वे विनम्रता-वश अपने को कवि नहीं मानते थे। इसीलिए, मित्रों के अनुरोध पर भी अपना कोई कविता-संग्रह नहीं निकलने दिया।

बातचीत करते समय वे प्रायः आँखें मूँद-मूँदकर मुस्कराते-मुस्कराते बतियाते थे। अपने आरम्भिक जीवन की चर्चा करते समय कहा करते थे कि शैशव में ही पितृवियोग होने पर वृद्धपितामह के अविरल वात्सल्य-स्नेह ने ही जीवन-पथ प्रशस्त किया। पितामह संस्कृत के अच्छे पण्डित थे; प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से संस्कृत की शिक्षा दी थी; किन्तु संसार-प्रवेश होने के पूर्व ही उनकी छत्रच्छाया भी हट गई। इस प्रकार, पाण्डेयजी को स्वयं जीवन-निर्माण करना पड़ा। सांसारिक अनुभव उनके बड़े कटु थे। स्वावलम्बन के बल पर ही उन्होंने अपनी दुनिया सँवारी थी। यदि उनसे आत्मसंस्मरण लिखवाये गये होते, तो व्यावहारिक एवं साहित्यिक जीवन के लिए उनका मूल्य दिन-दिन बढ़ता जाता। जीवन के अन्तिम समय में अग्निपुराण के हिन्दी-अनुवाद का साहित्यिक संस्करण तैयार करने के वे बड़े इच्छुक और उत्सुक थे, पर उनकी वह कामना उनके साथ ही सती हो गई! उनकी साहित्यपूत आत्मा को परमात्मा आत्मसात् करें।

—शिव०

•

## केरल का सचित्र हिन्दी-पाक्षिक 'युगप्रभात'

राजनीति की दुनिया में आज दक्षिण-भारत का केरल-राज्य चर्चा का विषय बन गया है। उसके कालिकट नगर से प्रकाशित 'युगप्रभात' ने उसे साहित्य-संसार में भी सम्मानास्पद बना दिया है। लगभग दो साल से वह उल्लेखनीय सफलता के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा कर रहा है। उसके प्रधान सम्पादक श्री एन्० वी० कृष्ण वारियर और सहकारी श्री के० रवि वर्मा की लगन हिन्दीवालों के ध्यान देने योग्य है। उसकी छपाई, सफाई, सजावट, भाषा-शैली और सम्पादन-प्रणाली हिन्दी-पत्रकारों को चमत्कृत करनेवाली है। ऐसे सुसम्पादित और सर्वाङ्गसुन्दर पत्र का प्रकाशन अहिन्दी-भाषी क्षेत्र के राष्ट्रभाषानुरागियों के लिए वस्तुतः गर्व-गौरव का विषय है। हिन्दी-प्रधान क्षेत्र का कोई ऐसा आकर्षक पाक्षिक हमारे देखने में नहीं आया है। 'युगप्रभात' में दक्षिण-भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य से सङ्कलित सामग्री विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। तदतिरिक्त, दक्षिण-भारत के दर्शनीय स्थानों, प्राकृतिक दृश्यों, ऐतिहासिक स्थलों, विशिष्ट संस्थाओं और व्यक्तियों तथा सामाजिक प्रथाओं पर भी लेख एवं चित्र प्रकाशित होते हैं। उत्तर-भारत के साहित्यकारों की रचनाएँ भी उसमें स्थान पाती हैं। दक्षिणी साहित्य की कहानियों और कविताओं के हिन्दी-रूपान्तर में दक्षिणी कलाकारों की प्रतिभा का चमत्कार देखकर हर्षोत्कर्ष होता है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में उसका अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए, जिससे दक्षिण और उत्तर का सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा राष्ट्रीय एकता का सूत्र सुदृढ़ हो। सम्पादकीय टिप्पणियों और भारतीय भावोद्बोधक लेखों को पढ़कर आशा होती है कि

दक्षिण में फैली हुई हिन्दी-विषयक भीति-भ्रान्ति को दूर करके 'युगप्रभात' अपने शुभ नाम को अक्षरशः सार्थक करेगा। केवल छह रुपये वार्षिक मूल्य में ऐसे मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक पत्र को सुदूर दक्षिण से नियमितता के साथ प्रकाशित करके मातृभूमि-सङ्घ के उदार संचालकों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति जो सद्भाव प्रदर्शित किया है, उससे उनकी अभिनन्दनीय मातृभूमि-भक्ति प्रकट होती है। हार्दिक बधाई!

—शिव०

०

## 'हिन्दी-शब्दानुशासन'

हिन्दी-शब्दानुशासन हिन्दी-व्याकरण का ऐसा ग्रन्थ है, जिसे पण्डितप्रवर किशोरीदास वाजपेयी ही लिख सकते थे और जिसे लिखाने और प्रकाशित करने का दायित्व सभा का ही था। दोनों हिन्दी के प्रति अपने बहुत बड़े ऋण से मुक्त हुए हैं इस ग्रन्थ के लेखन-प्रकाशन से। उनके प्रति हिन्दी की कृतज्ञता का उल्लेख अनावश्यक है। हिन्दी-व्याकरण की यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्त्व की है।

जैसा कि राहुलजी ने अपने एक काफी पहले प्रकाशित लेख में, और इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी, कहा है, यह सरकार तथा हिन्दी की 'सभा' जैसी संस्थाओं का काम है कि आदरणीय वाजपेयीजी से वे सारी चीजें ले लें, जिन्हें वे ही दे सकते हैं, किन्तु जिनके लिए उन्हें न्यूनतम सुविधाएँ भी नहीं मिलती रही हैं। मैंने भी एकाधिक बार वाजपेयीजी महाराज से निवेदन किया था कि जो असन्तोषजनक ढङ्ग से व्याकरण लिखते हैं, उनका खण्डन छोड़िए, अब स्वयं हिन्दी-व्याकरण का मण्डन और विद्वानों का मार्ग-निर्देशन कीजिए। व्याकरण का मण्डन, वाजपेयीजी मेरी धृष्टता क्षमा करते हुए उत्तर दिया करते थे, वे करने को तैयार थे, और उससे विद्वानों का मार्ग प्रशस्त हो सके, तो उन्हें प्रसन्नता ही होगी। लेकिन, दूसरी सम्भावना से वे डरते भी थे। प्रशस्त मार्ग पर विश्रब्ध विचरण करनेवाले बहुधा पथ-प्रवर्त्तक का नाम तक जो नहीं लेते।

यह अवश्य बहुत बड़ी बात हुई है कि राहुलजी तथा 'सभा' के संचालकों आदि की प्रेरणा से वाजपेयीजी ने नवीन युग का हिन्दी-व्याकरण प्रस्तुत कर दिया है। सभा को इसका श्रेय है कि पिछले युग का भी व्याकरण कामताप्रसाद गुरुजी से उसीने तैयार कराया था। आगे भी सभा का ही यह दायित्व रहेगा।

पुस्तक के अनतिलघु प्रकाशकीय वक्तव्य का एक उपशीर्षक भी है—(हिन्दी-व्याकरण का विकास)। प्रकाशकीय वक्तव्य तो आवश्यक था, किन्तु हिन्दी-व्याकरण के इतिहास के बिना भी काम चल सकता था; क्योंकि एक विद्वान् प्राध्यापक द्वारा लिखित होने के बावजूद यह सर्वथा अपूर्ण और फलतः भ्रामक है। हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में यथास्थान पं० कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण का उल्लेख है। उस समिति के सदस्यों के नाम भी दिये गये हैं, जो इस पुस्तक के संशोधन के लिए 'सभा' द्वारा निर्वाचित हुई थी। यह विवरण गुरुजी की पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य से सहज ही प्राप्य है, किन्तु इसके एक प्रमुख सदस्य

साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा ने भी हिन्दी-व्याकरण की एक पुस्तक वि० संवत् १९६७ में ही लिखी थी और इसके भी पूर्व उन्होंने देवनागर में इस विषय पर लिखा था, ये बातें वक्तव्य-लेखक शोधित नहीं कर पाये हैं। बहुत दिनों तक अप्राप्य रहने के बाद इधर यह पुस्तक सुलभ हो गई है, शायद यह भी कारण हो कि चिराग-तले अँधेरा रह गया है। हिन्दी के विदेशी व्याकरण-लेखकों में बीम्स और होयर्नल का उल्लेख न होना भी खटकता है। जहाँ तक प्रस्तुत पुस्तक का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि इस विषय पर इयत्तया एवं इदंतया यह अद्वितीय पुस्तक है। पचहत्तर पृष्ठों की पूर्व-पीठिका में हिन्दी की उत्पत्ति, विकास तथा अन्य समस्त सम्भाव्य समस्याओं पर सविस्तर ( वाजपेयीजी क्षमा करेंगे, मैं 'सविस्तार' नहीं, 'सविस्तर' लिखना ही पसन्द करता हूँ) विचार किया गया है, और पिष्ट-पेषण एकदम नहीं है।

पुस्तक के पूर्वार्द्ध के प्रथम अध्याय में वर्ण-विचार, तथा स्वर-व्यंजन आदि का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में हिन्दी की विभक्तियों पर विचार करते हुए इस प्रसङ्ग में इधर प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'परसर्ग' की अनुपयुक्तता सिद्ध की गई है। तृतीय अध्याय के विषय हैं नाम, सर्वनाम तथा विशेषण एवं लिङ्ग-व्यवस्था आदि। चतुर्थ में अव्यय और उपसर्ग; पञ्चम में कृदन्त, तद्धित तथा समास; षष्ठ में क्रिया-विशेषण और सप्तम में वाक्य तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के उत्तरार्द्ध के पाँच अध्यायों में क्रिया का विशद तथा सूक्ष्म विवेचन है। परिशिष्ट में हिन्दी की बोलियों, व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक के मौलिक विचार हैं।

हिन्दी-शब्दानुशासन की भूमिका में आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुस्तक के विद्वान् लेखक के वैशिष्ट्य के विषय में ठीक ही लिखा है, "वाजपेयीजी संस्कृत-व्याकरण के सुपण्डित हैं, पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिन्दी को संस्कृत की पूर्ण अनुगामिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिन्दी को प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दी की इस प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सब लोग उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं होंगे, किन्तु उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठकों को स्वयं सोचने-समझने को स्वतन्त्र छोड़ दिया है।"

विषय और उसके विवेचन के सम्बन्ध में आचार्यजी से सहमत होते हुए, और वाजपेयीजी की परिणत प्रज्ञा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी, मैं यह कहने में संकोच का अनुभव नहीं करता कि पुस्तक के भाषा-पक्ष के विषय में व्याकरण-परामर्श-मण्डल के ये दो सुझाव सर्वथा उचित थे—"(क) भाषा अधिक सन्तुलित और शास्त्रानुरूप गम्भीर होनी चाहिए। (ख) अप्रासङ्गिक उक्तियाँ और हलके मुहावरे न रखे जायँ, तो उत्तम हो।" व्याकरण-परामर्श-मण्डल के ये सुझाव वाजपेयीजी को मान्य नहीं हुए, यह स्पष्ट है। यह निस्सन्देह वाजपेयीजी के व्यक्तित्व की प्रखरता के अनुरूप ही हुआ ; किन्तु सभा ने अपनी ओर से आवश्यक दृढ़ता का परिचय न देकर अपने प्रतिमान के साथ समझौता किया है, जो उसकी परम्परा के प्रतिकूल है।

"बड़ी विचित्र बात है ! व्यर्थ की बातें हैं। ऐसी ही बेकार और उथली बातों से पोथे बनाकर 'भाषा-विज्ञान' नाम रखा गया है ! हम यहाँ भाषा-विज्ञान की चर्चा न करेंगे ! बहुत बड़ी राम-कहानी है ! परिशिष्ट में उतना ही कहा जायगा, जितना व्याकरण के लिए जरूरी है।.....आवश्यकता से अधिक तो नहीं कहा गया है; पर फिर भी काफी कह दिया गया !" और ऐसे अनेक अन्य स्थल इस पुस्तक में हैं, जिन्हें रहने देकर सभा द्वारा संघटित व्याकरण-परामर्श-मण्डल ने इस महनीय संस्था के प्रति पूर्णतः कर्त्तव्य-पालन नहीं किया है। यदि प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के सामने ये विकल्प होते कि या तो यह पुस्तक—बहुत अच्छी पुस्तक – छपे ही नहीं, या छपे तो उपर्युक्त अंशों के साथ, तो उसे पहले विकल्प को चुनने में द्विधा न होती। यह ठीक है कि भारतीय वैयाकरणों की एक मनोरमा-मर्दिनी परम्परा भी रही है, जिसका प्रतिनिधित्व हिन्दी में वाजपेयीजी करते हैं। इसकी भी अपनी खूबियाँ है, किन्तु इस पर 'सभा' या इस तरह की संस्थाओं की मुहर नहीं लगनी चाहिए। किन्तु, अब जब सभा ने दूसरे विकल्प को स्वीकार कर लिया है, तब हम भी परिमाण में स्वल्प इन अंशों की उपेक्षा कर, इस ग्रन्थ के निर्माण के लिए लेखक का अभिनन्दन करते हैं। —न० वि० श०

०

## छात्रा या छात्री ?

'साहित्य' के पिछले एकाधिक अङ्कों में 'बाधति-बाधते' स्तम्भ के अन्तर्गत 'छात्रा शुद्ध है अथवा छात्री' इस विषय पर विद्वानों को 'शास्त्रार्थ' करने के लिए अवसर सुलभ रहा है। इसका उद्देश्य यह नहीं था कि हिन्दी में प्रचलित प्रयोग 'छात्रा' के सम्बन्ध में विचार किया जाय : हिन्दी में 'छात्रा' शुद्ध प्रयोग है; क्योंकि वही प्रचलित है।

प्रश्न यह था कि संस्कृत में शुद्ध क्या है। 'छात्री' के समर्थकों ने, स्पष्ट है, व्याकरण के सूत्रों आदि की अनुकूल व्याख्या करके अपने पक्ष को विलक्षणतापूर्वक पुष्टि की है, किन्तु इसी पद्धति से उनका खण्डन भी दूसरे पक्ष के विद्वानों ने, अपने वैदुष्य का परिचय देते हुए, किया है। फलतः, किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन हो जा सकता था। परन्तु, दूसरे पक्ष के विद्वान् कम-से-कम एक परवर्त्ती, किन्तु प्रतिष्ठित संस्कृत-वैयाकरण के 'छात्रा' के पक्ष में स्पष्ट कथन का निर्देश कर पाये हैं। अतः, संस्कृत में भी 'छात्रा' का प्रचलन था, यह निर्विवाद है।

यह भी सम्भव है, ज्यादा यही सम्भव है कि संस्कृत में 'छात्री' शब्द भी प्रचलित था—हमारे विचार से, और दूसरे पक्ष के प्रतिकूल, न केवल 'छात्र की पत्नी' के अर्थ में, प्रत्युत 'छात्रा' के अर्थ में भी। तात्पर्य यह है कि संस्कृत के अनेकानेक अन्य शब्दों की तरह 'छात्रा' भी द्विरूप शब्द है, यद्यपि हमें द्विरूप-कोष में मिला नहीं। वैयाकरणों की परम्परा से भी यही बात सिद्ध होती है—पहले पक्ष ने यदि गुरु-मुख या गुरु-परम्परा से 'छात्री' को ही शुद्ध जाना है, तो दूसरे ने 'छात्रा' को !

अतएव, हम 'छात्रा या छात्री ?' के विषय में उपस्थापित 'शास्त्रार्थ' को समाप्त करते हैं। भविष्य में, 'साहित्य' के उक्त स्तम्भ में, और भी इसी प्रकार के द्विरूप शब्दों के शास्त्रार्थ का सहर्ष स्वागत होगा।



—न० वि० श०

# श्रीराधारससुधानिधि

श्रीव्रजरत्नदास; काशी

श्रीराधारससुधानिधि एक स्तोत्र या प्रशस्ति-काव्य है। यह कृति 'श्रीराधासुधानिधि' के नाम से, वृंदावन से, हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित हुई है। किन्तु, यह रचना किसकी है, इसमें मतभेद है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीहितहरिवंशजी ने सं० १५८२ वि० में राधावल्लभजी की मूर्त्ति वृन्दावन में स्थापित की थी और इनका रचना-काल सं० १६०० से १६४० वि० तक माना जा सकता है। यह भी लिखते हैं कि '२७० श्लोकों का राधासुधानिधि आप ही का रचा कहा जाता है', अर्थात् शुक्लजी का कोई निश्चित मत नहीं है कि यह हितजी की ही रचना है। श्रीबलदेव उपाध्याय निजी 'भागवत सम्प्रदाय' ग्रन्थ में श्रीहितहरिवंशजी के दो प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं और प्रथम के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'राधासुधानिधि, २७० पद्य। यह संस्कृत में श्रीराधारानी की प्रशस्त प्रशस्ति है। राधा के सौन्दर्य, सेवाभाव तथा परिचर्या-तत्त्व का मार्मिक वर्णन कर हरिवंशजी ने अपनी प्रकृष्ट भक्ति तथा काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।' श्रीबलदेवजी के इस कथन का आधार बाबा हितदास द्वारा प्रकाशित हिन्दी-अनुवाद-सहित मूल राधासुधानिधि ग्रन्थ है। इस प्रकार, हिन्दी-जगत् में यह प्रचलित है कि राधासुधानिधि संस्कृत-काव्य श्रीहितहरिवंशजी की रचना है।

इधर ही मुझे एक बँगला-ग्रन्थ 'श्रीराधारससुधानिधिः' पढ़ने को मिला, जिसमें मूल श्लोक, अन्वय, बँगला-अनुवाद तथा व्याख्या दी हुई है। यह प्रति सन् १९१३ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में दो सौ बहत्तर श्लोक हैं। मिलान करने से ज्ञात हुआ कि यह राधासुधानिधि ही है, जिसमें दो श्लोक, प्रथम तथा अन्तिम, अधिक हैं। इस राधारससुधानिधि के रचयिता श्रीपरमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्प्रबोधानन्दसरस्वती लिखे गये हैं, जिन्हें पहले प्रकाशानन्दसरस्वती कहते थे। इसके सम्पादक तथा अनुवादक श्रीमधुसूदन तत्त्ववाचस्पति हैं। इस प्रकार, देखा जाता है कि प्रथम मत में रचना के नाम में दो अक्षरों की तथा दो श्लोकों की कमी है, किन्तु मूल सारा ग्रन्थ दोनों में अक्षरशः एक है। तात्पर्य यह कि रचना एक ही है, केवल रचयिताओं के नामों में ही मतभेद है।

हिन्दी-साहित्य-जगत् हितहरिवंशजी से परिचित है, किन्तु प्रकाशानन्दसरस्वती से वह परिचित नहीं है; क्योंकि वह केवल संस्कृत के ही उद्भट विद्वान् तथा सुकवि थे, अतः उनका अति संक्षिप्त परिचय यहाँ देना आवश्यक है। दक्षिण में कावेरी-तटस्थ श्रीरंगम् इनका जन्म-स्थान था। ये तीन भाइयों में सबसे छोटे थे। दो बड़े भाइयों के नाम वेंकटभट्ट तथा त्रिमलभट्ट था। वेंकटभट्ट के पुत्र का नाम गोपालभट्ट था, जो श्रीकृष्णचैतन्य-महाप्रभु के मुख्य शिष्य थे। यह परिवार श्रीरामानुज-सम्प्रदाय माननेवाला था। प्रकाशानन्दजी बड़े मेधावी पुरुष थे और शीघ्र ही विद्यार्जन कर महापण्डित हो गये।

इन्होंने ज्ञान-मार्ग ग्रहण कर अद्वैतवादी शाङ्कर सम्प्रदाय में संन्यास ले लिया। ये काशी चले आये और पंचगंगा घाट के वामनमठ के अधीश होकर संन्यासियों को पढ़ाने लगे। इनके साथ लगभग दस सहस्र के संन्यासी-समुदाय रहता था।

इसी समय नदिया के श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति का प्रचार करते हुए भारत-भ्रमण कर रहे थे। जब प्रकाशानन्दजी ने सुना कि उनके परिवार ने दक्षिण में इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और भक्ति-मार्ग ग्रहण कर वैष्णव हो गये, तब इन्हें अत्यन्त रोष हुआ और यह श्रीचैतन्यमहाप्रभु के विरोधी हो उठे। प्रकाशानन्द के परम मित्र भारत-प्रसिद्ध विद्वान् सार्वभौम वासुदेवभट्टाचार्य भी महाप्रभु के शिष्य हो चुके थे और वह नीलाचल से काशी इन्हें समझाने आये, पर इसका इन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। सं० १५७२ वि० में वृन्दावन से लौटते समय जब श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु काशी आये, तब उनके सत्संग, शास्त्रार्थ आदि का इनपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके शिष्य होकर अनुपम भक्त हो गये। अब ये प्रकाशानन्द से प्रबोधानन्दसरस्वती बन गये, और वृन्दावन में जाकर वहीं रहने लगे। इनकी समाधि वृन्दावन में अद्यापि विद्यमान है। इन्होंने श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, वृन्दावनशतक, संगीतमाधव आदि अनेक काव्य लिखे हैं।

अब वे दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं, जो बँगला प्रति में अधिक हैं। प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

'निन्दन्तं पुलकोत्करेण विकसन्नीपप्रसूनच्छवि
प्रोद्ध्वीकृत्य भुजद्वयं हरिहरीत्युच्चैर्वदन्तं मुहुः।
नृत्यन्तं द्रुतमश्रुनिर्झरचयैः सिञ्चन्तमूर्वीतलं
गायद्भिः निजपार्षदैः परिवृतं श्रीगौरचन्द्रं नुमः॥'

अर्थ—भक्तिरस के उद्रेक से उद्वेलित चित्त हो जाने से जो अपने पुलकों द्वारा कदम्ब-कुसुम की छवि को निन्दित बना रहे हैं, जो अपने दोनों बाहु को उठाकर निरन्तर हरि-हरि उच्चस्वर से कह रहे हैं, वेग से नृत्य कर रहे है, नेत्रों से गिरते जल से पृथ्वीतल का सिंचन कर रहे हैं, अपने परिकर से घिरे गाते हुए श्रीगौरचन्द्र को नमस्कार है।

अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

'स जयति गौरपयोधिर्मायावादार्कतापसन्तप्तम्।
हृन्नभ उदशीतलयद् यो राधारससुधानिधिना॥'

अर्थ—(शाङ्कर) मायावाद-रूपी सूर्य के ताप से सन्तप्त हृदयाकाश को श्रीराधाजी के रस-रूपी चन्द्र द्वारा शीतल करनेवाले मेघ-रूप श्रीगौर की जय हो।

इसके अन्तिम के, पहले भी एक श्लोक है और जो दोनों में गृहीत है, उसमें रचना का नाम रससुधानिधि ही दिया है। श्लोक इस प्रकार है—

'अमृतानन्दलोभश्चेन्नाम्ना रससुधानिधिः।
स्तवोऽयं कर्णकलशैर्गृहीत्वा पीयतां बुधाः॥'

अर्थ—हे विद्वद्वृन्द, अद्भुत आनन्द के उपभोग का लोभ होता ही है, इसलिए इस रसछुधानिधि नामक स्तव को अपने घट-रूपी कानों में ग्रहण कर तृप्त हों।

इस प्रकार, यह तो निश्चित हो जाता है कि काव्य का नाम 'श्रीराधारस-सुधानिधि' है, पर यह किसकी रचना है, इसमें मतभेद बना ही रह जाता है। सारे काव्य में कहीं भी कवि का नामोल्लेख नहीं है। जो दो श्लोक एक में अधिक हैं, उनमें भी कवि का नाम नहीं है, पर उनमें श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु की वन्दना है। प्रबोधानन्दजी इन्हीं के शिष्य थे और इन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार मानते थे। श्रीहितहरिवंशजी स्वयं एक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे और इस हित-सम्प्रदायवाले अपने को चैतन्य-सम्प्रदाय से परम विभिन्न मानते हैं, अतः इन दोनों श्लोकों से युक्त काव्य हितहरिवंशजी का हो नहीं सकता। इसलिए, कहा जा सकता है कि इसी कारण ये दोनों श्लोक हटाकर उनके नाम से यह रचना प्रकाशित की गई है, किन्तु वैसी अवस्था में दूसरा पक्ष भी कह सकता है कि ये दो श्लोक इसीलिए जोड़े गये हैं कि सारी रचना प्रबोधानन्दजी के नाम से प्रसिद्ध की जाय। किन्तु, यह देखा जाता है कि बंगाल तथा वृन्दावन की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में ये दोनों श्लोक हैं।

वैष्णव सम्प्रदायों के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट ही देखने में आता है कि प्रायः सभी प्राचीन प्रवर्त्तकों ने संस्कृत में अनेक विशद ग्रन्थों की रचना करके ही अपने-अपने सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किये हैं, जैसे श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमाध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीचैतन्यमहाप्रभु। अन्तिम ने स्वयं विशेष नहीं लिखा है, पर इनके निजी शिष्यवर्ग ने इतने अद्भुत विशद ग्रन्थों, काव्यों आदि का प्रणयन किया है कि वे अपने में ही एक साहित्य हो उठा है। इसके विरुद्ध अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में, जैसे राधावल्लभीय, टट्टी आदि में संस्कृत-भाषा का उपयोग बहुत कम है। श्रीहितहरिवंशजी की व्रजभाषा में ही केवल एक रचना है, जिसमें चौरासी पद मात्र हैं। यह लिखने में विशेष रुचि नहीं रखते थे, यह स्पष्ट है। ऐसी अवस्था में राधारसछुधानिधि से ग्रन्थ को इनकी रचना कहने में बुद्धि कुछ कुण्ठित होती है, जबकि इसकी रचना के दूसरे प्रतिपक्षी एकमात्र संस्कृत के ही उद्भट विद्वान् तथा सुकवि भक्तशिरोमणि प्रबोधानन्दसरस्वती हों। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर एतद्विषयक उच्च कोटि के विद्वान् ही विशेष प्रकाश डाल सकते हैं और आशा है कि वे ऐसा करने की अवश्य कृपा करेंगे।

अब इस रचना के तीन श्लोक अर्थ-सहित यहाँ पाठकों के मनोविनोदार्थ दिये जाते हैं—

'यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया—
विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूरदर्शि।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्त्तिः
सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु॥'

अर्थ—असंख्य गोपियों के बीच जिसके चरण-कमल के नख-चन्द्रमणि की छटा को

मैंने देखा है, वह पूर्ण अनुराग-रससागर की तत्त्वरूपिणी मूर्त्ति श्रीराधिकाजी कब हम पर कृपा करेंगी।

'महाप्रेमोन्मीलन्नवरससुधासिन्धुलहरी—
परीवाहैर्विश्वं स्नपयदिव नेत्रान्तनटनैः।
तडिन्माला गौरं किमपि नवकैशोरमधुरं
पुरन्ध्रीनां चूडाभरणनवरत्नं विजयते॥'

अर्थ—कटाक्षों के नर्त्तन से महाप्रेम-रूपी नवरस-सुधा-समुद्र में तरंगों को उठाकर जिसने विश्व को नहला दिया है; विद्युन्माला-सी जो गौरवर्णा, नवकैशोर-सी मधुर तथा नागरियों की चूडामणि का नवरत्न है, उसकी विजय हो।

'प्रीतिरिव मूर्त्तिमती रससिन्धोः सारसम्पदिव विमला।
वैदग्धीनां हृदयं काचन वृन्दावनाधिकारिणी जयति॥२००॥'

अर्थ—मूर्त्तिमती, प्रीतिस्वरूपिणी, रससिन्धु श्रीकृष्ण की विमल सार सम्पत्ति-सी तथा ललितादि विदग्धाओं का हृदय एवं वृन्दावन की अधीश्वरी श्रीराधिकाजी की जय हो।

आशा है कि वैष्णव सम्प्रदाय के समर्थक तथा अन्य विद्वान् मेरी इस जिज्ञासा पर अवश्य कृपादृष्टि डालेंगे और अपना-अपना मत प्रकट कर इस शङ्का का समाधान करेंगे।



# श्रीधर पाठक : खड़ीबोली के प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि

डा० रमेश कुन्तलमेघ; महाराजा कालेज, आरा

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने 'इतिहास' में एक स्थल पर श्रीधर पाठक के बारे में लिखा है—"वास्तव में ये एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचिसम्पन्न कवि थे। भद्दापन इनमें न था - न रूप-रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।" उनके पूर्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इन्हें कोमलकान्त पदावली के रचयिता 'गीतगोविन्दकार' जयदेव का अवतार स्वीकार कर चुके थे।

श्रीधर पाठक 'सच्चे' और 'स्वाभाविक' दोनों प्रकार के स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के प्रवर्त्तक हैं। सच्ची स्वच्छन्दता की कुछ विशेषताएँ हैं। वह देश की सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच से विकसित होकर परम्परा से चली आती हुई वेगवती काव्यधारा होती है। यह काव्यधारा रूढियों, शुष्कताओं और अनावश्यक भावव्यञ्जक पद्धतियों से मुक्त होकर बहती है। इस धारा को भी जन-साधारण की भावना और भाषा ग्रहण करनी पड़ती है। ये ही विशिष्टताएँ अँगरेजी-काव्य के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में काउपर और बर्न्स लाये थे। बर्न्स ने अँगरेजी-कविता को देशभाषा दी और

काउपर ने उसे लैटिन तथा इतालवी काव्य-रूढ़ियों से मुक्त किया। इसी प्रकार, श्रीधर पाठक ने रीतिकालीन रूढ़ियों में बंधे छन्दों, रसों के 'उदाहरणों' और अलंकारों के बोझ से दबे शुष्क काव्य से वाग्धारा को मुक्त किया।

उनका युग भारतेन्दु-काल से कुछ भिन्न था। उस समय तक संघर्षों का स्थान उन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक द्वन्द्वों ने ले लिया था, जो भारतेन्दु और उनके कवियों के मण्डल की नई भूमि के विस्तार की महत्ता को तो स्वीकार करते थे, किन्तु पद्य के पुराने ढाँचों, भाषा की रूढ़ि तथा प्रकृति के परम्परायुक्त चित्रण को हटा रहे थे। इसके अलावा समाज का ढाँचा भी छिन्न-भिन्न हो रहा था। कुटीर-उद्योगों के नष्ट होने तथा दरिद्रता, अकाल इत्यादि के कारण स्वदेश तथा हिन्दीभाषी उत्तर-भारत के ग्राम उजड़ते जा रहे थे। लोगों के मन में गाँवों के वे ही समृद्ध सुनहले चित्र झलकते रहते थे, और तत्कालीन विस्थापन के प्रति उन नये 'शहरों' के हृदय में करुणा, माधुर्य और कौतूहल के भाव भरे थे। रूढ़िबद्ध प्रकृति-चित्रणों से नये पाठकों और शिक्षितों का मन भर गया था। वे तो ग्राम्यश्री के उन स्वरूपों में रमना चाहते थे, जिनसे उनका चिर-परिचय था और पुरानी पीढ़ियों के भूमि-सम्बन्ध पुनः सरस हो जाते थे; जिनमें अतीतोन्मुख नवीनता भी थी और उनके उस अतीत जीवन की कथा भी, जिसके वातावरण को त्याग देने के लिए वे विवश हुए थे। इसके साथ ही शिक्षित मध्यवर्गीय युवक-युवतियों के मन, समाज की बदली हुई परिस्थितियों के कारण, भारतीय मर्यादा और शील का ग्रहण करते हुए भी, प्रेम और यौवन की अभिव्यक्तियों में कुछ अधिक स्वतन्त्र और रोमांटिक होने को आकुल थे। अब वे गोपियों के माध्यम को छोड़कर व्यक्ति के प्रेम को गौरवशाली सिद्ध करना चाह रहे थे।

इन्हीं कारणों से 'सच्चे' स्वच्छन्दतावाद के साथ 'स्वाभाविक' स्वच्छन्दतावाद का भी समावेश हुआ, और श्रीधर पाठक ही इसे 'सच्चाई' से 'स्वाभाविकता, अथवा नैसर्गिकता की ओर ले गये। उन्हें भारतीय मर्यादा, काम और सौन्दर्य के चारित्रिक आदर्श संस्कृत के अभिजात काव्यों से मिले; खड़ीबोली को शताब्दियों के साथ प्रवाहित होनेवाली परम्परा से जोड़ने के लिए व्रजभाषा का रसीलापन, कोमलता मिली; नई अभिव्यक्तियां, ग्राम-जीवन का अनुभूतिपूर्ण मार्मिक अंकन एवं प्रकृति-दर्शन की वैयक्तिक मधुरता अंगरेजी-काव्यों—विशेषतः गोल्डस्मिथ की रचनाओं—से मिली। फलतः, इतने व्यापक आयामों को स्वीकार कर लेने से शिष्टभाषा की स्थिरता और ऐकान्तिकता के सारे व्यवधान टूट गये।

यह सच है कि उनके काव्य का पर्याप्त अंश व्रजभाषा में लिखा गया है और अधिकांश अनूदित है, किन्तु व्रजभाषा की माधुरी और सुकुमारता को उन्होंने खड़ीबोली की नागरिकता और खरेपन के साथ मिलाया तथा अनुवादों को इतनी कुशलता और स्वतन्त्रता से परिष्कृत किया कि वे शुद्ध मौलिक-से तथा भारतीय वातावरण के अनुकूल हो गये। अनुवादों तथा मौलिक रचनाओं, दोनों के ही माध्यम से उन्होंने प्रथम बार खड़ीबोली की स्वच्छन्दता, नैसर्गिकता और सुन्दरता का आभास पाठकों को दिया।

श्रीधर पाठक को गोल्डस्मिथ के काव्य ने मन्त्रमुग्ध कर लिया था। उसीको आधार बनाकर उन्होंने परोक्ष रूप से भारत की परिस्थितियों के अनुकूल ग्राम्य जीवन की सरलता, विवस्थापन की करुणा, ग्राम्य प्रकृति का अनुराग आदि अपने काव्य में ढालना शुरू किया। उन्होंने गोल्डस्मिथ के 'डेजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम', 'हर्मिट' का 'एकान्तवासी योगी' और 'ट्रैवलर' का 'श्रान्त पथिक' से नाम से अनुवाद किया। 'ऊजड़ ग्राम' ( सन् १८८९ ई० ) में अनेक उजड़ते ग्रामों को करुण कथा, ग्रामवासियों के सरल जीवन, ग्राम्य सौन्दर्य और ग्राम्यश्री के अनूठे चित्र मिलते हैं। एक उदाहरण—

'हे प्यारे औबर्न सकल गामन सों रूरे,
जहाँ श्रमी कृषिकार बसें सुख सम्पति पूरे।
जहाँ रसीली ऋतु वसन्त पहले ही आवत,
जान समय बिलमाय फूल-फल देर लगावत।
कितनो मैं डोल्यो हूँ तेरे हरित थलन में,
जहाँ लगे सब दृश्य दीन सुख सों प्रिय मन में।
मिल कै सब ग्रामीन काम श्रम बन्धन छोरी,
सुघर समाज बनाय जाते हे बृच्छन ओरी।
विस्तृत छाया बीच अनेकन खेल मचावत,
युवा करत तहँ होड़ वृद्ध निरखत सुख पावत।
ताहि न ज्याकौ ज्ञान, लखत जब लोग लुगाई,
मचत गुप्त मृदु हँसी चहक चहुँ ओर सुहाई।'

'एकान्तवासी योगी' ( सन् १८८६ ई०) में एक प्रेमी-युगल की कहानी है, जिसमें युवक एडविन एंजेलेना के प्रेम में, योगी हो जाता है और निर्जन स्थान में कुटी बनाकर रहने लगता है। अन्त में पुरुष-वेश में एंजेलेना उसे ढूँढते हुए आती है और साधु की वास्तविकता जानकर चिर-मिलन में आबद्ध होती है। यहाँ चिर-परिचित भारतीय कथा-प्रयोजन है—एक योगी की कुटी, भटकती हुई प्रेमिका और आदर्शोन्मुख महान् प्रेम! यह रचना घर-घर में युवक-युवतियों के बीच इतनी प्रिय हुई कि प्रेम के विषय में रीतिकालीन क्षयग्रस्त प्रतिमान ढह गये। इसकी भाषा, इसमें वर्णित साधु-चरित्र और नैतिक स्वच्छता से पं० प्रतापनारायणमिश्र इतने प्रभावित हुए थे कि इसे भारती के कंठ की माला कहने लगे थे। उपर्युक्त कारणों से शुक्लजी भी इस पर मुग्ध थे।

'श्रान्त पथिक' ( सन् १९०१ ई०) में कवि (अर्थात् गोल्डस्मिथ) यूरोप के विभिन्न देशों की पदयात्रा करने के बाद के उन संस्मरणों को पद्यबद्ध करता है, जिनमें फ्रांस, इटली स्विजरलैंड और इंग्लैंड की प्रकृति, जनता और सामाजिक जीवन के अनुभूत चित्र हैं। इस अन्तिम काव्य ने तो श्रीधर पाठक की पर्यटक भावना को इतना प्रेरित किया कि उन्होंने 'देहरादून', 'काश्मीर सुखमा' आदि इसी की परिपाटी पर लिखे। वे स्वयं एक अलबेले सैलानी थे। पहाड़ों के कुली, गोरी छोकड़ियाँ, हिममण्डित शैल-मालाएँ, सघन वन, बनों

का एक-एक वृक्ष, एक-एक पल्लव, एक-एक पक्षी और सामान्य लोग उनकी यात्रा और काव्य के विषय बने। यही पथिक-परम्परा 'एकान्तवासी योगी' के वैरागी प्रेमी और एकनिष्ठ प्रियतमा की मनोहारी कथा में विकसित होकर 'श्रान्त पथिक' में परिणत हुई। प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' एवं रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' नामक काव्य इसी परम्परा की कड़ियाँ हैं। यदि श्रीधर पाठक न हुए होते, तो छायावाद प्रेम, सौन्दर्य और सामाजिक जीवन की वे दृष्टियाँ न दे पाता, जो आज मोहक और सार्थक मानी जाती हैं। भाषा की जड़ावट के लिए 'श्रान्त पथिक' खड़ीबोली के आन्दोलन में एक विजय-चिह्न है। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री इसे खड़ीबोली-पद्य का गौरवपूर्ण मानदण्ड मानते थे—

'दूर तलक दाहिनी दिशा को उठा है 'ऐपन्नेन' जहाँ।
ऊपम ऋतु-सम प्रभावान विस्तृत है इटली देश तहाँ॥
उसको उच्च भूमि ढालू, गिरितट को शोभा देती है।
वनश्रेणी की परम्परा रंगस्थल की छवि लेती है॥
यदि उदारता युक्त प्रकृति की दैन होय मन-सुखदाई।
तो अवश्य इटली की सन्तति ने है सब सुविधा पाई॥
तथा सिन्धु से चली वायु तहाँ पंखा शीत चलाती है।
छविपूरित भूमि में चतुर्दिक रस-सौरभ फैलाती है॥
यहाँ कुंज और खेत सरस छवि सुन्दरता दरसाते हैं।
केवल मनुष्य रूपी पौधे अवनति-चिह्न दिखाते हैं॥
वे बुराइयाँ सारी ह्याँ पर मन में दूषण लाती हैं।
धन-वैभव नस जाने पर जो पीछे से रह जाती हैं॥'

श्रीधर पाठक कालिदास के ऋतुसंहार के सौन्दर्योपासक थे। प्रकृति और यौवन का ऐन्द्रिय सम्बन्ध, समाज और स्वच्छन्दता का मर्यादित सन्तुलन, अछूती उपमाएँ और सूक्ष्म निरीक्षण आदि ऋतुसंहार के ऐसे मोहक तत्त्व थे, जिनसे वे प्रभावित भी हुए और जिन्हें उन्होंने ग्रहण भी किया। 'धन-विनय', 'हिमालय-वर्णन', 'देहरादून', 'काश्मीर सुखमा' शीर्षक उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में इतनी मादकता और मधुरता है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन रूढ़ियों ने सौन्दर्य-बोध और प्रतिभा को कितने भीषण रूढ़ि-खण्डों से दबा रखा था। 'ऋतुसंहार' का अनुवाद भी—कुछ अंशों को छोड़कर—उन्होंने व्रजभाषा में किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'जैसी मधुर और रसभरी व्रजभाषा उनके ऋतुसंहार के अनुवाद में है, वैसी पुराने कवियों में किसी-किसी की मिलती है।'

सैलानी भावना, गोल्डस्मिथ के काव्य, संस्कृत के 'ऋतुसंहार' एवं व्रजभाषा की सुकुमार कला के सभी तत्त्वों के अन्तरावलम्बन से पाठकजी की प्रतिभा प्रकृति-चित्रण में विशेष रूप से निखरी है। एक ओर वे भारतेन्दु की उत्प्रेक्षा-प्रधान परम्परा में 'काश्मीर सुखमा' लिखते हैं, तो दूसरी ओर संस्कृत के आलम्बन-प्रधान वर्णनों से प्रेरित होकर 'देहरादून' का वर्णन करते हैं; तीसरी ओर गोल्डस्मिथ से प्रेरणा पाकर प्रकृति का सूक्ष्म-

चित्रण, जन-जीवन की अभिव्यक्ति और अनुराग-पगी आत्मीयता ग्रहण करते हैं। 'देहरादून' के कुछ अंशों एवं 'गुनवन्त हेमन्त' में ग्राम्य छटा के साथ जन-जीवन के सामंजस्य आदि ने हिन्दी में एक नूतन परम्परा की स्थापना की थी, जिसके सफल अनुकरणकर्त्ताओं में शिवाधार पाण्डेय, केशवप्रसादमिश्र और कभी-कभी 'हरिऔध' थे।

श्रीधर पाठक के प्रकृति-चित्रों में हम शब्द-चयन की क्षमता, शब्द-शोधन की शक्ति और रोमांटिक भावना का ज्वार पाते हैं। कवि शैल, नद, निर्झर, नगर, वन आदि लाँघता चला जाता है; एक आकुल पथिक की तरह प्रत्येक वस्तु से मैत्री स्थापित करता है—उसकी आत्मा में झाँकता है और उसे काव्य-दर्पण द्वारा प्रतिबिम्बित करता है। खड़ीबोली में प्रकृति का ऐसा उपासक कवि पहले नहीं हुआ था। पाठकजी प्रकृति के वातावरण के नहीं, अपितु इन्द्रिय-रागों के कवि थे। प्रकृति में वे रहस्य और संघर्ष नहीं, एक मादक उल्लास पाते हैं। 'काश्मीर सुखमा' शीर्षक कविता आज भी हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य निधि है। छायावाद की इनी-गिनी कविताएँ ही उससे टक्कर ले सकेंगी। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति,
पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति।
बिमल अम्बु-सर मुकुरन मह मुख-बिम्ब निहारति,
अपनी छबि पै मोहि आपही तन मन वारति।
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी,
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्र रसारी।
बिहरति बिबिध-बिलास-भरी जोबन के मद सनि,
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि-बनि।
मधुर मंजु छबि पुंज छटा छिरकति बन-कुंजन,
चितवति, रिझवति, हसति, डसति, मुसिक्याति हरति मन।...'

पाठकजी के काव्य में प्रकृति-प्रेम, ग्राम-प्रेम, नया सौन्दर्य-बोध और नई अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। उन्नीसवीं शती के उस काल के पूर्व और बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों तक इतने मादक सौन्दर्य और स्वच्छ नैतिकता से पूर्ण तथा सरस, सामाजिक काव्य नहीं रचा गया।

'एकान्तवासी योगी' में लावनी छन्द का प्रयोग करके उन्होंने खड़ीबोली में रचना के नये मार्ग का अन्वेषण किया। नये छन्द, स्वर, लय, तुक और शब्द उनके काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते है। मुक्त छन्द का प्रयोग भी उन्होंने किया। लम्बे-लम्बे समासयुक्त पद्य, कजली के मधुर पद, सम्बोधनों से पूर्ण ललित पद-विन्यास आदि अनेक बातें उनके शिल्प में विद्यमान हैं। सबसे बड़ी बात जो उनके काव्य में मिलती है, वह है छन्दों की मधुर लय।

उस समय के सीमित मानदण्डों एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए समाज

के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील कहा जा सकता है। वास्तव में, प्रकृति-काव्य और प्रेम-काव्य की रचना करने और खड़ीबोली को काव्य-भाषा बनाने के कार्य में वे कुछ इस तरह व्यस्त रहे कि उनके काव्य में समाज-सुधार का जोश और भारतेन्दु-मण्डल के कवियों-जैसी व्यापक भावना तथा गम्भीर विचार-धारा की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। इस विषय में उनकी भी सीमाएँ थीं। वे एक सरकारी कर्मचारी भी थे। अतः, जो भेद राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु में है, वही भेद इस संदर्भ में श्रीधर पाठक और मुकुटधर पाण्डेय में है। हम हिन्दी-प्रेमी और लेखक इन्हें खड़ीबोली का प्रथम कवि, नवीन पद्य को लिखनेवाला प्रथम कवि और प्रकृति का प्रथम उपासक कवि मानकर इनका अभिवादन करते आ रहे हैं। हम इन्हें वैसा प्रथम कवि भी मानते हैं, जिसने यौवन और प्रेम के स्वस्थ आदर्शों एवं प्रेम-भावना की सामाजिक स्वीकृति को एक बड़े पैमाने पर प्रतिष्ठित किया। हम इन्हें खड़ीबोली के लिए आन्दोलन करनेवाले विद्रोही के रूप में भी वन्दनीय मानते हैं। हम इन्हें भारतेन्दु की लोक-भाषा एवं लोक-संस्कृतिवाली परम्परा को आगे चलानेवाले भावुक कवि के रूप में भी सम्मानित करते हैं।

अन्ततः, कहना पड़ेगा कि श्रीधर पाठक के पहले भारतेन्दु इन्दु के समान और बाद में जयशङ्कर प्रसाद सौन्दर्य की आकाश-गंगा के समान है। बीच में वे श्री-मेघ की तरह अपना अस्तित्व प्रतिभासित करते हैं। इस बृहत्त्रयी में बीच की कड़ी को पर्याप्त उपेक्षित किया गया है, जिसको जोड़ना एक सांस्कृतिक आह्वान होगा। उन्होंने एक ओर स्वच्छन्दतावाद की वह धारा बहाई (जिसमें प्रेम, स्वतन्त्रता और पर्यटक भावना की ललक है); दूसरी ओर प्रकृति के ललक-भरे चित्रण की मन्दाकिनी बहाई; तीसरी ओर शिल्प के सर्वाधिक नये प्रयोग किये। चौथी ओर परम्परा से चले आते हुए पौराणिक कथानकों का आधार छोड़ा; पाँचवें वे खड़ीबोली के प्रथम और स्वच्छन्द कवि हुए और अन्ततः भारतेन्दु-परम्परा की कई श्रेष्ठ, उदात्त और जातीय वसीयतें ग्रहण कीं। श्रीधर के बिना जयशङ्कर प्रसाद का वह स्वच्छन्द-काव्य न साया हुआ होता (सम्भवतः) और छायावाद का रूप-रंग ही कुछ बदला होता ! तमाम शुद !!



# मीराँबाई : गुजराती-कवयित्री के रूप में

**श्रीअम्बाशङ्कर नागर**, एम्० ए०; गुजरात-विद्यापीठ, अहमदाबाद

मीराँबाई के जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। ज्ञात तथ्यों का पिष्ट-पेषण न कर हम यहाँ मीराँ पर एक नये ही दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

मीराँ की गणना गुजराती के आदिकवियों में की जाती है। उन्हें गुजरात में शुद्ध भक्ति का प्रवर्त्तक माना जाता है। गुजराती-भाषा में मीराँ के रचे सौ-सवा सौ पद

प्रचलित हैं। गुजराती-साहित्य के इतिहासकारों के मतानुसार मीराँ ने अपने जीवन के अन्तिम पन्द्रह-बीस वर्ष गुजरात में ही व्यतीत किये थे। गुजरात के कवियों ने अपने काव्यों में इस कवयित्री का गुणगान किया है और वहाँ की जनता ने इन्हें अपने हृदय में सर्वोच्च स्थान दिया है। इन कारणों से, मीराँबाई पर, गुजराती-कवयित्री के रूप में, विचार करना सर्वथा समीचीन है।

मीराँ और उनकी वाणी किसी एक प्रदेश की सम्पत्ति नहीं हैं। बंगाल से गुजरात, और कश्मीर से सेतुबन्धरामेश्वरम् तक उनकी वाणी का प्रसार है। बंगाली, पंजाबी, सिन्धी, मराठी आदि अहिन्दी-भाषाभाषियों ने भी मीराँ को स्व-भाषा के कवियों से भी अधिक मान दिया है। दक्षिण के तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड-भाषाभाषी प्रदेशों में भी, जहाँ भाषा की भिन्नता के कारण हमारे अन्य कवि नहीं पहुँच पाये हैं, मीराँ का नाम त्यागराम आदि सन्तों के साथ श्रद्धा और भक्तिपूर्वक लिया जाता है।

जिस प्रकार विद्यापति पर बँगला-भाषाभाषी अपना अधिकार सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार मीराँ को गुजराती-भाषाभाषी अपना कवि मानते हैं। मीराँ को अपना कवि कहने में वे एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं। 'मीराँबाई' नामक गुजराती-ग्रन्थ की भूमिका में श्रीभानुसुखराम निर्गुणराम महेता लिखते हैं—

"यह विदुषी बाई मूल गुजरात की तो नहीं थी, लेकिन इसके बहुत-से पद गुजराती-भाषा में हैं, इससे उसे गुजराती-कवि के रूप में हम गिनते हैं। इतना ही नहीं, इसके लिए हम अभिमान का भी अनुभव करते हैं।"

इसी प्रकार, 'बृहत्-काव्य-दोहन' नामक गुजराती-काव्य-संग्रह की भूमिका में रा० रा० तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी लिखते हैं—

"मीराँबाई का सम्पर्क जन्म के कारण मारवाड़ी से, विवाह के कारण मेवाड़ी से, वृन्दावन-निवास के कारण व्रजभाषा से, तथा द्वारका में रहने के कारण गुजराती-भाषा से स्थापित हुआ था।"

उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त, सर्वश्री गोवर्धनराम त्रिपाठी, कन्हैयालाल मुन्शी, तारापुरवाला, कृ० मो० झवेरी तथा गुजराती-साहित्य के अन्य सुप्रसिद्ध विद्वानों ने मीराँबाई की गणना गुजराती-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में की है।

'मध्यकालनो साहित्य-प्रवाह' नामक गुजराती-ग्रन्थ में कन्हैयालाल मुन्शी ने मीराँ के सम्बन्ध में कहा है—

"मीराँ गुजराती नहीं थी·· पर गुजरात में शुद्ध भक्ति का प्रचार सामान्य लोगों में में जितना इसके पदों ने किया है, उतना नरसिंह महेता के पदों ने नहीं किया[1]।"

इस प्रकार, हम देखते हैं कि गुजराती-साहित्य के शीर्षस्थ भक्त कवि नरसिंह महेता से भी मीराँ का स्थान उच्चतर है। मीराँ गुजरात के जन-जीवन में इतनी समाई हुई हैं

---

१—'मध्यकालनो साहित्य-प्रवाह' : कन्हैयालाल मुन्शी।

कि वह गुजराती हों या न हों, अब उन्हें कोई गुजरात के जीवन से पृथक् नहीं कर सकता। गुजरात में मीराँ पवित्रता का प्रतीक हैं। गुजरात की कन्याओं और कुलवधुओं के लिए वह पवित्राचरण का आदर्श हैं। वृद्धाओं के लिए वे जीवन की ढलान पार करने का अवलम्ब हैं[1]।

गुजरात में मीराँ के भजन बहुत लोकप्रिय हैं। गरबा-नृत्यों और उनके साथ गाये जानेवाले गरबा-गीतों का गुजरात में बहुत प्रचार है। न केवल शहरों में, वरन् गाँवों में भी दशहरा-दीवाली आदि पर्वों पर गरबा-गान का कार्य-क्रम रहता है। मीराँ की गरबियाँ इन समारोहों का प्रमुख आकर्षण रहती हैं। डा० सावित्री सिन्हा ने 'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ' में मीराँ के गरबा-गीतों के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि जिसमें मीराँ की गरबी न हो, वह गरबा ही नहीं है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि मीराँ का गुजरात से अभिन्न सम्बन्ध है। न केवल साहित्य-क्षेत्र में, वरन् गुजरात के जन-जीवन में भी वह समाई हुई हैं। अतएव, अब हम मीराँ के जीवन से सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों पर भी, गुजराती-सूत्रों के आधार पर, विचार करेंगे।

मीराँ का जन्म और स्वर्गवास कब हुआ? उनका विवाह कब और किसके साथ हुआ? मीराँ को यातना देनेवाला राणा स्वयं मीराँ का पति था या अन्य कोई सगा-सम्बन्धी? वे वृन्दावन और द्वारका में रही थीं या नहीं, और यदि रही थीं, तो कब और कितने समय तक? उनके पदों में जिन चमत्कारों और यातनाओं का उल्लेख है, क्या वे सत्य हैं? क्या मीराँ ने सायुज्य-मुक्ति प्राप्त की थी? इत्यादि। ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका मुन्शी देवीप्रसाद, श्रीगौरीशङ्कर ओझा, श्रीहरिविलास, डा० श्रीकृष्णलाल प्रभृति विद्वानों ने अनेकविध समाधान किया है। यहाँ हम गुजराती-कवियों और समीक्षकों के आधार पर ही मीराँ के जीवन से सम्बद्ध उक्त प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

गुजरात के सुप्रसिद्ध कवि दयाराम (सन् १७६७–१८५२ ई०) ने गुजराती में 'मीराँ-चरित्र' लिखा है। इसमें कवि ने केवल ७२ पंक्तियों में मीराँबाई का चरित्र चित्रित किया है। कवि ने मीराँ को मेड़ता के जयमल राठौर की लड़की माना है—

'जैमल राठौड़नी दिकरी रे, मींडता अेनु धाम।
रूप गुण कोई समोवड नहीं, रूडुँ धर्युं मीराँबाई नाम ॥१॥'

इस काव्य में कवि ने मीराँ के पति का नाम नहीं दिया है। केवल इतना लिखा है कि उदयपुर के राणा से मीराँ का विवाह हुआ—

'उदोतपुरनो राणो राजीयो रे, तै साथे करी छै सगाई।
परणावीने वलाव्यां सासरे कंइ लौकीक रीते मीराँबाई ॥२॥'

विवाह होने के पश्चात् ससुराल पहुँचते ही मीराँ असहयोग प्रारम्भ कर देती हैं।

---

१—'क्लासिकल पोएट्स आव गुजरात' : जी० एम्० त्रिपाठी।

सास के कहने पर भी वह देवी नहीं पूजतीं और उत्तर देती हैं, मेरा मस्तक गिरिधर राय के अतिरिक्त और किसी के आगे नत नहीं हो सकता—

'साछ कहै सौभाग्य वधरे वहु, नमौ शक्ति ने पाय।
मीराँ कहै मस्तक मारूँ नहीं नमे, विना एक गिरीधर राय ॥५॥'

इस प्रकार, पहले ही दिन सास-बहू में अनबन हो जाने के कारण सास कुपित हुई और उसने मीराँ को अलग महल में रखने का आदेश दिया। मीराँ तो एकान्त चाहती ही थीं। नये महल में साधु-सन्तों के साथ भक्ति में मग्न रहने लगीं। कुछ समय बाद मीराँ की ननद समझाने के लिए आई, पर मीराँ ने उसे भी 'सब तज हरि भज' का उपदेश दिया—

'तमोपण जाओ शीद सासरे रे बाई, वृथा बटालो शाने देह।
मन गमता मोहनवर साथे तमो, सरव तजीने करो स्नेह ॥६४॥'

( तुम भी क्यों व्यर्थ ससुराल जाती हो और अपनी देह को व्यर्थ गँवाती हो ? मनचीते मोहनवर के साथ सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त होकर स्नेह करो न ? )

इस प्रकार का उपदेश सुनकर समझाने के लिए आई हुई मीराँ की ननद भाग खड़ी हुई। उसने अपने भाई को सारी बात कह सुनाई। राणाजी कुपित हुए, उन्होंने मीराँ को तरह-तरह की यातनाएँ दीं, और अन्ततः विष भी दिया। मीराँ विष को अमृत समझकर पी गईं और उनका बाल भी बाँका न हुआ। अन्त में मीराँ वृन्दावन-यात्रा के लिए निकलीं। वहाँ पर वे जीवगोस्वामी से मिलीं। पहले उन्होंने मीराँ से मिलना स्वीकार नहीं किया, पर जब मीराँ ने कहा —

'आज लगी हुँ अेमजाणती जे व्रजमाँ, कृष्ण पुरुष छे एक।
वृंदावन वसी हजी पुरुष रह्या छो तेमा, धन्य तमारो विवेक ॥२॥'

तो यह सुनकर जीवगोस्वामी को ज्ञान हुआ और वे दौड़कर मीराँ से मिले। वृन्दावन से एक बार फिर मीराँबाई वापस मेवाड़ आईं और तुरन्त ही द्वारका के लिए रवाना हो गईं —

'करी तइयारी चाल्यां द्वारीकाँ, प्रेमे निरख्या श्रीरणछोड़।
वास पुरी ने प्रभुजी पासे रह्याँ सदा, पोंचा छे मनना कोड ॥३१॥'

मीराँ के द्वारका चले जाने के बाद राणा को बड़ा पछतावा हुआ। उन्होंने मीराँ को मनाकर लानेवाले को मुँहमाँगा इनाम देने की घोषणा की। राणा के आदमियों ने द्वारका पहुँचकर मीराँबाई से निवेदन किया कि आप के विना राणा ने अन्न-जल त्याग दिया है। आप मेवाड़ चलेंगी, तभी वे अन्न-जल ग्रहण करेंगे। इस प्रकार का सन्देश पाकर मीराँ अपने आराध्य-मन्दिर में श्रीरणछोड़राय से अनुमति लेने गईं। मीराँ की यह दुविधा देखकर श्रीरणछोड़राय हँसे और उन्होंने मीराँ को हृदय से लगा लिया। देखते-ही-देखते मीराँ हरि के स्वरूप में समा गईं —

'हरिऐ हकीकत साँभली ने हसी, चाँपी हृदया हाथ।
श्रीकृष्णस्वरूपमाँ समाई गयाँ रे मीराँ, जै जै श्री द्वारकानाथ ॥३५॥'

दयाराम-कृत 'मीराँ-चरित्र' से मीराँ के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी कुछ त्रुटियाँ भी विचारणीय हैं। एक तो यह कि दयाराम ने मीराँ को जयमल राठौर की पुत्री माना है, पर वस्तुतः मीराँ दूदाजी के पुत्र रत्नसिंह की कन्या थीं। सरदार जयमल तो मीराँ के चचेरे भाई थे। दूसरी बात यह कि दयाराम ने मीराँ के वैधव्य की चर्चा बिलकुल नहीं की है। उन्होंने उसे अन्तिम समय तक सुहागिन ही माना है। तीसरी बात यह कि मीराँ को यातना देनेवाला राणा मीराँ के पति नहीं, देवर थे; परन्तु यहाँ कवि ने उन्हें मीराँ का पति मानने की भूल की है। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम-कृत 'मीराँ-चरित्र' केवल जनश्रुति पर आधृत है। उसमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है।

इस रचना से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि डेढ़-दो शताब्दी पूर्व भी मीराँ गुजरात में इतनी लोकप्रिय और श्रद्धास्पद थीं कि गुजरात के श्रेष्ठ कवियों में गिने-जाने-वाले कवि दयाराम को उनका चरित्र लिखने की प्रेरणा हुई। इस ग्रन्थ से इस बात की भी पुष्टि होती है कि मीराँ के जीवन के अन्तिम दिन द्वारका में श्रीरणछोड़राय के चरणों में व्यतीत हुए थे।

मीराँ को गुजराती कवि कहते समय उनके गुजरात-आगमन और गुजरात-निवास पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। गुजराती-साहित्य के लगभग सभी इतिहासकारों ने मीराँ का गुजरात में आगमन स्वीकार किया है। गुजराती-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् केशवराम का० शास्त्री ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"मीराँ-बाई संवत् १५८८ के पीछे मेवाड़ या मारवाड़ में रही हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता···मीराँबाई संवत् १५८८ के लगभग द्वारका गईं और वहीं उन्होंने अपना शेष जीवन व्यतीत किया[1]।"

श्रीतारापुरवाला ने, यद्यपि सन्-संवतों का उल्लेख नहीं किया है, पर इसी मत की पुष्टि की है। वे 'क्लासिकल गुजराती लिटरेचर' में लिखते हैं —

"किन्तु उनका अन्तिम पार्थिव निवास-स्थान द्वारका था, जिसका श्रीकृष्ण के नाम के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। उनके अन्तिम दिन इसी स्थान पर पूर्ण आनन्द और शान्ति के साथ अपने प्रिय आराध्यदेव की भक्ति में व्यतीत हुए थे।"

इनके अतिरिक्त मीराँबाई के पदों से भी उनके पश्चिम (गुजरात)-आगमन का संकेत मिलता है —

'साँढवाला साँढ शणगार जेरे, जाऊँ सौ सै रे कोश,
राणाजीरा देशमाँ रै मारे, जल रे पीधानो दोष।
डाबो मेल्यो मेवाड़ रे, मीराँ गई पश्चिम माँय,
सरब छोडी मीराँ नीसर्यां, जेनु मायामाँ मनडू न काँय॥'

---

१—'कविचरित'।

इन बातों से सिद्ध है कि मीराँ अपनी उत्तरावस्था में मेवाड़ से रूठकर द्वारकापुरी में जा बसी थीं। ऐतिहासिक तथ्यों से भी इस बात का मेल बैठता है।

मीराँ का विवाह संवत् १५७३ में राणा साँगा के पाटवी राजकुमार भोजराज के साथ हुआ। जनश्रुति के अनुसार इस समय मीराँ की आयु १३ वर्ष की थी। कुछ ही समय बाद (सं० १५७५–१५८०) भोजराज की मृत्यु हो गई। यह समय चित्तौड़ और मेवाड़ के लिए बड़े संकट का था। बाबर और राणा साँगा के बीच युद्ध छिड़ने के कारण चित्तौड़ के अनेक सरदार मारे गये। भोजराज के पश्चात् सं० १५८४ में, उनके छोटे राजकुमार रत्नसिंह गद्दी पर बैठे, पर वे भी अधिक दिनों तक जीवित न रहे और संवत् १५८८ में विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। इसने मीराँ को तरह-तरह के कष्ट दिये, जिनसे दुःखी होकर वे पहले वृन्दावन गईं और अन्त में गुजरात में जा बसीं।

मीराँ का गुजरात में आगमन जीवगोस्वामी से उनके मिलन के एक-दो वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। जीवगोस्वामी की मृत्यु संवत् १५८९ में हुई। अतः, मीराँ अवश्य ही इसके पूर्व उनसे मिली होंगी। गुजराती-कवि दयाराम ने लिखा है कि जीव-गोस्वामी से मिलने के पश्चात् मीराँ मेवाड़ गईं और वहाँ से तैयारी करके तुरन्त द्वारका चली गईं —

'हली मलीने हरीनी बात करीने जाव्याँ मेवाड़ देश मीराँबाई ॥' (३०)

'करी तइयारी चाल्याँ द्वारीकाँ, प्रेमे निरख्या श्रीरणछोड ॥' (३१)

इस प्रकार, श्री के० का० शास्त्री का उपर्युक्त कथन कि 'मीराँबाई संवत् १५८८ के लगभग द्वारका गईं,' बिलकुल सत्य प्रतीत होता है। सं० १५८८ से १६०३ तक के मीराँ के अन्तिम १५ वर्ष गुजरात में व्यतीत हुए प्रतीत होते हैं। संवत् १६०३ के लगभग मीराँ को चित्तौड़ के राणा की ओर से स्वदेश लौट आने का आमन्त्रण मिला। इस समय चित्तौड़ के राणा उदयसिंह थे। उन्होंने मीराँ की ख्याति और साधुता से प्रभावित होकर ही उन्हें कृपा करके चित्तौड़ लौट आने को आमन्त्रण दिया था, पर विक्रमादित्य के द्वारा मीराँ को जो कष्ट मिले थे, उनके कारण उन्होंने यह आमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और चित्तौड़ जायँ या न जायँ, इसी मनोमन्थन में अपने आराध्य श्रीरणछोड़राय के चरणों में प्राण त्याग दिये। कुछ लेखकों ने संवत् १६३० तक मीराँ का जीवन-काल माना है,[1] पर किसी भी ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर मीराँ के संवत् १६०३ के पश्चात् जीवित रहने का पता नहीं लगता[2]।

मीराँ ने इस प्रकार गुजरात में रहकर यदि अपने आराध्य के गुणों का गान गुजराती में किया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज भी राजस्थानी और गुजराती-भाषा में अधिक अन्तर नहीं है। राजस्थानी-भाषाभाषी गुजरात में रहकर एक-दो साल में ही कामचलाऊ गुजराती सीख लेता है। १६वीं शताब्दी में आज की तरह

---

१—'मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ' : डा० सावित्री सिन्हा।

२—'हिन्दी-साहित्य' : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

भाषा-भेद नहीं के बराबर रहा होगा। डाक्टर टैसीटरी के मतानुसार उन दिनों गुजरात और राजस्थान में एक ही भाषा प्रचलित थी, जिसे उन्होंने 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' नाम दिया है।

मीराँ का जन्म राजस्थान में हुआ। श्रीकृष्ण का क्रीड़ा-स्थल होने के कारण व्रजमण्डल भी मीराँ को प्रिय रहा और वे यात्रा के निमित्त वहाँ गई भी। जीवन के अन्तिम पन्द्रह वर्ष उन्होंने द्वारका में बिताये। इस प्रकार, राजस्थान, व्रज और गुजरात, इन तीनों प्रदेशों से मीरा का निकट सम्बन्ध था। इसीलिए, इन तीनों प्रदेशों की भाषाओं में आज मीराँ की रचनाएँ प्राप्त हैं।

मीराँबाई की हिन्दी-रचनाओं की यहाँ विशेष चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हिन्दीसेवी-संसार मीराँ के हिन्दी-पदों से अच्छी तरह परिचित है। बेलवेडियर प्रेस के संग्रह में मीराँ के १६८ पद संगृहीत हैं। अन्य संग्रहों में २०० या अधिक-से-अधिक २५० तक पद देखने में आये हैं। श्रीपद्मावती शबनम का लगभग ५९० पदों का एक बृहत् संग्रह भी अभी देखने में आया है। कुल मिलाकर मीराँ के पदों की संख्या कितनी होगी, यह प्रश्न अभी विचारणीय है। अधिकतर विद्वानों ने मीराँ के असली पदों की संख्या दो-ढाई सौ तक ही मानी है। शेष पदों को वे आप्रमाणिक मानते हैं। जैसा कि 'राजस्थानी-भाषा और साहित्य' में श्रीमोतीलाल मेनारिया कहते है—'कुल मिलाकर मीराँ के पदों की संख्या २००-२५० से अधिक नहीं है।' इसी प्रकार, 'मीराँबाई' में डा० श्रीकृष्णलाल कहते हैं—'मीराँ के रचित पद थोड़े ही हैं, अधिकांश पदों की प्रामाणिकता में सन्देह है। गुजराती-पदों को मिलाकर भी संख्या ४०० के लगभग ही पहुँचेगी।'

निस्सन्देह, मीराँ के नाम से प्रचलित अधिकतर पदों की प्रामाणिकता में सन्देह की गुंजाइश है। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक सतर्क होकर छान-बीन की जानी चाहिए और मीराँ के नाम पर चलनेवाले पदों में कितने प्रामाणिक और कितने अप्रामाणिक है, इसपर विचार किया जाना चाहिए। मेरा अनुमान है कि मीराँ के नाम से प्रचलित ५०० से कहीं अधिक पद यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं, जिनमें से लगभग सौ-सवा सौ पद गुजराती-साहित्य की संपत्ति बने हुए हैं।

कुछ समय पहले जयपुर के पु० हरिनारायणजी ने मीराँ के लगभग ५०० पदों का एक बृहत् संग्रह तैयार किया था, जो दुर्भाग्यवश उनके जीवन-काल में प्रकाश में नहीं आ सका, और अब उसके प्रकाश में आने की कोई सम्भावना शेष भी नहीं है। सुनने में आया है कि काका कालेलकर साहब ने भी अपनी देखरेख में मीराँ के लगभग इतने ही पदों का एक संग्रह तैयार कराया था,[1] पर वह भी किन्हीं कारणों से अबतक प्रकाश में नहीं आ सका।

मीराँ के पदों के एक प्रामाणिक संग्रह की आवश्यकता अभी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। यहाँ एक और बात की ओर मैं संकेत करना चाहूँगा। वह यह कि मीराँ पर काम

---

१—नरेश-मन्त्री के पत्र के आधार पर।

करनेवालों के लिए गुजराती और राजस्थानी-भाषा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इन भाषाओं को जाने-बूझे विना जिन्होंने मीराँ के पदों की पाठ-शुद्धि करने का दुस्साहस किया है, उनसे हास्यास्पद भूलें हुई हैं। मीराँ के पद गेय होने के कारण एक तो वैसे ही गायक के कंठ-लाघव के अनुरूप बदलते चले हैं, फिर पाठ शुद्ध करनेवालों ने तो उन्हें बिलकुल ही नया रूप दे डाला है। गुजराती का 'व्हाला' शब्द हिन्दी में 'बाला' हो गया; यहाँ तक तो ठीक है, पर 'व्हाली' 'बाली' बन गई, यह नितान्त चिन्त्य है।

भाषा और लिपि में स्वल्प भिन्नता होने पर भी मीराँ की गुजराती-रचनाएँ अभी हिन्दीसेवियों तक नहीं पहुँची हैं। पर अब भारतीय भाषाओं के ये अभेद्य प्राचीर ढहते जा रहे हैं। अब हम प्रादेशिक भाषाओं के अंचल में छिपी साहित्य-सम्पदा की अधिक अवहेलना नहीं कर सकते, और फिर मीराँ के पद तो हमारे अपने हैं।

मीराँबाई के गुजराती-पदों को भी, राजस्थानी-पदों की भाँति, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मानना चाहिए। मीराँ के गुजराती-पद निश्चय ही उनके काव्य की प्रौढता के परिचायक हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से भी वे अत्यन्त सरस और सुमधुर हैं। भक्ति की आधार-भूमि पर तन्मयता, भावुकता और संगीतात्मकता का जो अपूर्व समन्वय इन पदों में देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ उदाहरण :—

भक्ति

मुखडानी[१] माया लागी[२] रे, मोहन प्यारा ॥टेक॥
मुखडुँ में जोयुँ[३] तारूँ[४] सर्व जग थयुँ[५] खारूं।
मन मारूँ रह्युँ[६] न्यारूँ रे, मोहन प्यारा॥
संसारी नु सुख एवुँ[७] झाँझवाना नीर जेवुँ[८]।
तेने[९] तुच्छ करी फरीअेरे; मोहन प्यारा॥
संसारीनुँ सुख काचुँ, परणीने रँडावु पाछुँ।
तेने घेरशिद[१०] जइये रे; मोहन प्यारा॥
परणूँ तो प्रीतम प्यारो, अखंड सौभाग्य मारो[११]।
राँडवानो भे टाल्यो रे, [१२] मोहन प्यारा॥
'मीराँबाई' बलिहारी, आशा मने एक तारी[१३]।
हवे हूँ तो [१४] बडभागी रे, मोहन प्यारा॥

(हे मोहन प्यारे! मुझे तेरे मुख की माया लगी है। जबसे मैंने तेरा मुँह देखा है, यह संसार मुझे खतरा लगता है। मेरा मन सबसे न्यारा हो गया है। संसारी का सुख मृगतृष्णा के समान है, इसे तुच्छ समझकर हम विचरें। संसारी का सुख कच्चा है, 'परणने' पर

---

१—मुँह की, २. माया लगी, प्रेम हो गया, ३. देखा, ४. तेरा, ५. हुआ; ६. रहा, ७. ऐसा, ८. मृगतृष्णा के जैसा, ९. उसे, १०. क्यों, ११. मेरा, १२. विधवा होने का भय टाल दिया, १३. तेरी, १४. मैं तो।

फिर रँड़ापा मौजूद है ! फिर ऐसे घर हम जायँ ही क्यों ? 'परणूं' तो मैं केवल प्रीतम प्यारे को, वही मेरा अखंड सौभाग्य है। उसने रँड़ापे का भय टाल दिया है। मीराँ कहती हैं कि हे मोहन प्यारे ! मैं तुझ पर बलिहारी हूँ, मुझे केवल तेरी आशा है। अब मैं निश्चय ही बड़भागी हूँ।)

## विरह

'कानुडे न जाणी मारी पीर, बाई हूँ[1] तो बालकुँवारी[2] रे ॥ कानुडे० ॥
जलरे जमुनानाँ अमे[3] पाणीडाँ गया ताँ[4] वा'ला[5] कानुडे उडाड्युं[6] आछानीर[7],
उड्यां फर रर रर रर रे ॥कानुडे० ॥
वृन्दा रे वनमाँ वा'ले[8] रास रच्यो छे, सोल सें गोपीनाँ तरायां[9] चीर।
फाट्यां चर रर रर रर रे ॥कानुडे० ॥
हुँ वरणागो[10] का'ना तमारा[11] नामनी रे, कानुडे मार्यां छे अपने[12] तीर।
वाग्यां[13] अर रर रर रर रे ॥कानुडे० ॥
बाई मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, कानुडे बालीने फेंकी[14] ऊँचे गीर[15]।
राख उड़े फर रर रर रर रे ॥कानुडे० ॥'

(श्रीकृष्ण ने मेरी पीड़ा नहीं जानी। हे सखी, मैं तो बालकुमारी हूँ। हम यमुना का जल भरने गई थीं। प्यारे श्रीकृष्ण ने हम पर थोड़ा पानी छींटा। पानी फर-फर करके उड़ा। वृन्दावन में प्यारे श्रीकृष्ण ने रास रचा, सोलह सौ गोपियों के चीर खींचे। चीर चर-चर करके फटे। श्रीकृष्ण, मैं तो तुम्हारे नाम के पीछे दीवानी हो गई हूँ। तुमने हमें तीर मारे हैं। वे तीर अर रर करके हमें लगे हैं। मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर हैं। उन्होंने जलाकर राख पर्वत पर फेंक दी है। राख फर फर करके उड़ती है।)

## मिलन की आकांक्षा

'माछीडा[16] होडी[17] हलकार[18] मारे[19] जावुं प्रभु मलवाने ॥ टेक ॥
प्रभु मलवाने वाला हरि मलवाने ॥ माछीडा होडी ०॥
तारी होडलीने हीरले जडावुँ, फरथी मुकावुँ[20] घूघरमाल[21]।
सोनैया आपुँ[22] रुपैया आपुँ, आपुँ हैया केरो हार ॥ मारे जावुँ ० ॥
आणी[23] तीरे गंगा पैली[24] तीरे जमुना, वचमाँ[25] वसे नन्दलाल।
कालिंदीने तीरे धेनु चरावे वाला बनी गोपाल ॥ मारे जावुँ ०॥

---

—१. मैं, २. बालकुमारी, ३. हम, ४. गये थे, ५ प्रिय, ६. उड़ाया, ७. फुहार की तरह का, ८. प्रिय ने, ९. खींचे, १०. मुग्ध हो गई, ११. तुम्हारे, १२. हमें, १३. लगे, १४. जलाकर फेंकी, १५. गिरि, पर्वत, १६. माँझी, १७. नाव, १८. हाँक, १९. मुझे, २०. लगाऊँ, २१. घुँघरुआ की माल, २२. दूँ, २३. इस, २४. उस, २५. बीच में।

वृन्दा वननी कुंजगलीमां गोपी संग रास रमनार[1]।
बाई मीरां कहै गिरधर नागर कृष्णजी उतारौ पैले पार ॥ मारे जावु०॥'

(हे मांझी, तू अपनी नाव ले चल। मुझे प्रभु से मिलने जाना है। प्रभु से, अपने प्यारे हरि से मिलने जाना है। तेरी नाव को मैं हीरों से जड़ाऊँगी, चारों ओर घुँघरुओं की माला लगाऊँगी। मैं तुझे सोना दूँगी, रूपा दूँगी, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर हृदय का हार भी दे डालूँगी। इस तरफ गंगा है, उस तरफ यमुना है, बीच में नन्दलाल बसता है। कालिन्दी के तट पर प्यारा नन्दलाल ग्वाला बनकर धेनु चराता है। वह वृन्दावन की कुंजगलियों में गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है। मीराँबाई कहती हैं, हे गिरिधर नागर, हे श्रीकृष्ण, मुझे उस पार उतारिए।)

रहस्य-दर्शन

'ऊँचा ऊँचा आभमाँ[2] ने ऊँचा ऊँचा डूँगरानी[3]
ऊँडी रे गुफामां[4] मारो[5] दीवडाँ बलै रे[6] दीवडो
लाख लाख चन्दा चलके[7] कोटि कोटि भानु रे
दीवडो अगाडी मारा झाँखा[8] पगै रे; झाँखा पड़े
झरमर झरमर बरसे मोतीडाँनो[9] मेहुलोरे
सूरता[10] अमारी अे तो झीलवा[11] पड़े रे, झीलवा
बाई मीरा कहै प्रभु गिरधरना गुण
सतगुरु दीधो[12] मारौ दीवडो बलै रे, दीवडो।'

(ऊँचे-ऊँचे आसमान में और ऊँचे-ऊँचे पर्वत की गहरी गुफा में मेरा दीपक जल रहा है। लाख-लाख चन्द्रमा और कोटि-कोटि भानु चमक रहे हैं, पर वे मेरे दीपक के सामने फीके मालूम होते हैं। झरमर-झरमर मोतियों का मेह बरसता है। हमारी लगन उस मेह को झेलती है। मीराँबाई गिरिधर के गुण गाती हैं। हे सतगुरु, आपका दिया हुआ मेरा दीपक जल रहा है।)

गरबो

'बोल मा[13] बोल मा बोल मा रे, राधाकिसन बिना बीजुँ[14] बोल मा।
साकर[15] सेरडीनो[16] स्वाद तजी ने, कडवो लींबडो[17] घोल मा रे ॥राधा०॥
चांदा सूरज नुँ तेज तजी ने, आगिया[18] सँगाथे प्रीत जोड मा रे ॥राधा०॥
हीरा माणक झवेर तजी ने, कथीर[19] सँगा थे मणि तोल मा रे ॥राधा०॥
मीरां कहै प्रभु गिरधर नागर, शरीर आप्युँ सम तोलमां रे ॥राधा०॥'

---

—१. खेलनेवाला, २. आकाश, ३. डूँगर की, ४. गुफा में, ५. मेरा, ६. जले, ७. चमकता है, ८. फीका पड़ना, ९. मोतियों का, १०. लगन, ११. झेलना, १२. दिया हुआ, १३. मत, १४. दूसरा, १५. मिसरी, १६. गन्ना, १७. नीम, १८. जुगनू, १९. राँगा।

( राधा-कृष्ण के सिवा और कुछ मत बोल। मिसरी और गन्ने के स्वाद को छोड़कर कड़वा नीम मत घोल। चाँद और सूर्य के प्रकाश को छोड़कर जुगनू के प्रकाश के साथ प्रेम न कर। हीरे-मानिक और जवाहरात को छोड़कर राँगा चिपकाई हुई मणियों को मत तौल। मीराँ कहती है, हे गिरिधर नागर, मैंने अपना शरीर सम तौल में अर्पित किया है—घाटे का सौदा नहीं किया है ! )



# गुर्जर-ज्योतिर्धर प्रेमानन्द और उनकी चमत्कृति—'मामेरु'

श्रीशान्ति आँकड़ियाकर: प्रशिक्षण-महाविद्यालय, मोरवी (सौराष्ट्र)

गुजराती-साहित्य का मध्यकाल सन् १४०० से १८५० ई० तक माना जाता है। इस काल में गुजराती-वाङ्मय को स्थिर और विकसित करनेवाले कई भक्त कवि हुए। उन सभी में अधिक प्रतिभाशाली हैं भक्त नरसी और गुर्जर-ज्योतिर्धर प्रेमानन्द[१]। प्रेमानन्द ने गुजराती-काव्य-शरीर को प्रौढ बनाया[२]। गुजरात के इतिहास में सन् १६०५ से १७४५ ई० तक का समय शान्ति का समय है। प्रेमानन्द ने इसी काल के सामाजिक जीवन को अपने काव्यों में गूंथा।

उनका जन्म बड़ौदा में, सन् १६३६ ई० के आसपास हुआ। उनके पिता एक कथाकार थे। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् प्रेमानन्द अपनी मौसी के घर बड़े होने लगे। किंवदन्ती है कि प्रेमानन्द बचपन में बिलकुल मूर्ख थे, पर किसी साधु की सेवा के फलस्वरूप काव्य-कला का वरदान प्राप्त किया।

वे देहातों में हाथ में माण ( एक तरह का वादित्र ) लेकर घूमते रहते, और शाम होते ही देहातियों को इकट्ठा कर उनके समक्ष पुराण की कथा के आधार और गुजराती जीवन की पृष्ठभूमि पर रचे गये अपने 'आख्यान' मधुर वाणी में प्रस्तुत करते।

पुराणों के आधार पर उन्होंने निम्नलिखित रचनाएँ कीं—

१. दशमस्कन्ध। २. नलाख्यान। ३. ओखाहरण। ४. मदालसाख्यान। ५. सुदामा-चरित्र। ६. रणयज्ञ। ७. दानलीला। ८. अभिमन्यु-आख्यान। ९. वामन-चरित्र। १०. प्रह्लादाख्यान। ११. सुधन्वाख्यान। १२. विवेक-वणझारो। १३. मामेरु[३]

---

१—'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' : प्रो० वि० क० वैद्य।

२—'साहित्यरत्न', भा० ३ : रमण वकील।

३—'साहित्य अकादमी' ने मामेरु' पुस्तक भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं में अनूदित करने के लिए स्वीकृत की है।

१४. नरसी मेहेता के पिता का श्राद्ध। १५. नरसी मेहेता की हुण्डी। १६. हारमाला[1]। १७. गंगवाख्यान। १८. सम्पूर्ण भागवत। १९. रामायण। २०. रेवाख्यान। २१. महाभारत। २२. अश्वमेध। २३. वल्लभ झघडो, तथा फुटकर कई पद।

ऐसा माना जाता है कि उन्होंने कुल मिलाकर एक लाख से भी अधिक पंक्तियाँ लिखीं। प्रत्येक पंक्ति में उनकी प्रतिभा और प्रज्ञा दृष्टिगत होती है। कहा जाता है कि वे एक समय गाई हुई पंक्ति दुबारा नहीं गाते थे। गुजराती के एक विद्वान् ने तो उन्हें शेक्सपियर[2] का समकक्ष माना है। प्रेमानन्द की प्रतिभा उनकी उत्तर-भारत की यात्रा और सद्गुरु की प्रेरणा[3] से विकसित हुई थी।

प्रेमानन्द की कवित्व-शक्ति असाधारण थी। 'रसभाव में तो अबतक उनकी बराबरी करनेवाला कोई कवि ही गुजराती में नहीं हुआ'[4]। वे जब चाहते हैं, पाठकों को रुलाते-हँसाते हैं और उसे शान्त रस के निभृत कोने में ले जाकर उसके साथ सहजता से सरल भाषा में गूढ तत्त्वों की चर्चा भी करने लगते हैं। उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे पाठकों को एक रस से दूसरे रस के प्रवाह में बहुत शीघ्र ही ले जा सकते हैं और इच्छित वातावरण निर्मित कर देते हैं; क्योंकि उन्हें जन-स्वभाव का गहरा ज्ञान है। उनकी भाषा शुद्ध तथा प्रौढ है और शैली सरल एवं संक्षिप्त।

आज भी कई ब्राह्मण उनके काव्यों की पूजा करते हैं। बहुसंख्य गुजराती प्रत्येक शनिवार को उनके 'सुदामा-चरित्र' का पाठ करते हैं। प्रति रविवार को श्रद्धालुजन नरसी मेहेता की हुण्डी का पूजन करते हैं। चैत में गुजरात के प्रत्येक ग्राम, नगर और घर में 'ओखाहरण' का रव गुंजित हो उठता है। श्राद्ध के दिनों में देहातों तथा शहरों के राम-मन्दिरों में नरसी मेहेता के पिता का श्राद्ध पूर्ण श्रद्धा से गाया जाता है। लड़की के सीमन्तोन्नयन के अवसर पर हर हिन्दू-परिवार में मामेरुं की कुछ पंक्तियों को गाने का रिवाज है। जब वर्षा होती है, तब किसानों को कुछ कार्य नहीं रहता। इससे वर्षा के दिनों में गुजरात के छोटे-बड़े देहातों के देव-मन्दिरों में श्रद्धालु किसान जमा होते हैं और गाँव के पुरोहित उन्हें प्रेमानन्द-विरचित सम्पूर्ण भागवत या उसका दशम स्कन्ध सुनाते हैं। इस तरह चार शताब्दी पूर्व रस-सरिता प्रवाहित करनेवाले प्रेमानन्द आज भी गुजरात के देहातों और शहरों में विद्यमान हैं।

ईसवी सन् १७२४ में प्रायः सौ साल की उम्र में प्रेमानन्द का देहान्त हुआ। उनके बाद उनका विस्तृत शिष्य-मण्डल बना रहा। एक शिष्य हिन्दी में, एक व्रज में, एक मराठी में, और एक संस्कृत में काव्य-रचना करता था। उनकी मृत्यु के समय दशमस्कन्ध अधूरा था, इसे उनके पुत्र और शिष्य वल्लभ ने पूरा किया।

---

१—विवादास्पद।

२—'साहित्यरत्न', भा० ३ पृ० ११ : रमण वकील।

३—'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा', पृ० ७६ : प्रो० वि० क० वैद्य।

४—'मामेरु' की प्रस्तावना : आदिविवेचक नवलराम ल०।

प्रेमानन्द के शिष्यों के सम्बन्ध में उनके पुत्र वल्लभ ने यह छप्पय लिखा है—

'छे नौ दास अने भई चार ज
रत्न भलां द्वय शिष्य कहावे
छे भव राश अने बई बार ज
रत्न मल्यां क्रय विष्य कहावे
छे वीर पंचम जी गिणये त्रण
नंद चतुरथ नाम सुहावै
छे वीर वल्लभ शो भणिये गण
एक ज प्रेमनुं नाम पुहावै।'

प्रेमानन्द के शिष्यों में दो स्त्रियाँ भी थीं, यह इस छप्पय से प्रकट होता है। उनके पुत्र और शिष्य वल्लभ बड़े रसज्ञ और पहुँचे हुए कवि थे। इन्होंने भी कई कथा-काव्य रचे हैं। कुन्तीप्रसन्नाख्यान नामक कथा-काव्य के मंगलाचरण में इन्होंने पृथ्वीराजरासो के प्रसिद्ध शाक्त कवि चन्दबरदाई पर प्रहार किये हैं। कुन्तीप्रसन्नाख्यान का यह अंश गुजराती-वाङ्मय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है[1]।

**मामेरुं की कथावस्तु**[2] : सौराष्ट्र के जूनागढ़ नगर में, चौदहवीं शताब्दी में भारत-प्रसिद्ध भक्त कवि नरसिंह हुए थे। वे बड़े पहुँचे हुए सन्त और कवि थे। उनके दो सन्तान थीं—पुत्र शामल और पुत्री कुँवरबाई। जाति से वे नागर ब्राह्मण थे। नरसिंह के जीवन में भी, भक्त के जीवन की भाँति, चमत्कार हुए। उन चमत्कारों में एक यह था कि कुँवरबाई का 'मामेरा' प्रभु ने आकर पूरा कर दिया। कुँवर के सीमन्तोन्नयन का अवसर है। गरीब पिता 'मामेरा' लेकर आता है। प्रभु आकर नरसी की सहायता करते हैं। इस सामाजिक प्रसङ्ग को लेकर प्रेमानन्द ने 'मामेरुं' काव्य की रचना की। 'मामेरुं' प्रेमानन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है[3]।

इस काव्य में कुल मिलाकर ६१२ पंक्तियाँ हैं, कड़वे पन्द्रह हैं और आठ राग—धनाश्री, रामश्री, केदारा, प्रभाती, मारु, सामेरी, मल्हार सामेरी, गोड़ी—प्रयुक्त हुए हैं।

यों तो भक्त-चरित्र नीरस व्यक्तियों और काव्य-प्रेमियों को समान रूप से प्रेरणा

---

१—इस अंश के परिचय के लिए देखिए, आगरा-युनिवर्सिटी की पत्रिका 'भारतीय साहित्य' के वर्ष १ के चौथे अङ्क में मेरा लेख—'गुजराती-कथा-काव्य'। —ले०

२—'मामेरुं' का गुजराती अर्थ है पुत्री के सीमन्तोन्नयन के अवसर पर माता-पिता की ओर से दिया जानेवाला दहेज। 'मामेरुं' एक खास उत्सव है। व्रज में 'भात' कहा जाता है। 'नरसी का भात' नामक कथा-काव्य व्रजभाषा में भी मिलता है। —ले०

३—'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' : प्रो० वि० क० वैद्य।

देता है, किन्तु प्रेमानन्द ने यह विषय बहुत ही सरस और मनोहर बना दिया है। काव्य के आरम्भ करने के पूर्व कवि श्रीगुरु, गणपति और शारदा का स्मरण कर लेते हैं—

'श्रीगुरु गणपति, शारदा।
समरुं सुखदाई सर्वदा॥
मनमुदा कहुं।
मामेरुं मेता तणुं रे॥'

नरसिंह पर ईश्वर की कृपा होती है। ईश्वर उनसे कहते हैं—'हे भक्त, तुम जब मेरा स्मरण करोगे, मैं उपस्थित हो जाऊँगा। लोकाचार के भय के विना तुम मेरी सेवा में लीन हो जाना'—

'मस्तक ऊपर हाथ मूक्यो, पोते श्रीगोपाल;
दुःख वेला संभारजे, धाई आवीश त्यां तत्काल।
कीर्त्तन भक्ति करे मारी, तरीश भव संसार;
आ जुओ तेवी लीला गाजे, केवल रस शृंगार;
रखे लोकाचरनो भय गणे, मस्तक साटे मुक्ति!
राधाकृष्णनो रास गाजे, जुओ तेवी जुक्ति!'

अन्ततः, नरसिंह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने पर भी भक्त ने ईश्वर के नाम को नहीं छोड़ा—

'दामोदरनी सेवा करे; मुद्रा तिलक ने माला धरे;
साधु, वैरागी वैष्णव संग; शंख ताल ने बाजे चंग।
लोकमांहि तुलसीनां वन; अहर्निश थाये किर्त्तन;
नहि खेती, उद्यम वेपार; एक भक्ति तणो आधार।
जे आवे ते वैष्णव जमे; हरि गुण गाय, ने दिन निर्गमे॥'

नरसिंह हरिगुण गाने में मस्त हैं। इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। भक्त को एक पुत्र, शामल और एक पुत्री, कुँवरबाई, प्राप्त होते हैं। कुछ वर्षों के बाद नरसी की पत्नी का स्वर्गवास होता है। उस समय भक्त के मुँह से निकले शब्द उनकी भगवन्मय स्थिति के प्रतीक हैं। उन शब्दों के पीछे हम बहुत उच्चकोटि की साधना एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष का दर्शन करते हैं—

'भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजीशुं श्रीगोपाल!'

यदि भक्त संसार में रहते हों, तो उन्हें सामाजिक रीति-रिवाज का पालन करना ही पड़ता है। नरसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह-सम्बन्ध कर दिया। सम्बन्ध के पश्चात् बेटी श्वसुर-गृह जाती है। सामाजिक रूढ़ि के अनुसार, निर्धन घराने से आने के कारण, धन के अभिमानी सास, ससुर, ननद आदि कुँवरबाई को दुःख देते हैं। उसका मखौल करते हैं—

'ससरो श्रीरंग मेहेतो नाम, मोटुं घर कहावे भाग्यवान;
छे सासरियाने धन अभिमान, न दे कुँवरबहू ने मान।
कुँवरबाई ने दुर्बल गणे, नणंद-जेठानी वांकु भणे;
'आवो वैष्णवनी दीकरी, सासरवेल शी पावन करी!
करे चेष्टा साथ गर्वे भरी, कुँवरबाई नव बोले फरी;
छे लघु वेपे भरतार, कांई प्रीछे न विवेक विचार!'

आखिर कुँवर का सीमन्त आता है। सीमन्त के समय कुँवर का पिता, निर्धन होने के कारण 'मामेरा' लेकर नहीं आ सकेंगे, यह समझकर श्वशुर-पक्ष के लोग कुँवरबाई की हँसी उड़ाते हैं—

'नरसिंह मेहेतो छे हरिनो दास, मूको मोसालानी आश;
बहूने ओरियो बीते खरो, कांईक मोसालुँ घरथी करो!'

कुँवर उपहास से ऊब जाती है। वह मन-ही-मन अपने पिता की गरीबी के लिए ईश्वर को धिक्कारती है। वह दिन भर उदास बैठी रहती है। उसे उदास देखकर आखिर उसकी सास अपने पति श्रीरंग मेहेता को समझाती है—नरसी को 'मामेरा' लेकर आने के लिए सन्देश भेजो। श्रीरंग एक आदमी को इस आशय का पत्र देकर जूनागढ़ भेजता है। श्रीरंग मेहेता की पत्नी का श्रीरंग मेहेता पर कितना अधिकार है, इसका वर्णन कवि ने बहुत अच्छी तरह से किया है। श्रीरंग मेहेता ने नरसी को जो पत्र लिखा, उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत है—

'स्वस्ति श्री जूनागढ़ ग्राम, जे हरिजन वैष्णव विश्राम;
नागरि न्यात तणाशणगार, साधू शिरोमणि परम उबार;
सर्वोपमा जोग करुणा धाम, मेता श्रीनरसिंह नाम!
एक वधामणीनो समाचार, अमारा भाग्यतणो नहीं पार;
कुँवरबहूने आव्युं सीमन्त, अम ऊपर वूठ्या भगवन्त!
माध शुदि सप्तमी रविवार, अमो मूरत लीधुं निरधार;
ते दाड़े निश्चय आवजो, सगां-मित्र साथे लावजो।
जो मेताजी तमो नहीं आवो, तो खरेखर दुभाईशुं अमो!

कुँवरबाई भी भावी उपहास के काल्पनिक भय से करुण सन्देश भेजती है, जिससे तात्कालिक कुटुम्ब-जीवन का परिचय हमें प्राप्त होता है—

'कांई मोसालुं सारुं लावजो, सम्पत होय तो ह्यां आवजो;
कांई नाम थाय आ पृथ्वीतले, सासरियानुं मेहेणुं हले।
जो आ अवसर सुनो जाशे, बोल-बाण ननदी मारशे;
शत्रुनुं काम दियर सारशे, भवनुं मेणुं मुझने थशे।'

पत्र और कुँवर का मौखिक सन्देश लेकर दूत जूनागढ़ आता है। पत्र पढ़ने पर भक्त नरसी को पहले तो कुछ चिन्ता होती है—

'मामेरुं पुत्रो ने करवुं ! घरमां न थी एक दामजी !'

पर, तुरन्त ही वे ईश्वर-स्मरण कर सारा दायित्व ईश्वर पर ही डाल देते हैं—

'श्रीकमलो त्रेवडमां रहेजो, द्रव्य तणुं छे काम जी !'

सन्ध्या में भगवान् के भजन के समय नरसी अपने वैष्णव साथियों के समक्ष कुँवर के मामेरा की बात रखते हैं—

'मोसालुं लई आपणे जावुं, बाईनुं छे सीमन्त जी !'

वे तो नरसी की सेवा के लिए अवसर चाहते ही थे। उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाया। किसी ने अपना शकट दिया, तो किसी ने अपने बैल; यों मामेरा ले जाने के लिए तैयारी हुई—

'जूनी वेल ने घूंसरि वांकी, सांगी सोटा भांगे जी;
कोना तलावा ने कोनी पिंजणियो, बलद आव्या बे भागी;
मेहेताजी मामेरे चाल्या समर्या श्रीजगदीशजी !'

नरसी के साथ विशिष्ट भक्तों की मण्डली ही थी, जाति के लोग न थे; क्योंकि जाति का कोई आदमी उनके साथ आने को तैयार न था। मण्डली जब जूनागढ़ से चलती है, उस समय का, सशक्त कवि ने अपनी हास्यकला के द्वारा बहुत सरस वर्णन किया है—

"त्रण सखियों संगाथे चाली, वैरागी दश-वीश जी;
वाबडी त्रांबा केरी संपुट, नेमां बाल-मुकुंद जी !
नरसैयाने निर्भय मनमां, भोगवशे गोपालजी।"

नरसी को भक्त-मण्डली जब आगे बढ़ती है, तब मार्ग के दृश्यों का भी कवि ने हास्यपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है—

'बलहीन बलदियां शुं हींडे ? हेले वैष्णव सात जी;
साद पाड़े ने ढाल चडावे : 'जय-जय वैकुंठनाथजी !'
साले साल त्यां जुजवां वीसे, वेल थाय छे वक्रजी।'

दुपहर के बारह बजे नरसी और मण्डली कुँवर के श्वसुर के गाँव पहुँचे। नरसी, कुँवर का मामेरा करने के लिए आ पहुँचे हैं, यह सुनकर नागरी जाति के सदस्य उन्हें देखने के लिए आने लगते हैं—

'मध्याह्ने मेतोजी पोत्या, जोपा भल्युं सौ गामजी,
शुं जागे वैष्णवनो मारग, विषयी पुरन्त लोंकजी।'

नागरी जाति के सदस्य आपस में उपहास करते हैं—

'कोड पोंतां कुँवरवहूना; मामेरुं छे रोकजी,
रोक मामेरुं मेतो लाव्या, जुओ विष्वणी विसा रे;
अकेकी माला आपशे, तो पेरशे नागरी न्यात रे !'

नरसिंहजी 'मामेरा' लेकर आ पहुँचे हैं, यह जानकर समधी श्रीरंग भी शीघ्र ही उनके पास आ पहुँचते हैं। दोनों समधी भेंटते हैं, जैसा कि रिवाज था। भेंटते समय श्रीरंग मेहता मन में लज्जा अनुभव करते हैं—

'सुणी श्रीरंग मेहेतो आव्या धाई, भावे भेट्या वेउ वेवाई !
भेट्या वेवाई जाणे वलग्युं झोड़, हवे पोतां मननां कोड़ !
कपटे भेटे, पाछा खसे, सामग्री जोई जोई हसे ।'

आख़िर नरसी और उनकी मण्डली के निवास के लिए एक मकान दिया जाता है। मकान जीर्ण-शीर्ण है। ऐसा मकान देकर मेहेता का उपहास किया जाता है—

'उतरवा घर आप्युं एक, मच्छर, जुआ मांहि विशेक;
खाडा-टेकरा वसमो ठाम, उपर नलियानुं नहीं नाम ।
कोह्युं छाजुं ने जूनी वली, भींतो दादेश वेवड़ वली;
झाझा मांकण झाझा जुआ, त्यां मेहेताना उताश हुआ !'

कुँवरबाई अपने पिता से मिलने जाती हैं, तो ननद मर्मवचन बोलती है—

'आ शुं पिता पुत्रीने हेत, सगांने करवां आव्यो फजेत,
लजाव्युं सात पेटीनुं नाम, साथे वैरागीनुं शुं हतुं काम ?'

मर्मवचन का कुँवर यों जवाब देती हैं—

'कोनो बाप लखेशरी कहावे, ते मारे शे अर्थे आवे ?
रंक पिता आव्यो मुझ घेर, एक कापडुँ सोनानो मेर ।
तमो मन माने ते कहो : एपो पिता मारो जीवतो रहो !'

फिर बाप-बेटी की मुलाकात होती है—

'दूर थकी दीडी दीकरी, मंते उडी समर्या हरि,
अन्यो अन्ये नयणां भरी, भेट्या बन्ने आदर करी ।'

नरसी पुत्री से क्षेम-कुशल के समाचार पूछते हैं—

'कहो कुँवरबाई : कुशल-क्षेम ? सासरिया राखे छे प्रेम ?
रूड़ो दिवस आव्यो दीकरी, तो मोसालुं करशे श्रीहरि !'

बेटी धन और अन्य सामग्री नहीं लेकर आये हुए पिता की ओर क्रुद्ध दृष्टि से देखती हुई उत्तर देती है—

'... ... ... ...सामग्री कांई पासे न थी;
क्यम नागरी नाते रहेशे लाज, धन विना आव्या शे काज ?
निर्मल निर्धननो अवतार, निर्धननुं जीव्युं धिक्कार !
निर्धननां सौ कौतुक करे, निर्धनने सौ घेलो गणे !
निर्धननुं कोई कान न धरे, नव राखे ऊभो आंगणे;
लोक बोलावे 'दुर्बल' कही एथी माठुं कांई बीजुं नहीं ।'

पर उस समय कुँवर को अपनी माता याद आती है। आज माता जीवित नहीं है, अन्यथा पिता को विना कुछ साथ लिये आने ही कैसे देती ! कवि मातृहीन पुत्री का मार्मिक वर्णन करता है—

'माता विना सुनो संसार, नमातानो शो अवतार,
जे बालकनी माता गई मरी, बापनी सगाई साथे उतरी,
जेवुं आथमता रविनुं तेज, मा विना तेवुं बापनुं हेत,
सुरभी मरतां जेवुं वच्छ, जल विना तड़पे जेम मच्छ,
होला बछोही जेवी मृगली, मा विना पुत्री एकली !'

भक्त नरसिंह पुत्री का कलपना सुनकर प्रभु का स्मरण करते हैं और दुःखी पुत्री को आश्वासन देते हुए कहते हैं—"बेटी, तुम घबराना नहीं। 'मामेरा' में जिन चीजों की जरूरत हो, उनकी एक विस्तृत सूची तैयार कर मेरे हाथ में दे दो। मुझे अटल विश्वास है कि प्रभु अवश्य तुम्हारी और मेरी सहायता करेंगे"—

'मेरे मस्तक मूक्यो हाथ, मोसालुं करशे श्रीनाथ,
पेरामणी करवी जेटली आशामी लखी लावो तेटली,
लखजो सासरिया समस्त, विसारशो मा एके पस्त।'

पिता के वचन सुनकर कुँवर अपनी सास के पास जाती हैं और 'मामेरा' के लिए आवश्यक वस्तुओं की सूची बना देने को कहती हैं। सास यह सुनकर मन-ही-मन हँसती है और सोचती है कि कुँवर के पिता के पास तो तुलसी की मालाओं के सिवा कुछ है ही नहीं, वे भला 'मामेरा' कैसे करेंगे! फिर भी, वह अभिमानपूर्वक सूची बनवाती है और अधिक-से-अधिक चीजों को सूची में दर्ज करवाती है—

'लखो पांच सेर कंकु जोइए, श्रीफल लखो सो सात !
वीश मण वांकड़िया पत्रेफल, मलशे मोटी न्यात ॥
पांच वलना पंचवीस वागा, चार चोकडी तास ।
लखो पछेडी पंदर कोडी, पटोला पंचाश ॥'

सास ने खूब चीजें लिखवाईं। सूची लेकर कुँवर अपने पिता के पास चलीं। रास्ते में वह विचार करती हैं—हे प्रभो, गरीब और भक्त पिता को दुःखी करने के लिए तुमने मुझे सीमन्त का अवसर क्यों दिया? पिता के पास जाकर वह भरे हृदय से कहती है—

'वड साहुए विपरीत लखाव्युं, कहो हवे शुं थाशे ?
मारा पिताजो, हुं तम पासे कोडी एक न देखुं ,
पिताजी तमे गामेसधारो, ह्यां रहे इज्जत जाशे रे !'

पर नरसी को तो ईश्वर पर अचल विश्वास है—

"मेतोजी कहे—'पुत्री मारी, रहो तमे विश्वासे ;
शामलियो नहीं अवसर भूले, तूं कां आसू पाडेरे !
जो मोसालुं हरि नहीं करे तो उपहास एनो थाशे रे !"

कुँवर को पिता आश्वस्त करते हैं। वह हर्षोत्फुल्ल होकर घर लौटती हैं—

'ज्ञान, धैर्य, दीकरीने आव्युं, सुणी तातनी वाणी ;
कुँवरबाई फरी मन्दिरे आव्या, विश्वास रुदेमां आणी रे।'

फिर मेहेताजी अपने वैष्णव भक्तों के साथ भोजनार्थ समधी के गृह आते हैं। भक्त की मण्डली को देखकर सभी उपहास करते हैं। समधिन ने नरसिंह के स्नानार्थ पानी गर्म कर रखा है। किन्तु नरसिंह तो शीतल जल से स्नान करते हैं। वे समधिन से कहते हैं, मुझे तो शीतल जल चाहिए। यह सुनकर कुँवर की जेठानी व्यंग्य करती हैं—

'मांग्यो मेह बरसे मेता जी, तो अम पासे शुं मांगो जी !'

तब नरसिंह ईश्वर का स्मरण कर मलहार राग गाना आरम्भ करते हैं। प्रेमानन्द ने भी यहाँ मलहार राग में ही काव्य की रचना की है—

'उपहास थाय छे दासनो, शामलिया करो सहाय रे
उष्णोदक घणुं उकले, नांरव्युं श्रीफल फाटी जाय रे
कढा उकाली तेलनी, कोप्यो हंसध्वज राय रे
तारी कृपाये टाढुं थयुं, कीधी सुधनवानी सहाय रे
दुगडी सकारी शामला, आप्या रुपैया सो सात रे
ते विश्वासे वलगी रह्यो, विट्ठल ! मोकलजो वरसात रे।'

कुछ देर में ही बादल घिर आते हैं, बिजली चमकने लगती है और मूसलधार वर्षा का आरम्भ होता है—

'पल मायमां आभ घटा थई, चौदश चढ्यो अन्धकार रे,
वेवाईना घरमां जल भर्युं, सहु नाते करे पोकार रे !'

चारों ओर पानी ही पानी हो जाता है। समधी के घर में भी पानी घुस आता है। जाति के सभी सदस्य भक्त के चरणों में गिर पड़ते हैं—

'श्रीरंग मेहेतो स्तुति करे, वेवाणो मागे मान रे,
वरसाद विसर्जन थयो, मेताजी ए कीधुं स्नान रे।'

वर्षा बन्द होती है। लोगों को भक्त का परिचय मिलता है। दूसरे दिन मण्डप में मामेरा देने के लिए भक्त और उनकी मण्डली आती है। जाति के सभी लोग वहाँ जमा हैं—

'मण्डप मेतो आपिया, हाथ ग्रही छे ताल रे,
नागर सहु बेठा रही, कहे—'आवो जे गोपाल रे !'

नरसी ने एक बड़ा थाल मँगवाया। मामेरा की चीजों के बदले उसमें उन्होंने अपना शंख रखा। लोग चकित दृष्टि से देखने लगे—अब क्या नाटक होता है !—

'मेताजीए शंख पूर्यो, विनती श्रीहरिने करी;
मेते वजाड्यो शंख, समर्यो वनमाली !'

नगर की नारियाँ भी उस समय वहाँ देख रही थीं—

'सज्या सोल शणगार, चरणां ने चोली,
जोबन मदमाती नारी करे बहु ठंठोली।
कोई छूटे अंबोडे नार, वेणी लांबी छे,
कोने झांझरनो झमकार, कड़ला कांबी छे।

विप्र थाल में शंख देखकर उपहास करता है—'हे नरसी ! थाल पर पत्थर रखो, नहीं तो बहुमूल्य वस्त्र वायु से उड़ जायेंगे'—

'मूको छावमां पहाग वाये उड़ी जाशे रे !'

विप्र का यह उपहास सुनकर कुँवर को बड़ा दुःख होता है। वह अपने पिता की ओर करुण दृष्टि से देखती हैं, पिता इशारे से विश्वास रखने को कहते हैं—

'मेहेते कीधी सान : 'रहेजे विश्वास।"

नरसी अब एक कागज थाल में रखते हैं और करताल लेकर ईश्वर-स्मरण करते हैं—

'रिक्त छावमां कागज धरी नरसै मेते समर्या हरि !'

नागर लोग आश्चर्य और कुछ उपहास के साथ थाल की ओर देखने लगते हैं। पर यह क्या ! थाल से एक बहुमूल्य साड़ी बाहर आ जाती है—

'जुओ छावमां, मूको शोर, निकली कमरवाली कोर !'

पर, नरसिंह तो बस, माधव की स्तुति में लीन हो गये हैं—

'जय दामोदर, बाल मुकुंद, नरकनिवारण परमानंद,
विश्वेश्वर वंद्रावन चंद्र, देवकीनंदन आनंद कंद,
गोपीनाथ, गोविंद, गोपाल, अनाथ बंधु दीनदयाल,
हुं सेवकनी लेजे संभाल, मोसालानी कर जो थाल,
तमो प्रतिपालो पोताना दास, माटे मुझने छे विश्वास,
शुं सूता छो वंद्रावन मांच ? शुं राधाजी चांपे पाय ?
के, लंपट को मली सुंदरी, तेणे भक्त गयो विसरी ?
सुनी नरसियानी विनति, उठी धाया वैकुंठनाथ रे !'

भक्त नरसी की आवाज वैकुण्ठ में पहुँचती है। प्रभु, 'मेरा भक्त मुझे याद करता है', कहते हुए गरुड़ की खोज करने लगते हैं—

'उधड़ की उड़ियो वेग वैकुंठपति
गरुड़ क्यां ? गरुड़ क्यां ? वाणी।
नरसैयो नागरो, भक्त ते माहरो
छाव भरो तेहनी-सिद्ध थाओ !'

भगवान् व्यापारी के रूप में आकर कुँवरबाई के मामेरा के लिए तैयार किये गये मण्डप में प्रवेश करते हैं। साथ में व्यापारी की पत्नी भी है—लक्ष्मी जी !—

'भक्त नरसैयानुं दुःख जागी रे
उठी धाया पुरुष—पुराणी रे।
थया शेठ ते सारंगपाणि रे
साथे लक्ष्मी थयां शेठाणी रे।

किसी अज्ञात सेठ-सेठानी को कुँवर के मामेरा के लिए आया देखकर सब नागर हैरान रह जाते हैं—

'उतर्या नागरीनां अभिमान रे,
जाणे उग्या शशियर भाण रे।'

सेठ-सेठानी के रूप में भगवान् आये हैं—नरसिंह यह समझ गये। वे भजन करने लगते हैं—

'भले आका शेठ शामलिया रे,
मेतो माधवजीसुं मलिया रे।'

भजन गाते-गाते नरसी सेठ को भेंटने चलते हैं। सेठ और नरसी भेंटते हैं। भेंटते समय सेठ नरसी से कहते हैं—हमें प्रकट न कीजिए, आपको जो कुछ मांगना हो, मांगते चले जाइए—

"भेटता बोल्या सुन्दर शाम रे!
'मारुं प्रकट न लेशो नाम रे!
रखे बात हमारी चर्चो रे!
तमारे जे जोइए ते खर्चो रे!
कुँवरबाईना पूरो कोड रे!'
एम कही वेठा रणछोड रे!"

फिर सेठ सेठानी से कहते हैं—'तुम जाओ कुँवरबाई के पास। प्रेम से उसका चुम्बन करो और माता की भाँति प्रेमपूर्वक क्षेम-कुशल पूछो'—

'जाओ शेठानी दुःख कापो रे'
कुँवरबाई ने रुदयासुं चांपो रे'

सेठानी कुँवर को प्रेमपूर्वक पूछती है—

'मारी मीठी! न भरिये आँसू रे!
तेडो क्यां छे तमारी सासू रे!'

कुँवर सास को बुलाती हैं। सास आकर सेठानी से पूछती है—'आप समधी की क्या होती हैं?' सेठानी उत्तर देती है—'नरसी है ब्राह्मण और हम हैं बनिया! किन्तु हम उनके धन से व्यापार करते हैं, इसलिए आज हम कुँवर का मामेरा करने आये हैं!'—

'वहेवाण कमलाने पूछे रे
मेता साथे सगपण शुं छे रे
कोकिला स्वरे अमृतवाणी रे
तव हसिने बोल्या सेठाणी रे
वेहेवाण तमो ए शुं न जाणीया रे
तमो ब्राह्मण ने अमो वाणिया रे
वेपार दोशीनो घेर कोठी रे
अमारे ओथ नरसीनी मोटी रे
अमो धन मेहेतानुं लीजे रे

वेपार कापड़नो कीजे रे
अमो आव्या मोसालुं करवा रे
ठाली छाव सोनैये भरवा रे
मेते जे जे वस्त्र मंगाव्यां रे
अमो लख्यां प्रमाणे लाव्यां रे ।'

फिर 'मामेरा' होता है। सब नागर दहेज के लिए आते हैं। सबको मनपसन्द चीजें मिल जाती हैं—

"ओढ़े बालक जाणे कांई ओपे
मनवांछित पाम्या सहू ।
सासरिया सर्वे बखाने
'पिहर पनोती कुँवरबहू ।"

सबको दहेज देकर प्रभु लक्ष्मी के सहित अन्तर्धान हो जाते हैं। इतने में कुँवर की एक ननद पुनः परीक्षा लेने को क्रुद्ध होकर कहती है—'कुँवरबहू, तुम्हारे पिता ने तो दूसरी जाति के लोगों को दहेज दे दिया, घरवाले तो बाकी ही हैं अभी ! उनके दहेज का शीघ्र ही कुछ प्रबन्ध करो—

'पेरामणी परनाति पाम्या, घरना माणस गया भूली जी ।'

कुँवर पुनः पिता के पास आती हैं और कहती हैं—'हे पिता, घरवाले तो दहेज के विना ही रह गये। अब क्या होगा' ?—

'कुँवर पिता कने आव्या, ओ रे बापजी ! शुं थाशे रे ?
आटले खरचे मेणुं रह्युं, ते हवे केम जीवाशे रे ?'

यह सुनकर नरसी पुनः ईश्वर-स्मरण में लीन हो जाते हैं—

'मेतोजी कहे—'पुत्री मारी, समरो श्रीगोपाल जी !
एक तांतणो हुंथी न मले, बेठो वजाडुं ताल जी !
फरी ध्यान धरियुं माधवनुं त्रिकम ! राखजो टेक जी !'

सहसा आकाश से वस्त्र गिरता है—

'पचरंगनुं गगन विशेथी पड्युं कापडुं एक जी !'

यों काम पूरा होता है। 'मामेरा-उत्सव' धूमधाम से समाप्त होता है। सब नागर नरसी की शक्ति से परिचित होते हैं। दूसरे दिन कुँवर को साथ लेकर[1] नरसी जूनागढ़ के के लिए रवाना होते हैं। उस समय सभी नागर नरसी की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

---

१—गुजरात के कौटुम्बिक जीवन में यह प्रथा है कि बेटी प्रथम प्रसूति अपने पिता के घर करती है। वह सीमन्तोन्नयन के अवसर के पश्चात् ही तुरन्त अपने पीहर चली जाती है।—ले०

'नारी न्याते मोटो नरसिंह, माथे सारंगपाणि जी;
धन्य मेहेतोजी, तम समोपड़, आ कलजुगमां नोय जी।
नागरी न्यातनो महिमा राख्यो, उजलुं कीधुं सौ कोय जी;
अमने तो विश्वास न होतो जे मेतो करे मामेरुं जी!
सर्वनी लज्जा प्रभुए राखी, मेणुं हल्युं भव केरुं जी!
सहु को' वलावी पाठा वलियां धन धन वैकुंठराय जी!'

प्रेमानन्द काव्य को पूर्ण करते हुए लिखते हैं—

'वीर क्षेत्र वडोदरुं (बड़ौदा) गुजरात मध्ये गाम जी;
चतुर्वंशी ज्ञाति ब्राह्मण, भट्ट प्रेमानंद नाम जी।
संवत् सतरह ओगणचालो, आसो सुदि नौमी, रविवार जी;
पूरण ग्रंथ थयो ते दिवसे, यथा बुद्धि विस्तार जी।
प्रीत करी जे गाय सांभले, दरिद्र तेनुं जाय जी;
कहे प्रेमानंद प्रेमे सर्वने हरि राखो मन मांय जी।'



# उदात्त की भावना

प्रो० जगदीश पाण्डेय; जैन कालेज, आरा

(वर्ष ७, अंक ४ से आगे)

अतिशयोक्ति : अतिशयोक्ति की उदात्त में ही इतिश्री है। यदि कोई कवि बहक जाय, तो 'इति' किसी भी वातग्रस्त छोर को छू सकती है, लेकिन 'श्री'-सहित 'इति' तो तभी सम्भव है, जब अतिशयोक्ति के द्वारा किसी सूक्ष्म शक्ति का रहस्य-इंगित प्राप्त हो। उदात्त के लिए संख्या या मात्रा के द्वारा एक नव्य-भाव ( Emergence ) की पुष्टि तथा सिद्धि होनी चाहिए। जड़वादी दर्शन भी मात्रा से गुण-कल्प की बात मानते हैं। अतिशयोक्ति और उदात्त के 'परस्पर' या 'समुत्पाद' का सबसे प्रबल विरोधी बौद्ध दर्शन हो सकता है। पुद्गल नैरात्म्य के माननेवाले के लिए, प्रत्येक क्षण को सर्वथा स्वतन्त्र इकाई माननेवाले के लिए, संख्याओं या मात्राओं का पृथक् आनन्द ही सम्भव है। उन्हें जगत् में उस रस की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो संख्याओं या मात्राओं को किसी शक्ति अथवा आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न विभूति के रूप में देखने से सम्भव है।

उदात्त की सेवा में निवेदित अतिशयोक्ति की कई पद्धतियाँ होती हैं। कुछ का उल्लेख करेंगे—

(१) अपर-उत्क्रान्ति, (२) तारतम्य, (३) अङ्गाङ्गिभाव की विचित्रता, (४) संख्या की प्रतीकयोगिता और (५) द्विदिक् विप्लव।

अपर-उत्क्रान्ति : इसमें पहले कुछ ऐसे ब्योरे दिये जाते हैं, जिनमें सहचर या पार्षद जीवों की लोकातिशयता प्रस्तुत की जाती है, जिससे साक्षी जीवों के अभिमान का क्षय हो लेता है। फिर, उनकी लोकातिशयता की पराजय दिखाई जाती है और तब आलम्बन का उत्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है। तुलना में आये प्रतिद्वन्द्वियों का मान-भंग हो लेता है, तब उत्क्रान्ति के दृश्य का विधान होता है। श्रीहनुमान्‌जी की लङ्का-यात्रा का अवसर इष्टानुकूल है। समुद्र-तट पर वातावरण भय, अनिश्चय, निराशा तथा अनुराग से स्तब्ध है। कौन जाये ? 'सत जोजन' लाँघने और वापसी कुशल की बात है। सहचर अथवा पार्षद जीव भी साधारण नहीं--जामवन्त, अंगद आदि दल की गौरवान्वित कर रहे हैं। जामवन्त ने त्रिविक्रम अवतार के समय दो घड़ी में हरि की सात परिक्रमा कर डाली थी ! अंगद सौ योजन को कुछ नहीं समझते ! लेकिन लौटने में ? लौटने में संशय है। जामवन्त और अंगद के पराक्रम की ही बात सुनकर पाठक का अभिमान निरतिशय अकिञ्चनता को प्राप्त कर लेता है। लेकिन, जब ऐसे महान् शक्तिशाली भी समुद्र की चुनौती के सामने हार मानकर बैठ रहते हैं, तब कौन सामने आयगा ?

वातावरण जराग्रस्त शौर्य, हत उत्साह, लज्जा, करुणा तथा अनुराग के चलते बलिदान की आकुलता से निःस्पन्द है।

ऐसी ही वेला में सुषुप्त शक्ति को जगाने के लिए आवाहन या ललकार की शैली अपनाई जाती है।

जामवन्तजी ने जैसे पुंजीभूत वेदना के मर्म-द्वार ही खोल दिये।

'का चुप साधि रहा बलवाना !', किसे ? 'पवनतनय बल पवन समाना।' सोई शक्ति को, ऐसी शक्ति को, जो अपनी निस्सीमता में आत्म-विस्मृत है।

नई चुनौती, नये प्रयास के लिए, एक नव्य-विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिए। स्मृति का परदा हटाया जाता है। जाग शक्तिशाली ! 'रामकाज लगि तव अवतारा', हनुमान् नित्य-सनातन विभु के निमित्त या अंग हो जाते हैं।

हम सम्भावनाओं के विस्मय-शिखर पर खड़े हैं और आशाओं की अन्तिम धीर-पूजा लेकर श्रीहनुमान्‌जी की ओर देखने लगते हैं।

Emergent : 'का चुप साधि रहा बलवाना,
पवनतनय बल पवन समाना—'

[ औरों से भिन्न लोकातिशय नव्य-विशिष्ट के रूप में हनुमान्‌जी ]

हम भी आशा और उत्साह की डोर पकड़े ऊपर उठते हैं।

तबतक कहा जाता है—

'रामकाज लगि तव अवतारा·····' [ नित्य-सनातन विभु Continuous Principle ]

स्मृति जुड़ गई। पूर्व जन्मों की संचित महत्ता ने आत्मा के सातत्य को आलोकित कर दिया। क्षण का ब्रह्म से सम्बन्ध हो गया।

'सुनि कपि भएउ पर्वताकारा.....'

'पर्वताकार' शरीर का यह क्षण बौद्धों की भाषा में 'स्वभावात्' हुआ, ऐसा तो अब हम सोच भी नहीं सकते। अवश्य ही यह 'तत्सम्बन्धात्' हुआ। अब सभी अतिशयोक्तियाँ हमें ऊपर की ओर उठायेंगी।

'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।'
'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता,
चला सो गा पाताल तुरंता।'

गति की एक आँधी-सी अन्धी लकीर खिंच जाती है।

यहाँ तक कि जब कहा गया—

'तुम मैनाक होहु श्रमहारी।

तब भी 'हनुमान तेहि परसा.....' बस, और फिर केवल 'किन्ह प्रनाम'; क्योंकि 'रामकाज किन्हे बिना मोहिँ कहाँ विश्राम।'

पर्वताकार शरीर, फिर गुरुत्वाकर्षण के विपरीत ऐसे शरीर का राम के शक्ति-बाण की तरह चलना, पर्वतों का धँस जाना.....आदि-आदि पर्वतीय और घन-घमगड ब्योरे गल-पच गये। हाथ-लगी अनुप्राणित करनेवाली शक्ति, निमित्त-प्रतिभा, निवेदित, निर्विकल्प आत्मबलि, प्रसाद-सिद्धि, एक धुन, एक भक्ति, एक अन्धी त्वरा, जो आकाश पर विचारों से भी अधीर और कल्पना से भी द्रुततर विद्युत् की लकीर की तरह, प्राणों की विजयवाहिनी आँधी की तरह, बढ़ती, छाती, चली जा रही है।

यह सब राम का प्रताप है, उनकी शक्ति का वरदान है; उनकी माध्यम-लीला है; चेतना की यह अन्तर्धारा अतिशयोक्ति को ग्रहणीय बनाती है और उत्कर्ष की सिद्धि कराती चलती है।

यही कारण है कि सुरसा और हनुमान्‌जी के योजन-विस्तार की पैंतरेबाजी को किसी सरकस-कम्पनी का काव्य-विनोद नहीं माना जा सकता। पूरी पृष्ठभूमि की स्मृति से सम्पन्न पाठक के लिए सौ योजन तक विस्तृत और अति लघुरूप में संकुचित हो जाने की क्रियाएँ मात्र कौशल-सी नहीं दीखतीं।

'रामकाज करि फिर मैं आवउँ, सीता कइ सुधि प्रभुहिँ सुनावउँ।
तब तब बदन पैठिहउँ आई, सत्य कहउँ मोहिँ जान दे माई।'

दीनता, व्याकुलता, बलि-भावना की हद है!

जब 'कवनिहुँ जतन देइ नहिँ जाना,' तब 'ग्रससि न मोहिँ कहा हनुमाना।'

खा क्यों नहीं लेतीं? बड़ी खानेवाली बनी हैं! यह स्वाभाविक चुनौती उसी बलवान् प्रभु-अभिमानी की है, जिससे हमारा परिचय हो चुका है, और जो अपनी शक्ति का इतना निरभिमान है कि उसे प्रेम से या विरोध से जगाना पड़ता है।

श्रीहनुमान्‌जी मात्रा, विस्तार, गरिमा आदि के चलते विशेषतः रमणीय तथा राम के, अनन्त विभु के, निमित्त भी इसी उभय सौन्दर्य में अतिशयोक्ति की श्री है। महाभारत के

भौगोलिक क्षेत्र-विस्तार-मात्र से उदात्त की सृष्टि नहीं होती। कोई लोकातिशय आलम्बन (व्यक्ति, पदार्थ अथवा परिस्थिति) रामायण है···उसमें राम हैं, चिन्मय शक्ति है···इस 'रामायणता' से ही उदात्त का जन्म होता है।

तारतम्य : दूसरी विधि तारतम्य की है। इसमें ब्योरों को सोपान-क्रम से प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण लें—"हमें कर से मतलब है। किसान से खेत या खलिहान में लो। वणिकों से बाजार में लो, राजकर्मचारियों से वेतन पर हस्ताक्षर बनाते ही ले लो। जिसके पास हो, वह दे दे—माँगने से न दे, कोड़े लगाओ। इससे भी न दे, तो दूध-पीते उसके शिशु को कोड़े लगाओ। माँ के सामने उसकी गोद के बच्चे के नखों में कील ठोंक दो। जिसके पास हो, वह दे···न हो, ऋण ले। ऋण न मिले, तो घर बेचे, गहने बेचे, स्त्री की लाज बेचे। और देखो, भेद-भाव हम नहीं मानते। राजा का अंश राजा लेगा—सबसे लेगा। इसलिए, शूद्र से लो, वैश्य से लो, क्षत्रिय से लो, ब्राह्मण से लो। गाँव में लो, नगर में लो, तीर्थों में लो। दान लेनेवालों से लो, दान देनेवालों से लो। गृहस्थों से लो, संन्यासियों से लो। गृहस्थ कहें, महाराज, दुर्भिक्ष है, तो उन्हें जेठ की तपती बालुका पर नंगी पीठ सुला दो। उनके कुएँ-तालाब बन्द कर दो। साधु मिलें और कहें, बाबा, मेरे पास क्या है, तो कहो, कोपीन उतार दो, कमण्डल रख दो। फिर कहो, खाली कमण्डल क्या होगा ? भर दो इन्हें। योगियो, तपस्वियो, ऋषियो, भगवान्-भगवान् करनेवाले अकर्मण्य भक्तराजो और महामुनियो, भर दो इन खाली कमण्डलों को, अपने रक्त से भर दो। हमें कर चाहिए।"

शक्ति के मद से उन्मत्त लोभी अत्याचारी का ऐसा आदेश उदात्त पैशाचिकता का उदाहरण है। इसमें पर-पीड़न की उत्तरोत्तर निर्ममता के साथ, भय, आदर, श्रद्धा के संस्कारों का भी उत्तरोत्तर लोप दीख पड़ता है। माँ के सामने शिशु का वध करनेवाला, धर्मपत्नी को वेश्या-वृत्ति के लिए बाध्य करनेवाला और योगियों, तपस्वियों, ऋषि-मुनियों के रक्त तक को वसूल करने की बात करनेवाला शुद्ध अत्याचार हो जाता है, वह कोई साधारण अत्याचारी नहीं रह जाता।

एक और उदाहरण लीजिए—"और तब उस सुनसान समुद्र के तट पर मेरा कोई साथी न था। रह-रहकर उस ध्वस्त पोत के दृश्य आते। चारों ओर एक विचित्र नीरवता··· एक निरतिशय प्रसार···। लहरें उठतीं···गिरतीं···मगर क्या कुछ कहतीं भी ? लगा, जैसे समुद्र और लहर दोनों पूर्वजन्म के आत्मीय हों···मगर बोल नहीं सकते, जैसे उनकी जीभ काट ली गई हो। और, कोई अपना न दीखा, तो यों ही देखने लगा···और देखने लगा तो आँखें टिक-सी गईं। मेरा माथा घूम रहा था। चक्कर नहीं, मतली नहीं···एक अजीब रुई-जैसा हलकापन। लगा, जैसे तट के इस पार की धरती भीतर-भीतर खोखली होती जा रही है···और जैसे मेरे पेट के भीतर भी उतनी ही बड़ी धरती या उतना ही बड़ा आकाश है और वह भी खोखला होता जा रहा है। इस खोखले होने, खिसकने में भय नहीं, पीड़ा नहीं, बल्कि एक प्रकार का अकथनीय सुख। फिर आँखें खोलीं। देखा···खेत के

पौधे, पास और दूर की अमराई, गाँव के खपरैलों से उठनेवाले धुएँ के बादल, प्रायः दो सौ गज पर खेतों में चरता बैलों का एक झुण्ड, आकर खड़ा हो जानेवाला एक हाँफता कुत्ता···और बगल से आनेवाली मन्दिर के घण्टों की आवाज—जैसे, ये सब रूप और ध्वनियाँ गल-गल कर एक होती जा रही हों। ऊपर जल, नीचे जल, अगल-बगल जल और बीच में मैं···यहाँ तक कि मैं भी जल।"

यहाँ पहले छनसान के चलते विरति ( Withdrawal ), फिर अनेक का विगलन ( Liquification ), फिर एकरस में उत्क्रमण ( Transcendent merge ) के रूप में तारतम्य देखने को मिलता है, जो उदात्तकोटिक है।

**अङ्गाङ्गी विचित्रता :** अतिशयोक्ति जब विचित्रता प्रस्तुत करती है, तब उसके तीन प्रयास हो सकते हैं—(१) प्रत्येक इकाई की लोकातिशय विचित्रता पर ध्यान हो, (२) लोकातिशय पैमाने, संख्या या मात्रा में विचित्रताओं के एकत्रीकरण पर ध्यान हो, और (३) ऐसी लोकातिशय विचित्रताओं को किसी महान् शक्ति-सागर या स्वभाव-सिन्धु की ऊर्मियों के रूप में दिखाने पर ध्यान हो। अङ्गी के अङ्ग के रूप में केवल तीसरा प्रयास ही उदात्त है। ऊर्ध्व-केश, वक्र-तुण्ड, दाँत कटकटाता भूत, साधारण मनुष्यों की चेतना के लिए अपने-आप में विचित्र है। पहले प्रयास का यह उदाहरण है।

दूसरे प्रयास के उदाहरण के लिए प्रसिद्ध श्मशान-चित्रणों को लें। एक ही जगह गीध, स्यार, कुत्ते, अँतड़ी, खोपड़ी, शोणित, योगिनी, वेताल, हाकिनी, डाकिनी आदि को इकट्ठा कर दिया। न हुआ, तो शरीर की पूर्वदशा की याद दिला दी और फिर नश्वरता और दुर्गति दिखाकर बिभित्सा की एक विशाल राशि खड़ी कर दी।

तीसरे प्रयास का उदाहरण लें। विचित्र इकाइयों को लिया, उनके लोकातिशय परिमाण का भी विचार रखा और इन सभी को किसी दार्शनिक परमकारण या आदिशक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में दिखा दिया। वातावरण का शोधन और उत्कर्ष दोनों हो जाता है। मुख-हीन, विपुल-मुख, नयन-विहीन, सहस्र-नयन, मात्र-कटि, मात्र-पाद, मात्र-बाहु, प्रेत, पशु तथा अन्य योनियों की बरात सजा दी, जिसमें भाषा, आकृति, भंगिमा, नाच, गान का परम-तरङ्गी लीला-समुद्र लहराने लगता है। ऐसी बरात के माध्यम से, तह में छिपी शक्ति या ऐश्वर्य के किसी महायोगी नटराज की, किसी शिव-स्वभाव की सहज आत्मीयता की झाँकी मिलती है। ऐसा लगता है कि उस शिव के हृदय में आनन्द, शान्ति और कृपा-करुणा का एक गम्भीर समुद्र है, जिसकी तरङ्गों के रूप में हम इन विद्रूप आकृतियों को भी लहराते, उमड़ते उत्साह-ज्वार की तरह पाते हैं। प्राण के ऐसे अकृत्रिम हिलोर, शृङ्गार और मङ्गल की ऐसी मौलिक उद्भावना, आपाततः असुन्दर और बीभत्स की ऐसी निर्विकल्प स्वीकृति, किसी कल्याण-स्वरूप शिव की ही सिद्धान्त तथा अनुग्रह की शादी करनेवाले किसी देव-वर की ही, आत्मव्यंजना हो सकती है। बीभत्स की बात ही नहीं रह गई। अङ्गी की भावना ने अङ्गों को उदात्त बना दिया। पहले दो प्रयास उदात्तकोटि के नहीं।

संख्या की प्रतीकयोगिता : जहां अतिशयोक्ति अनुमान को स्थिर करने या विश्राम देने के लिए संख्या का प्रयोग करती है, वहाँ उदात्त की सृष्टि नहीं हो पाती, किन्तु जहाँ संख्या का प्रयोग अनुमान की व्यर्थता अथवा अपरिमेय के संकेत के लिए किया जाता है, वहाँ संख्या में प्रतीकयोगिता आ जाती है। संख्या अङ्कगणित की न होकर बीजगणित की हो जाती है। यहीं उदात्त की क्षमता सम्भव है। मात्रा अथवा संख्या जहाँ तक अङ्क की सुनिर्दिष्ट लकीर खींचती है, वहाँ तक रहस्य की व्यंजना नहीं हो पाती, जो उदात्त के लिए पर्याप्त नहीं, तो आवश्यक अवश्य है। संख्या में जहाँ बीज-धर्म आया कि मंत्र-शक्ति जगी।

उदाहरण लें—किसी व्यापारी को अगर लाख-दो लाख का घाटा लगे और आप पूछिए, तो वह कह सकता है—"भैया, इस साल तो मेरे जैसा था, जो टिका। माता-पिता की कमाई, आप बड़े लोगों का आशीर्वाद और कुछ पहले से ही सजग रहने की मेरी आदत, नहीं तो इस बार विदाई ही थी। कोई दस लाख का वारा-न्यारा हुआ…।" यहाँ वह बढ़ा-चढ़ा कर कहता है, फिर भी कल्पना दस लाख को एक निर्दिष्ट सीमा पर छू लेती है और विश्राम करने लगती है।

एक कदम और आगे बढ़िए। कोई डींगियल कह सकता है, 'आप रूठकर ही मेरा क्या बिगाड़ लीजिएगा ? यहाँ आप-जैसे लाखों आगे-पीछे चला करते हैं।' हम जानते हैं कि डींगियल जोश में बोल रहा है, होश में नहीं। उसकी बातों में आस्था नहीं के बराबर है, फिर भी 'लाखों' कहकर उसने निश्चित सीमा नहीं खींची। उसका लाख बीजगणित के x जैसा है और उसकी ईमानदारी के प्रति अनास्था के चलते उसके लाखों का मूल्य लाख शून्य ही ठहरता है। हम हँस सकते हैं, लेकिन संख्या एक कदम आगे बढ़ी। भेद यही है कि अपरिमित का रहस्य हाथ नहीं लगा, बल्कि परिमाण की कल्पना ही व्यर्थ समझी गई।

अब तीसरा उदाहरण लीजिए—'उनके रोम-रोम में कोटि-कोटि शत नाच रहे ब्रह्माण्ड।' ब्रह्माण्ड स्वयं अचिन्त्य है। कोटि-कोटि शत ब्रह्माण्ड का नाचना, और वह भी रोम-रोम में ! विरोधाभास-जैसा चमत्कार तो है ही। अवश्य ही ऐसे रोमवाला भूमा बन जाता है। कल्पना किसी ऐसे विभु या विद्युच्छक्ति की हो आती है, जिसकी एक-एक चिनगारी घनीभूत होकर एक लोक बन जाती है, अथवा जिसका एक-एक अणु इतना तरल, इतना प्रसारणीय है कि लोक-के-लोक उससे निर्मित होते हैं। संख्या ने भौतिक स्थूलता से परे रूप-सौदामिनी के स्फुरण के उस दिव्य-लोक में पहुँचा दिया, जहाँ ज्योतिःपिण्डों की वर्षा होती रहती है।

एक और उदाहरण लें—'हजारों अग्निकाण्ड, भूकम्प और प्रभंजन के दृश्य देखने को मिले। वृक्षों को काटकर ईन्धन बना डालनेवाले नृशंस लुटेरों, विजेता सैनिकों के हजारों खीमे पड़े और उठे…लेकिन गाँव का यह वटवृक्ष बना रहा है। मिट्टी में घुस जानेवाली इसकी उलटी टँगी शाखाओं ने शायद कसकर समय को बाँध लिया है।' इस तरह हजारों के

द्वारा अनिश्चित काल से चले आनेवाले सत्ता-प्रवाह की प्रतीक-व्यंजना हो जाती है। इस प्रकार की व्यंजना में तीन बातें होती हैं—

(१) अतिशयोक्ति-धर्म संख्या का ऐसी विशिष्ट इकाई से सम्बन्ध होता है, जो स्वयं अपने में लोकातिशय हो। जैसे—'निशासुन्दरी के आते ही कोटि-कोटि नक्षत्रों ने स्वागत के दीप जलाये।' यहाँ 'नक्षत्र' स्वयं अपने में विशिष्ट इकाई हैं।

(२) कहीं-कहीं धारा के रूप में संख्या के द्वारा संख्यातीत का कथन किया जाता है। जैसे—'अभिसार की वेला और मिलन की सुखद कल्पना ने शत-शत कोटि हृदयों को सुधि में डुबो दिया। कोटि-कोटि शृङ्गार-गृह जगमगा उठे। पवन ने धरती और आकाश के नैसर्गिक माली की तरह रजनीगन्धा के करोड़ों दोने सजाये और खिड़की की राह प्रणय-कक्षों तक पहुँचाया। अन्धकार के पड्ज-समुद्र में करोड़ों आकुल स्वर-लहरियाँ उठतीं, पल भर ठहरतीं, फिर विलीन हो जातीं।'

(३) परम्परा-सम्बल से—परम्परा से पुराण, शास्त्र, कथा-साहित्य, महाकाव्यों आदि के चलते कुछ स्थानों, कुछ दशाओं, कुछ व्यक्तियों के प्रति एक धारणा बन गई है, जो चलती चली आती है। इस तरह 'कोटि काम-सम' या 'कोटि रुद्र-सम' या 'हिम-गिरि कोटि-सम' कहने पर बुद्धि शरारत नहीं कर पाती···विस्मय की अनन्त जलराशि में डूब जाती है।

द्विदिक् विप्लव : कहीं-कहीं निम्न और उच्च, दोनों स्तरों के प्राणियों में एक ही गति, एक ही प्राण, के चलते विप्लव देखने को मिलता है। मानस के काम-प्रसङ्ग में जहाँ जगत् को ब्रह्ममय देखनेवाले योगी-मुनि संसार को नारीमय देखते हैं, वहाँ साथ ही 'लता निहारि नवहिं तरु शाखा' और 'संगम करहिं तलाब तलाई' इस द्विदिक् विप्लव से भीतर-भीतर आन्दोलित और विक्षुब्ध करनेवाली काम-शक्ति की व्याप्ति सहज ही रहस्य-रमणीय हो जाती है। चेतन के जड़ और जड़ के चेतन हो जाने से जगत् और जीव पर शासन करनेवाली काम-शक्ति की प्रभुता की व्यंजना उदात्तकोटि की हो जाती है।

महाप्राणव्यंजन : अतिशयोक्ति के अतिरिक्त उदात्त के लिए महाप्राणव्यंजनों की भी धूम है। बात यह है कि कुछ चिन्तकों ने उदात्त में भयानक का बहुत बड़ा अंश देखा है। आकार की विशालता, रूप की कठोरता, स्थिति की उत्तुङ्गता, प्रकृति अथवा आकृति की आदिम बर्बरता, शक्ति-नर्त्तन की अदम्यता, प्रचण्डता अथवा घातक निरंकुशता, गति की अन्ध-बधिर स्वयं-प्रयोजनता, आयु की अचिन्त्य दीर्घकालीनता···आदि के दर्शन से हमको अपनी सत्ता के लोप का भय हो आता है। ऊबड़-खाबड़ प्रकृति के हाथों की गढ़ी, पर्वत-खण्ड-सी पड़ी शिला को देख हम कहते हैं, 'बाप रे, किस महामारुति ने इसे यहाँ रखा होगा? कोई सिर पर रख दे तब?' इसी तरह, मरुस्थल के बीच स्थित किसी पथिक की कल्पना कीजिए।

इन दृश्यों में कुछ धर्म तो सामान्यतः व्याप्त हैं—(१) कठोरता, (२) आदिम बर्बरता, (३) शृङ्गार का अकृत्रिम रेखाङ्कन, (४) शक्ति, गति और नाद का गम्भीर गर्जन।

इस आधार पर लोग सोचते हैं कि आदिम युग के किसी कलाकार के द्वारा विशाल शिलाखण्डों पर महाभीम उबड़-खाबड़ लकीरों से खिंची आकृतियों की तरह उदात्त-काव्य का आदर्श होना चाहिए।

लेकिन, साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति कैसी होगी ? बड़े-बड़े शब्दों से ? या ठेठ भदेस शब्दों से ? अथवा संस्कृत के दिवंगत शब्दों के प्रयोग से, जिनका अर्थ अत्यन्त ही कठिन अध्यवसाय और तितिक्षा से निकल सके ? या ध्वनियों के शुद्ध उद्जन-विस्फोट से ? प्रश्न उपहास की मुद्रा में पूछा गया है, लेकिन उत्तर स्पष्ट है। अवश्य ही उदात्त में महाप्राणव्यंजनों अथवा स्वरों के सघन-व्यूहन की महिमा देखने को मिलती है। 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' का प्रारम्भ महाप्राणव्यंजनों के इस कठोर बर्बर उत्कर्ष का उदाहरण है।

प्राकृतिक दृश्य-खण्डों के वर्णन में, क्रान्ति-गर्भ महावेला में, गति का दृश्य प्रस्तुत करने में, किसी रुष्ट कालाग्नि महादेव को प्रसन्न करने में, किसी महावीर के आवाहन करने या जगाने में, किसी विप्लव या युग-सन्देश की घोषणा करने में 'ललितलवङ्गलता'-वाली शैली नहीं काम देती। वहाँ तो रूखे, प्राण-कर्कश व्यंजनों का ही प्रयोग होता है—

'वर्मचर्मकरकृपाणशूलशेलधनुषबाणधरणिदलनि दानवदलरणकरालिका।'

अथवा

'जातरूपा चलाकारविग्रहलसल्लोमविद्युल्लताज्वालमाला।
जयति बालार्कवदन पिंगलनयन कपिशकर्कश जटाजूटधारी।
विकटभृकुटी वज्रदशननख वैरिमदमत्तकुंजरपुंज कुंजरारी।'

अथवा, व्यक्तित्व के अनेक पक्षों के सजीव चित्र, भावों के क्रमिक उन्नयन और शान्तिवाले इस पदांश को देखिए—

'जयति विहगेश बलबुद्धिवेगातिमदमथन मनमथमाथन ऊर्ध्वरेता।
महानाटकनिपुन कोटिकविकुलतिलक गानगुणगंधर्व जेता॥
जयति मंदोदरीकेशकर्षणविद्यमानदशकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजादुःखसंजातरोषांतकृतजातना जंतुकृतजातुधानी।
जयति रामायणश्रवणसंजातरोमांच लोचनसजल शिथिलवाणी॥'

कहीं-कहीं ख, छ, झ, ठ, च्छ, ज्झ, द्ध, ट्ट आदि व्यंजन तथा संयुक्तों का बाहुल्य, स्वरों के तीव्र-दीर्घ आघात तथा भाव या वातावरण की सृष्टि करनेवाले स्फोट-तत्त्व की प्रमुखता रहती है। त्रस्त महाभिमानी रावण का ताण्डव-स्तोत्र तो व्यंजन, समास-गुम्फन तथा नाद के स्फोट-तत्त्व का अन्यतम उदाहरण है। समास के गुम्फन में जो लोग बीच-बीच में कला का बाँकपन दिखा देते हैं, वे काव्य के पुरुषार्थ को चौपट कर देते हैं। उदात्त में समासों का गुम्फन जटा की लटों और उनके स्वभाव-बन्ध की तरह होता है।

इस तरह ये लक्षण हाथ लगते हैं—(१) महाप्राणव्यंजनों का प्रयोग, या ऐसे व्यंजनों

का प्रयोग, जिनमें रुक्ष बर्बरता हो, (२) संयुक्तों का प्रयोग, (३) स्वरों की घनिष्ठता, (४) समासों का जटा-गुम्फन और (५) स्फोट। लेकिन, ध्यान रहे कि शब्द अपने स्फुट नाद के लिए न चुने जायँ, बल्कि एक शृङ्खलित स्फोट के लिए, प्रभाव के समवेत उत्थापन के लिए।

जो हो, उदात्त की इस भावना में भय और बर्बर व्यंजनों की प्रमुखता है। परिस्थिति अथवा भाव के महारजस् सन्दर्भ में इस शैली का प्रयोग होना चाहिए। कच्चे कलाकार के हाथ में यह Snowman's Sublime बन जायगा। आदिम बर्बर नग्न अतीत की ओर युग के स्मृति-नखों को एक विशेष कण्डू-सुख मिलता है। लेकिन, यह भी समझना चाहिए कि मात्र 'विच्छुरित', 'विस्फारित' और 'झटित' जैसे सच्चे या गढ़े शब्दों से कोई भीम-भैरव आतङ्क भले ही खड़ा कर दे, लेकिन उदात्त की सिद्धि नहीं हो सकती।

निर्मलता : उदात्त काव्य के मौलिक सद्गुणों में निर्मलता है। निर्मलता जल-धारा अथवा मन-आचरण के क्षेत्र का शब्द है, लेकिन उसकी यहाँ बड़ी सार्थकता है। निर्मलता के लिए आवश्यक है कि स्रोत नित्य भरपूर तथा स्वच्छ रहे, प्रवाह की अजस्रता बनी रहे। निर्मलता स्वभावतः सरल होती है। कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि धारा प्रपात की तरह नीचे की ओर वेग से गिरती है और शिलाओं पर जल को पटक-पटक कर स्वच्छ बना डालती है। रूपक की भाषा छोड़िए, व्यवहार में आइए। कभी-कभी कवि एक बहुत बड़ा काल-खण्ड लेकर उसका लोक-विस्तार करता है। लेकिन, उस देश-काल-विस्तार की भावना में वह रम नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि कवि ऐसे वृत्त को अन्योक्ति से भर देता है; बुद्धि, श्रद्धा, लज्जा, ग्लानि आदि को, संगीत की रागिनियों की तरह, मानसिक कल्पना करता है। न कहीं तीव्र आघात ही आ पाते हैं, न कहीं गम्भीर भाव ही। उदात्त की माया प्रस्तुत करने के लिए वह विकल्पों और स्वतन्त्रतः रमणीय स्फुट-बिम्बों को लेकर विलास करने लगता है। कामायनी हिन्दी-साहित्य में कलागत इन्द्रजाल के रूप में एक बहुत बड़ी चेतावनी है। स्फुट दृश्यों या वर्णनों को छोड़कर—जो बिखरे हैं, संयुक्त नहीं—कामायनी कहीं भी अभिभूत करनेवाला या ऊपर उठानेवाला काव्य नहीं है, शक्ति-काव्य नहीं है। प्रस्तावना पढ़कर, आलोचना पढ़कर नाहक हम अपनी ओर से उस पर औदात्त्य लादते हैं। श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का बौद्धिक प्रयास निमज्जित करने, या उज्ज्वल प्रकाश देनेवाले किसी महा-पुरुष, या किसी प्राणवन्त पात्र को नहीं ला सका। इससे तो अच्छा होता कि 'प्रसाद' केवल तीन परिच्छेद लेते—आज, कल और परसों, किसी साधारण किसान या गड़ेरिये को नायक बनाते और स्वाभाविक, सजीव घटनाओं के माध्यम से श्रद्धा में निहित लोकातिशय शक्ति दिखाते, जिसमें अपने विकल्पों से थककर, विरक्त होकर बुद्धि आप-ही-आप श्रद्धा के साथ एकात्म या एकाकार हो जाती। बात यह है कि खींच-तानकर किया गया समन्वय मध्यम कोटि की अनुभूति है और यह विषय ही उदात्त के अनुकूल नहीं। श्रद्धा की ऊँचाइयों या गहराइयों में बुद्धि के बिलगाव की सम्भावना हो नहीं। थोथी भावुकता और निरी मीन-

मेधकारिणी बुद्धि सदा ही अलग रहेंगी। 'प्रसाद' को उस ऊँचाई पर चढ़ना या उस गहराई में उतरना चाहिए था, जहाँ भाव के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा एक ही तत्त्व का दर्शन होता है, एक ही जीवन-व्यवस्था का मङ्गल-निकेतन बनता है, एक ही रस की अनुभूति होती है, एक ही आनन्द-मङ्गल की उपलब्धि होती है। समन्वय वही उदात्त होता है, जो दो के एकहृदय होने से होता है। जब बुद्धि भी लोक-मङ्गल चाहे, स्वार्थ-भोग नहीं, और श्रद्धा भी 'बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि' छोड़ दे और 'पर' के साथ तादात्म्य चाहे, तो समन्वय का उदात्त स्वरूप हाथ लगता है। लेकिन, ऐसा होगा तब, जब दोनों के अभिन्न दर्शन को दिखलाया जाय। 'प्रसाद' को न यह दर्शन भाया, न ऐसे पात्र और घटनाओं का संसार ही स्पष्ट हो पाया। यदि 'प्रसाद' ने किसान या गड़ेरिये को लेकर पूरी कल्पना को होती, तो वह अणु की शक्ति दिखाने-जैसी चीज भी होती। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि मनु को रखकर उन्होंने बुरा किया। बुरा तो यह हुआ कि मनन और चिन्तन तथा कभी-कभी चित्र-विलास का ही संसार हाथ लगा। कामायनी एक ऐसी गिलौरी है, जिसमें सोने-चाँदी का तबक तो चुपड़ा हुआ है, लेकिन कत्था पतला है, और यह बहुत सार्थक बात है कि कामायनी के चित्रों में लज्जा की लालिमा सबसे अधिक स्मरणीय है। कामायनी के प्रकाश अथवा हार्दिक भावना के अभाव में, इतिहास का कंकाल-दर्शन ही हाथ लगता है, जिसके ऊपर कहीं से कोई भूली-भटकी तितली आ जाती है और एक रंगीन क्षण तक ठहरकर चली जाती है।

कामायनी में प्रलय के दृश्य, देवताओं की दशा के दृश्य, भोग, भय तथा पतन के स्फुट चित्रों को छोड़कर शेष सभी चिन्ताएँ, अन्तरिक्ष के वर्णन, तर्क-श्रमित प्रसंग आदि, प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करते हैं। सबसे बड़ा दोष है एकस्वरता ( monotony )। शब्दों में शास्त्री तथा कला-विलासी दोनों का मोह है। गोस्वामीजी की बात निराली है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों और जनपदीय बोलियों में से किसी के साथ कोई हठयोग नहीं किया, न सन्दर्भ से स्वतन्त्र आसक्ति दिखाई। चाहे ग्रन्थ-रचना की निरी प्रस्तावना हो, या जनकपुर के लिए बरात का प्रस्थान; राम-वन-गमन हो, या राम-भरत-मिलन; सुतीक्ष्ण, शबरी और भरद्वाज के यहाँ राम का आगमन हो, या अशोक-वाटिका में सीता और हनुमान् की भेंट; सर्वत्र कविता बहती, डूबती, डुबाती चलती है।

'दिशि कुंजरहुँ कमठ अहिकोला', या 'आश्रम सागर शान्त रस…'

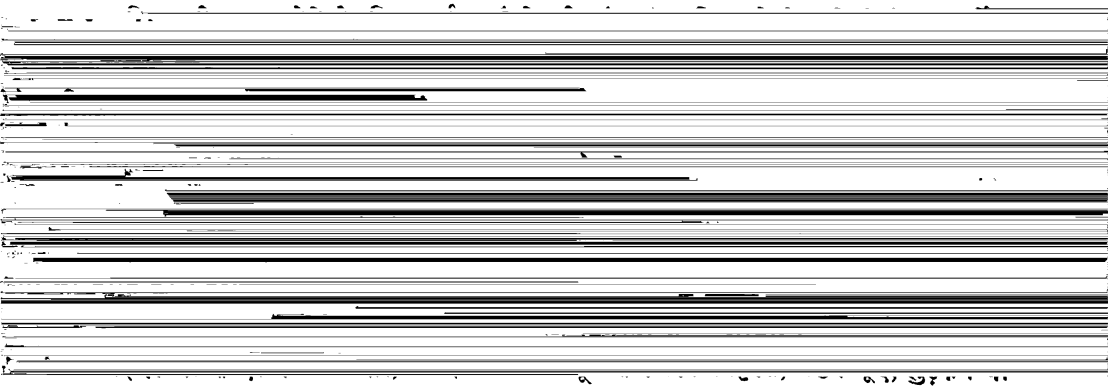
'चली सुभग कविता सरितासी', या 'प्रभु विलोकि मुनिमन अनुरागा।'

कोई भी प्रसङ्ग उठाइए, फिर दूसरा प्रसङ्ग उठाइए और देखिए कि कविता की गति, शक्ति भाव का तापमान, स्वर, शब्दों के विनियोग, प्रसङ्गानुकूल कैसे बदलते हैं। गर्व, उल्लास, आत्म-निवेदन, वैभव-वर्णन, भाव-दशा की सूक्ष्म बारीकियों, संयोग, वियोग, विरक्ति, अनुराग के क्षणों में भाषा का जो प्रवाह, उसका जो प्राञ्जल निर्दम्भ स्वरूप मानस में देखने को मिलता है, वह निर्मलता का अन्यतम उदाहरण है।

निर्मलता को कलुषित करनेवाले कई प्रयोग हो सकते हैं—

( १ ) अतिप्राचीन शब्दों के प्रयोग, ( २ ) वैज्ञानिक शब्दोंवाली यथार्थता, ( ३ ) अतिदुरूह रूपक, (४) स्वच्छन्द प्रतीक, (५) अक्षर या मात्र शब्दोंवाली विदग्धता, ( ६ ) छन्दों के झटके या पैंतरेबाजी, ( ७ ) ऐतिहासिक चेतना को खोकर पुरानी कथाओं या प्रसङ्गों में अपने युग की समस्याओं को ठूँसने की प्रवृत्ति और ( ८ ) वैभव दिखाने के नाम पर कोरी आलङ्कारिकता। इन्हीं में से कुछ कारणों के चलते रामचन्द्रिका में सरल निष्कपट व्यंजना नहीं हो सकी।

निर्मलता की रक्षा के लिए आवश्यक है कि ( क ) कथा आगे बढ़े, पर अनुभूतियों की नवीनता बनी रहे। कथा की घास को ही लेकर जुगाली करना भी ठीक है। इसी से सर्ग या निवेदन, आवाहन या मङ्गलाचरण प्रारम्भ में रख देने से एक विशेष वातावरण छा जाता है, जिसका रस-लाभ पूरी कथा को मिल जाता है। आवश्यकता है सक्रिय ध्यान की,



अकारण चौंकने के तृतीय श्रेणीवाले स्वाँग, व्यापक रस अथवा पूर्वगामी परिस्थिति को नीचे खींच ले जानेवाले मनोरंजन के बखेड़े, पिटी-पिटाई परम्परावाले भोजनभट्ट, कृपण, चाटुकार, तुक्कड़ अथवा दरबारी विदूषक—इन बातों या इनके स्तर की आदतों को दूर से ही प्रणाम कर लेना चाहिए।

तब हास्य का कैसा स्वरूप होगा? दो भेद सबसे अधिक अनुकूल पड़ेंगे—(१) द्वेष से सर्वथा मुक्त अट्टहास या स्मित, जो देश, काल या दर्शन के चिरस्मरणीय, व्यापक प्रमाद या विकृति के प्रति हो। सन् १९६२ ई० में, जब सभी ग्रह एकत्र हो रहे हैं, जो मनुष्य भादों की अमावस्या को अपने फोटो का नेगेटिव किसी दूसरे के घर इस तरह रख आयगा कि उसे कोई, देख या टोक न सके, वह उस साल मरने से बच जायगा, नहीं तो अवश्य मर जायगा, इतना यदि चुपके-से सफलतापूर्वक प्रचार कर दिया जाय और फिर रात-भर साधु, गृहस्थ, पंडित, यजमान, अफसर, किरानी, ग्रामीण, वैज्ञानिक, अध्यापक, विद्यार्थी, बालक, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, श्वसुर, दामाद, बहनोई, साले, मन्दिर, आफिस, जेल, बदरिकाश्रम, नैमिषारण्य, बम्बई और वर्धा सभी गुँथ जायँ, तो हँसते ही बनेगा। कायरता की इस देशव्यापी लहर में कोई न बचे, सभी बह जायँ; कोई इसके लिए तीर्थ का बहाना करके बदरिकाश्रम तक चला जाय, कोई गुरु के ही घर रख आये, नास्तिक और वैज्ञानिक बेमेल हो जायँ, पिता-पुत्र

में बँटवारा हो जाय, एक दूसरे की चहारदिवारी के पार नेगेटिव-वर्षा की लीला चलने लगे, और यदि इसका चल-चित्र देखने को मिले, तो फिर देखते ही बनेगा! अमृत-मन्थन के बाद जब लक्ष्मी जयमाल लेकर चलती हैं, तब देवता, और दानवों का महासमुद्र उनकी ओर उमड़ पड़ता है। और, वे जयमाला पहना देती हैं उसे, जो उनकी ओर देखता तक नहीं! जब माला पड़ चुकी होगी, तो निराश लौटे उन असंख्य महापुरुषों के चेहरे, उनके लाज छिपाने के प्रयासों और आपस की बातचीत की कल्पना कीजिए! टावर आफ् बेबल के बनाने में कितना समय लगा। एक थोड़ी-सी तरकीब कर दी गई···प्रत्येक आदमी भिन्न भाषा बोलने लगा और सारा प्रयास निष्फल! सोने के मृग के पीछे दौड़नेवाले भगवान् राम को देखकर मृगी कहती है, 'तुम आनन्द करहु मृग जाये, कंचनमृग खोजन ये आये!'

(२) करुण या विषम परिस्थिति में भी जडता, अथवा सहृदयता, अथवा सहज दार्शनिकता के चलते जो हास्य के उदाहरण मिलते हैं, वे उदात्त कोटि के होते हैं। किंग लियर में विदूषक के हास्य में एक ही साथ सखा की सहानुभूति, जीवन, जगत् और मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रकाश से भरी उक्तियाँ, व्यंग्य, निरर्थकता, तथा लियर के उन्माद की झाँकी—सबका कुछ ऐसा प्रपानक है कि काव्य-रसिकों ने उसे उदात्त के स्तर की चीज मानी है। हैमलेट के श्मशान-चिन्तनवाला दृश्य भी इसी कोटि का है। डूबते महापोत में उस अमेरिकन की सोचिए, जो केबिन में जाकर कपड़े बदलने लगा और सजधज कर निकला; क्योंकि 'भगवान् के यहाँ भद्र वेष में जाना चाहिए।'

उदात्त कोटि के हास्य के लिए वक्रोक्ति, पतत्प्रकर्ष, श्लेष-कौतुक, अतिहसित, क्लिष्ट, वर्त्तुलकथन आदि उपयुक्त नहीं। उसी तरह शास्त्र-कृशित (Academic attenuation वाली) या कला-कृत्रिम (Finicky sophistication) कमनीयता से धारा रुक जाती है। उदात्त में त्र्यम्बक का अट्टहास हो, तो हो, क्लब में उड़ाई गई खिल्ली नहीं। ऐसा लगना चाहिए कि पूरे काव्य में जिस भाव-धारा की लोकातिशयता है, उसी की दशा-भेद से अभिव्यक्ति वह हास्य भी है। आकाश में हंस-पक्ष-जैसे धवल मेघ-खण्डों की उमड़ती और फिर गलकर शुभ्र-नीलाभ गगन का निर्मल देश छोड़ती पंक्ति से उदात्त काव्य में आये हास्य की उपमा दी जा सकती है। बात रूपक बाँधकर कही गई, है इसलिए कई प्रकार के बोध का खतरा है, और उससे भी बड़ा खतरा है किसी भी प्रकार के बोध के नहीं होने का। इसलिए, इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'आकाश' से यहाँ अभिप्राय (क) काव्य के व्यापक रस, (ख) पात्र अथवा शील के मौलिक धर्म से है। यदि उन्माद की दुनिया हो, तो हास्य उसी वातावरण का पोषण करे! 'हंस-पक्ष-जैसे धवल' से अभिप्राय यह है कि कटुता, चिड़चिड़ापन, कट्टरवाद, साम्प्रदायिकता, स्वार्थ-प्रचार से ऐसा हास्य मुक्त हो, उदार हार्दिकता हो, न क्लब का कृत्रिम लालित्य हो, न दरबारी या पण्डिताऊ विदूषकों की परम्परा-प्राचीन परिपाटी। 'मेघ-खण्ड' का अर्थ यह है कि ऐसा हास्य शुष्क नहीं, बल्कि सजल हो सकता है। कपाल के क्षयग्रस्त स्मित-जैसी चीज नहीं होनी चाहिए, क्षण गलदभ्रता भी नहीं, बल्कि तरल सगर्भता; सार, सदाशयता और स्वभाव

का आर्द्र विधान ही अनुकूल पड़ेगा। 'उमड़ती' से मतलब यह है कि उस हास्य में आभ्यन्तरिक आनन्द का वैभव हो, सामग्री की अजस्रता, प्राण की प्रचुरता हो—यदि पूरा काव्य ही हास्यरस का हो। 'नीलाभ गगन' को फिर से छोड़ देने की बात इसलिए कही गई कि पूरी कथा-वस्तु के साथ उस परिच्छेद का सामञ्जस्य और पूर्वगामी परिस्थिति के साथ सम्बन्ध आवश्यक है तथा हँसी कथा को फिर आगे बढ़ाये, थकाकर ध्यान ही भङ्ग न कर दे।

पारिभाषिकता : दूसरा दोष होगा क्षेत्र-विशेष के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग। विज्ञान ने कल्पना के गगन-विहार के लिए, सृष्टि के भयानक और रहस्यमय स्तरों पर विचरण के लिए, सम्भावनाओं के लोक में मानस-भ्रमण के लिए द्वार खोल दिये हैं। लेकिन, कवियों ने एक तो मन से रमण छोड़ दिया है और सबसे बड़ी गड़बड़ी यह है कि पारिभाषिक शब्दों की बाढ़-सी आ गई है। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव-विज्ञान आदि के शब्दों का प्रयोग उदात्त के लिए घातक है। मानो यह काफी नहीं, घनत्व, त्रिज्या, वर्गमूल, दण्डाधिकारी भी आते जा रहे हैं।

मध्वाचार्य के 'नीचोच्चगुणङ्गताः'-वाला सिद्धान्त, कोई माने, या न माने, साहित्य की दुनिया में भी लागू है। मुक्तात्माओं में भी बद्धजीवों की तरह गुण-भेद, विकास-भेद रहता है। उसी तरह पदार्थबोधक शब्द केवल सत्ता-सूचक ही हो सकते हैं। संस्कार अर्जित करने के बाद वे समाज के मानस से हृदय-सरोवर में उतरते हैं और तब कहीं मुख-पङ्कज पर खिलते हैं और उनका रस-कल्प हो पाता है।

इन नये आगन्तुक शब्दों से काव्य में विशृङ्खलता का ही वातावरण बनता है। जो लोग सभी शब्दों या पदार्थों की बराबर महिमा मानते हैं, वे भी काठ नहीं, ईख ही चूसते हैं। काठ में रस है, ईख में नहीं। यदि यह कहा जाय कि काठ और ईख तत्त्वतः एक हैं, तो यह भी कहने दें कि काव्य को इस ब्रह्ममयता से मतलब नहीं। यदि यह कहा जाय कि जितनी कठिनाई समझने में होगी, रसास्वादन में जितना विरोध होगा, विजय के लिए उतनी ही व्याकुलता, उतनी ही शक्ति पैदा होगी, जितनी उदात्त के लिए अपेक्षित है; तब भी सोचना चाहिए कि ऐसे शब्दों में चूर्ण हो जाने की, गलकर मिल जाने की शक्ति अपेक्षित है।

ऐसे पारिभाषिक शब्द हवा की तरह हैं। असल में उनकी कठिनाई इस बात में है कि उनसे कोई रूप-संस्कार नहीं होता। पत्थर भी कठिन है, लेकिन फावड़े चलाते जाइए, डाइनमाइट लगाते जाइए, चूर्ण हो जायगा, पानी का सोता धरती से निकल आयगा। उस पत्थर के नीचे धरती होनी चाहिए। धरती से असम्बद्ध शिलाखण्डों को कोई फोड़कर ही क्या रस पायगा? यदि यह कहा जाय कि फोटन, कार्बोहाइड्रेट, सोडा बाइकार्ब, हेरेडिटी, डेट्रामाइसिन आदि जैसे शब्दों का प्रयोग लक्षणा और व्यंजना के रूप में करेंगे, तो भी अजीब बात है। अपने नाम, ध्वनि, उच्चारण, नवागन्तुकता, विजातीयता, सांस्कृतिक अभिमान के चलते तथा स्वधर्म, स्वदेश, और स्वभाव से अतिशय दूर रहने के कारण ऐसे शब्द कुतूहल

ही पैदा करते हैं। ठीक यही बात उन शब्दों के मोह पर लागू है, जो ऋचाओं से सीधे उठा लिये जाते हैं। बड़ा नाम है Wasteland का। लेकिन प्राचीन कवियों के सशरीर उद्धरण की प्रणाली तथा अहैतुक प्रतीक की जो विधि T. S. Eliot ने चलाई, उससे मानसिक व्यायाम और शब-शोध का परिश्रम इतना बढ़ जाता है कि लाख मन्त्र पढ़ने पर भी शक्ति नहीं जगती।

अधिक-से-अधिक व्यापक और मार्मिक अभ्यन्तर के संस्कारों से सम्पन्न शब्दों में जो शक्ति संचित-सुरक्षित है, उन्हीं का प्रयोग उदात्त के स्वभावानुकूल पड़ता है। दार्शनिक विवेचन, विज्ञान तथा व्यापार के विभागीय और असिद्ध सांस्कृतिक शब्दों को छोड़कर जीवन तथा परम्परा के अनुभूति-सामर्थ्य-सम्पन्न शब्दों से ही पाठक के चित्त की उत्क्रान्ति हो सकती है। अब यों ही कोई महज नाद की स्त्रैण साधना, सानुनासिक प्रपञ्च तथा तन्द्रिल शब्द-योजना से अफीम या ईथर का सम्मोहन पैदा करना चाहे, तो नींद ही आ सकती है, हमारा भी प्राण बढ़ा, हमारी भी शक्ति बढ़ी, हमारा जीव भी जगा, हमने भी अपनी सीमाएँ छोड़ीं, हमने भी एक विशाल, व्यापक, शक्ति का आलोक पाया और हम भी उसके अङ्ग हुए—ऐसी अनुभूति कहाँ हो सकती है? कुछ लोगों का कहना है कि हम जिस क्षण में पलते हैं, उसी क्षण के उपलब्ध उपकरणों से ही वास्तविक सत्य का निर्माण होना चाहिए। मलेरिया, उपदंश, प्लैष्टिककार, लौह-फुफ्फुस के युग में हैं, इसलिए इन उपकरणों के ही द्वारा युग का मर्म-प्रकाश किया जा सकता है—यह एक अजीब बहक है। आलू की बात खेत में पड़ी खाद के माध्यम से ही की जा सकती है, जिससे आलू गोचर और 'आलूत्व' आस्वादित होगा—ऐसी बात तो शाक-वणिक् भी नहीं करते। यह भूलना ठीक नहीं कि यदि पदार्थ, व्यक्ति या परिस्थिति का उत्कर्ष हाथ लगता है, तो उसकी ऊँचाइयों पर चढ़कर या गहराई में उतर कर ही। ऐसा हमारी उस चेतना के चलते होता है, जिसमें वर्त्तमान के संस्कार घुल-मिल गये हैं, वर्त्तमान के उन अम्बारों के चलते नहीं, जो स्फुट सामग्री के रूप में बिखरे पड़े हैं और जिन्हें मौलिकता के फेर में पड़कर बेतरतीब रख दिया जाता है।

**द्वन्द्वात्मक स्थापत्य :** आजकल शील, उक्ति तथा परिस्थिति में विरोधाभास, नाटकीय झटकों, भाषा और भावों के द्वन्द्वात्मक स्थापत्य तथा असङ्गति के चमत्कारों का बेहद बोल-बाला है। जहाँ द्वन्द्व, आकर्षणों का असमंजस, विवेक की किंनिष्कर्षविमूढता, हाथी पर चढ़ाकर कुत्ते से कटवाने का ही छल कला का लक्ष्य हो जाता है, वहाँ उदात्त की सृष्टि नहीं हो सकती। प्रतिपक्ष के कथन का तर्क के बल पर खण्डन करने की परिपाटी, या प्रेयसी से आगमन और निगमन के ढंग पर तूत्-मैंमैं करने की प्रथा (जो अँगरेजी में डन और उनके आजकल के अनुयायियों की एक शैली है) कविता को प्रौढ वयस्कों की चीज नहीं बनाती, बल्कि उसे बन्द कमरे का प्राणायाम बना डालती है। उसी तरह मन्तव्य को छिपा लेनेवाली कवि की विद्वत्ता भी उदात्त के लिए घातक है। सच तो यह है कि काव्य में मेधा की जो तारीफ आजकल की जाती है, वह दरहकीकत मेदे की गड़बड़ी है। जहाँ बड़े

पैमाने पर, अथवा बड़ी गहराई में उतरकर, जीवन या जगत् के नित्य-सनातन विधान के रूप में द्वन्द्व विभावित किया जाता है, वहाँ तो उदात्त हाथ लगता है, लेकिन जहाँ वितण्डावाद खड़ा हो जाय और तर्क-कर्कश अहं ही राज्य करने लगे, वहाँ आपत्ति ही आपत्ति है। यही कारण है कि बर्नार्ड शा की सेण्ट जान में न्यायालय की सुनवाई और वकालत की विदग्धताएँ उसकी शक्ति को कम कर देती हैं और उसकी सारी करुणा उस भाषण में है, जिसमें जान प्रायः विदाई-सी लेती है और जिसकी झाँकी वायसराय को आगाखाँ-महल से लिखे गाँधीजी के पत्र में मिलती है। सेण्ट जान के उपसंहार में जब जान लौट आती है, तब पछतानेवाले भी फिर वही गलती करने के लिए तैयार दीखते हैं। रह-रहकर इतिहास में ऐसी घटनाओं की आवृत्ति होती है तथा पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के बाद भी हम अपनी निर्मम मूर्खताओं की ही आवृत्ति करते हैं—अपने में यह सत्य उदात्तकोटिक है, लेकिन बातचीत के स्तर में इतनी तार्किकता, इतनी विदग्धता, श्रद्धा का इतना अभाव और विनोद का इतना हल्कापन है कि भावों की असङ्गति प्रभाव को ले डूबती है।

विदग्धता की चकाचौंध और तर्क के आघात में सबसे बाजी मारनेवाले बर्नार्ड शा, अपने विज्ञापन के बावजूद टके के नाटक के लिए नौ टके की भूमिका लिखने के बावजूद, उदात्त की सृष्टि नहीं कर सके। उनके Man and Superman तथा Back to Methusclah में भी खण्ड-दृश्यों और कल्पना की स्फुट लपटों के अतिरिक्त उदात्तकोटि की कोई चीज नहीं है। शा का सीजर भी ( Sphinx वाले दृश्य को छोड़ दीजिए तो) इन्हीं असङ्गतियों और लघुताओं के चलते चौपट है। नाटक के कथोपकथन की चालाकी, गम्भीर-से-गम्भीर परिस्थिति में भी बनाने की कोशिश, गौरव या श्रद्धा का अपहरण करनेवाले हास्य शा को ऊपर नहीं उठने देते। चक्करदार पेचीदगियों के व्यूह या 'Wit' के पैंतरे उनलोगों की चीजें हैं, जो डाक्टर लोविस की तरह 'भाइयो, हम बालिग हैं, अब किशोर नहीं', ऐसी मुनादी देते फिरते हैं।

यह ठीक है कि जिस Disparate Blend ( बेमेल भावों के मेल ), Incongruity ( असङ्गति ), Critical intelligence ( सतर्क बुद्धि अथवा आक्षेप-सामर्थ्य ) तथा Wit (ऊहा) की शा प्रशंसा करते हैं, उसकी अपनी रोचकता है। स्पष्टवादिता, व्यंग्य, अश्रद्धा, प्रतिमा-खण्डनवाली निःशील शैली में अवश्य ही तनिक चटपटे कचालू, चाट और दहीबड़े का मजा है। कुछ तीता, कुछ खट्टा, कुछ नमक, कुछ मिर्च, कुछ अदरक, कुछ प्याज—मुँह से 'सी-सी', आँख से तनिक तीता लगनेवाला आँसू और जीभ तनिक जलती-सी। हम जी रहे हैं, मर नहीं गये, इतना तो अवश्य हो जाता है। लेकिन, हम जी ही नहीं रहे हैं, हम जग गए, यह काम उदात्त का है। एक बात और है। इसी ऊहा और विवाद के चलते व्यंग्य और अपकर्ष, या विशेषतः पतत्प्रकर्ष (Anti-climax, Bathos) का भी एक सम्प्रदाय-सा चल पड़ा है—'मैंने आर्त्त क्रन्दन किया है, मैंने प्रार्थना की है और मैंने अपने जराग्रस्त चाँद को गंजा होते भी देखा है', 'I have measured out my life with coffee spoons !' मिलते ही नवविवाहित दम्पति ने एक दूसरे के केश

सूँघे। दो दिनों की रेल-यात्रा में न वर ने, न वधू ने ही स्नान किया था। पसीना सड़ रहा था। दोनों ने तय किया कि नहा लेना बुरा न होगा। सुहागरात के सारे रोमांस की नाक ही काट ली, अथवा यथार्थवाद का उसी क्षण जन्म हो गया।

दूसरा उदाहरण लीजिए—'मैंने वेदान्त पढ़कर देखा है, मैंने बंसी में केंचुआ गूँथकर देखा है।' तुच्छता, अनर्गलता या जैसा पहले कहा है, हाथी पर चढ़ाकर कुत्ते से कटवाने की इस शैली का मूल्य रस के संसार में माध्यमिक है और ऐसी प्रतिभा उदात्त के ठीक प्रतिकूल है।

ठीक इसी तरह निषेधवाली शैली, जो उपनिषदों में पाई जाती है—'न वह छोटा है, न वह बड़ा है; न वह देश में है, न वह देश में नहीं है; न वह काल में है, न वह काल में नहीं है'—बोध-जगत् की चीज है, शक्ति-काव्य की नहीं। लेकिन जब इसी बात को ऐसे कहा जाता है—'वहाँ कोटि-कोटि सूर्यों की, कोटि-कोटि चन्द्रों की विभा का भी पता नहीं चलता, वहाँ वाणी रुक जाती है और प्राण समाप्त हो जाते हैं'—तो उस अनन्त तेजोमय दिव्य ज्योतिर्लोक के रहस्य में हम रमने लगते हैं। मात्र निषेध या विरोध की शैली से मोह-भङ्ग तक ही हो सकता है, एक परा, अतीतोत्कृष्ट भूमिका की कल्पना नहीं। उदात्त के लिए 'नेति','नेति' वाली परिपाटी समीचीन नहीं। उसके लिए तो किसी अतिशय के परे का भावात्मक संकेत ही अभीष्ट होगा।

**उदात्त और उत्प्रेक्षा :** उत्प्रेक्षा कवि-कल्पना की उर्वरता का द्योतक मानी जाती है। साथ ही, कुछ लोग उसे कवि के पर्यवलोकन की चंचलता का परिचायक मानते हैं। पहली दृष्टि से कवि की प्रशंसा की जाती है, दूसरी दृष्टि से निन्दा। कवि ने एक वस्तु के प्रति अनेक उक्तियाँ कहीं, उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखा, यह रही प्रशंसा की बात। कवि ने अपनी क्षण-क्षण बदलती प्रतिक्रियाओं को रखा, वह वस्तु का यथार्थ स्वरूप अथवा आलम्बन का वास्तविक निरूपण नहीं कर सका, यह हुई निन्दा की बात। गम्भीर चिन्तन की हार्दिकता अथवा हृदय की गम्भीर चिन्तनशीलता वस्तु का एक ही अमोघ रूपक सामने लाकर रख देती है। इसके अभाव में कवि दर्जनों चित्रों को रखता है और वह असफल रह जाता है। शेली ने अपने Skylark को 'स्वर्ग देश या उसकी सीमा का आत्माराम गायक' कहा, फिर उसे 'अपने ही विचार या भावना के प्रकाश में छिपे' कवि, जैसा कहा, फिर 'पत्तियों की झुरमुट में रह-रहकर प्रकाश विकीर्ण करनेवाले जुगनू' जैसा कहा। अबाबील इतनी ऊँचाई पर जा उड़ता है और उसका सङ्गीत इतना श्रुति-सूक्ष्म होता है कि उसे हम केवल सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। अब कठिनाई यह है कि यहाँ अनुभूति का न तो योगफल ही होता है, न गुणन ही हो पाता है। ऐसा भी नहीं कि आलम्बन के भिन्न-भिन्न पक्षों के निरूपण के लिए पृथक्-पृथक् चित्र लिये गये हों, जिससे हम एक सम्पूर्ण चित्र की कल्पना कर सकें, न ऐसा ही कि ये उत्प्रेक्षाएँ अनुभूति को घनीभूत करती चलें, या तारतम्य-विधि से ऊपर उठायें। पहले तो कहा, स्वर्ग का आत्माराम गायक, जिसमें मुक्त चैतन्य तक जा पहुँचे, फिर उतर आये जुगनू और गुलाब की तुलिया में,

जहाँ फूल-पत्तों में निहाँ होता है, लेकिन प्रेमी पवन चूमकर लौटता है, तो बात छिप नहीं पाती, खुशबू फैल ही जाती है ! इसलिए, उत्प्रेक्षाओं के भिन्न-भिन्न ढंग ही साध्य हो जाते हैं, जैसे किसी नाजनी से स्वतन्त्र उसके नखरे हो जायँ। चन्द्रमा में श्यामता को लेकर इतिहास, भूगोल आदि से जो समस्या-पूर्त्ति की जाती है, वह वातावरण में राम को भुलाकर। प्रभु का प्रश्न है—'शशि में श्यामता कैसे ?' उत्प्रेक्षा के फेर में पड़नेवाले वानर-कवियों को अपना मोह रहा, उनका नहीं। एक-से-एक विचित्र हेतु-कल्पना की होड़ मची। एक हनुमान् को प्रभु का ज्ञान रहा। त्रिलोकसुन्दर श्यामघन राम के अतिरिक्त क्या प्रकाश और क्या श्यामता ? 'प्रभु मूरतिबिधु उर बसति सोइ श्यामता भास।' एक ही साथ हनुमान्, चन्द्रमा के हृदय, प्रभु की व्यापक करुणा, प्रेम के वश में रहनेवाले ज्ञान, तन्मयता के पाँव-तले रहनेवाली उत्प्रेक्षा और भक्ति के पाँव-तले रहनेवाली मुक्ति के दर्शन हो जाते हैं। सारा वातावरण तनाव से मुक्त हो जाता है। भगवान् बिहँसते हैं, हनुमान्जी की सरलता पर, यार लोगों की चतुराई पर।

काम की बात इतनी ही हाथ लगती है कि मात्र बुद्धि-विलासवाली उत्प्रेक्षा उदात्त के अनुकूल नहीं। यदि उत्प्रेक्षा आये भी, तो मात्र सादृश्य-चातुरी के लिए नहीं, अथवा 'केहि कारण ऊँट पे कूकुर नाचे'-वाली जाति की समस्या-पूर्त्ति के लिए नहीं, बल्कि भूमिका के उत्क्रमण के लिए। स्तर अथवा मर्यादा का विचार तो अनुल्लङ्घनीय है ही, एक दूसरी बात भी है। उत्प्रेक्षाओं के क्रम में तारतम्य, सङ्गति, हार्दिकता तथा एक बड़े भाव-नद में मिलनेवाली सजातीय धाराओं की समाधि का विचार भी आवश्यक है। यदि उत्प्रेक्षाओं की एक शृङ्खला हो, जिसमें कहीं तुच्छता, कहीं उपहास, कहीं माधुर्य, कहीं सूक्ष्मता, कहीं ऊर्जस्विता, कहीं विज्ञान, कहीं देवलोक, कहीं वनस्पति-जगत्, किसी में इतिहास, किसी में दर्शन के उपकरण हों, तो ऐसी चीज बेमेल हो जाती है। ऐसे प्रयास से पाण्डित्य अथवा प्रेत-लेखनी का गौरव जिसे मिलना हो मिले, उदात्त का कुछ नहीं बनता। इसलिए या तो एक ही उत्प्रेक्षा दे, जो भाव का लोकातिशय गुणन कर दे, अथवा कई दे, तो ऐसी दे कि प्रत्येक की भावधारा से, स्वभाविक लय के द्वारा, एक महानद तैयार हो जाय। विपरीतधर्मी, गौण, उपहास्य, मार्मिक सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाओं को एक साथ रख देने से नाटकीयता का मजा भले ही आये, लेकिन थकान ही हाथ लगती है।

उत्प्रेक्षा की यह बला उक्तियों तक ही सीमित नहीं। शील-निरूपण या परिस्थिति में भी कभी-कभी वस्तुविन्यास को समृद्ध करने के लिए इसकी विधि अपनाई जाती है। खलहृदय समाजद्रोही और लोकमङ्गल के आदर्श के लिए जीने-मरनेवाले किसी शिव-हृदय परोपकारी को दिखा देने से पहले की अपेक्षा दूसरा आसानी से ऊपर उठ जाता है। ठीक है, लेकिन उदात्त काव्य में हितोपदेश, पञ्चतन्त्र या व्यतिरेक-न्याय के आश्रित किस्से, उदाहरण, दृष्टान्त-कथन आदि की विधि समीचीन नहीं। उदात्त शील किसी की न्यूनता के बल उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता। रावण के वैर से भरत या शबरी, सुतीक्ष्ण या हनुमान् की भक्ति का मूल्य नहीं बढ़ता। इनमें से प्रत्येक अपने में स्वतन्त्रतः उदात्त है। चेतना को विभाजित

करनेवाले विपरीत धर्म के पात्र, जो उपचार से नायक की श्रीवृद्धि करते हैं, अनुकूल नहीं पड़ते। ऐसी विधि Epic या महाभौम काव्यों के अनुकूल पड़ सकती है। एक की भी प्रबल अतिशयता अभिभूत करने के लिए काफी है। जहाँ तक हो सके, उदात्त का स्थापत्य सरल, प्राकृतिक और मिताक्षर होना चाहिए। भावों के गूढ आलोक अथवा प्रबल स्फोट के उपकरणों से ही इसके निर्माण करने की मर्यादा है।

उदात्त और लोकोक्ति-सङ्कुलता : कुछ गद्य-लेखकों या कवियों को मुहावरों की सिद्धि या व्याधि हो जाती है। पाठक पहली दशा में चमत्कृत होता है, दूसरी में पनाह माँगता है। लोकोक्तियाँ बहुत ही कुशाग्र होती हैं, कभी-कभी हथौड़े की तरह चोट करती हैं और उनमें व्यावहारिक अनुभव की प्रथम पूज्यता भी होती है। Idioms और Proverbs (लोक-रीतियाँ और लोकोक्तियाँ) दोनों इसके भीतर आयँगी। लोक-रीतियों में लाक्षणिकता, पदलोप और कहीं-कहीं प्रसङ्गगर्भत्व रहता है। कहावतों में व्यावहारिक ज्ञान तथा हास्य का पुट रहता है। महफिल, सांस्कृतिक गोष्ठियों, मुन्शियों, बाँकों और नवाबों के यहाँ जमनेवाली चौकड़ियाँ और वृद्ध ग्रामीणों की लोकोक्तियाँ निधि-विशेष हैं। गाल बजानेवाली, 'पुनि कछु कहब जीभ करि दूजी', 'चेरि छोड़ि नहिँ होउब रानी'-वाली मन्थरा के लिए कान भरनेवाली कुट्टनी और कर्कशा के लिए इनकी विशेष महिमा है। लेकिन, मुसीबत तब होती है, जब लोक-रीतियों और कहावतों के चलते एक समा बँध जाती है, जो हमें कलाबाजी की दुनिया से ऊपर नहीं उठने देती।

भाव-गम्भीर परिस्थितियों में भी शैली की यह ठिठोली नहीं छूटने पाती। बात-की-बात में जहाँ तलवे सहलाये जाते हैं, खून-पानी एक किया जाता है; कोई नौ दो ग्यारह होता है, तो कोई सर खाता है; कहीं अक़्ल पर परदा पड़ता है, तो कहीं चिराग-तले अँधेरा नजर आता है; किसी का कलेजा मुँह को आता है, तो किसी के कलेजे पर साँप लोटता है। साहित्य में खरीदार कभी-कभी तर्ज पर इतना लट्टू हो जाता है कि कपड़े का अर्ज पूछना ही भूल जाता है। इन मुहावरों में खराद, बाँकपन, नोक, तजुर्बा और तफरीह—परिष्कार, वक्रता, तीक्ष्णता, अनुभव और विनोद के चलते मनोरंजन अच्छा होता है, लेकिन अभिभूत कर देने की, किसी रहस्य-निस्सीम में प्राणों के अवगाहन करा देने की शक्ति इनमें नहीं। प्रेमचन्दजी के लिए, अकबर इलाहाबादी के लिए तो शायद प्रयोजन भी रहा हो, लेकिन 'हरिऔध' जी के लिए तो मुहावरे प्रयोजन से अधिक प्रयोग की ही चीज थे। फिसाने-आजाद को पढ़िए, एक गन्ना चूसते-चूसते ठिकाना नहीं, कितने मुहावरे दाँतों-तले दबते हैं। ऐसी शैली से दिलबस्तगी भले ही हो, पाठकों को उस भूमिका पर नहीं ले जा सकती, जहाँ सत्ता की चेतना में ही विप्लव आ जाता है। बहुत मुहावरे बोलने या लिखनेवाले द्रव्य की दरिद्रता, अभ्यन्तर के अभाव और सिर पर फुर्सत की बला के चलते ऐसा करते हैं।

दूसरी बात एक और विचार करने की है। शब्द की तीन शक्तियों में लक्षणा की स्थिति माध्यमिक है और उसका मूल्य भी माध्यमिक है। शक्ति के क्षणों में उत्कर्ष का

प्रत्यक्ष दर्शन होता है, या उसकी चरम व्याकुलता होती है, जो प्रायः दर्शन की चीज है। इसलिए, अभिधा और व्यंजना उदात्त के अनुकूल पड़ती हैं। संयोग-सुख चाहनेवाले अभिधा को, तथा वियोग की आकुल उत्कण्ठा को संयोग से भी अधिक श्रेयस्कर माननेवाले व्यंजना को पसन्द करते हैं। 'राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा' और 'कोतलसंग जाहिँ डोरिआए' में परिस्थिति और अभिव्यक्ति की अभिधा का कोई जवाब नहीं। नहीं कुछ कहने के संकोच, उस संकोच की मर्यादा, उस मर्यादा की अनन्य प्रभविष्णुता का अनुपम उदाहरण जगज्जननी का ग्रामवधूटियों की ओर वह संकेत है, जिसमें प्रभु से अपना सम्बन्ध बताया जाता है।

वनवास के समय 'पिता दीन्ह मोहिँ काननराजू' न कहकर, यदि राम कहते, 'आपके आशीर्वाद से हम जंगल में भी चैन की वंशी बजायेंगे', तो हर्ष, कृतज्ञता, उदारता, अम्लान स्थिरता, सरल निर्मलता तथा परिस्थिति से ऊपर उठने की सहज दार्शनिकता की समवेत व्यंजना न हो पाती। मुहावरों में जो लाक्षणिकता होती है, उसमें केवल बोध करा देने की विचित्रता होती है। लक्षणा का व्यापार बुद्धि तक ही सीमित रहता है। उदात्त काव्य में मानसिकता नहीं, मार्मिकता चाहिए। व्यंजना में वातावरण के निर्माण की शक्ति है। लक्षणा में तनिक असमंजस और फिर स्पष्टीकरण का कुतूहल है, नाटकीयता है, विद्युत् का झटका है, प्रकाश नहीं। प्रसङ्ग-प्राप्त या पात्रोचित ऐसे कथन की, जो स्वयं लोकोक्ति-से लगें, बात दूसरी है, नहीं तो भरसक लक्षणा की वैचित्र्य-साधना से उदात्त का दूर रहना ही ठीक है।

शब्द-सागरता : उदात्त काव्य के स्रष्टा को निरभिमान होना बहुत ही आवश्यक है। यों तो यह कवि का पहला धर्म है, लेकिन उदात्त की यह अन्तिम माँग भी है। Huxley जैसे आदमी, जो दिन-रात एन्साइक्लोपेडिया चाटते रहते हैं और नवीनतम संस्करणों के फेर में पड़े रहते हैं, अपने को अपनी कृतियों में बचा नहीं सकते। कृतियों के कलेवर में (विशेषतः उपन्यासों में) नानाविषयक स्फुट पाण्डित्य को ठूँसने की जो सनक आजकल सवार है, वह तो इस मर्त्यलोक में पृथ्वी का भार बढ़ाती है। विद्या-सागर होना एक बात है, शब्द-सागर होना दूसरी बात है। विद्या-सागर में भाव के उपयुक्त शब्द-विवेक होता है, शब्द-सागर में स्मृति का अजीर्ण है। हमारे यहाँ इसीसे मङ्गलाचरण अथवा आवाहन की परम्परा है, जिससे दीनता और निवेदन की मुद्रा छा जाती है, प्राण हलके होकर ऊपर उठते-उठाते हैं। विद्या-सागर विनियोग जानता है, शब्द-सागर को पर्याय की तृष्णा होती है। कठिनाई सिद्धान्तों को सूत्र-बद्ध करने में हो सकती है, लेकिन भावों की 'झरसरि' अभिव्यक्ति ही उदात्त के अनुकूल पड़ती है; विचारों की उत्तुङ्गता भावों की गहराई और वेग की अपेक्षा है, न कि शक्ति के लिए विशेषणों और क्रियापदों का वैभव दिखाने की।

अतिलालित्य : अतिललित पदावली, शैली में नजाकत, सानुनासिक और अतितरल वर्णों का शृङ्गार, क्रियापदों की बारीकियों से भावों के रेशमी रेशे निकालने का लोभ,

रङ्ग, स्वाद, सौन्दर्य, स्पर्श, ध्वनि-माधुर्य की अतिकमनीयता—ऐसे प्रयास उदात्त के प्राण, पूँजी तथा दार्शनिकता के प्रतिकूल पड़ते हैं। किसी का कुछ यों देखना कि इकरार भी है, इनकार भी है; अँगड़ाई लेने और दुपट्टा सरकने-सरकाने की अदाएँ, कंचुल-जैसा कोई भी सौन्दर्य-स्पर्श, जिस पर कवि-कल्पना बिछला करती है, ऐसा शीत-ताप, जिसमें कविता का मेरुदण्ड और कवि के होंठ हलके जाड़े से थर-थर काँपते हैं, पराग को यों ही पाउडर की तरह, माले-मुफ्त की तरह, उड़ाते रहनेवाले नाज, या प्रायः ऐसे सभी हाव, भाव, नखरे, अङ्ग मटकानेवाले प्रसङ्ग, 'मूड्स' ( Moods ) के वैचित्र्य-विलास, छाया-दशाओं की सूक्ष्म रेखाकृतियाँ उदात्त की गम्भीर प्रकृति तथा प्राण-शक्ति के साथ मेल नहीं खातीं। पुरुषसिंह को ऊँची एड़ी के सैण्डल पहनाकर राजमार्ग पर चलाना उपहास का भी अपमान करना है। उदात्त में कवि रूमाल निकालकर कविता का महीन पसीना नहीं पोंछा करता।

आवेश-दौर्बल्य : जिस तरह शैली का परिष्कार-विलास उदात्त के लिए घातक है, उसी तरह आवेश की दुर्बलता भी है। भगवान् राम समुद्र-तट पर जाते हैं, विनय की बात करते हैं। लक्ष्मण जी चिढ़ जाते हैं। उन्हें शान्त करने के लिए आश्वासन देकर भगवान् बैठ जाते हैं। आत्मविश्वास और विषम परिस्थिति में भी शान्त-गम्भीर शौर्य की मर्यादा चित्र-लिखित-सी हो जाती है। बीच में दूसरा प्रसङ्ग छिड़ जाता है—शुक का। विषयान्तर जैसा लगता है, लेकिन तनिक दृष्टि गड़ाकर देखने पर पता चलता है कि रोष की गर्भावस्था नायकोचित उत्कर्ष के लिए बहुत ही मूल्यवान् है। शुक आकर, सौन्दर्य, क्षमाशीलता, कृपालुता और शक्ति के दृश्य से ओतप्रोत होकर जाता है।

रावण शुक की बातों का तनिक भी विश्वास नहीं करता—

'सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपुबल बुद्धि थाह मैं पाई॥'

लक्ष्मण उतावले हो गये! रावण सुन तक नहीं सकता! अब तो सिन्धु-शोषण की आकुलता और भी तीव्र हो जाती है। शुक वापस आ जाता है, तो उसका प्रभु उद्धार कर देते हैं। एक ओर अविश्वास की दशमुख पराकाष्ठा, दूसरी ओर उद्धार करने की, राक्षस से मुनि बना देने की, तत्त्व में ही आमूल परिवर्त्तन ला देने की शक्ति रखते हुए भी राम का लोकातिशय संयम!

तब कहीं 'बिनय न मानत जलधि जड़'-वाली परिस्थिति आती है। फिर, उस दृश्य का क्या कहना—

'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥
मकर उरग झषगन अकुलाने। जरत जन्तु जलनिधि जब जाने॥'

इस चरम बिन्दु ( Crisis ) की दो अनिवार्यताएँ विभाषित हो चुकती हैं—रावण के द्वारा अभावमूलक ( Negatively ) और शुक के उद्धार के द्वारा भावपरक ( Positively ) विभीषण की शरणागति के पहले सुग्रीव की भीरुता के चलते जो

विलम्ब होता है, वह भी इसी तरह आवश्यक है। उदात्त की गम्भीरता के लिए अवधि का ऐसा गर्भ-विधान मनोवैज्ञानिक है, और इसके विपरीत आवेश का सहसा-विधान उदात्त के लिए घातक है। शैली में आवेश-दौर्बल्य विशेषतः वहाँ देखने में आता है, जहाँ कथा वक्ता या लेखक प्रभाव का तारतम्य रचने लगता है। एक ही साथ टीस, कसक, धड़कन, चोट की बात करनेवाले, रोटी को एक ही साँस में जिन्दगी, बहू-बेटियों की लाज, माँ, धर्म, परमात्मा आदि गिना देनेवाले, या सन्दर्भ को भुलाकर भगवान् को एक ही रूढ-शृङ्खला में आनन्दकन्द, मधुसूदन, माधव, शुद्ध सच्चिदानन्द, परब्रह्म, रसराजशेखर, गोवर्द्धनधारी आदि कह डालनेवाले व्यास आवेश-दौर्बल्य के उदाहरण हैं। विशेष्य और विशेषण में 'जल-बीचि' का सम्बन्ध है, और ध्यान अथवा दर्शन से ऐसा विशेषण हाथ लगता है। आवेश की दुर्बलता में विशेष्य को खण्ड-खण्ड कर जो लोग विशेषणों का कुहराम मचाते हैं, वे वस्तु का नहीं, अनजाने, अयाचित तौर पर, अपना परिचय दे डालते हैं।

उदात्त के चित्रण के मोटे भेदों को तनिक ब्योरे से देखें—

(१) दृश्योदात्त, (२) शीलोदात्त, (३) कालोदात्त, (४) व्यासोदात्त, (५) अणूदात्त, (६) प्रारब्धोदात्त, जिसके उपभेद होंगे—(क) अङ्गोदात्त, (ख) चक्रोदात्त, (ग) विपाकोदात्त, (घ) दैवोदात्त, और (ङ) निसर्गोदात्त; (७) करुणोदात्त, जिसके भेद होंगे—(क) शिव और शिव का द्वन्द्व, (ख) शक्ति के चलते ही क्षय, (ग) सापेक्षता, (घ) शक्ति और सुमति का बिलगाव और (ङ) शुद्ध रहस्य, जिसके भेद होंगे—अतिरिक्त विपाक तथा संक्रमित विपाक।

[१] दृश्योदात्त : दृश्योदात्त के कुछ मुख्य प्रकार नीचे दिये जाते हैं—

(क) ऐसे दृश्य, जो रूप, ध्वनि, तेज या स्पर्श के चलते भय उत्पन्न करते हैं, जैसे—भूधराकार शरीर, गम्भीर और विलम्बित मेघ-गर्जन, मृगराज की आँखें, पूरे व्योम को मण्डलाकार चीर देनेवाली बिजली की कौंध, किसी शिलाखण्ड की वज्रकठोरता। स्मरण रखने की बात है कि प्राकृतिक दृश्यों में माधुर्य के उदात्तकोटिक चित्र साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। यदि कहीं किसी पक्षी के कण्ठ ने किसी शैली को आकृष्ट किया और उसे वह 'मुक्ति का आत्माराम गायक' कह बैठा, या हजारों पक्षियों के कलरव, लहरों के नर्त्तन या द्रुम-दल के समवेत मर्मर में किसी टैगोर ने विश्व में निहित आनन्द या सहज सामंजस्य का दर्शन किया, तो कथन इतना अधिक रहता है और विभावन इतना कम कि दृश्य को श्रेय कम मिलता है, कवि-कल्पना के आरोप को ही अधिक। प्रकृति के जगत या मानव के संसार के जो बीभत्स दृश्य मिलते हैं, वे जबतक भयानक भी नहीं हो जाते, उनका गुणकल्प (Transvolution—यदि आप इस शब्द को ग्रहण कर लें) नहीं हो जाता, वे उदात्त नहीं हो पाते। देवताओं को बन्दी बनाकर दासता करानेवाले रावण की सोने की लंका, जब सोने का कड़ाह हो जाती है और पवनपुत्र हनुमान् अग्निदेव तथा उनके इष्ट-मित्रों के लिए अनेक व्यंजनों के रूप में राक्षसों को पकाने लगते हैं, अट्टहास करते हैं, उनचासों पवन के ढोल बजाते हैं, तो बीभत्स, भयानक और क्रीडा-कुतूहल का उदात्त मूर्तिमान् हो जाता है। उसी तरह, यदि पिशाचिनियाँ और योगिनियाँ सद्यः शोणित

पी-पीकर, उन्मत्त होकर, नाचती हैं और गृद्धों की मदमत्त पंक्तियाँ ऊँचे गगन में अँतड़ियों की 'बालगुड़ी' उड़ाती हैं, तो बीभत्स, भयानक और क्रीडा-तत्त्व के प्रपानक से अनुभूति का शोध भी हो जाता है और भयानकता के चलते दृश्य उदात्त कोटि तक जा पहुँचता है।

(ख) दृश्योदात्त का दूसरा भेद होगा ऐसा दृश्य, जिसमें हानि पहुँचने की सम्भावना कम हो और गति की लोकातिशयता हो, जैसे—धूलि का मण्डलाकार ताण्डव, दूर से देखने पर जेठ की चिलचिलाती दुपहरी और उसकी मरीचिका, आकाश से कौंध के साथ टूटनेवाला बड़ा-सा तारा, पलक मारते अन्तरिक्ष में विलीन हो जानेवाला राकेट, दीवार पर छाया-नृत्य करनेवाली आग की लपटें। इसमें भय की अनुभूति उतनी मार्मिक नहीं, जितनी स्थिर जड़ की चेतन की ओर, सूक्ष्म की ओर, गति की ओर एक प्रगति अथवा क्रान्ति। शारीरिक तमस् (भारीपन, आलस्य, स्थिति) की रजस् (Energy) की ओर गति। ऐसा लगता है कि पुद्गल-प्रमाद अब सूक्ष्म आत्मा की ओर, भाव-जगत् की ओर, चित् की चेष्टाओं की ओर बढ़ रहा है।

(ग) निःस्तब्धता के दृश्य—इन दृश्यों में कुछ तो सात्त्विक होंगे, जहाँ हमको निस्सीम की शान्ति का मूक दान प्राप्त होगा, और दूसरे ऐसे होंगे, जहाँ की निर्जनता या भग्नांशता अपनी स्मृतियों के चलते उदात्तकोटिक होगी। इसमें कवि-कल्पना ऐतिहासिक साहचर्य और अतीत राग के चलते, काल की अविच्छिन्न धारा के दर्शन के चलते, रोष प्रकट करती, दार्शनिक ज्ञान के प्रकाश डालती, करुणा में डूबती-डुबाती चलती है। कभी यहाँ एक महानगर था, यहाँ राजप्रासाद रहा होगा···जनजीवन, ऐश्वर्य, कोलाहल, फिर संघर्ष और ध्वंस के टूटते कगारे, ढहते दुर्ग···और इस तरह परिवर्त्तनों में विभावित काल का सनातन व्यंग्य!

(घ) छाया-अभिसार के दृश्य—प्रकृति के ऐसे दृश्य भी चित्रित किये जाते हैं, जहाँ का एकान्त लोक के शरीरधारी और परलोक की अशरीरी शक्तियों के छाया-अभिसार की मनःस्थिति पैदा कर देता है, जैसे—झाड़ियाँ, कोई लड़खड़ाती झोपड़ी, साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलनेवाली पगडण्डी, पास में वर्षों से टूटी पड़ी पनचक्की···दूर तक रात्रि के अन्धकार का राज्य। इस प्रकार के अनेक व्योरों से एक तरह के भय का वातावरण तैयार हो जाता है, जो सन्ध्या को छानेवाले अन्धकार में मात्र नीरवता नहीं ला देता, बल्कि एक बसा हुआ संसार-जैसा लगता है, जिसमें रहस्य-जगत् के प्राणियों की सायँ-सायँ कल्पना को भीत-प्रकम्पित करता रहता है। कभी-कभी पाप-चेतना से अन्तरात्मा का द्वन्द्व भी इसमें मिल जाता है। वर्डस्वर्थ ने अपने ऐसे अनुभव का चित्रण किया है, जिसमें अण्डे चुराने की पाप-चेतना से पीड़ित अन्तरात्मा चट्टानों में भी प्राण देखती है। कालरिज के Ancient Mariner में हेतु-कथन यदि कम स्पष्ट होता, तो जहाज, नाविकों के कंकाल, विकृत महाजलराशि तथा ऊपर से मँडरानेवाली 'एलबेट्रेस' की आत्मा के चलते उदात्त का प्रामाणिक संसार हाथ लगता। इसी तरह, जहाँ बहुत ऊँचे शिखर की सत्ता का गगन में लोप दीख पड़ता है, वहाँ भी हम इस भूमिका पर जा पहुँचते हैं।

(ङ) प्रकृति के उदात्तकोटिक चित्रण का एक दूसरा स्वरूप दो प्रकार से देखने को मिलता है : (१) प्रमाद के अजेय सङ्कल्प के रूप में और (२) सङ्कल्प के सहज अभाव के रूप में—(१) सभ्यता और विज्ञान की विजयवाहिनी चलती है, लेकिन अपने सनातन अहं में आप ही बद्ध, अविचल, मौन, बर्बर प्रकृति निरंकुश बनी रह जाती है। नई विचारधारा, नया चलन, नये मतवाद आते हैं और चूर-चूर हो जाते हैं, उनकी स्मृति तक नहीं रह जाती। पुनश्च, रक्त के रहस्य-पुलक तथा रसातल की वासनाओं के प्रतीक के रूप में प्रकृति एक महादानवी-सी फैली रहती है और सभ्यता के सारे विन्यासों, योजनाओं, परिष्कार तथा अनुशासन के हाथ सनातन का पुंजीभूत व्यंग्य ही लगता है। प्रकृति अपराजेय सङ्कल्प अथवा नित्य शाश्वत प्रमाद का प्रतीक बनी रह जाती है। उसके शून्य-स्मित में शताब्दियों की लाज भरती है।(२) जंगलों, वनों, गिरि-कन्दराओं, शिला-प्रदेशों में कुछ ऐसी आकृतियाँ देखने को मिलती हैं, जो बड़ी-बड़ी प्रातिभ रेखा-भङ्गिमाओं से आप ही आप बन गई हैं। वृक्षों के झुरमुट, पञ्चताल, दो-तीन शिला-खण्डों और किसी प्राचीन वृक्षों की जड़ों या शाखाओं का अनायास जटाबन्ध—ऐसे दृश्य जीवन्त सत्ता के भ्रम पैदा करा देते हैं। लगता है, जैसे प्रकृति देवी की उँगलियाँ आप-से-आप फिर गई हों और मात्र प्रेरणा ही, इच्छा ही, मानों कला बन गई हो। जहाँ स्वभाव से फूट पड़नेवाली किरण स्वयं ही कला बन जाय, जहाँ बुद्धि के पिङ्गल और अलङ्कार का अत्यन्ताभाव-सा हो, जहाँ तन्मात्राओं ने स्वयं अपना छन्द पा लिया हो, वहाँ प्रकृति-जगत् में सङ्कल्प के उस सहज अभाव के दर्शन होते हैं, जिसका पर्याय स्वयं सिद्धि ही है।

(च) प्रकृति जहाँ अनासक्त तृतीय के रूप में स्थित रहती है, वहाँ भी उसके उदात्त स्वरूप की झाँकी मिलती है। इसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच, देश-देश के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच, समाज-व्यक्ति के बीच, प्रकृति एक अन्यमनस्क, प्रायः शून्यमनस्क, तटस्थ तृतीय के रूप में दिखलाई जाती है। सुहराब-जैसा वीर रुस्तम-जैसे महाबली पुत्र के शव को लेकर पड़ा है। रण-संग्राम का तुमुल घननाद नीरव पड़ा है·····सारा-का-सारा भूखण्ड करुणा और शोक, नियति और उसके व्यंग्य में डूबा है, लेकिन निकट से ही बहनेवाली सरिता निर्द्वन्द्व अनासक्त भाव से बहती जाती है। ऐसी अवस्था में वह एक सरिता अखिल प्रतिनिधि का प्रतीक हो जाती है। प्रतीक का मानव-कल्प हो जाता है, और इस निरपेक्ष उपेक्षा के रहस्य-साम्राज्य की कल्पना से हम अभिभूत हो जाते हैं।

(छ) एक और प्रमुख स्वरूप का उल्लेख कर दृश्योदात्त से विदा लेंगे। प्रकृति के जगत् में, किसी-किसी देश-खण्ड में, किसी-किसी मिट्टी में, ऐसा लगता है, जैसे एक विशेष प्रकार की आत्मा बस गई हो। वहाँ मित्र ने मित्र की हत्या की। अखाड़े के शागिर्द ने उस्ताद को कोल्हू में पीस डाला, कुल की आन पर मिटनेवाले दो परिवारों ने दिन दहाड़े गड़ासे निकाले और सूरमा झुकलौते खोये। उसी वातावरण में एक दिन अपनी शान्त प्रकृति के लिए प्रसिद्ध एक व्यक्ति बैठ जाता है। उसने उस सुनसान में एक अत्याचारी को चाँद-सी भोली और फूल-सी कोमल बालिका के साथ छेड़खानी करते देखा और उसका खून

खौल उठा। उसने अत्याचारी को मारते-मारते देर कर दिया और तत्क्षिक विश्राम के लिए वह उसी अत्याचारी की लाश पर बैठ गया। प्रेषणा के एक घातक आवेश में, उसने उस लड़की के साथ पहले तो प्रेमालाप, फिर बलात्कार किया, फिर उस लड़की का गला घोंट आप पास के ठूंठे बबूल में फाँसी लगाकर झूल रहा। उपकार तक वहाँ न पनप सका, करुणा ने हत्या, आत्महत्या की प्रेरणा पाई। रहस्यमयी प्रेरणाओं के ऐसे अभ्यन्तर-परस्पर से एक विशेष आतङ्क, विस्मय तथा भय का जीवित वातावरण साकार हो उठता है। प्रकृति का एक ऐसा अशुभ-अभिशप्त व्यक्तित्व, एक ऐसी प्रेतात्मा निर्मित हो जाती है कि मनुष्य के सारे इरादे, प्रेम, परोपकार, प्रगति के सभी सङ्कल्प विनाश की ओर ले जाते है। भूमि में जहाँ भूमा ( शिव अथवा अशिव ) का तत्त्व आया कि उदात्त की सृष्टि हुई। भूमि से Epic, भूमा, या भूमाभास से उदात्त।

[२] शीलोदात्त : गुणों के आधार पर शीलोदात्त के तीन भेद किये जा सकते हैं—

(क) सात्त्विक—ऐसे व्यक्ति में त्याग, सहिष्णुता, प्रेम, शान्ति ( प्रसन्नता या न गताभिषेकतः तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः, मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य···।); निर्वैरता, अकिंचनता ( जो परिहरहिँ मलिन मन जानी, जो सनमानहिँ सेवक मानी। मोरे सरन राम की पनही, राम सुस्वामि दोष सब जनहीं।), अनन्यता ( बध्यौ बधिक पर्‌यो पुलय जल उलटि उठाई चोंच···तुलसी चातक प्रेमपट मरतेहुँ लगी न खोंच।), तदपि अनुराग (जलद जनम भरि सुरति बिसारहु, जाचत जल पबि पाहन डारहु। चातक रटनि घटे घटि जाई, बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई।), मुग्ध कर लेनेवाली सहज अहिंसा का माधुर्य (जिनहिँ निरखि मग साँपिनि बीकी। तजहिँ विषम विष तामस तीकी।), शील ( बैरहुँ राम बड़ाई करहीं···।), आयासरुद्ध शिष्टाचार के बदले स्वागत का सहज सम्भ्रम ( उठे राम सुनि प्रेम अधीरा, कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।), स्मृति-मात्र से ( देखत श्यामल धवल हिलोरे) सजल-पुलकित हो जाना ( भरत या चैतन्यमहाप्रभु या माँ की तरह), वैराग्य ( तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा, या नन्दीगाँव के भरत; या संपति चकई भरत चक···। वाले भरतजी), आदि गुण देखने को मिलते हैं। सात्त्विक शील-सम्पन्न पात्रों में चार गुण व्यापक और मौलिक होते हैं—सहजता, द्रव, घनता और परत्व। लोकातिशयता की अवस्था में ऐसे शीलों का व्यापार मानवेतर जगत् को भी प्रभावित करता रहता है। शिलाएँ झरने लगती हैं, पशु-पक्षी तक रो पड़ते हैं ( सीता माता की विदाई के समय शुक-सारिका, राम-वनवास के समय रथ के घोड़े, शकुन्तला की विदाई के समय लताओं की दशा )। पवन, तरु, शाखा, जलद आदि सभी एक भाव-कुटुम्ब के सहोदर, अभिन्न बन्धु हो जाते हैं। इतना याद रखना चाहिए कि यद्यपि भाव का धनी व्यक्ति सदा ही बाजी मार ले जायगा, तथापि सेवा और ज्ञान के पथ पर चलनेवाले कर्मयोगी, ज्ञानी और विज्ञानी अथवा वैज्ञानिक भी परत्व के चलते उदात्त कोटि के हो सकते हैं।

(ख) राजसिक—जहाँ स्वार्थ के लिए भी सङ्घर्ष तथा सामरिक उत्साह का लोकातिशय रूप देखने को मिले, वहाँ राजसिक शील का उदात्त हाथ लगेगा, परोपकार या

लोक-मङ्गल की चेतना की अनिवार्यता नहीं प्राप्त होगी। ऐसा व्यक्ति या तो सक्रियता, अन्वेषण, यात्रा, सङ्घर्ष के आनन्द को ही साध्य मानकर रत रहता है, अथवा उसके प्राण सहज ही उत्तरोत्तर विजय को लक्ष्य मानकर चलते रहते हैं। कोई आवश्यक नहीं कि इसमें व्यय होनेवाला परिश्रम शारीरिक हो। ब्राउनिङ्ग का ग्रामेरियन उपसर्गों तथा 'प्रिपोजिशन' की साधना तबतक करता चलता है, जबतक उसका शरीर आधा सर्द पड़ जाता है। अभी तो ग्रन्थ भी नहीं देखा, भाष्य मनन करने को पड़े हैं। इस जीवन के बाद उस जीवन में अनन्त काल तक व्याकरण के प्रति वह अनुराग, वह साधना, उस साधना का आनन्द-अध्यवसाय चलता रहेगा। अपने ही सुख के लिए चलनेवाली महज व्याकरण की ऐसी अद्वितीय साधना अध्यात्म की दृष्टि से बहुत महत्त्व की बात नहीं। फिर भी, यह अपने-आप में उदात्त है। आवश्यक कसौटी यह है कि लगन और उत्साह की अदम्यता के चलते, उस महान् पैमाने और पूँजी के चलते, हमें ऐसा लगना चाहिए कि संसार में शक्ति, जिज्ञासा, निष्ठा, तत्परता का कहीं ऐसा स्रोत है, जिसका अन्त नहीं। और तब, हमारा छोटा, क्षुद्र अहं व्यर्थ ही उसकी एक कणिका पाकर अपने को इतना महत्त्वपूर्ण समझता है! साथ ही, हमारे विकास की सम्भावनाएँ भी अचानक उन्मुक्त हो जाती हैं। नैतिक भावना से सर्वथा स्वतन्त्र, धर्माधर्म-भावना से निरपेक्ष, भूत-दया, न्याय, करुणा आदि से अविचलित रहनेवाली आसुरी प्रवृत्तियों का अन्ध-बधिर तांडव भी उदात्त कोटि का हो जाता है। लेडी मैकबेथ की भी यही हालत है। 'ट्राय' की लड़ाई के बाद भी विश्राम को नापसन्द कर फिर भ्रमण के लिए, सतत क्रियाशीलता के लिए, निकल पड़नेवाला युलिसिस सक्रियता, कर्मठता, उत्साह, सङ्घर्ष, नित्य नूतनशीलता का अथक सेनानी ही नहीं लगता, गति का वह जैसे एक परमविशेष-सा हो जाता है। फाउस्ट की जिज्ञासा तथा भोग-पिपासा भी ऐसी ही है। शुद्ध रजस् की उदात्तकोटिक अभिव्यक्ति दो रूपों में देखने को मिलती है—जहाँ व्यक्ति के लिए मात्र गति का आनन्द अपने में चरम अभीष्ट हो, और जहाँ व्यक्ति प्राणों की लोकातिशय पूँजी, अभ्यन्तर के अतिविशेष दान के कारण चाहकर भी अपने को न रोक सके और प्रपात की तरह भैरव घोष करता, शक्ति के धूम-मेघ उड़ाता चले। वह शुद्ध निमित्त होकर भी जीवन्त निमित्त होता है और अदम्य अतिशयता के चलते हमारी चेतना को रहस्यमयी कारण-शक्ति की कल्पना में निमग्न कर देता है।

(ग) तामसिक—ऐसे शील की मर्म-तालिका अन्धकार और आलस्य में है। प्रेम या ज्ञान का स्वरूप प्रकाशमय है, इसलिए अन्धकार के चलते कहीं-कहीं तमस् की अभिव्यक्ति प्रेम के विरोधी क्रूर नृशंसता में भी देखने को मिलती है।

ऐसे व्यक्ति की तन्द्रा में परिस्थिति के प्रति इतना अविचल प्रमाद देखने को मिलता है कि सात्त्विक शान्ति भी उसके सामने कुछ नहीं-सी दीखती है। जीवन की तो बात ही जाने दीजिए, मरने के समय भी हेरोड ने निर्दोष बाल, वृद्ध, नर, नारियों को इसलिए कारागार में ठुँसवा दिया था कि उसके मरते ही बन्दियों को कोड़े लगाये जायँ और वे चीत्कार करें, जिससे लोग समझें कि प्रजा हेरोड के लिए रो रही है! आत्म-

प्रवञ्चना, बुद्धि के प्रमाद, आत्मरति और नृशंसता की हद है ! सारा रोम शहर जल रहा था और नीरो वंशी बजा रहा था ! जल में प्रतिबिम्बित अपनी ही छाया के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सदा-सदा के लिए वहीं स्थिर, विलीन हो जानेवाले नार्सिसस की सोचिए। उसी तरह, जिस शत्रु-बन्दी को गोली से मौत के घाट उतार दिये जाने की सजा मिली है, यदि वह सिगरेट पीता हुआ इतमीनान से युद्ध के अपने अनुभवों को चार यारी की शैली में सुनाता चले, खूब मस्त होकर बताता चले कि कैसे उसे भी युद्ध-बन्दियों को गोली से उड़ा देने का काम मिलता था और किस तरह वह हँसा-खेलाकर नौजवानों को आहिस्ता-आहिस्ता बहला देता था, और तब हलके-फुलके ढंग से धाँय···धाँय···धाँय··· ।

और, यह सब तब, जब उसे ही उड़ा देने की तैयारियाँ उसी के सामने हो रही हैं ! ऐसे निष्कपट, अविचल शीत-प्रमाद को, परिस्थिति के प्रति व्यवहार की ऐसी सहज विस्मृति को क्या कहेंगे ? उससे बढ़कर जड़ कौन है और उससे बढ़कर रक्ततः स्थितप्रज्ञ कौन ?

इस प्रसङ्ग में एक बात और उल्लेखनीय है। उदात्त और हेय-हास्य ( Blend of the Grotesque and the sublime ) के सामंजस्य की बहुत बात चलती है। एक ही पात्र उदात्त भी और विचित्रतः हास्य भी, कुछ हेय भी—ऐसी उद्भावना उन लोगों को बहुत प्रिय है, जो मनुष्य की हकीकत को, उसके वास्तविक व्यक्तित्व को विकारों और गुणों का सतमेल व्यंजन मानते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसमें गुणन और नियमन दोनों होते हैं। 'हँसिबे जोग' होने पर भी वह उदात्त है और उदात्त होने पर भी वह हँसने के लायक है। इस तरह, राग का नियमन और श्रेय का गुणन भी होता है। इसमें होता यह है कि अभिव्यक्ति तो उदात्तकोटिक होती है, लेकिन आधार साधारण अथवा आपाततः मूल्यहीन होता है। यदि नाटककार या उपन्यासकार सतर्क और समर्थ नहीं रहा, तो एक विडम्बना मात्र हाथ लगती है। याद रखना चाहिए कि जहाँ उदात्त और हास्य-हेय का मिश्रकल्प (Blend) अभीष्ट हो, वहाँ प्रभाव ऐसा पड़ना चाहिए कि विश्व की सर्जनात्मक शक्ति भी कितनी रहस्यमयी है कि उसके पैमाने, नियम, अथवा रसायन की कुंजी किसी के पास नहीं ! यदि प्रभाव मात्र उच्च विचारों के आरोप का पड़ गया, तो गाढ़ी बनाने के फेर में दाल ही जल जायगी। अभी-अभी ब्राउनिङ्ग के प्रामेरियन की बात कही गई है। मृत्यु-शय्या पर भी 'प्रिपोजिशन' का अभ्यास ! और, मात्र 'प्रिपोजिशन' का अभ्यास मृत्युशय्या पर। इन दो प्रतिक्रियाओं के साथ भविष्य की ऐसी कल्पना कि मृत्यु के बाद भी उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि, शास्त्रीय पुष्टि, सूक्ष्म-भेद-निरूपण तथा ग्रन्थ के साथ भाषा को हृदयङ्गम करने का क्रम अदम्य उत्साह से चलता रहेगा। ऐसे पर हँसी तो आती है (अर्थात् स्मित), लेकिन ऐसे के सामने नतमस्तक भी होना पड़ता है।

[३] कालोदात्त : (क) वर्त्तमान, भूत और भविष्य के विच्छेद से परे समय की अविच्छिन्न धारा दिखा देने से, अथवा (ख) अशरीरी समय को ध्वंस, परिवर्त्तन या भाग्य-निर्णय के पीछे छिपी निरपेक्ष शक्ति के रूप में दिखा देने से, कालोदात्त का दर्शन होता है।

इतना याद रखना चाहिए कि काल की यह उदात्त चेतना ग्रन्थ की समग्रता से हाथ लगती है। यदि कोई पात्र, घटना, परिच्छेद या प्रकरण इस सन्देश के भार के रूप में होते हैं, तो वे चूर होकर रह जाते हैं। उदाहरणार्थ, तीन या चार पीढ़ियों को एकत्र किया जाय। हर पुश्त की काया, सौन्दर्य, स्वर, विनोद, समस्या, शक्ति, आशा, निराशा, उल्लास, पराजय आदि दिखाने से हाथ कोई पुश्त नहीं लगता, बल्कि लगता है काल, जो परिवर्त्तन लाता रहता है और पीछे रहकर नाना नाम-रूप में लीला-क्रम का नट-विस्तार करता रहता है। इसमें स्मृतियों, उमङ्गों के भग्नावशेष, पौरुष और आकांक्षाओं, उत्साह और दशनविहीन जराग्रस्त पुरुषार्थ के परिवर्त्तन, अतीत के दिन और मृत्यु के बाद की दुनिया की टकटकी सब मिलकर काल को व्यक्ति या शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर देते हैं। उसी तरह, सभी ऋतुओं में एक वन के प्राणवन्त व्यक्तित्व के परिवर्त्तन की कथा पूरी वास्तविकता और विस्तार के साथ कही जाय, तो काल के अमूर्त्त, निर्गुण व्यापार का रहस्य हमें उदात्त की भूमिका पर उठा ले जायगा। किसी परम सुन्दरी की कथा उठाइए। उसके पीछे विजेता, श्रीमान्, नगर के नगर मदान्ध हो जाते हैं। यौवन को पार करती उसकी कथा आगे बढ़ती है और सन्ध्या के उस छोर तक पहुँचती है, जहाँ संसार की उपेक्षा, झुर्रियाँ, विद्रूप रेखाएँ, खोये द्वीप-जैसा अकेलापन, भुखमरी, झुकी कमर, धनुष की तरह घुटने तक मुँह को पहुँचा देनेवाली खाँसी के दौरे, आधी सर्द पड़ी आग की अँगीठी, अन्धकार की कैद में सिसकता एक छोटा-सा चिराग, निराशा में डूबा क्षितिज और नगर से दूर लड़खड़ाती एक झोपड़ी अपनी सारी करुणा, सारे अवसाद, तथा शुष्क बंजर भविष्य का निर्मम शेष लिये अवतरित हो जाती है। कहानी की समग्रता का ध्यान करनेवाले पाठक के लिए काल एक उदात्त शत्रु या निर्मम योग के रूप में सामने आ जाता है।

कालोदात्त की चेतना गति या परिवर्त्तन-मात्र से ही हाथ नहीं लगती। कहीं किसी भग्नावशेष को देखकर, इतिहास के किसी स्मृति-चिह्न को देखकर, लगता है, जैसे काल बली के भी दाँत इसमें नहीं गड़ पाये। मानों, यहाँ काल के पंख ही निःस्पन्द पड़ गये। काल की आत्यन्तिक स्थिरता के आभास से भी हमको उदात्त का आलोक-लाभ होता है। कहीं-कहीं प्रतीकों, खण्ड-चित्रों या व्यंजना की अन्य रूपक-पद्धतियों के द्वारा काल को निश्चित क्षण के प्रति निष्ठुर निष्ठावाली शक्ति के रूप में दिखाया जाता है। किसी परिवार में कोई अस्सी वर्ष का बूढ़ा है। आज दिन भर ही वह बेचैन रहा। दिन भर वह एक विचित्र हँसी हँसता रहा और रह-रहकर चौंक पड़ता। सन्ध्या हुई। बूढ़ा घर छोड़ बगीचे में चला गया। '...आज...उसकी तिथि है...।' वह रुक-रुककर अस्फुट स्वर में बोलता है। 'किसकी बाबा?' बच्ची पूछती है। (परिवार में और कोई नहीं बचा है। वह है और उसकी एक ही बच्ची बच्ची)। 'उसकी... आनेवाले की...वह नहीं मानता, मेरी बच्ची।"

बच्ची कुछ समझ नहीं पाती। बूढ़ा कुछ बोलता नहीं। वह खाँसता है...लगता है, जैसे भीतर कोई कठोर पंजर टूट रहा हो।

बूढ़ा काँप रहा है, फिर भी वह बाग में चला जाता है। वहाँ कोई काम नहीं। वह यों ही घास साफ कर रहा है। रात बीतती जाती है। 'बाबा, खाना नहीं खाओगे?' बच्ची घर से चिल्लाती है। 'आज भूख नहीं है बेटा।' बूढ़ा कहता है और भयभीत-जैसा घुटनों में मुँह छिपा लेता है।

यह क्या? वह रह-रह कर निशा की साँय-साँय, उस गहन अन्धकार की अखण्ड निःस्तब्धता में मानों किसी अज्ञात अतिथि की पद-ध्वनि पहचानना चाहता है। कोई आता तो है। उसके साथ पाइप पीनेवाला उसका साथी आ जाता है। पूरे पचास वर्षों का साथ है। बात चल पड़ती है। कैसे एक-एक करके उसके पाँच जवान बेटे इसी तिथि को चलते बने···। देर हो सकती है, साल टल सकता है, लेकिन तिथि नहीं···जब उल्लू बोलता है।

तबतक दीवार पर बैठने की, एक बड़े पक्षी के बैठने-जैसी आवाज आती है। दीवार का थोड़ा हिस्सा धम्म से नीचे गिरता है। फिर, पवन का झोंका आता है। खिड़कियाँ खुल जाती हैं···किसी अदृश्य व्यक्ति के प्रवेश-जैसी चिन्ता हो आती है। पवन का दूसरा झोंका आता है और चिराग बुझ जाता है···कमरे का···बाद में उसी रात कुल का।

बाबा की प्रतीक्षा करते-करते बालिका चौके में ही सोई पड़ी थी। उसे डँसकर सर्प वहीं पहरा दे रहा था···। काटने पर बालिका, लगता है, चौंक पड़ी थी, फिर भय से उसकी आँखें पथराईं तो पथराई ही रह गईं, विष को बहुत कुछ करना नहीं पड़ा होगा।

निष्ठुर शत्रु की तरह ठीक उसी क्षण पर आ जानेवाले काल की छायाभिव्यंजना का कङ्काल-मात्र ऊपर दिया गया है। प्रतीक बढ़ाये जा सकते हैं, भाषा कुछ और अधिक उच्छ्वास-जैसी स्फुट, बिन्दु-संकेतवाली बनाई जा सकती है। लेकिन, गुण इसमें उदात्त के है—काल के ध्रुवनिश्चित स्वरूप के चलते। उस कथा की याद कीजिए, जिसमें एक वैज्ञानिक से एक ज्योतिषी ने कहा, 'तुम अमुक समय पर मर जाओगे।' वैज्ञानिक पहले तो हँसा, फिर डर गया, फिर प्रतीक्षा करने लगा। वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। आसन्न चरम के पूर्व के क्षणों में वैज्ञानिक के मन की जैसी स्थिति रही होगी, उसकी कल्पना कीजिए। लेकिन, जब समय का घण्टा एक-एक कर बज गया, तो वैज्ञानिक की विजय का क्या कहना? वह हँसने लगा—जैसे शताब्दियों का विज्ञान शताब्दियों के अनुमान पर हँस रहा हो। और हँसने लगा, तो हँसता ही रह गया। काल के ध्रुवनिश्चित स्वरूप का क्षण-निर्मम नियति का यह एक विरल विशेष दर्शन है। उसी तरह, जहाँ समाज का समाज अपने में ठीक रहते हुए भी, सारी योजनाओं के बावजूद, युग-दोष के चलते कुछ-का-कुछ कर बैठता है, वहाँ भी काल की उदात्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। इस तरह (क) परिवर्त्तन, (ख) आत्यन्तिक स्थिरता, (ग) ध्रुवनिश्चितता और (घ) सर्जनात्मक प्रतिभा अथवा लोकातिशय कर्तृत्व के चलते कालोदात्त की झाँकी मिलती है। यह बात महत्त्व की है कि इसके लिए कई खण्ड-चित्रों, रूपकों तथा व्यंजना के उपकरणों को सँभालना और घनरस करना पड़ता है; क्योंकि इसमें समवेत-समग्र का प्रभाव ही काम करता है।

[४] व्यापकोदात्त : किसी शक्ति, विभूति, अवस्था, दृश्य, गुण, पदार्थ, तत्त्व ( जिसे हमारी परिचय-जीर्ण चेतना ने सीमित समझा था ) के अचानक व्याप्ति-दर्शन से चित्त की जो उत्क्रान्ति होती है, वह हमें व्यापकोदात्त की भूमिका पर पहुँचाती है।

सामान्य काम-वासना की भूमिका पर स्थित पाठक जब 'तलाब', 'तलाई', 'लता', 'तरुशाखा', 'योगी', 'मुनि', 'ब्रह्मवादी' को उद्वेलित देखते हैं, जब पुरुष को अबला-मात्र ही नजर आती है और अबला को पुरुष-मात्र, जब सद्ग्रन्थ जीवित कायरों की तरह कन्दराओं में जा छिपते हैं, तब यद्यपि काम की यह लीला काल की दृष्टि से क्षण भर ही ठहरती है, काम की शक्ति के अखिल प्रसार से व्यापकोदात्त हाथ लगता है; लगता है, जैसे विद्युत् अथवा मधुर विष अथवा मद की कोई अन्तर्धारा सूक्ष्म लकीर की तरह अणु-अणु में फिर गई हो। उसी तरह, रात्रि में दावाग्नि का दृश्य, क्षितिज के चारों ओर फैलनेवाले अन्धकार का राज्य, नील गगन के अनन्त देश का प्रसार···सारा संसार सो रहा है···'My God the very houses seem asleep !'···भी इसी कोटि के हैं। महात्मा गान्धी के दर्शन के लिए लालायित किसी मानव-समुदाय का महासमुद्र ! यहाँ भी वही तरल अनुभूति ! श्रद्धा की शक्ति, न कि नर-मुण्डों के योगफल से व्यापकोदात्त के दर्शन होते हैं। परिस्थिति, पदार्थ अथवा व्यक्तियों की पार्थिव स्थूलता का जहाँ किसी तत्त्व में विगलन हो जाता है—जहाँ वे क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर में से एक की अभिव्यक्ति-जैसे लगें, वहाँ बहुत ही द्रुतगति से वह प्रसार हो जाता है, जिससे व्यापकोदात्त का दर्शन होता है। इसके लिए अनेक आलम्बनों को इकट्ठा करना भी आवश्यक नहीं। भाव, शक्ति अथवा तप का कोई चक्रवर्त्ती श्मशान पर जल जाता है। उसकी भस्म को हाथ पर लेने से कवि सारे संसार और संसारियों का एक व्यापक कपट-जाल के रूप में दर्शन करता है। वह भी उदात्त कोटि की चीज है। प्रकृति के शत-शत कोटि पदार्थों में आनन्द, अवसाद, प्रेम, करुणा, हिंसा, में से किसी एक का निहित या प्रत्यक्ष भान ये सभी व्यापकोदात्त के उदाहरण होंगे।

[५] अणूदात्त : अणु में विभु का दर्शन ही अणूदात्त का दर्शन है। सड़क पर पड़े एक छोटे पिन में, लेटे-लेटे कीचड़ में खर्राटे लेते सुअर में (न कि अनिवार्यतः सुकरात में), सब और सहिष्णुता की मूर्त्ति और प्रत्येक परिस्थिति में गीत गानेवाले गधे में, चिथड़ों में लिपटे एक दीन-हीन पथिक में, समुद्र को उलीच देने के महाभियान के लिए कृद्धोद्यत गौरैयों की जोड़ी में, राम के साथ साकेत जानेवाले कुत्ते के सौभाग्य में, परमलघु मन्त्र-जैसे सिद्धान्त-वाक्य में जिसके मरण-आमन्त्रण का त्योहार देश-भर पर छा जाय, मात्र अस्थिपंजरवाले तपःपुंज नग्न शरीरधारी के आकर्षण में अणूदात्त के दर्शन होते हैं। प्रायः उपेक्षित, अपरिचित, छिपे या आपाततः विकास के निम्न स्तर पर स्थित प्राणी या पदार्थों की महिमा के उद्घाटन में ही अणूदात्त की शक्ति है। एक समय था, जब महिमा के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा या परम्परा की दुहाई थी। राजा, राजकुमार, सेनानी, महामण्डलेश्वर की पूछ थी। उल्लू, भूठ, कुष्ठ, किसान, गड़ेरिये आदि का उल्लेख, उन्हें कुरूप, घृणित अथवा अति-साधारण समझकर, नहीं किया जाता था। अब तो गड़ेरिये, बकरी से प्यार करनेवाले,

पहाड़ी चट्टानों के बीच रहनेवाले किसी गरीब बूढ़े में प्रेम, त्याग, स्वाभिमान, अध्यवसाय तथा अति-वैयक्तिक अनुराग का गाम्भीर्य दिखाया जाता है। छोटी हस्ती की छिपी हैसियत ही इसकी जान है।

विस्मय से हम अभिभूत हो जाते हैं। प्रतिष्ठा-सत्ताधारी, उपाधि-अभिमानी चेतना को लाज भी लगती है तथा उस साधारण बाह्य में आत्मा की उत्तुङ्गता का जो लोकातिशय दृश्य मिलता है, उससे हमारा भी तादात्म्य हो जाता है। इसी तरह, तिर्यक् योनि या वनस्पति-जगत् की छोटी, उपेक्षित सत्ताओं में छिपी अन्तर्ज्योति के दर्शन से अणूदात्त का लाभ होता है।

[६] प्रारब्धोदात्त : बड़े-से-बड़े युद्ध-दुर्मद या सज्जन मनुष्य के सङ्कल्प और शक्ति से परे घटना या भवितव्यता की जो रहस्यमयी सर्वोपरिता है, उसमें प्रारब्धोदात्त का दर्शन होता है। इसके कई रूप हो सकते हैं। उनमें जो प्रमुख हैं, उनका उल्लेख किया जाता है।

(क) अङ्गोदात्त—किसी मेरु-सङ्कल्प या अद्वितीय व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष या समाज को किसी व्यवस्था का अङ्ग दिखाया जाता है। फिर इस अजेय अङ्गी की विशेष अङ्ग के प्रति उपेक्षा या भावशून्य मौलिक निर्ममता दिखाई जाती है। मनुष्य या उसका समाज अपनी शीघ्रता, सङ्कीर्णता, अल्पज्ञता, महत्त्वाकांक्षा या अतिलोभ के कारण एक समाज बनाता है, फिर विधाता ही अपनी सृष्टि का आखेट बन जाता है। इसका एक दूसरा रूप भी है। विश्व में, समाज में, व्यक्ति-व्यक्ति में, कण-कण में, इच्छा-शक्ति, प्राण-शक्ति अथवा विकासोन्मुखी सङ्कल्प-शक्ति छिपी है। कोई महामानव उससे सङ्घर्ष करता है—हार नहीं मानता, लेकिन उसका क्षय होकर ही रहता है। इस शक्ति का कोई प्रयोजन है अथवा वह चैतन्य-स्वरूप है, ऐसा जडवादी साहित्यिक नहीं दिखाते। परिणामतः, मङ्गल का प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन वह व्यापक, अजेय शक्ति प्रबल है ( भले ही अन्ध-वधिर अथवा विवेकशून्य, दयाशून्य हो ), रहस्यमय है, ऐसा सोचकर हम भीत-स्तब्ध हो जाते हैं और उसके नित्य-सनातन-विराट् रूप में रम जाते हैं। बद्ध अहं विगलित होकर मुक्तोत्क्रान्त हो जाता है।

(ख) चक्रोदात्त—प्रारब्ध का चक्र-व्यापार भी उल्लेखनीय है। सारी प्रकृति की सोचिए। पतङ्ग को पक्षी खाता है, पक्षी को साँप खा जाता है, साँप को नेवला काट डालता है, नेवले को मनुष्य मार डालता है, मनुष्य को फिर छहबूँदा (षड्बिन्दु नाम का कीड़ा) या कोई जहरीला कीटाणु खा जाता है। छोटे को बड़ा, बड़े को और भी बड़ा, उस बड़े को उससे भी बड़ा और एक बहुत-बहुत बड़े को एक बहुत-बहुत छोटा फिर मार डालता है। पूरा चक्र है, निर्मम व्यूह है।

चक्रोदात्त का दूसरा स्वरूप इतिहास की, जन-जीवन की, लोकप्रज्ञा की, वर्तुल द्वन्द्वात्मकता (Circular Elan of Historical Dialectics) है। इतिहास में रह-रहकर प्रायः एक ही रूप और रस की तीव्र-घन-आवृत्तियाँ करुणा का चीत्कार कराती,

चेतना को जगातीं और चल देती हैं और सदा-सदा मनुष्य पहले की तरह हर बार विस्मित-प्रवंचित होकर रह जाता है। ईसा, सुकरात, जान आव आर्क और गान्धी की रह-रहकर पहले बलि और बाद में पूजा करता रहता है। कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य को रह-रहकर नचा देती है और माया, जडता या अभिमान की तत्क्षणता में शिव-पुरुषों, शिव-मूल्यों की हत्या करा देती है? शताब्दियों तक जिसकी गूँज रहे, ऐसे निर्मम अट्टहास के लिए देवताओं को, आसमान को, काल को, स्वयं इतिहास को अवसर दे देती है। आधार-दर्शन की दृष्टि से चक्रोदात्त के मूल में गति के वापस लौट आने की अ-सहायता है। काल के झूले पर बैठी मानवता का अपना कोई चारा नहीं। बुद्धि घटनाओं को याद रखती है, अर्थ को भूल जाती है और गलती कर फिर से इतिहास का उल्लू बनती है। गति के वापस लौट आने की अ-सहायता अपने में दयनीय है, लेकिन इसके प्रेरक कारण के रूप में जो प्रबलतर रहस्य-लोक है, उसकी कल्पना आवृत्ति के प्रत्येक चरण को उदात्त बनाती है।

चक्रोदात्त का एक तीसरा स्वरूप भी है, जिसे Interminability of Historical Dialectics, अर्थात् द्वन्द्वात्मक अनन्त कहेंगे। यदि वाद, प्रतिवाद और समन्वय की कल्पना सृष्टि की आदि से करें, तो करते-करते···भविष्य में कुछ देर के बाद कल्पना ही थक जायगी और प्रगति के इस अनादि-अनन्त व्यापार के सामने बुद्धि फिर रहस्य में डूब जायगी।

(ग) विपाकोदात्त—जीवन की रहस्यमयी शक्ति के अमोघ कर्तृत्व का कोई अन्त नहीं और इसकी पकड़ से कोई बचाव नहीं। कहीं कारण से परे कार्य की ऐसी निरतिशय भिन्नता देखने को मिलती है कि लगता है, जैसे कार्य कारण से सर्वथा स्वतन्त्र हो। बिछाते हैं बिस्तरा और आती है नींद। डालते हैं गुठली, पाते हैं रसाल, एक बीज के सौ-सौ दाने। न गुण का हिसाब, न मात्रा का। उदारता के इस अनियम को क्या कहें? साथ ही, ऋषि से किया एक हलका-सा विनोद, और हो गया पूरे यादव-कुल का नाश। दुर्योधन पानी में छिपा रहा, लेकिन जान न बच पाई। गाय जैसे बछड़े को समय पर पकड़ ले, उसी तरह कर्म भी अपराधी को गिरफ्तार कर लेता है। कर्म-विपाक की बहुविध लीला को कभी Nemesis, कभी Poetic Justice कहकर जो लोग सस्ते टाल देते हैं, वे तनिक आँख मूँदकर इस शृङ्खला की निर्ममता का ध्यान नहीं करते। जब गुप्त-से-गुप्त एकान्त में किये अपराध का सरकार पता लगा लेती है और दण्ड दे डालती है, तब आध्यात्मिक विधान के उस महाव्योम का क्या कहना? व्यक्ति तथा वासना, रुचि तथा आवेश की भूमिका पर स्थित होकर दर्शन करने से Low, विधान की निर्वैयक्तिक पराभूमि सहज ही उदात्त हो जाती है। स्वेच्छाचारिणी प्रवृत्तियों के अभिमानी पर विधि का कराल कालदण्ड जब पड़ता है, तब देखते ही बनता है। कौन ऐसी शक्ति इस ऋत, इस निष्पक्ष प्रतिफलता, इस अवश्यमेवता, इस पवि-कठोरता की महारुद्राणी है? इस तरह हम कल्पना में रम जायँ, ऐसी परिस्थिति की सृष्टि करनेवाला, इसका अमोघ विभावक प्रस्तुत करनेवाला साहित्य उदात्तकोटिक होगा। व्यक्तित्व के किसी महाप्रतापी पुरुष को

लेकर, वासनाओं के अन्ध-बधिर ताण्डववाले किसी महाप्राण पुरुष को लेकर, अथवा पूर्वसंचित प्रारब्ध से सर्वथा स्वतन्त्र होने की देहाभिमानी योजना को लेकर जो साहित्य उसका विनाश या दारुण क्षय दिखाता है, वह जीवन के एक उदात्त स्वरूप का दर्शन कराता है। उसमें जीव के चरित्र की महत्ता केन्द्रीय चीज नहीं होती, होता है जीवन का व्यूहन, उस व्यूहन को रहस्य-भंगिमा और उस रहस्य-भंगिमा की वज्र-रेखा। हथेली से हस्तरेखा ही बड़ी हो जाती है।

[घ] दैवोदात्त—शुद्ध Chance अथवा अचानक संयोग की लोकातिशय प्रस्तुति से दैवोदात्त की सृष्टि होती है। योजना, विधान, प्रत्याशा, हेतु-शृङ्खला से परे अचानक हो जानेवाले अघटन-घटन या सुघट-विघटन से दैवोदात्त का आलोक मिलता है। क्षण-भर में नगर के नगर को ध्वस्त कर देनेवाला भूकम्प, समय पर अचानक घूम जानेवाली पवन की वह दिशा, जिसके चलते किसी विजयवाहिनी के समुद्री बेड़े को लौट जाना पड़े या हार खानी पड़े, तनिक देर से पहुँचनेवाला वह पत्र या दूत, जिसके चलते किसी स्वभाव-धनी की फाँसी चाहने पर भी न रुक सकी, बर्फ से जमे द्वीप पर टकरा जानेवाले जलपोत के एक ही बचे नाविक की करुण पुकार पर दैवात् आ जानेवाली सहायता, जिसमें भक्तवत्सल की दयामयी लीला का दर्शन कर मन विभोर हो जाय; प्रायः ऐसे अवसरों पर दैवोदात्त की झाँकी मिलती है। कुत्ते के सहारे अपने को घसीटती प्रेम का अन्तिम तीर्थ करनेवाली फैनी जब (हार्डी के उपन्यास में) चल बसती है, तब उसका प्रेमी पश्चात्ताप से भर जाता है और उपासना के फूल उसकी कब्र पर रखता है। उसी रात को वर्षा आती है और उन फूलों की स्मृति तक नहीं रह जाती। उद्धार के, प्रायश्चित्त के, प्रेम के, अन्तिम भेंट के फूल भी प्रकृति बहा ले जाती है। इस तरह करुणा या व्यंग्य की अहैतुकी लीला से दैवोदात्त की सृष्टि होती है। अचानक राह में मिल जानेवाले एक पैसे या अचानक कट जानेवाली हलकी जेब का यह लोकातिशय स्वरूप है।

कहना नहीं होगा कि दोनों में परिस्थिति अपने चरम को पहुँची हुई होती है। ऐसा लगता है, जैसे भक्त की करुण पुकार या ग्लानि में डूबे उस सांसारिक प्रेमी के प्रायश्चित्त में मानव-मात्र उच्चरित हो उठा है। सब की पुकार है, सब का प्रायश्चित्त है, सब की सुनवाई हुई या सब की हार। अवश्य ही कृपा के पात्र या व्यंग्य के आखेट होनेवाले व्यक्ति में मानवता का एक चरम विशेष, समीकरण साकार हो उठता है।

[ङ] निसर्गोदात्त : नीति तथा व्यवहार के ज्ञान के रहने पर भी मनुष्य के फेफड़ों की एक आभ्यन्तरिक आकुलता होती है, जो उसे इतर मार्ग पर झोंक देती है, जो उसे चैन नहीं लेने देती, जो उसे नीति अथवा प्रीति के वर्जित अति तक ले जाती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि निसर्ग के अन्तस्तल से ही दो रुचिकर इच्छाएँ उठती हैं और आश्चर्य तो यह कि क्षीणतर इच्छा ही प्रबलतर इच्छा पर विजय प्राप्त कर लेती है। अनायास पाँव पतली इच्छा के मार्ग पर चल पड़ते हैं। वास्तव में यह पतली इच्छा ऊपर से राख से ढँकी हुई आग की तरह रहती है, नीचे अग्नि का प्रबलतर ताप रहता है।

मनुष्य के साथ ऊपर से आकर प्रारब्ध हस्तक्षेप नहीं करता, उसके तन्तुओं के निर्माण में, स्पन्दन-चक्र में, वीर्य-रसायन में भाव-सङ्घटन में कुछ ऐसा अव्यर्थ आग्नेय दंश रहता है, कुछ ऐसी प्रेरक शक्ति रहती है, कुछ ऐसी अतिवादिता रहती है, ऐसी आकस्मिकता रहती है कि वह जो कर बैठता है, उसकी रहस्य-तालिका नहीं मिल पाती। लोकातिशय-व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष के भीतर बसकर, उसे अपना निमित्त बनाकर प्रारब्ध आन्दोलित-उद्वेलित करता रहता है। लेकिन, चूँकि वह एक महान् शक्ति का निमित्त है, इसलिए वह मनुष्य भी शिखर-सा ऊँचा, आँधी-जैसा बेहिसाब और निस्सीम के छोर को छूता दीखता है। ऐसी दशा में मनुष्य व्योम-विधान से, नक्षत्र-कोप से, सङ्घर्ष करता भी नहीं दिखाई देता। प्रारब्ध का प्राण-वितान उसे भीतर-ही-भीतर ताने रहता है। जहाँ अदृश्य रक्त के मर्म को किसी काले नाग की तरह डँस रहा हो, वहाँ तो प्रारब्ध पर दोष लगाने में भी कठिनाई है; क्योंकि शील ही कर्त्ता-जैसा दीखता है। प्रकृति की, परमात्मा की कुछ ऐसी चालाकी है, कुछ ऐसी शक्ति है कि वे प्रेरणा की हृदय-गुफा में बैठ हमसे अघटन-घटनाओं की सृष्टि कराती रहती है। रहस्य के इस निर्गुण स्रोत की कल्पना सहज ही उदात्त कोटि की होती है।

[७] करुणोदात्त : विपरीत प्रारब्ध, समाज अथवा वातावरण के सन्दर्भ में किसी स्वाभिमानी, सङ्कल्पप्राण, व्यक्तित्वनिष्ठ महापुरुष के जीवन-युद्ध, विनाश और तथापि अपराजित भाव के चलते करुणोदात्त का दृश्य हाथ लगता है। प्रारब्ध तथा समाज के बृहत्तर अहं के विरोध में मनुष्य चूर हो जाता है। भले आदमी का भी ऐसा दारुण अन्त हो सकता है। विश्व के पीछे छिपे नियम अथवा अनियम के इस शक्ति-नटेश्वर में उस उदात्त का दर्शन होता है, जिसमें अपनी नगण्यता और उसकी सर्वोपरिता के चलते हम भय से आक्रान्त होते हैं। फिर भी, यह भी तो देखने को मिलता है कि नायक हार नहीं मानता, झुकता नहीं। मनुष्य के सङ्कल्प की इस अजेयता में हम इस बात का अनुभव करते हैं कि मनुष्य में ऐसा भी तत्त्व है, जो शरीर की भौतिक सीमाओं से परे है। अहं के इस तात्त्विक अतिक्रमण में शरीर से भिन्न किसी दूसरी अग्नि-शिखा, किसी दूसरी ज्योति, किसी दूसरी विद्युत्-शक्ति, किसी निस्सीमता का आभास मिलता है। सीमा भी, उत्क्रमण भी।

प्रारब्ध और व्यक्ति, 'सः' और 'अहं' के राजसिक युद्ध, आनन्द-प्राप्ति के लिए अभिमानी के समरोत्साह के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं।

(क) शिव और शिव का द्वन्द्व—महापुरुष अपने को दो शिव-मूल्यों के बीच द्विधा-ग्रस्त पाता है, फिर एक को बहुमान देता है, जिसके चलते घटना-चक्रों के बीच वह पिस भी जाता है। कुछ लोग विवेक के और कुछ लोग भाव के दो समतोल शिव-मूल्यों में अपने को द्विधा-ग्रस्त पाते हैं और तब, जाने कैसे, एक को बहुमान दे डालते हैं।

दो बातें होती हैं। एक तो यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध, विवेक के तटस्थ रहने पर, भी भाव से अपना काम करा ही लेता है, इसलिए तत्त्व की दृष्टि से कौन श्रेष्ठतर और

विश्वसनीय है—विवेक अथवा हृदय—कोई कह नहीं सकता। चिन्तन की स्वतन्त्रता, निर्णय की स्वाधीनता ही रहस्य में डूब जाती है। मनुष्य के लिए अभी तक प्रारब्ध की काली कोठरी में आमरण कारावास ही लिखा है।

दूसरे, महापुरुष दो में से एक मूल्य को बहुमान तो दे देता है, लेकिन फैसला करने में अँतड़ियों और हड्डियों की ऐंठ, मरोड़ और घुटन की मर्मान्तक वेदना होती है और साथ ही फैसले के बाद भी जीवन-युद्ध के अन्त तक उपेक्षित मूल्य का मोह, अवसाद की एक अन्तर्धारा बनी रहती है। इस तरह भी उसके जीवन में मरण का, मरणान्तक पीड़ा का, अन्त नहीं। एक गधा घास के दो समान आकर्षक बोझों के बीच यह सोचता ही मर जाय कि किसको पहले खायँ, तो यह हुई हास्य के क्षेत्र की बात। लेकिन श्रवणकुमार की सोचिए, जो एक ही साथ वृद्ध पिता और वृद्ध माँ की पुकार सुनता है। पिता को बाघ दबाये हुए है, माँ नदी में डूब रही है। 'बचाओ! बचाओ!' से दिशाएँ फट रही हैं। पुकार की इन दो दिशाओं में से किस की ओर, मातृपितृ-भक्ति का वह परमविशेष, श्रवणकुमार दौड़ेगा? या द्विधा में वहीं जंगल की किसी चट्टान पर सिर पटक-पटक कर कभी माँ, कभी पिताजी, कहकर प्राण छोड़ देगा? यदि एक की ओर हठात् या अन्तर्दैववात् चल भी पड़ा, तो उपेक्षित के मोह की कल्पना कीजिए। अच्छाई और बुराई के बीच फैसला कर लेना आसान है। शास्त्र के रट्टू और भाव के हत्यारे किसी परशुराम की बात छोड़िए, जो शास्त्रानुसार पिता की आज्ञा के अनुचित-उचित का विचार न कर माँ को ही मार डालता है! ऐसे परशुराम की तुलना उस मशीन से है, जो ऊपर से गिरती है और गोमाता की गर्दन साफ! कठिनाई और पीड़ा की लोकातिशयता वहाँ होती है, जहाँ सचमुच मूल्य के दोनों ध्रुव भाव के ध्रुव हों, दोनों इच्छित हों। ऐसे के बीच निर्णय कर लेना, और निर्णय के बाद वीरता से जीना और मरना—ये सब-के-सब जीवन की अन्तिम चुनौती हैं। हेगेल को ऐसा ही करुणोदात्त सूझा और भाया।

(ख) प्रारब्ध की शक्तिमत्ता और मनुष्य की असमर्थता का एक और पहलू है। एक व्यक्तिविशेष में औरों की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है। शक्ति की इस अतिरिक्त पूँजी से वह अपनी रक्षा नहीं कर पाता। चूँकि, शक्ति है, इसलिए उसका स्वाभिमान उसे घुटने टेकने नहीं देता। वह चुनौती स्वीकार करता है। उसी शक्ति के चलते क्षय! जितनी शक्ति, उतनी ही लम्बी अवधि तक अथवा उतनी ही बड़ी लड़ाई! और, जितनी लम्बी अवधि और जितनी बड़ी लड़ाई, उतना ही अधिक क्षय। यह Tragedy की प्रारम्भिक बात है। सोचिए, तो लगता है, जैसे प्रारब्ध को, शील-निर्माता को, न सिर्फ परम स्वतन्त्रता उपलब्ध है, बल्कि उसके व्यंग्य को बुद्धि भी है। विचित्र बात है कि पुरुषार्थ की इति क्षय में ही है! इसी बात को गहराई और ऊँचाई से समझकर, समर्पण और शरणागति की बात आस्थालु करते हैं। 'Yours will be done' में टूटी रीढ़ की मधुकरी नहीं, आलस्य नहीं, क्लैब्य नहीं, शताब्दियों का आलोक है। पड़ोसियों से तनिक अधिक पुरुषार्थवाले फालतू बाबू लोग बेकार दौड़ते हैं। लेकिन, अपनी ही शक्ति के चलते अधिक-से-अधिक नाश!

यह मनुष्य की सत्ता के विधाता की एक ही विजय है; जिसका जवाब नहीं। उसे कुछ करना नहीं, सिवा हँसने के।

( ग ) सापेक्षता—तीसरा स्वरूप यह है कि मनुष्य के शरीर, अवसर, समाज की सापेक्षताएँ हैं और उसकी आकांक्षा निरपेक्ष को हस्तगत करना चाहती है। जिज्ञासा, प्रेम, आत्मरति, महत्त्व, अधिकार, निश्चय आदि के क्षेत्र में वह सापेक्षताओं को भूल जाता है अथवा भूल जाने के लिए विवश है। अर्थात्, वह क्षुद्र सीमाओं को छोड़ उदात्त को ग्रहण करना चाहता है। उदात्त के लिए उसकी लालसा की कहानी भी उदात्त बन जाती है। फौष्टस, प्रोमेकियस, लिअर, हैमलेट आदि की लीला में सत्ता के इस प्रथम सत्य की आत्यन्तिक विस्मृति देखने को मिलती है। मनुष्य में कुछ ऐसा है, जो पकड़ना चाहता है और मनुष्य कुछ ऐसा है कि वह पहुँच नहीं सकता। दोनों में एक भी उसके वश की बात नहीं। लेकिन, वह जिससे सङ्घर्ष करता है अथवा जिसके लिए करता है, वह अपने में महान् है, इसलिए उस महान् की कल्पना, उस महान् के सम्बन्ध में उदात्त का दर्शन होता है।

( घ ) शक्ति और सुमति का बिलगाव—इसका संकेत और विभावन हार्डी ने किया है। प्राण-सङ्घटन कुछ ऐसा है कि जब शक्ति रहती है, तब विवेक नहीं, जब विवेक आता है, तब शक्ति नहीं। इसलिए, तीव्र-घन वैयक्तिक प्रेम, आदर्शान्धता, अनन्यता और शुद्ध हार्दिकता के लिए स्थान नहीं। प्रेम नहीं, मैत्री, सहिष्णु आदान-प्रदान ही सम्भव है।

( ङ ) अतिरिक्त विपाक—करुणोदात्त के मूल में न्याय नहीं। अपराध और दण्ड का लेखा-जोखा बराबर हो, ऐसी बात नहीं। करुणोदात्त के संसार में नियम की मर्यादा नहीं। यह विरल विशेष का संसार है। अपराध की अपेक्षा दण्ड का पलड़ा भारी रहता है। ब्रैडले ने इसकी विशद व्याख्या की है। दण्ड के इस आधिक्य से दण्ड देनेवाली शक्ति का रहस्य अभेद्य बना रहता है। यों तो, अनुमान किया जा सकता है कि एक बीज से अनेक फल होते हैं, लेकिन जहाँ किसी महाप्राण व्यक्ति को भयावह या कठोर दण्ड मिलता है, वहाँ सजातीय के नाते हम भी काँप उठते हैं और उस दण्ड-विधातृ-शक्ति और उसके निर्मम अतिरिक्त विपाक की अनुल्लङ्घनीयता उदात्त हो उठती है।

(च) संक्रमित विपाक—अतिरिक्त विपाक की भाँति संक्रमित विपाक भी करुणोदात्त का एक पहलू है और अपने में पूर्ण एक स्वरूप भी। अतिरिक्त विपाक में विधान अथवा न्याय का उल्लङ्घन मात्रा की लोकातिशयता के रूप में होता है। न्यायोचित दण्ड से अधिक पीड़ा, दीर्घकालीन क्षय, नाश के अमित विस्तार आदि में अतिरिक्त विपाक है। लेकिन यदि एक अपराधी के चलते निरपराध जनों, क्षेत्रों या संघों का भी विनाश देखने को मिले, तो सृष्टि का रहस्य और उस रहस्य की शक्ति की निस्सीमता और भी बढ़ जाती है! साथ ही, चूँकि, ऐसा क्षय शिव-तत्त्व का होता है, इसलिए करुणोदात्त के भय और अवसाद दोनों बढ़ जाते हैं। 'अउर करइ अपराध अरु अउर पावफल भोग' नियति की सबसे दारुण लीला है। छूत से, संक्रमण से, सम्बन्ध से, सान्निध्य से, सह-अस्तित्व से ऐसा होता है। रात को एक का घर फूँका जाता है, तो उसी का घर

नहीं जलता। पवन का अट्टहास लपटों का साथ देने लगता है, तो पड़ोस भी जल जाता है। एबरक्राम्बी साहब ने बड़े परिश्रम के साथ सिद्ध किया है कि करुणोदात्त का सारा दारुण विधान अति-विशिष्ट व्यक्तित्ववालों के लिए है, सामान्य धरातल और सीमित आकांक्षाओंवाले गप्पो मस्तों की टोली तो सदा ही निरापद रहती है। यहाँ तो हालत यह है कि निर्दोष रहते हुए भी, केवल पड़ोस में रहने से विनाश है। सत्ता मात्र ही दण्डनीय है, अथवा सत्ता नहीं, तो कम-से-कम सत्ता-चक्र में आपकी स्थिति-मुद्रा··· (Position या Posture of Existence)। 'भूसुर' का मांस रुँधवाया कपटी मुनि ने, ब्राह्मणों ने इतना घोर शाप दिया प्रतापभानु-जैसी वैष्णव आत्मा को। देश, राज्य, प्रजा, पुरजन सब विनष्ट! लिअर के साथ कौर्डेलिया भी चली गई। इस संक्रमित विपाक के चलते लगता है, रुढिगत नीति की धारणाएँ सृष्टि के मूल में नहीं काम करतीं। अथवा शान्ति, और सन्तोष की बात यह है कि सृष्टि के मूल में जो नीति-भावना है, वह दूषित वातावरण की शुद्धि अशिव-तत्त्वों के क्षय के साथ शिव-तत्त्वों के आत्मोत्सर्ग के द्वारा कराती है। अभिमान के संसार में सन्तुलन, जागरण तथा शान्ति को वापस लौटाने के लिए बुरे का विनाश ही नहीं, अच्छे की आहुति भी चाहिए। इस तरह, घटना में करुण-काव्य का रस आता है और निर्वेद से पटाक्षेप होता है। साथ ही व्यक्ति तक ही सीमित हमारी बुद्धि का ऐसे रहस्य-जगत् से सम्बन्ध हो जाता है, जो भारी-से-भारी, अनुपम इकाइयों को भी समष्टि-प्रवाह के लिए झोंक देता है। हम ऊपर उठते हैं।



# कृषि-सम्बन्धी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन

( व्रज, अवधी तथा भोजपुरी के क्षेत्रों से संगृहीत शब्द )

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'; हिन्दी-विभाग, अलीगढ़-विश्वविद्यालय

## हल के अङ्ग-प्रत्यङ्ग

(१) खेत में जुताई करने के लिए लकड़ी का एक यन्त्र काम में आता है, जिसे हल कहते हैं। इसी हल शब्द को अलीगढ़ जिले की व्रजबोली में हरू, गया क्षेत्र की मगही बोली में लाँगल और बराबङ्की जिले की अवधी में हर कहते हैं। जनपदीय भाषाओं के 'हर' और 'लाँगल' शब्द बहुत प्राचीन हैं। वैदिक संस्कृत में 'हल' के लिए 'वृक' ( 'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा'—ऋक्० १।११७।२१) और 'लाँगल'[1] ('शुनं कृषतु लाङ्गलम्'—अथर्व० ३।१७।६) शब्द प्रचलित थे। एक प्रकार के बड़े हल के लिए पाणिनि ने 'हलि' और 'सित्य' ( अष्टा० ३।१।११७ ) शब्दों का उल्लेख किया है। वर्त्तमान अवधी में इनके ही

---

१—'वृको लाङ्गलं भवति'—यास्क, निरुक्त, नैगमकाण्ड ६।२६।

परिवर्त्तित रूप हरी और जीत शब्द प्रचलित हैं। जिला शाहाबाद की भोजपुरी बोली में नये हल को नवठा या नौठा कहते हैं।

(२) हल के मुख्य भाग पाँच हैं—कुड़, पनिहारी, हर्स, जूआ और फाला। अलीगढ़[1] जिले की व्रजबोली में फाले को फारौ और बाराबङ्की, [2] आजमगढ़, बलिया तथा शाहाबाद की बोलियों में 'फार' नाम से पुकारते हैं। अलीगढ़ की बोली में जिसे जूआ कहते हैं, उसे ही बाराबङ्की में जौंठ और आजमगढ़ में जुअठा कहते हैं (सं० युग[3] > जुअ > जुआ > जूआ)। जूए में जुते हुए दो बैलों को अलीगढ़ की व्रज-बोली में ज्वार और बारबङ्की जिले की अवधी में गोई कहते हैं। 'गोई' लोकभाषा का शब्द है, जिसका विकास 'गोती' से प्रतीत होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में लोक-भाषा के कुछ शब्दों का भी उल्लेख किया है, जिन्हें वे अपभ्रंश संज्ञा प्रदान करते हैं। व्रजभाषा का गाय शब्द ऐसे ही एक शब्द 'गावी' से व्युत्पन्न है—'गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः' (महाभाष्य, १।१।१)।

(३) जूआ[4] लकड़ी का बना होता है और उसके दोनों सिरों पर एक-एक छेद होता है, जिसमें लगभग एक बालिश्त लम्बी लकड़ी पड़ी रहती है। इस लकड़ी को सैल (अलीगढ़ में) या सैला (बाराबङ्की और आजमगढ़ में) कहते हैं। दोनों सैलों के सिरों पर एक अंगुल की पतली-सी लकड़ी ठुकी रहती है, जो सुलहुल (अलीगढ़) कहलाती है। जूए में जुते हुए बैलों की गर्दनों को जूए से सटा हुआ रखने के लिए चमड़े की चौड़ी पत्ती-सी सैलों में फँसाई जाती है। चमड़े की उस पत्ती को जोता (सं० योक्त्र) कहते हैं। आजमगढ़ की भोजपुरी में भी यह जोता ही कहलाता है। हल के मध्य में लगा हुआ चार-पाँच हाथ लम्बा और भारी डण्डा, जिसके ऊपरी सिरे पर जूआ बाँधा जाता है, हर्स (अलीगढ़ और बाराबङ्की में) या हरिस (शाहाबाद और आजमगढ़ में) कहलाता है। हर्स (सं० हलीषा = हल + ईषा = हल का दण्ड) के ऊपरी सिरे के पास चार अंगुल लम्बी लोहे की तीन-चार कीलें ठुकी रहती हैं, जिन्हें खरए (अलीगढ़ में) या काँटी (बाराबङ्की में) कहते हैं। जूए को हर्स की इन काँटियों से सम्बद्ध करने के लिए चमड़े की एक रस्सी से बाँधते हैं। वह रस्सी नरा (अलीगढ़ में) या नाधी (सं० नद्ध्री, पाणिनि, अष्टा० ३।२।१८२) कहलाती है। 'नाधी' शब्द आज भी बाराबङ्की जिले की तहसील हैदरगढ़ में

---

१, २—डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'व्रजभाषा' में अलीगढ़ जिले की भाषा को केन्द्रीय व्रज और डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने ग्रन्थ 'इवोल्यूशन आफ अवधी' में बाराबङ्की जिले की भाषा को केन्द्रीय अवधी माना है।

३—पाणिनि, अष्टा० ४।२।४५।

४—जूआ, अर्थात् जुआठ के सम्बन्ध में बाँसडीह, जिला बलिया में लोकोक्ति प्रचलित है—'देख जुआठ काठ भये बरधा'; अर्थात्, जूए को देखकर बैलों को काठ मार जाता है।—ले०

प्रचलित है। नरे को ऊपर-नीचे के खरए में बाँधने से हल का फाला सेहा (सं० सेध) और करार (सं० कराल) चलने लगता है। हल का फाला धरती में जब गहरा कूँड़ (हल के फाले की रेखा, जो खेत में जुताई के समय बनती है) बनाता है, तब उस हल को करार (अलीगढ़ में), कराल (मेरठ[1] में), आँकर (बाराबङ्की में) या अवाह (आजमगढ़ में) कहते हैं। जब हल का फाला खेत में ऊपर-ऊपर ही चलता है, तब उस हल को सेहा (अलीगढ़ में) स्याह (बाराबङ्की में) या सेव (आजमगढ़ में) कहते हैं। सेहे और करार हल के सम्बन्ध में तहसील कोल (जि० अलीगढ़) में यह लोकोक्ति प्रचलित है—

'नराउली खरएनु ते बोली, करि करि लम्बी नार।
तुम सँग मिलिकें बीरन करि देउँ सेहौ और करार॥'

अर्थात्, नराउली अपनी गर्दन लम्बी करके खरओं[2] से कहने लगी, हे भाई, तुम्हारे साथ मिलकर ही मैं जुताई के समय हल को सेहा और करार बना देती हूँ।

(४) हर्स के नीचे का सिरा हल के जिस छेद में ठुका रहता है, उसके आगे हर्स के ऊपर लकड़ी की एक फच्चट भी लगा दी जाती है, ताकि हर्स निकल न सके। उस फच्चट को गाँगरा (अलीगढ़ में), खेंप (बाराबङ्की में) या पाचर (आजमगढ़ में) कहते हैं। उसी छेद में आगे की ओर, तथा हर्स के नीचे, लगनेवाली फच्चट पाता या कराई (सं० करालिका = हल को कराल, अर्थात् कड़ा करनेवाली) कहलाती है। ये दोनों शब्द अलीगढ़ की ब्रजबोली के प्रचलित जनपदीय शब्द हैं। गाँगरे को निकालकर जब कराई छेद में अन्दर की ओर ठोक दी जाती है, तब हल करार हो जाता है। करार हल जब गहरा कूँड़ बनाता है, तब उसके लिए गरारा करना कहा जाता है। खेत की पूरी लम्बाई या चौड़ाई में खिँचा हुआ कूँड़ हरइया (अलीगढ़ में) या हराई (आजमगढ़ में) कहा जाता है। हरइयों के बीच में बे-जुती धरती आँतरा (सं० अन्तर) कहलाती है। जूए में जुता हुआ बाँया बैल भीतरा और दाँया बाहिरा (अलीगढ़ में) कहलाता है। जोत जब मोटी होती है, तब किसान भीतरे बैल को इशारा करके कूँड़ से कूँड़ मिलाता है। किसान के इशारे को तिकारना (अलीगढ़ में), ओनानां[3] (मेरठ में) या बाँना

---

१—श्रीराहुल सांकृत्यायन के मतानुसार मेरठ की बोली को कौरवी नाम देना उपयुक्त है।

२—खरओं को अलीगढ़ जिले की विभिन्न तहसीलों में गूल या डील भी कहते हैं। जिला आजमगढ़ में हर्स के ऊपरी सिरे के पास कीलों के रूप में खरए ठोके नहीं जाते, बल्कि हर्स में ही तीन-चार कटान-से खाँच के रूप में बना दिये जाते हैं।—ले०

३—दे० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'पृथिवी-पुत्र'।

(बाराबङ्की में) कहते हैं। जब बाहिरे बैल को संकेत किया जाता है, तब वह हँकारना, नहँकारना (अलीगढ़ में) या नाँना (बाराबङ्की में) कहलाता है। दोनों बैलों को आगे सीध में चलाने के लिए बाराबङ्की जिले के किसान अपनी जनपदीय बोली में 'साँ-साँ' कहते सुने जाते हैं।

(५) हल में लकड़ी का बना हुआ वह भाग, जिसपर लोहे का फाला रखा रहता है, पनिहारी (अलीगढ़ में), खौंपा (बाराबङ्की में) या नौहर्रा (आजमगढ़ में) कहा जाता है। बुलन्दशहर की कौरवी बोली में इसी को पड़ौंथी या पड़ौंथा नाम से पुकारते हैं। इसी के लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी (३।२।१८३) में 'पोत्र' शब्द लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनिकालीन 'पोत्र' शब्द ही काल की चपेट तथा रगड़ खा-खाकर कुछ घिसा और उलट-पलटकर कुरु-प्रदेश की जनपदीय बोली में 'पड़ौंथा' बन गया। जिन खेतों में प्रायः गेहूँ बोये जाते हैं, वे असाढ़ से ही जुतने लगते हैं; क्योंकि उनमें १६—२० जोतें (अलीगढ़ में) या बाँहें[1] (बाराबङ्की में) तक लगती हैं। वे खेत असाढ़ी या उनहारी (अलीगढ़ में) कहलाते हैं। बलिया जिला की भोजपुरी बोली में जोत के लिए चास शब्द प्रचलित है। 'उनहारी' को बाराबङ्की की जनपदीय अवधी में चौमासी कहते हैं। यदि ज्वार, बाजरा को काटकर उसी खेत में गेहूँ बोने के लिए जुताई की जाय, तो वह खेत जुठैली कहलाता है; क्योंकि वह पहली फसल द्वारा जूठा (सं० उच्छिष्ट) हो जाता है। गेहूँ, जौ आदि जिस हल से बोये जाते हैं, वह नाई (अलीगढ़ में) कहलाता है। नाई की पनिहारी बहुत छोटी होती है। उसे अलीगढ़ जिले में घुड़िया, गुड़िया, जबुरिया या खुड़िया नामों से पुकारते हैं। इसे ही बाराबङ्की में खौंपा और आजमगढ़ में खुटहरी कहते हैं। 'पनिहारी' या 'जबुरिया' का ऊपरी भाग, जो हल के निचले छेद में ठुका रहता है, पयौ (अलीगढ़ में) कहलाता है। उस छेद में पीछे की ओर लकड़ी की एक फच्चट लगी रहती है, जिसे पचमासा कहते हैं। पनिहारी जब हल के छेद में से निकल जाती है, तब इस स्थिति को हल का उसलना कहते हैं। हल उसल जाने पर पचमासा निकलकर कूँड़ में गिर जाता है। इसके सम्बन्ध में अलीगढ़ जिले की तहसील कोल में एक लोकोक्ति प्रचलित है—

'बौल्यौ भइयनु ते पचमासौ। राई तिलभर घटूँ न मासौ॥
जौ पनिहारी संग बिछोवै। बन्दौ सरकि कूँड़ में सोवै॥'

(६) सम्पूर्ण हल में से यदि हर्स, पनिहारी, फाला आदि अलग कर दिये जायँ, तो शेष भाग कुड़ (अलीगढ़ में) कहलाता है। कुड़ के ऊपरी भाग में एक खूँटी-सी लगी रहती है, जिस पर हलवाहा हल चलाते समय अपना हाथ रख लेता है। उस खूँटी को मुठिया या हतकरी (अलीगढ़ में) कहते हैं। शाहाबाद की भोजपुरी में यही परिहत (सं० उपरिहस्त = ऊपर हैं हाथ जिसके) कहलाती है। संस्कृत का 'उपरिहस्त' शब्द भोजपुरी में आते-आते घिस गया और आदि-स्वर-लोप

---

१—'बाह' या 'जोत' के लिए तहसील बाँसडीह (जि० बलिया) में 'चास' कहते हैं।

के सिद्धान्त के अनुसार 'उ' का लोप हो गया। संस्कृत के 'अरायं', 'अपि' और 'इति' प्राकृत में क्रमशः 'रणं', 'पि' और 'ति' ही रह जाते हैं। बेचारे 'परिहृत' ने तो 'रणं' आदि से भी अधिक काल की रगड़ खाई है।

मुठिया में किसान बैल का हरपघा ( सं० हलप्रग्रह > हरपगह > हरपघा ) भी बाँध लेता है। हरपघा ( अलीगढ़ में ) एक लम्बी रस्सी होती है, जिसका एक सिरा बैल की नाथ (देशज णत्था—हेमचन्द्र, देशी-नाममाला ४।१७; णत्था > नाथ = नाक की रस्सी) में बँधा रहता है। जो मोटी रस्सी पौहे ( पशु ) को खूँटे से बाँधने में काम आती है, उसे पथा या जेवरा ( अलीगढ़ में ) कहते हैं। इसे ही बाराबङ्की में 'गिराँव' (फा० गिरीबान) कहते हैं। बरात आने पर जनवासे (सं० जन्यवास = जन्य + वास = वह स्थान जहाँ दूल्हे के साथी, अर्थात् बराती, ठहरते हैं। ऋग्वेद ४।३८।६ में 'जन्य' शब्द बरातियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'स्वजं कृणवानो जन्यो', ( ऋक्० ४।३८।६ ) में बैलों के बाँधने के लिए जो खूँटे गाड़े जाते हैं, वे मेख ( फा० मेख़ ) कहलाते हैं। रब्बा ( अ० अराबा ), बहली ( सं० बाह्याली ), रहलू ( सं० रथरूप ), लढ़िया, रथ आदि भारकसों ( फा० बारकश) के बैल मेखों से ही बाँधे जाते हैं। ठीक समय पर उचित कार्य करके सफलता पाने के अर्थ में रेख पर मेख मुहावरा भी प्रचलित है।

### भराई के साधन और उपकरण

(७) जिस विधि से कुएँ से पुर-बर्त और बैलों की सहायता से पानी निकाला जाता है, उसे पैर (अलीगढ़ में), पुरबट ( बलिया में ), पूर ( आजमगढ़ में ) पुड़ाही ( बाराबङ्की में ) कहते हैं। चमड़े का बना हुआ बड़ा-सा एक थैला, जिससे पानी कुएँ में से ऊपर लाया जाता है, पुर (अलीगढ़ में), पुड़ ( बाराबङ्की में ) या मोट (आजमगढ़ में), कहलाता है (सं० पुट > पुर)। पुर के मुँह पर लोहे या लकड़ी का गोल घेरा होता है, जिसे कौंड़र (अलीगढ़ में ) या भिड़रा ( आजमगढ़ में ) कहते हैं। कौंड़र के ऊपर लगनेवाली लकड़ी बाँही ( अलीगढ़ में) या घुरई ( आजमगढ़ में ) कहलाती है। बाँहीं पकड़कर ही पारले में पुरा ढाला जाता है। जिस मोटी रस्सी में बँधकर पुर[1] खिँचता है, उसे बर्त (अलीगढ़ में), बरेत (बाराबङ्की में) या बरहा (आजमगढ़ में) कहते हैं। व्रज और अवधी के 'बर्त' और 'बरेत' शब्दों का मूल वैदिक संस्कृत का 'वरत्रा' ('शुनं वरत्रा बध्यन्ताम्'—अथर्व, ३।२७।६) शब्द है। पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी (४।२।४५) में 'जूआ' और 'बर्त' के लिए 'युगवरत्रा' का उल्लेख किया है।

(८) जिस ढालू चबूतरे से बैलों का ज्वारा (युगल) चलता है और पुर को खींचता है, वह स्थान भौंरा (अलीगढ़ में), पहेंड़ी (बाराबङ्की में) या पौदर (आजमगढ़ में) कहलाता है। पानी से भरा हुआ चरस जहाँ ढाला जाता है, उसे पारछा (अलीगढ़ में),

---

१—पाणिनि-काल में पुर (चरस) के लिए संस्कृत में 'उदंचन' ( अष्टा० ३।३।१२३ ) शब्द प्रचलित था। यही शब्द पात्रविशेष के अर्थ में ऋग्वेद (५।४४।१३) में आया है।—के०

छिलहर (बाराबङ्की में) या चौना (आजमगढ़ में) कहते हैं। भोजपुरी में 'चौने' को तीथा भी कहते हैं। पारछे के आगे कुएँ की जगत के पास एक मोटी लकड़ी जमी रहती है, जो भौंगर या डाँगर (अलीगढ़ में), पाठ (बाराबङ्की में) या सरदर (आजमगढ़ में) कहलाती है। भौंगर के दोनों सिरों पर एक-एक लकड़ी ठुकी रहती है, जिसे चूरा (अलीगढ़ में), थूनी (बाराबङ्की में) या ठेघुनी (आजमगढ़ में) कहते हैं। दोनों चूरों के ऊपर एक भारी और मोटी लकड़ी सधी रहती है, जो छाँहर (अलीगढ़ में) या बँड़ेर (आजमगढ़ में) कहलाती है। छाँहर को रोकने के लिए उसके सिरों पर दो दुसंखी लकड़ियाँ लगी रहती हैं, जिन्हें गल्हैत (अलीगढ़ में), या धुराही (बाराबङ्की में) कहते हैं। लकड़ी का बना हुआ एक पहिया-सी चीज गरी या अरा (अलीगढ़ में) कहलाती है। इसी की बारि (बाढ़) में बर्त रगड़ खाती हुई घूमती है। एक मोटा डण्डा, जिसपर गरी घूमती है, गँड़रा (अलीगढ़ में), रम्मा (आजमगढ़ में) या गँड़ेर (बाराबङ्की में) कहलाता है।

(९) पैर का पानी जिस रास्ते से बहकर खेत में पहुँचता है, उस रास्ते को नारी (आजमगढ़ में) या बरहा (अलीगढ़ तथा बाराबङ्की में) कहते हैं। बरहे की मेंड़ को काटकर उसमें जो पानी निकलने के लिए स्थान या मार्ग बनाया जाता है, उसे मुहारा (अलीगढ़ में) या धार (बाराबङ्की में) कहते हैं। पानी लगानेवाला व्यक्ति पल्लगा (पानी लगानेवाला) कहलाता है। वह पामरौ (अलीगढ़ में फावड़े को पामरौ कहते है और बाराबङ्की में फरुहा) लेकर मिट्टी खोदता है। गीली मिट्टी, जो फावड़े से खोदकर उठाई जाती है, अलीगढ़ की बोली में थापी कहलाती है, और हाथ से उठाई हुई गीली मिट्टी चौंपी कही जाती है। पानी फेंकने के लिए चमड़े का बना हुआ सूप-जैसा एक थैला अलीगढ़ में परोहा (सं० प्रारोहक) कहलाता है। 'परोहे' को आजमगढ़ में दौरी और बुलन्दशहर की कौरवी बोली में बोका कहते हैं। आजमगढ़ में दौरी से ही खलिहान में अनाज की ओसाई (बरसाई) की जाती है। परोहे डालने की विधि को ओरिचा और दौन (आजमगढ़ में) कहते हैं।

### फसल काटने के कुछ औजार और अन्य यन्त्र

(१०) किसान के औजार ब्रजबोली में लौखर कहलाते हैं। अँगरेजी शब्द 'इम्पलिमेंट' के लिए यह प्रचलित जनपदीय शब्द है। बैसाख की फसल में उगनेवाले गेहूँ, जौ आदि के पौधों की कटाई करने में जो लौखर काम आता है, उसे अलीगढ़ जिले में हँसिया (सं० असिद) या दराँत[1] (सं० दात्र) कहते हैं। ऋग्वेद में 'दात्र' शब्द का प्रयोग हुआ है—'हस्ते दात्रं च नादधे' (ऋक्० ८।७८।१०), अर्थात् हे इन्द्र, तेरी आज्ञा पर ही मैं इस दराँत को अपने हाथ में लेता हूँ। यास्क ने बताया है कि भारत में उत्तर के लोग जिसे 'दात्र' नाम से पुकारते हैं, उसे ही पूर्व के लोग 'दाति' कहते हैं—दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु'—(निरुक्त, नैगमकाण्ड २।१।२)। इसी प्रकार, दाहा, खुरपी,

---

१—'दराँत' को पंजाबी में 'दाँतरा' और 'चाकू' को 'काचू' कहते हैं। यहाँ ध्वनि-विपर्यय का नियम काम कर रहा है।—ले०

कुदारी और गड़सा नाम के भी औजार हैं। गोबर, लीद आदि हटाने की लकड़ी की बनी हुई एक वस्तु लदपमरी (अलीगढ़ में) या फरुही (आजमगढ़ में) कहलाती है।

हल से जुते हुए खेत को चौरस तथा इकसार करने के लिए जो पाटा फेरा जाता है, उसे सुहागा (अलीगढ़ में), सरावन (बाराबङ्की में) या हैंगा (देवरिया और आजमगढ़ में) कहते हैं। खेत में क्यारियाँ बनाने के लिए लकड़ी का एक औजार काम में आता है, जो माँझा (अलीगढ़ में) या फरुही (बाराबङ्की में) कहलाता है।

बैसाख की पकी हुई फसल जब काटी जाती है, तब वह क्रिया लाई (सं० लाविका) कहलाती है। इसके लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अभिलाव' (अष्टा० ३।३।२८) शब्द का उल्लेख किया है। लाई करनेवाले व्यक्ति को लावा (सं० लावक) कहते हैं। कातिक में ज्वार, बाजरा आदि की बालें काटने के लिए कपटना धातु का प्रयोग होता है। उन बालों को काटनेवाला कपटा (सं० क्लृप्त) कहलाता है। बैसाख में कटे हुए गेहूँ और जौ के ढेर को लाँक कहते हैं। गेहूँ, जौ आदि का दाँय (अलीगढ़ में) या मड़नी (बाराबङ्की में) द्वारा अधकुचला लाँक गाहटा (अलीगढ़ में) या कुनाव[1] (बाराबङ्की में) कहलाता है। गाहटे को किसान लकड़ी के एक औजार से इकट्ठा करता है, जिसे पँचागुरा (सं० पञ्चाङ्गुलक) कहते हैं। एक लम्बी लाठी में मुड़ी हुई दो कीलें ठुकी रहती हैं। वह साँकी (अलीगढ़ में) कहलाती है। साँकी से पैर (= खलिहान; बाराबङ्की में खलिहान को आफर कहते हैं) में लाँक इकट्ठा किया जाता है। लाँक के बड़े और ऊँचे ढेर को बाँही, जाँगी[2] या कुर्री (अलीगढ़ में) कहते हैं। बाँही को पँचागुरे या साँकी से ही खसाते हैं।

ककड़ी, काशीफल, तरबूजे आदि की बारियों (खेतों) में जानवरों को डराने के लिए लकड़ी आदि से आदमी की मूर्त्ति-सी बनाई जाती है, जिसे अलीगढ़ की बोली में औझपा या बिजूका कहते हैं। आजमगढ़ की भोजपुरी में तथा बाराबङ्की की अवधी में यही धोक या धोख कहाता है। संस्कृत में इसको 'चञ्चपुरुष' या 'चञ्चा' कहते हैं। औझपे का सिर गुम्हौंड़ा (सं० गोमुण्ड[3]) कहलाता है।



---

१—इसे तह० सलेमपुर (जि० देवरिया) में 'छँवखड़' (सं० षट्खण्ड=छह खण्डों में टूटा हुआ) नाम से पुकारते हैं।

२—देवरिया जिला में 'गाँज' शब्द प्रचलित है। फारसी का 'गंज' (=ढेर, खजाना) शब्द ही जनपदीय भाषाओं में कहीं 'गाँज' बना और कहीं 'जाँगी'।—ले०

३—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—'सुबन्धु-कृत वासवदत्ता (जीवानन्द विद्यासागर-संस्करण, पृ० ९१) में मुझे गोमुण्डखण्ड (बैल का सिर) का प्रसङ्ग मिला। यह गोमुण्ड खेत के सीमासूचक चिह्न के रूप में स्थापित किया जाता था।'

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : ए यूनिक टरकोटाप्लाक फ्राम राजघाट, बुलेटिन नं० २, प्रिन्स आव वेल्स म्यूजियम, बम्बई, १९५३, पृ० ८३।

# नवीन...और...अलोच्य

## काव्य

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

**उर्दू-शायरी और बिहार**[1] : रजानकवी-लिखित इस पुस्तक का सविशेष महत्त्व है। यह बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रकाशन है। सम्मेलन को इसके प्रकाशन के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से अनुदान मिला था।

अत्यन्त सावधानी से सम्पादित यह पुस्तक सम्मेलन-जैसी संस्था के सर्वथा अनुरूप है। उर्दू-शायरी को बिहार की क्या देन है, यह संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भ परिचयात्मक टिप्पणियों में बताया गया है, और प्रारम्भ में, बिहार में उर्दू-भाषा का किस प्रकार विकास हुआ, इसपर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। पिछले प्रायः ढाई सौ वर्षों में बिहार में उर्दू-काव्य का जो विकास हुआ है, वह बिहार के शायरों की प्रतिभा और यहां के निवासियों की गुणज्ञता का परिचायक है। डेढ़ सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में उर्दू-काव्येतिहास के एक अंश का योग्यतापूर्वक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पुराने शायरों में शाद अजीमाबादी, अपेक्षया आधुनिकों में डा० अनीमुद्दीन अहमद अजीम और समसामयिकों में अख्तर उरैनवी-जैसे शायर बिहार में हुए हैं और इनके एवं अन्य बिहारी शायरों की जीवनी तथा कविता से हिन्दी तथा उर्दू के साहित्यकारों का परिचय कराने का प्रयत्न अवश्य श्लाघ्य है; क्योंकि जिनका नाम इसके अभी अभी लिया, वे तथा अनेक अन्य शायर भी उर्दू-साहित्य के इतिहास में उससे कहीं ज्यादा आदर पाने के अधिकारी हैं, जो उन्हें दिया गया है।

उदाहरण के लिए, शाद के निम्नलिखित शेरों को देखें और स्वयं निर्णय करें कि क्या ये बड़े-से-बड़े उस्ताद के शेरों से टक्कर नहीं लेते—

'अब भी एक उम्र पे जीने का न अंदाज आया।
जिन्दगी छोड़ दे पीछा मेरा, मैं बाज आया॥
जब अहले होश कहते हैं अफसाना आपका।
हँसता है देख-देख के दीवाना आपका॥
शाद ऐसे में न तोड़ा था भले को मैंने।
फूल पर हाथ बढ़ाया था कि दिल याद आया॥'

आधुनिक शायरों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं जमील मजहरी, जिनके बारे में उर्दू के एक आलोचक का कहना है कि 'वे उर्दू के उन चन्द शायरों में से एक हैं, जिन्होंने कभी दूसरे दर्जे की शायरी नहीं की।'

---

१—लेखक : श्रीरजा नकवी; प्रकाशक : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

आपकी एक नज्म की कुछेक पंक्तियों से इस कथन की सत्यता प्रतीत हो सकती है—यद्यपि मैं यह स्पष्ट कह दूँ कि सामान्य रूप से मैं उर्दू-गजल को तो अपने ढंग की सद्यः चमत्कार उत्पन्न करनेवाली कविता मानता हूँ, किन्तु उसकी नज्मों से कभी बहुत प्रभावित नहीं हुआ। जमील साहब की 'कवि की प्रार्थना' शीर्षक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

'मेरे ईश्वर, मेरे ईश्वर, मेरे मन में लहर उठायेगा।
मेरी आत्मा में जो गूँज है, उसे एक पुकार बनायेगा॥
मेरी आत्मा से जो राग उठे कि जो सो रहे हैं जाग उठे।
मैं सितार हूँ, मुझे राग दे, मैं सितार हूँ, तू बजायेगा॥'

'उर्दू-शायरी और बिहार' एक उल्लेख्य प्रकाशन है।

०

**आरती और अंगारे**[1] 'बच्चन' की कविताओं का संग्रह है। 'अपने पाठकों से' बातें करते-करते, जाने क्यों साधारण सुरुचि की भी उपेक्षा करते हुए, बच्चन ऐसी पंक्तियाँ लिख गये हैं—"आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं, उन्हीं के बाप-चाचों ने जब 'मधुशाला' निकली तो कहा था..." और "उनके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय-पत्रिका' निकली तो कहा..."

हम ऐसी भाषा का प्रयोग करनेवाले लेखक की पुस्तकों को अपनी समीक्षा के एक शब्द के भी योग्य नहीं मानते। बच्चन इन शब्दों को वापस लें। पुस्तक का वितरण बन्द कर ये पृष्ठ हटा दिये जायँ। हमें विश्वास है, हिन्दी के साहित्यिक बच्चन तथा उनके प्रकाशक को इन प्रायश्चित्तों के लिए बाध्य करें।

०

**धार के इधर उधर**[2] बच्चन की ही कृति है। इसके सम्बन्ध में भी हम कुछ लिखने से इनकार करते हैं।

०

**जन-गीता**[3] बच्चन की तीसरी पुस्तक है, जिसके बारे में भी हम एक शब्द तक लिखने से इनकार करते हैं। किन्तु, जिन स्वामीजी के प्रति इस लेखक ने इस पुस्तक में भक्ति प्रकट की है, उनकी सेवा में हम आरती और अंगारे की निर्दिष्ट शब्दावली इस आशा से पहुँचाना चाहेंगे कि वे शायद अपने शिष्य को प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित कर सकें।

०

---

१—रचयिता : श्री 'बच्चन'; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, दिल्ली; मूल्य : चार रुपये मात्र।

२—रचयिता और प्रकाशक : उपरिवत्; मूल्य : सवा दो रुपये मात्र।

३—रचयिता और प्रकाशक : उपरिवत्; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

**क्षार की साँझ**[1] रामनरेश पाठक की ऐसी कविताओं का संग्रह-जैसी कविताएँ नई कविताएँ कही जाती हैं। नई कविताओं के समस्त निर्देश्य लक्षण इनमें मिलते हैं—चौंकानेवाले शीर्षक, टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियाँ, अँगरेजी के शब्द, 'स्वीकारा', 'नयन-कोरों देखा' जैसे प्रयोग आदि, आदि।

ये लक्षण काव्य का संश्लेष बन सके हैं या नहीं, यह अनेक अन्य नई कविताएँ लिखनेवालों की रचनाओं की तरह रामनरेश पाठक की कविताओं के सम्बन्ध में भी विचारणीय है। मेरे विद्वान् मित्र प्रो० रामेश्वर सिंह काश्यप अर्द्ध-गम्भीर भाव से कहा करते हैं कि नई कविता के खिलाफ सबसे बड़ी बात यह है कि वह इतनी आसानी से स्वीकृति पा ले रही है। क्षार की साँझ की कविताएँ भी बड़ी आसानी से स्वीकृति पा जायँगी, यह असन्दिग्ध है।

०

**वैयक्तिक**[2] राजेन्द्र किशोर की लम्बी कविताओं का नयनाभिराम संग्रह, सीज और साँप से, आवरण पर ही, प्रतीकित है। ये लम्बी कविताएँ आभ्यन्तर एकालाप है। कवि अपनी कुण्ठा, जिसके अँगरेजी-पर्याय का प्रयोग करना वह आवश्यक पाता है, की चर्चा भूमिका में करता है। वह शीघ्रता के साथ यह भी कहता है कि कुण्ठा के बावजूद वह निराश नहीं है, जो जरूर ही अच्छी बात है।

राजेन्द्र किशोर को, 'वैयक्तिक और मैं' के स्पष्टीकरण के बाद, छायावादियों और प्रगतिवादियों दोनों से स्वीकृति प्राप्य होनी चाहिए। किन्तु, पहले से शायद इस कवि को ही अभीष्ट न हो और दूसरों से, हमें सन्देह है, शायद ही उन्हें मिले। अवश्य नई कविता के प्रतिनिधियों से उन्हें सहज स्वीकृति मिलेगी; क्योंकि सभी कविताएँ काट और भज में नई हैं।

०

**नारायणी**[3] व्रजकिशोर 'नारायण' की इस पुस्तक का नया संस्करण है। पहले संस्करण पर प्राप्त समीक्षाएँ और सम्मतियाँ इस संस्करण के प्रारम्भ में सङ्कलित कर दी गई हैं। इतनी बड़ी संख्या में विद्वान्, आलोचक, समीक्षक आदि पुस्तकविशेष की प्रशंसा में एकमत हो सकते हैं, यह मुझे पहली बार देखने को मिला है।

---

१—लेखक : श्रीरामनरेश पाठक; प्रकाशक : श्रेष्ठ साहित्यागार, पटना; मूल्य : ढाई रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीराजेन्द्र किशोर; प्रकाशक : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

३—रचयिता : श्रीव्रजकिशोर 'नारायण'; प्रकाशक : श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना; मूल्य : दो रुपये आठ आने मात्र।

मुझे इस पुस्तक की एक बात अच्छी लगी। इसमें साहित्यकारों पर भी कविताएँ हैं। 'महाकवि दिनकर !' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ—

'तम तुमुल चीर
तुम उगे अरुण उदयाचल पर।'

'दिनकर' का ही एक शब्द लिया जाय, तो 'दोष-रहित' नहीं हैं। ग्रन्थ में 'ग्रन्थि' कहीं नहीं है, यह सच है। कविताएँ पाठकों के लिए नहीं, श्रोताओं के लिए लिखी गई हैं।

०

**टूटा हुआ आदमी**[1] में जिसे जीवन-दर्शन कहा जाता है, ज्यादा वही है, किन्तु थोड़ी ही सही, वक्रोक्ति भी है। यह वक्रोक्ति ही इस कविता-संग्रह का 'जीवित' है।

अनुपस्थित पर व्यंग्य कर दर्शन-प्रतिपादन करने से वक्रोक्ति के लिए प्रयास करना सदैव अधिक उपादेय होता है। गलती यह हो जाया करती है कि व्यंग्योक्ति को ही वक्रोक्ति मान लिया जाता है। सिद्धनाथ ने भी ऐसी गलती की है। जहाँ इससे वे बच गये हैं, वहाँ उन्होंने कविता लिखी है।

किसी काव्य-संग्रह में थोड़ी कविता भी हो, तो क्या कम है ?

०

**भग्नमूर्त्ति**[2] आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' के मराठी-काव्य का प्रभाकर माचवे द्वारा कृत मूलोपम अनुवाद है। मूल अनुवाद से बहुत अच्छा होगा, ऐसा सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता।

पुस्तक के अन्तिम दो पृष्ठों में 'परिशिष्ट–२' है, जिसे प्रारम्भ में रहना चाहिए था, और, जब इस कवि की कृति का अनुवाद आवश्यक माना ही गया है, तब परिशिष्ट में उसकी जीवनी आदि पर भी थोड़ा प्रकाश अपेक्षित था। कृति के विषय में अनुवादक ने कहा है—"भग्नमूर्त्ति काव्य की विशेषता यह है कि वह अन्य रूढ खण्ड-काव्यों की भाँति कथनात्मक (नैरेटिव) काव्य नहीं है। वह किसी कहानी को दिया हुआ पद्यात्मक रूप नहीं है। इसमें आधुनिक कविता का विश्लेषणात्मक रूप (एनेलिरिकल पोएट्री) व्यक्त हुआ है। 'मेघदूत' की भाँति, कवि के मन में एक वस्तु के दर्शन-मात्र से स्फुरित भावगीतात्मकता का यह प्रलम्बित मुक्तक (एक्स्टेंडेड लिरिक) है। इस कारण से उसमें रागात्मक अनुभूति की सघनता (इमोशनल कंटेग्रेशन) है। मूर्त्ति पर विचार करते-करते कवि साँची, अजन्ता, वेरूल, मथुरा-म्यूजियम और वहाँ से हमारी संस्कृति के ह्रास को बृहद् और विशद कारण-

---

१—लेखक : श्रीसिद्धनाथ कुमार; प्रकाशक : पुस्तक-सदन, दिल्ली, पटना; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

२—मूल रचयिता : श्रीआत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल'; अनुवादक : डा० प्रभाकर माचवे; प्रकाशक : साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; मूल्य : एक रुपया मात्र।

मीमांसा तक पहुँचता है। कवि की मौलिक उपलब्धि यह है कि 'रक्षण-तन्त्र' की उपेक्षा के कारण हमारी संस्कृति आज ऐसी खँडहरनुमा हाल में है।··· प्राणि-शास्त्र और मानव-वंश-शास्त्र से उदाहरण लेकर कवि ने यही सिद्ध किया है। इस प्रकार से यह छोटा-सा काव्य हमारे इतिहास, कला, दर्शन और समूची जीवन-पद्धति का एक नया भाष्य है।"

माचवे जी के विवरण से सहमत होते हुए भी, हमारा निष्कर्ष उनसे भिन्न है। हमारे विचार से वस्तुतः यह काव्य भी 'कथनात्मक' ही है—कथन भले ही व्यक्तियों का न होकर वस्तु का ही हो। और, जैसे आज व्यक्ति-कथनात्मक काव्य कवि-शिशुता के परिचायक माने जाते हैं, वैसे ही वस्तु-कथनात्मक काव्य भी यह प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं कि कवि काव्य के बदले किसी शास्त्र का सहारा लेता। जैसे, इस काव्य के रचयिता को भारतीय कला, संस्कृति आदि की कहानी कहनी ही थी, तो वह उनका इतिहास लिखता!

अनुवाद अधिकार के साथ किया गया है। इसका आश्वासन अनुवादक का सुपरिचित, समादृत नाम ही है।

०

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

स्पन्दन,[1] युग और मानव[2] तथा अञ्जलिका[3] तीनों उमाशङ्कर की स्फुट काव्य-कृतियाँ हैं। प्रथम में अट्ठावन, द्वितीय में पैंतीस और तृतीय में अस्सी कविताएँ संगृहीत हैं, जो निःस्पन्द हैं, ऐसा तो नहीं कह सकते, किन्तु उनमें परम्परा का बासीपन अवश्य है। प्रथम काव्य-संग्रह स्पन्दन में अपने असूक्ष्म आराध्य के रिझाने की क्षण-भुग्न समस्याओं से उत्पन्न किंनिश्चयविमूढता से कवि अपने को अनभिभूत या तटस्थ तो नहीं रख सका है, फिर भी उसकी आत्मस्थ आस्था पर्याप्त स्फीत है। कहीं-कहीं अनवधान आवेगातिशय-जन्य भाषा और शिथिल भावगत प्रयोग—जैसे, 'सरिता के पुलिन पर' शीर्षक कविता की प्रथम पंक्ति 'आज उससे लड़ गईं आँखें हमारी' में 'लड़ गईं'—के कारण सारा पद्य ही फिल्मी गीत बन गया है।

द्वितीय आलोच्य काव्य-संग्रह युग और मानव में, कवि ने प्रारम्भ में नवयुग का अभिनन्दन करते हुए, मानव को वज्राङ्गबली की छप्त शक्ति का स्मरण दिलाया है। उसके बाद गरीबी, इंसान, किसान, बापू, जवाहर, जयप्रकाश, विनोबा, भूदान, सर्वोदय, दिनकर आदि पर अपने दृष्टिकोण से कुछ-कुछ में सब कुछ कहने का कवि-प्रयास, रमणीयार्थप्रति-पादक शब्दों के प्रयोगत्वारित्य के कारण, असन्तुलित है—जैसे, 'तेरी (!) विराट हुङ्कारों से', 'प्रलय भी पन्नाह (!) जिससे माँगता', 'विकट तमिस्रा के आलम (!) में' आदि-आदि।

तृतीय पुस्तक अञ्जलिका के गीत 'ओ बेदर्दी, ओ निर्मोही', 'क्यों चले गये निष्ठुर

---

१, २ और ३—रचयिता : श्रीउमाशङ्कर वर्मा; प्रकाशक : ज्योत्स्ना-निकुञ्ज, भागलपुर; मूल्य : प्रत्येकशः डेढ़ रुपये मात्र।

तजकर', 'खिली नहीं कली', 'किस निठुर ने हाय तेरा दिल जलाया है ?' आदि चित्रपट-प्रयोग निराश करनेवाले हैं। संगृहीत गीतों में मिलनेवाले हालावाद का स्वरवैरूप्य कवि को बच्चन से प्राप्त हुआ है।

सर्वसाधारण आवरणवाली तीनों पुस्तकों का मुद्रण सन्तोषजनक है।

०

अभिशाप[1] भी उमाशङ्कर की एक ऐसी अल्पकाय काव्य-कृति है, जो तथाप्रथित हालावादी कवि बच्चन की अनवरत प्रेरणा से मुक्त छन्द (!) में लिखी गई है और कवि के द्वारा अपने प्रेरक को समर्पित भी की गई है। गनीमत है कि हालावाली बाला इसमें आते-आते भी नहीं आई है !

इस पुस्तक में तीन प्रसङ्ग हैं—शकुन्तला को दुर्वासा का शाप, कच को देवयानी का शाप और अहल्या को गौतम का शाप। कवि के 'वक्तव्य' के अनुसार दूसरा प्रसङ्ग रवि बाबू की 'बिदाय अभिशाप' कविता का रूपान्तर-मात्र है, शेष दो मौलिक हैं। उक्त प्रसङ्गों में कवि की वर्णन-शैली अपरिष्कृत तो नहीं, किन्तु यत्र-तत्र अस्वाभाविक अवश्य हो गई है। जैसे, प्रथम प्रसङ्ग में—भौंरे का बार-बार वार (!) करना ( छेड़ने या तंग करने के अर्थ में ); झरबेरी में कंचुकी का अचानक उलझना ( रम्य आश्रम में झरबेरी कहाँ से ? ) आदि।

इसके अतिरिक्त 'प्रियम्वदा', 'अनुसूया', 'कलस्विनी', 'आवेष्टित' 'अकस्मात' आदि अपप्रयोग कवि के शब्द-दारिद्र्य के सङ्केतक हैं। भावों में उदात्तता तो नहीं, सादगी अवश्य है।

## उपन्यास

### समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

सुई की नोक[2] प्रत्यगाभास ( flash back )-शैली में लिखा गया उपन्यास है। किन्तु, उपन्यास में प्रत्यगाभास के बदले प्रत्यङ्निर्धारण है। अतीत का विशृङ्खल आभास प्रस्तुत करने के लिए वर्त्तमान में पर्यवस्थिति ढूँढ लेना सार्थक सिद्ध हो सकता है; अतीत के निर्धारण के लिए इसकी आवश्यकता नहीं, उसमें ही पहुँचकर उसे दिखाना युक्तिसङ्गत है। या, फिर डायरी या पत्र के रूप में उपन्यास लिखा जा सकता है। सेवकजी का यह उपन्यास डायरी के रूप में ही, जैसा है, लिखा जाना चाहिए था।

सुई की नोक में ही प्रत्यगाभास प्रत्यङ्निर्धारण बन गया हो, ऐसी बात नहीं है।

---

१—रचयिता : श्रीउमाशङ्कर वर्मा; प्रकाशक : ज्योत्स्ना-निकुञ्ज, भागलपुर; मूल्य : डेढ़ रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीश्यामनन्दन सहाय 'सेवक'; प्रकाशक : श्रीअजन्ता प्रेस लि०, पटना-४; मूल्य : आठ रुपये मात्र।

यह तनिक कठिन शिल्प-विधि है। इसे हिन्दी का शायद ही कोई उपन्यासकार, सार्थक और अनिवार्य शिल्प-विधि के रूप में, व्यवहृत कर पाया हो। 'अज्ञेय' तक शेखर : एक जीवनी में नहीं कर पाये हैं—उसमें भी आभास के बदले, बिलकुल शुरू के अंशों को छोड़कर, निर्धारण ही हुआ है, बाद में तो लेखक जैसे भूल ही गया है कि आज उसे अपने अतीत के जो असम्बद्ध आभास मिल रहे हैं, उन्हें ही उसे पकड़ना है। सुई की नोक में भी, और इसमें प्रारम्भ से ही, यही होने लग जाता है और होता चला जाता है। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में ही एक किसी सन्ध्या का वर्णन है, जब मुख्य पात्र यात्रा को निकला था, और उसे उस सन्ध्या की याद आ रही है। वह अपनी डायरी को पाठक के सामने रख रहा होता तो ठीक था कि उसे उस सन्ध्या और फिर बाद की यात्रा के क्रमबद्ध सूत्म विवरण रखते चले जाने का अवसर होता; अन्यथा विवरण तो विपर्यस्त होकर ही सामने आ सकते थे और उनका आभास ही प्रेष्य होता। ऐसा हुआ नहीं है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि, शेखर : एक जीवनी की तरह ही, सुई की नोक जितना महत्त्वपूर्ण उपन्यास बन पा सकता था, बनते-बनते बन नहीं पाया है। दोनों उपन्यास असफलता की दृष्टि से अवश्य तुलनीय हैं, यद्यपि दोनों के व्यास या शैली में कोई साम्य नहीं है।

सुई की नोक में अतीत का निर्धारण है, जबकि उसका आभास ही मिलना चाहिए था, और वस्तु तथा पात्रों का आभास-मात्र है, यद्यपि इनका निर्धारण आवश्यक था। झलक-से बनी पूर्णता बड़ी चीज होती है, किन्तु खण्डित पूर्णता से बन सकनेवाली बात भी बिगड़ जाती है। सुई की नोक में एकाधिक पात्रों के असफल जीवन की खण्डित पूर्णता चित्रित है। फलतः, पटना-राँची और आगरा-बनारस और फिर आसाम तक की भागदौड़ में उपन्यास के पात्र अपरिचित ही बने रह जाते हैं, और हम यात्रा की कठिनाइयों, ताजमहल, जीवन-मृत्यु, प्रेम आदि के बारे में इन अविश्वसनीय युवकों के विचारों को, उनके कथोपकथन के व्याज से, सुनते चले जाने को बाध्य होते हैं।

उपन्यास में अनेक खण्ड-कथाएँ हैं, जिन्हें सीधे कहा जाता, तो हम और विस्तार से सुनना पसन्द कर सकते थे, और ऐसे एकाधिक पात्र हैं, जिनसे हम परिचय बढ़ाना चाह सकते थे और जिन्हें हम प्रेम करते, न कि प्रेम पर जमकर विचार करते, देखते रह सकते थे। उपन्यास के पात्र लेखक के लिए सुलभ बहुत-से ध्वनिविस्तारक यन्त्र-मात्र हैं, जिनका उपयोग, एक से दूसरे तक दौड़-दौड़कर, लेखक करता रहता है। अपने ढंग से जैनेन्द्र भी यही करते हैं। वे कहते भी हैं कि वे इससे भिन्न कुछ करना ही नहीं चाहते। लेकिन, उनके साथ—और यह बहुत कम ही लोगों के समान हो सकता है—यह भी तो है कि हम जैनेन्द्र के पात्रों से अधिक जैनेन्द्र के विचारों को ही सुनना चाह सकते हैं और सुनते थकते नहीं! जिन दूसरों ने ऐसा किया है, उनसे पाठक यही निवेदन करना चाहेगा कि और कुछ न हो सके, तो क्यों कीजिए, सीधे कहानी कह डालिए।

सुई की नोक, नाम के बावजूद, चुभती नहीं। सर्वथा भिन्न मत व्यक्त करते हुए,

जैनेन्द्रजी कहते हैं, 'पुस्तक के पात्र जीते-जागते लगे···ये पात्र मन को कुरेदते रह जाते हैं।' जैनेन्द्रजी के विचार मूल्यवान् होते हैं, पर मैं उनके इस विचार से असहमत हूँ।

०

## निबन्ध-आलोचना

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

काव्य की भूमिका[1] और पन्त, प्रसाद, मैथिलीशरण[2] दिनकरजी की चिन्तन-प्रौढ़ि के परिचायक, काव्य तथा कविविषयक निबन्धों के ऐसे संग्रह हैं, जिनमें लेखक का कवि होना बाधक नहीं, साधक सिद्ध हुआ है। काव्य की भूमिका के निबन्ध, दिनकरजी की कविता-पुस्तकों की भूमिकाओं या स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में, पहले ही प्रकाश में आ चुके हैं; किन्तु एकत्र प्रस्तुत होने पर ये आसानी से पुस्तक के परस्पर-सम्बद्ध परिच्छेद-से बन गये हैं। इन निबन्धों में एक अधीती कवि के सामान्यतः काव्यविषयक और विशेषतः हिन्दी-काव्यविषयक विचार शास्त्रोचित शैली में व्यक्त हुए हैं। काव्य की भूमिका में उद्गार या आक्रोश नहीं हैं। इन्हें कवि दिनकर ने अपने आलोचकों से प्रतिशोध लेने का माध्यम नहीं बनाया है, जैसा इधर अनेक हिन्दी के सहानुभूति-पात्र लेखक करने लगे हैं। इन निबन्धों को लिखकर दिनकर सिद्ध कर सके हैं कि वे शास्त्र-भ्रष्ट होने के कारण कवि नहीं बने हैं।

काव्य की भूमिका में दिनकर ने रीतिकाल, छायावाद, उत्तर-छायावाद के बारे में कई बातें ऐसी कही हैं, जो पहले नहीं कही गई हैं या इस विशदता के साथ नहीं कही जा सकी हैं। उन्होंने प्रयोगवाद पर भी एक निबन्ध लिखा है, जो इस पुस्तक के हिन्दी-काव्यविषयक निबन्धों में अन्तिम है, यह निबन्ध, अन्यों के बीच, अपवाद है। इसमें दिनकर ने क्या कहना है से अधिक ध्यान रखा है इसका कि कितना कहना हर तरह के खतरे से खाली हो सकता है। दिनकर ने इस निबन्ध में अपने साथ समझौते किये हैं और बड़ी मर्यादित शैली में प्रयोगवाद को आशीर्वाद दिया है। इसीलिए, दिनकर के ही अन्य निबन्धों की तुलना में, यह उनके पाण्डित्य का नहीं, कौशल का द्योतक बनकर रह गया है। दिनकर ने अपने अन्य निबन्धों में अपनी मान्यताओं की रक्षा में और दूसरों के खण्डन में अभ्यस्त अस्त्र-संचालन का परिचय दिया है। प्रयोगवादवाले निबन्ध से इतना भर सिद्ध होता है कि वे तलवार की धार पर चलना भी जानते हैं। मुझ पर यही अभियोग न लगे, इसलिए मैं दो टूक कह दूँ कि दिनकर प्रयोगवाद को अंशतः भी समझ नहीं पाये हैं। उनके इस निबन्ध का सामयिक महत्त्व ही हो सकता है : मैंने ऐसे प्रयोगवादियों के बारे में भी इधर सुना है, जो प्रयोग करने के साथ-ही-साथ आशीर्वाद की भी कामना रखते हैं।

---

१, २—लेखक : श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'; प्रकाशक : उदयाचल, पटना-४; मूल्य : प्रत्येकशः चार रुपये मात्र।

इस संग्रह में सात और निबन्ध हैं, जिनमें दिनकरजी के उन विचारों से हम असहमत हो सकते हैं, जो अनुपादेय नहीं हैं।

पन्त, प्रसाद और निराला, जो दिनकरजी की सद्यःप्रकाशित दूसरी पुस्तक है, विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसमें प्रसाद पर एक निबन्ध है, जिसका व्याख्यात्मक शीर्षक है—कामायनी : दोष-रहित. दूषण-सहित। कामायनी के इस निर्लिप्त विश्लेषण के लिए जिस नश्तर से दिनकरजी ने काम लिया है, उसका प्रयोग उन्होंने पन्त और मैथिलीशरण पर नहीं किया है।

कामायनी और कामायनीकार की जो वीर-पूजा होने लगी है, वह दिनकर के विश्लेषण के बाद कुछ संयत अवश्य हो जायगी। कामायनी की गहरी, किन्तु संक्षिप्त शल्य-क्रिया स्व० चन्द्रबली पाण्डेय ने की थी। उनकी और दिनकर की शल्य-शैली में अन्तर यह है कि पाण्डेयजी जर्राह थे, दिनकरजी 'सर्जन' हैं।

पन्त और मैथिलीशरण की आलोचना अटपटी न होने पर भी, इन पंक्तियों के लेखक की रुचि के लिए, प्रेम-लपेटी और शर्करा-लिप्त है।

०

## विविध

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

रणधीर सिनहा की रचनाएँ[1] उनकी उन पहली रचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं, जिनके संग्रह की प्रतिकूल समीक्षा इस स्तम्भ में इन्हीं पंक्तियों का लेखक कर चुका है। विश्वामित्र हो, तो उसकी त्रैशङ्कवी सृष्टि की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु इन रचनाओं के पूर्व का रणधीर ऐसा घट-निर्माता था, जो त्रिभुवन-विधाता से कलह ठानता हो।

पूर्व के रणधीर की रचनाओं के दोषों में सबसे बड़ा यह था कि उनमें कहीं मुस्कराहट या हँसी न थी और बड़ी कुन्द छेनी से तक्षण किया गया था। इसलिए, कुछ चौंकने के बावजूद आलोचक उनके प्रति आशावान् नहीं हो सकता था। किन्तु, रणधीर की नवीन रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि आलोचक भविष्यवक्ता नहीं हो सकता।

रणधीर की प्रस्तुत रचनाओं की—निबन्ध, डायरी, कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, रिपोर्ताज, संस्मरण, व्यंग्य-चित्र, आत्मालाप, लघु-कथाएँ; पृष्ठ-संख्या कुल १२४—अप्रत्याशित विशेषता यह है कि इनमें बड़े कौशल से सूक्ष्म रेखालङ्करण (Vignette) करने का प्रयास है, जो पहले एकदम नहीं था, और वह शब्दाधिक्य बहुत कम है, जो पहले अत्यधिक था। संग्रह में दस कविताएँ हैं, जिन्हें उनके रचयिता ने 'दस रूमानी कविताएँ' कहा है। यह सचाई से अधिक वह विनोद है, जिसकी क्षमता रणधीर में है, इसका

---

१—लेखक : श्रीरणधीर सिनहा; प्रकाशक : श्रेष्ठ साहित्यागार, पटना; मूल्य : ढाई रुपये मात्र।

सन्देह भी पहले की उनकी कृतियों को देखकर नहीं किया जा सकता था। नई कविता के दुर्धर्ष रचयिताओं का अति-परिचय रखनेवाला यह लेखक अपनी कविताओं को रूमानी कहकर नई कविता के नीचे से, जैसा अँगरेजी में कहते हैं, तख्ता ही खींच लेता है, और तारीफ यह है कि गाली—'रूमानी' आजकल गाली ही तो है—अपने को दी है।

रणधीर की इस मनस्विता का तो कायल ही होना पड़ेगा कि पुस्तक में संगृहीत रचनाएँ लेखक की संचिकाओं से ही संगृहीत हैं, पत्र-पत्रिकाओं से नहीं। ये रचनाएँ बासी या जूठन नहीं हैं, ये पहली बार भुनाई जा रही हैं और खरीदनेवाला अफसोस नहीं करेगा।

०

मनोविश्लेषण[१] फ्रायड के 'ए जेनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइकोनेलसिस' का सन्तोषजनक अनुवाद है। मनोविश्लेषण पर जो कुछेक पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध हैं, उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह अनुवाद सिद्ध होगा। वस्तुतः, ऐसे आकर-ग्रन्थों के अनुवाद ही पहले होने चाहिए। तभी, उनके और विशेषज्ञोचित अध्ययन एवं प्रशिक्षण के आधार पर, विभिन्न शाखों की मौलिक पुस्तकें प्रणीत हो सकती हैं। अनुवादक और प्रकाशक ने इस अनुवाद को प्रस्तुत कर ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया है और बहुत खूबी के साथ किया है।

मूल पुस्तक अब तो न केवल मनोविज्ञानवेत्ताओं के लिए ही, बल्कि अँगरेजी जानने और सामान्य ज्ञान रखनेवाले पाठकमात्र के लिए सुपरिचित है। पहले भाग में गलतियों का मनोविज्ञान, दूसरे में स्वप्न तथा तीसरे में स्नायु-रोगों का सामान्य सिद्धान्त विवेचित हैं। अनुवाद के आरम्भ में फ्रायड की एक अति लघु जीवनी भी दे दी गई है, जिसे विस्तृततर होना चाहिए था। अनुवाद के अन्त में यदि अँगरेजी-हिन्दी शब्द-सूची भी दे दी गई होती, तो उससे बड़ी सुविधा होती। जिन्होंने पुस्तक अँगरेजी में पढ़ी है—मैं उन सौभाग्यशालियों में हूँ—उनके लिए भी यह पुस्तक, ऐसी सूची के कारण, विशेष रूप से उपयोगी हो जाती। यों, पाद-टिप्पणियों के रूप में अँगरेजी के पारिभाषिक शब्द दे दिये गये हैं, किन्तु ऐसी पुस्तकों में शब्द-सूची देने की प्रथा बेमानी नहीं होती!

अनुवाद की भाषा सरल और प्राञ्जल है, किन्तु पृ० १५ पर Battle scared और Bottle scarred वाली गलती, जो अब तो बहुशः उद्धृत लतीफे का रूप ग्रहण कर चुकी है, अनुवादक समझ नहीं पाया है। इसी तरह, sword सोर्ड के बदले स्वर्ड, हाफ-फार्म्ड के लिए हाफ-फार्ड-जैसी एकाधिक भूलें भी हैं, जिनके लिए लेखक और मुद्रक दोनों ही उत्तरदायी हैं।

किन्तु, इसके बावजूद, मैं पुनरुक्ति का दोषी बनकर भी फिर कहना चाहूँगा, यह अनुवाद अभिनन्दनीय है।

०

---

१—मूल लेखक : फ्रायड; अनुवादक : श्रीदेवेन्द्रकुमार वेदालङ्कार; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, दिल्ली; मूल्य : दस रुपये मात्र।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा[1] हुमायूँ कबीर की अँगरेजी-पुस्तक 'एडुकेशन इन न्यू इण्डिया' का खासा बढ़िया अनुवाद है। इसमें भारत में शिक्षा की स्थिति, बुनियादी और माध्यमिक शिक्षा, समाज-शिक्षा, भारतीय विश्वविद्यालय, अँगरेजी का अध्ययन, सांस्कृतिक गति-विधियाँ, छात्रों में अनुशासनहीनता तथा शिक्षा का नियत कर्त्तव्य आदि महत्त्वपूर्ण शिक्षा-शास्त्रीय विषयों पर एक अधिकारी शिक्षा-विशेषज्ञ के विचार पढ़ने को मिलते हैं।

कबीर साहब के एक निबन्ध पर स्वभावतः विशेष रूप से हमारा ध्यान गया। वह है 'अँगरेजी का अध्ययन'। निबन्ध के तर्क, प्रमाण और निष्कर्ष संक्षेप में ये हैं—"...यह सत्य है कि स्वाधीनता के बाद अँगरेजी के अध्यापक की माँग बढ़ती ही गई है।... यह बात एक ग्यारह या बारह साल के बालक द्वारा दिये गये एक उत्तर से बहुत स्पष्ट हो गई थी।...जब उससे पूछा गया कि तुम आखिर अँगरेजी को इतना अधिक पसन्द क्यों करते हो, तो उसका उत्तर था—'यदि मैं अँगरेजी नहीं पढ़ूँगा तो मैं भारत का प्रधान मन्त्री कैसे बन सकता हूँ?" इससे कबीर साहब जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उससे सर्वथा भिन्न हम तो यह समझते हैं कि बालक बिचारे ने अनजाने एक निन्द्य मनोवृत्ति की आलोचना कर दी थी। कुछ लोग अवश्य समझते होंगे कि भारत के प्रधानमन्त्रित्व की प्राप्ति के लिए अंगरेजी का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु क्या यह सत्य भी है?

हम नहीं कह सकते, ये विचार कबीर साहब ने कब व्यक्त किये थे—शिक्षा-मन्त्रणालय में उच्चपदाधिकारी बनने के बाद या पहले। यदि बाद में, तो हम उनसे यह भी तो सुनना चाहते कि राष्ट्रभाषा का क्या महत्त्व है!

०

मार्क्सवाद और रामराज्य[2] में व्यक्त विचारों से सहमत होना या न होना और बात है—'...आदिम मनुष्य परम ज्ञानवान् थे, यही पक्ष श्रेष्ठ है', इस सिद्धान्त से आज कौन सहमत होगा!—किन्तु यह सम्भव नहीं कि लेखक के विचारों की मौलिकता और सबलता से पाठक अप्रभावित रह जायँ। पुस्तक के नाम में 'यद्यपि मार्क्सवाद शब्द रखा गया है, पर उसके साथ समस्त पाश्चात्य दर्शन का आलोचन आ गया है'—प्रस्तावना का यह स्पष्टीकरण सर्वथा युक्तियुक्त है।

लेखक अपने पूर्वाग्रहों के बावजूद वैदुष्य के उच्च स्तर को बनाये रखने में बहुत कुछ अपने पाण्डित्य और एक हद तक पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षवाली परम्परागत विवेचन-प्रणाली के कारण समर्थ सिद्ध हुआ है। अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं से परिचय न रखने के कारण, जो प्रकृत विषय के लिए नितान्त आवश्यक है, पूर्वपक्ष की स्थापना में जो कठिनाई

---

१—मूल लेखक : श्रीहुमायूँ कबीर; अनुवादक : श्रीविराज; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, दिल्ली; मूल्य पाँच रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

२—लेखक : श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज; प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर; मूल्य : चार रुपये मात्र।

हो सकती है, उसे प्रस्तावना में निर्भीकतापूर्वक स्वीकृत किया गया है। "मार्क्सवाद और पाश्चात्य दर्शन पर हिन्दी, मराठी आदि में जो प्रकाशित पुस्तकें उपलब्ध हो सकीं, उन्हीं से पूर्वपक्ष लिया गया है।...यदि उन पुस्तकों में पूर्वपक्ष ही उचित ढंग से नहीं दिया गया, तो दूसरी बात है।" किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लेखक ने प्रायः सर्वत्र पूर्व-पक्ष को अवधानपूर्वक समझकर ही उपस्थित किया है और इसी आधार पर 'पाश्चात्य मत की आलोचना के साथ अपने पक्ष का प्रबल प्रतिपादन किया गया है।'

०

आज का भारतीय साहित्य[1] में 'भारत की सोलह भाषाओं के साहित्य के परिचय', यदि हिन्दी-साहित्य या कुछेक अन्यों के परिचय-लेखक, जिन्हें मैं थोड़ा-बहुत जानता हूँ, प्रमाण माने जायँ, तत्-तत् भाषाओं के अधिकारी विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। यदि हिन्दी-साहित्य के परिचय के प्रतिमान का निर्वाह अन्य साहित्यों के परिचयों में भी हो सका है, तो अवश्य ही अकादेमी का यह प्रकाशन न केवल लोकप्रिय सिद्ध होगा—इसके प्रथम अँगरेजी-संस्करण की ५००० प्रतियाँ, हिन्दी-संस्करण में बताया गया है, कुछ महीनों में ही बिक गई थीं—अपितु आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यों की अन्तर्धाराओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए सहज-सुलभ आकर-ग्रन्थ भी प्रमाणित होगा।

हिन्दी का परिचय, जिसकी ओर हम सङ्केत कर चुके हैं, सच्चिदानन्द वात्स्यायन का लिखा हुआ है। इससे बहुतों का विकट मतभेद तब देखने को मिला था, जब अभी अँगरेजी-संस्करण ही छपा था। अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनों ही दोषों से युक्त हिन्दी का यह परिचय इतनी अच्छी अँगरेजी में लिखा गया था कि ये अनिवार्य दोष—कोई भी लिखता तो ये आ ही जाते—सर्वथा क्षम्य प्रतीत हुए थे। गुण-पक्ष में एक और बात उल्लेखनीय है : वात्स्यायन ने यथासम्भव समग्रता को ध्यान में रखा है और स्वभावतः टुकड़े छूट गये हैं, जिन्हें महत्त्व देनेवाले नहीं हैं, ऐसा इस परिचय के आलोचकों द्वारा व्यक्त आक्रोश के बाद अवश्य नहीं कहा जा सकता।

मैंने बहुत ध्यान से हिन्दी के परिचय के अँगरेजी-हिन्दी रूपों की तुलना नहीं की है, किन्तु कदाचित् कुछ परिवर्त्तन यहाँ-वहाँ किये गये हैं और थोड़ा-बहुत जोड़ा भी गया है। इनसे लाभ ही हुआ है, यद्यपि ऐसे परिचय के स्वयं लेखक द्वारा विहित सम्पादन में, परिवर्द्धन के बदले घनीकरण ही विशेष लाभदायक सिद्ध होता।

परिचय-विशेष में 'अज्ञेय' और उसके पर्यायों की कृतियों का सविस्तर उल्लेख है, जो बहुतों को खटका है, खास तौर से इस कारण कि लेखक का नाम सच्चिदानन्द वात्स्यायन

---

१—लेखक : विविध; साहित्य अकादेमी की ओर से राजपाल एण्ड संज द्वारा प्रकाशित; मूल्य : सात रुपये मात्र।

भी 'अज्ञेय' का ही पर्याय है, जो प्रकट रहस्य है। 'अज्ञेय', उनके 'प्रतीक' और उनके तार-सप्तकों का सामान्य रूप से उत्तर-प्रदेश और विशेष रूप से प्रयाग में दबदबा रहा है, ऐसा सुना जाता है। इस कुएँ को साहित्य का समुद्र मानकर भी, वात्स्यायनजी ने समुद्र ही देखने की चेष्टा की है।

और सच बात तो यह है कि वात्स्यायनजी ने ऐसा करके भी किया ही क्या! आस्कार वाँइल्ड से एक बार किसी ने कहा था—'क्या आप कृपा कर अंगरेजी की सौ श्रेष्ठ पुस्तकों की सूची बना देंगे?' वाइल्ड ने छूटते ही जवाब दिया था—'अभी तो मैंने कुल तीन-चार ही पुस्तकें लिखी हैं!' वात्स्यायन जी ने अपनी तीन-चार या जितनी भी हों, पुस्तकों के अतिरिक्त भी जाने कितनी अच्छी-बुरी पुस्तकों और उनके रचयिताओं का उल्लेख किया है। हिन्दी के लेखकों में थोड़ा विनोद-भाव होता, तो वे यह परिचय पढ़कर हँस लिये होते, लेकिन इन बिचारों ने तो जैसे यह मान लिया था कि वात्स्यायनजी ने कृपा नहीं की, तो उनकी 'बस ही छूट गई!'

चूँकि, अन्य भाषाओं के साहित्य प्रकारतः तथा परिमाणतः कृपवन हैं, इसलिए उनके द्रुत सर्वेक्षण करनेवाले भी, अपनी योग्यता के कारण, मगडूक नहीं बने हैं; इसके विपरीत हिन्दी का समुद्र प्रयाग के कूप से देखा गया है, अतः वात्स्यायन अपनी विचक्षणता के बावजूद, मागडूक्य से बच नहीं पाये हैं।

लेकिन, तत्त्व की बात यह कि 'अकादेमी' को—क्या अब इस नाम के परिष्कार की कोई सम्भावना नहीं है?—'परिचय' आदि के बदले अधिक कठिन कार्य अपने हाथ में नहीं लेने चाहिए?

०

उर्दू-साहित्य का इतिहास[1] एजाज हुसेन की, उर्दू के छात्रों के लिए सुपरिचित, पुस्तक है। भीतरी कवर पर 'रूपान्तरकार' मुद्रित है, किन्तु मूल लेखक के वक्तव्य से स्पष्ट है कि पुस्तक का हिन्दी में 'तर्जुमा' किया गया है।

यह पुस्तक 'कोई बीस साल से उर्दू-लिपि में प्रचलित है' और 'युनिवर्सिटी और कालेज के छात्रों के अलावा उर्दू-साहित्य से दिलचस्पी रखनेवाले दूसरे लोग भी इसको अपनाते रहे हैं'।

उर्दू-साहित्य का यह इतिहास साहित्येतिहास का प्रकृष्ट तो नहीं, किन्तु लोकप्रिय रूप अवश्य है और मूल लेखक का यह आत्म-सन्तोष निराधार नहीं होगा—'ये सब बातें उर्दू-साहित्य के दूसरे इतिहासों में भी मिल सकती हैं, लेकिन थोड़े में सारी बातें आसानी से दिल में उतर जाने की खूबी शायद कहीं न मिल सके।' लेकिन साहित्येतिहास भी क्या गजल है, जो आसानी से दिल में उतर जाये!

---

१—मूल लेखक : डा० एजाज हुसेन; अनुवादक : शमशेरबहादुर सिंह; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, पटना, दिल्ली आदि; मूल्य : छह रुपये मात्र।

अनुवाद में हिन्दी की कीमत पर भी उर्दू के साथ न्याय ही किया गया है। मुद्रणादि सर्वथा सन्तोषजनक और प्रकाशक की ख्याति के अनुरूप हैं।

०

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

**शारीरिक शिक्षण का सैद्धान्तिक पृष्ठाधार**[1] में शत्रुघ्न सिंह शर्मा ने पाठकों को शारीरिक शिक्षण के सैद्धान्तिक पक्ष से परिचित कराने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। लेखक ने अपने देश में शारीरिक शिक्षण के सुनियोजित मनोरञ्जनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता सिद्ध करते हुए, शारीरिक शिक्षण की परिभाषा और व्याख्या तथा उसके लक्ष्य और उद्देश्य की सविवरण और सविस्तर चर्चा दी है।

विशुद्ध भारतीय वातावरण में शारीरिक शिक्षण के सिद्धान्त और दर्शन का विश्लेषण इस पुस्तक का वैशिष्ट्य है।

शरीर-शिक्षण-शास्त्र पर वैज्ञानिक प्रणाली से लिखी गई ऐसी पुस्तक का श्रीहीन प्रकाशन हिन्दी के लेखक का दैव-दुर्विपाक समझें या प्रकाशक की युगान्ध उदासीनता ? फिर भी, यह पुस्तक अपने क्षेत्र में अनादर-रहित भाव से अङ्गीकृत होगी, ऐसा हमें विश्वास है।

०

**पत्रकार-बृहत्त्रयी**[2] : प्रस्तुत पुस्तक में गौरीशङ्कर गुप्त ने हिन्दी-पत्रकार-कला के तीन प्रमुख आचार्यों—पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, स्व० पं० बाबूराव विष्णु पराडकर तथा पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे—का परिचय 'पत्रकार-बृहत्त्रयी' कहकर दिया है, जिसमें उक्त तीनों सम्पादकाचार्यों के विषय में पहले क्रम-क्रम से, किन्तु सम्मिलित रूप में और फिर बाद में पृथक्-पृथक् परिचयात्मिका विवृति उपस्थित की गई है। सरल भाषा की सुगम शैली में तीनों पत्रकार-धुरन्धरों की जीवनविषयिणी छोटी-छोटी मनोरञ्जक घटनाओं के उल्लेख से वर्ण्य विषय में पर्याप्त रुचिकरता आ गई है।

हिन्दी-पत्रकारों के सम्बन्ध में इस प्रकार की परिचय-पुस्तक हिन्दी-पत्रकारिता के वाञ्छनीय साङ्गोपाङ्ग इतिहास के पूरक अध्याय प्रमाणित होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रारम्भ में पत्रकार-प्रवर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की अवश्यमपठनीय भूमिका से पुस्तक के मूल विषय की असम्पन्नता बहुत दूर तक, निस्सन्देह, दूर हो गई है।

मुद्रण और आवरण श्रीहीन, किन्तु सदोष नहीं।

०

---

१—लेखक : श्रीशत्रुघ्न सिंह शर्मा ; प्रकाशक : प्रभा-प्रकाशन, पटना-६; मूल्य : उल्लेख नहीं।

२—लेखक : श्रीगौरीशङ्कर गुप्त; प्रकाशक : हिन्दी-संसद्, गायघाट, वाराणसी; मूल्य : एक रुपया, पचीस नये पैसे मात्र।

**जीवन : एक प्रश्न**[1] : 'राही' की, इस नाटिका में इदानीन्तन जीवन-सङ्घर्ष में संलग्न नायक करुण की भावुकता और द्वन्द्व पर्याप्त प्रभावक है, परन्तु कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी हैं। खलनायक कञ्चन या राघव भी अस्वाभाविक रूप से उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हैं।

संवाद बड़े सुश्लिष्ट, किन्तु यत्र-तत्र अनावश्यक रूप से दीर्घ है।

नाटिका में जीवन का जो व्यापक विश्लेषण किया गया है, वह नाटक के बदले स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में किया जाता, तो लेखक श्रेय का भागी होता।

मुद्रण दोषपूर्ण, आवरण साधारण।

०

**हिन्दी-साहित्य का परिचयात्मक इतिहास**[2] उमाशङ्कर के छात्र-जीवन के 'कालेज-नोट्स' का सङ्कलन-मात्र है, ऐसा प्रतीत होता है। पुस्तक में हिन्दी-साहित्य का अत्यन्त अनपेक्षित और अव्यापक परिचय-मात्र उपस्थित किया गया है।

अतएव, हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पल्लवग्राही ज्ञानार्थियों को भी यह पुस्तक कदाचित् ही अनुकूल जँचेगी।

मुद्रण-आवरण साधारण है।

०

## पत्र-पत्रिकाएँ

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

**श्रमिक**[3] रामनरेश पाठक द्वारा सम्पादित श्रमिक का स्वातन्त्र्य-समारोह-अङ्क श्रम-सम्बन्धी पर्याप्त और प्रामाणिक-सामग्री प्रस्तुत करता है। इस सामग्री में कुछेक उत्कृष्ट साहित्यिक क्षेपक भी हैं, जो कदाचित् सम्पादक की व्यक्तिगत रुचि के कारण ही ऐसे पत्र में स्थान पा सके हैं।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री-लिखित स्वाधीनता-दिवस का अभिनन्दन इन क्षेपकों में ऐसा है, जिससे वे श्रम-सम्बन्धी लेखादि से, जो 'श्रमिक' के प्रकृत विषय हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं।

भारतीय श्रमिक अपने इस पत्र के अनुरूप चिकने और साफ-सुथरे हो पायें, सभी यही चाहेंगे।

०

---

१—लेखक : श्रीबालमुकुन्द 'राही'; प्रकाशक : प्रेम-प्रकाशन, देवघर (सं० प०); मूल्य : सवा रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीउमाशङ्कर वर्मा; प्रकाशक : ज्योत्स्ना-निकुञ्ज, भागलपुर; मूल्य : डेढ़ रुपये मात्र।

३—सम्पादक : श्रीरामनरेश पाठक; श्रम-विभाग, बिहार-सरकार; मूल्य पचास नये पैसे मात्र।

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

बिहार-समाचार ( स्वतन्त्रता-दिवस-विशेषाङ्क )[१] 'सदय' द्वारा सम्पादित 'बिहार-समाचार' का प्रस्तुत सचित्र विशेषाङ्क बिहार-सरकार की सर्वतोमुखी कार्य-प्रगति के जिज्ञासु पाठकों के लिए पर्याप्त पठनीय सामग्री उपस्थित करता है। श्रीशिवपूजन सहाय, श्रीवियोगी, श्रीदिनकर, श्रीबेनीपुरी आदि स्वनामधन्य साहित्य-सर्जकों की कुछ ऐसी रचनाएँ भी सङ्कलित हैं, जिनसे इस विशेषाङ्क में साहित्यिक विशेषता भी आ गई है। किन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जो या तो भर्त्ती की हैं या कई पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों से होकर आई हैं।

जहाँ तक सम्पादन का सवाल है, वह अश्लाघ्य नहीं है, किन्तु 'पुनर्संस्थापन', 'पुनर्कर्षण', 'स्नायुविक-दुर्बलता', 'पृथकताएँ', 'पारस्वनाथ' आदि प्रयोग चिन्त्य हैं।

मुद्रण स्वल्प त्रुटिपूर्ण है और आवरण साधारण रहते हुए भी अनाकर्षक नहीं।

०

सम्मेलन-पत्रिका (कला-अङ्क)[२] : रामप्रताप त्रिपाठी द्वारा सम्पादित सम्मेलन-पत्रिका के प्रस्तुत कला-अङ्क में, 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुन्दरम्' और 'स्वस्तिकम्' शीर्षक चार परिच्छेदों में कला के विभिन्न अङ्गों पर लिखी गई पठनीय महत्त्व की रचनाएँ सङ्कलित हैं। प्रस्तुत अङ्क में, लेख-सहयोग करनेवाले लेखकों में सर्वश्री भगवतशरण उपाध्याय, सूर्यनारायण व्यास, शचीरानी गुर्टू, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रसन्नकुमार आचार्य, किशोरीदास वाजपेयी आदि के लेख पर्याप्त ज्ञातव्य तथ्यों से परिपूर्ण हैं।

आलोच्य अङ्क में उपस्थित की गई महार्घ सामग्री से भारतीय कलाकार की उस विशेषता का पता चलता है, जिसमें केवल शारीरिक अनुरञ्जन को ही कला का मूल विषय न मानकर सांस्कृतिक, मानसिक और बौद्धिक विकास को ध्यान में रखते हुए कला के सर्जन करने का रहस्य प्रत्यक्ष होता है।

श्लाघ्य सम्पादन, श्रेयस मुद्रण और लोभनीय आवरण से प्रस्तुत कला-अङ्क अपने नाम को अक्षरशः अन्वर्थ करने में समर्थ है। पादटिप्पणी में संस्कृत के पद्यात्मक उद्धरण को गद्यात्मक कर देने की असावधानी कहीं-कहीं अवश्य हुई है, फिर भी हिन्दी में इस प्रकार के अपेक्षाकृत दुर्लभ अङ्क को प्रकाशित कर, अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अपने अनुरूप कार्य से, प्रत्याशित श्रेय का शत-प्रतिशत अधिकारी हुआ है।



---

१—सम्पादक : श्रीगोवर्द्धन प्रसाद 'सदय', एम्० ए०; प्रकाशक : जन-सम्पर्क-विभाग, बिहार, पटना; मूल्य : पचास नये पैसे मात्र।

२—सम्पादक : श्रीरामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री; प्रकाशक : हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य : आठ रुपये मात्र।




★ बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक मुखपत्र ★

वर्ष ९ : अङ्क २ } आश्विन, विक्रमाब्द २०१५ : शकाब्द १८८० : अक्टूबर, १९५८ ई० { वार्षिक ७)

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

# सम्पादकीय

## भारतरत्न डाक्टर भगवानदास की परमपद-प्राप्ति

विद्वद्वर श्रीभगवानदासजी भारतवर्ष के सुविख्यात दार्शनिक थे। मुक्तिधाम काशी में आपका मोक्ष-लाभ हुआ। अन्तिम समय में आपकी आयु नवासी वर्ष नव मास की थी। १८ सितम्बर ( गुरुवार, १९५८ ई० ) की रात में सात बजकर छप्पन मिनट पर भारत का एक अप्रतिम विद्वान्, जिसकी विद्वत्ता की ख्याति देश-देशान्तर में फैली थी, उठ गया। वर्त्तमान युग के भारतीय मनीषियों में आप अग्रगण्य माने जाते थे। आपका ज्ञान अगाध था। आपकी स्मरण-शक्ति अलौकिक थी। आपका पाण्डित्य स्वावलम्बी था। आपके लेख, भाषण और ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के भाण्डार का गौरव बढ़ानेवाले अमूल्य रत्न के समान हैं। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एकादश अधिवेशन (कलकत्ता) के सभापति आप ही हुए थे। उसीमें सर्वप्रथम मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक की घोषणा हुई थी। भारतीय हरिजन-महासम्मेलन और भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से किये गये आपके भाषण अपूर्व हैं। वे दोनों पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। इन दोनों विषयों पर वैसे भाषण आज तक देखने-सुनने में नहीं आये। जिस किसी विषय पर आप बोलते-लिखते थे, उस विषय में फिर दूसरे के लिए कुछ शेष नहीं रहने देते थे। काशी में रहते समय आपके दर्शन और भाषण-श्रवण के अनेक अवसर हमें मिले थे। कोई ऐसा विषय न था, जिस पर आप अधिकारपूर्वक बोल या लिख न सकते थे। लिखते-बोलते समय एक ही शब्द के अनेक पर्याय कहते, एक ही वाक्य को विविध प्रकार से अभिव्यक्त करते और एक ही बात की पुष्टि में अनेक प्रमाण संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य से देते चलते थे। आपके सुधी श्रोता और पाठक भी आपकी बहुज्ञता की थाह नहीं पाते थे। काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' में आप प्रायः स्वदेश की

विभिन्न समस्याओं पर सन्मार्ग-दर्शक लेख लिखा करते थे। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर आप जो कुछ लिख देते थे, उस पर उन क्षेत्रों के नेताओं का तो ध्यान आकृष्ट होता ही था, उन विषयों का सुलझा हुआ निदान भी सुलभ हो जाता था। शास्त्रीय विवेचनों से भरे आपके लेख और भाषण भी बड़े सुबोध होते थे। जन्मना-कर्मणा-ब्राह्मण-विषय पर 'आज' में आपने वर्णाश्रमधर्म-सम्बन्धी कई लेख लिखे थे, जो धुरन्धर महापण्डितों को भी चकित-चमत्कृत करनेवाले थे। काशी के एक प्रकाशक की 'कामकुञ्ज' नामक कामशास्त्र-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण पुस्तक की भूमिका लिखाने के लिए कई बार आपकी सेवा में प्रकाशक के साथ उपस्थित होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। आपने बहुत ही लम्बी भूमिका लिख दी और कहा कि तुम लोगों की उतावली के कारण संक्षेप में ही लिखना पड़ा; क्योंकि मूल-पुस्तक से भी बड़ी भूमिका उचित नहीं जँचती। अँगरेजी में तो आपका दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, हिन्दी में भी 'दर्शन का प्रयोजन' अपने ढंग का अकेला ही है। 'समन्वय' आपका सबसे पहला हिन्दी-ग्रन्थ है। आपकी ग्रन्थावली प्रकाशित करके आपकी सभी रचनाओं को हिन्दी-पाठकों के लिए सुलभ कर देना चाहिए। वह ग्रन्थावली हिन्दी को अनमोल निधि होगी। वह आकर-ग्रन्थ का काम करेगी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्वर्ण-जयन्ती के साहित्यिक समारोह में आपके लम्बे-तगड़े शरीर और आपकी पैगम्बरी वेशभूषा ने सबकी टकटकी बाँध ली थी। उपर्युक्त भूमिका के प्रसङ्ग में आपने बतलाया था कि ब्रह्मचर्य, व्यायाम और स्वाध्याय ही आनन्दमय जीवन के साधन हैं। आपका खुला कसरती बदन देखकर ऐसा जान पड़ा कि आप निजी अनुभव बतला रहे हैं। साहित्य-संसार के तो आप मूर्द्धन्य विद्वान् थे ही, राजनीति के क्षेत्र में भी आपकी विद्वत्ता की सत्ता स्थापित थी। काशी में महात्मा गान्धी आपके अतिथि होते थे। महामना मालवीयजी और देशभक्त बाबू शिवप्रसादगुप्त से भी आपको सम्मान प्राप्त होता था। काँगरेस के बड़े-से-बड़े नेता भी आपकी सलाह से लाभ उठाते थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट के तो आप दाहिने हाथ ही थे। आपके सदृश विद्यावारिधि महापुरुष का निधन देश का घोर दुर्भाग्य है। —शिव०

०

## बिहार-प्रवासी श्रीगोयलीयजी की साहित्य-सेवा

भारत के अन्यान्य प्रान्तों के अनेक विद्वानों ने बिहार में रहकर स्तुत्य साहित्यसेवा की है। पहले भी ऐसे साहित्यसेवी अनेक थे, आज भी हैं। दिल्ली-निवासी श्रीअयोध्या-प्रसादजी गोयलीय आजकल डालमियानगर (शाहाबाद) में रहकर हिन्दी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा कर रहे। बरसों से आप वहाँ एक ऊँचे ओहदे पर हैं। आपकी कई अनूठी पुस्तकें काशी के भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई हैं। आप उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उर्दू-शायरी की आधुनिक शैलियों का विवेचन करने में आपने बड़ी विद्वत्ता और सहृदयता का परिचय दिया है। उर्दू-साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक इतिहास हिन्दी में लिखकर आपने राष्ट्रभाषा के साहित्य का एक अभाव पूरा किया है। उर्दू-काव्य-

धारा में जब जहाँ जैसा मोड़ नजर आया है, आपने बड़ी बारीकी से उसकी परख कर के हिन्दी-पाठकों को स्पष्ट समझाया है। जो साहित्यानुरागी पाठक उर्दू-फारसी से अनभिज्ञ हैं, वे भी आपकी सुगम और सरस शैली के प्रभाव से आकृष्ट होकर उर्दू-शायरी की खूबियों को हृदयङ्गम कर सकते हैं।

आपकी लिखी हुई पुस्तकें—शेर ओ शायरी, शेर ओ सुखन (पाँच भागों में १९५१ से १९५४ तक के उर्दू-काव्य का समीक्षात्मक परिचय), शायरी के नये दौर (१९५८ई०), शायरी के नये मोड़—पढ़ने से उर्दू-साहित्य का हृदयग्राही काव्यानन्द तो उपलब्ध होता ही है, आपकी फड़कती हुई भाषा की सजीवता और बाँकपन देखकर मन मुग्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, आपने जो छोटी-बड़ी कहानियाँ लिखी हैं, उनकी भाषा तो आधुनिक हिन्दी-संसार में निस्सन्देह अपने ढंग की अकेली है। आपका मनोहर कहानी-संग्रह 'गहरे पानी पैठ' अपने नाम को अक्षरशः सार्थक करनेवाला है। आपकी लघु कहानियों का संग्रह (जिन खोजा तिन पाइयाँ) देखकर चित्त चमत्कृत हो उठता है। 'कुछ मोती, कुछ सीप' नामक पुस्तक में आपने रमणीय सूक्तियों और मर्मस्पर्शी विचारों को गुम्फित करके बड़े कमाल का कौशल प्रदर्शित किया है। 'जेल-जागरण के अग्रदूत' नामक संस्मरणात्मक पुस्तक में आपकी विदग्धता दर्शनीय है। हम आपकी विद्वत्ता और रचना-चातुरी को हिन्दी के श्रृङ्गार का सर्वाङ्गसुन्दर साधन समझते हैं। भगवान् आपको दीर्घायु करें कि हिन्दी आपकी अभिनन्दनीय साहित्य-सेवा से निहाल, खुशहाल और मालामाल होती रहे।

—शिव०

## काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'विधि-पत्रिका'

कानपुर के कानून प्रेस से 'हिन्दी-ला-जर्नल' नामक पत्र लगभग तीस-पैंतीस वर्षों से निकलता रहा है। हम उसकी वर्त्तमान प्रगति से परिचित नहीं हैं; पर इसमें सन्देह नहीं कि उसने हिन्दी में कानूनी-साहित्य के प्रकाशन और प्रचार का उल्लेखनीय प्रयास किया है। उक्त प्रेस से कई कानूनी किताबें भी निकल चुकी हैं। यद्यपि हिन्दी में आज स्वदेशी, विदेशी और अन्तर-राष्ट्रीय विधि-विधान पर कई छोटी-बड़ी पुस्तकें प्राप्य हैं तथापि हिन्दी का कानूनी साहित्य अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ है। किन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'विधि-पत्रिका' निकालकर इस दिशा में जो नया प्रयत्न आरम्भ किया है, उससे आशा हो रही है कि हिन्दी में विधि-साहित्य की सृष्टि क्रमशः वृद्धिङ्गत होगी। अपने जीवन के दो-तीन वर्षों में ही इस मासिक पत्रिका ने जो परिष्कृत विधि-साहित्य प्रस्तुत किया है और पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण तथा प्रयोग का जो प्रयास किया है, वह कानूनी-साहित्य की रचना के लिए रुचि एवं योग्यता रखनेवाले हिन्दी-लेखकों का मार्ग प्रशस्त करने-वाला है। कानूनी पेशे के लोगों में इस पत्रिका का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिए, जिससे अदालती कामों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का उपयोग सुविधा के साथ हो सके। 'सभा' के इस श्लाघ्य उद्योग में सभी हिन्दी-हितैषियों का हार्दिक सहयोग अपेक्षित है।

—शिव०

## स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का अद्वितीय संग्रहालय

प्रवासी भारतवासियों की सेवा-सहायता में ही अपना सारा जीवन समर्पित कर देनेवाले स्वर्गीय स्वामी भवानीदयाल संन्यासी का विशाल संग्रहालय अजमेर के 'आदर्शनगर' में हमने देखा था। जब से भारतवासी विदेशी उपनिवेशों में जाकर बसने लगे, तब से बीसवीं सदी तक की उनकी स्थिति का क्रमबद्ध अध्ययन करने के लिए वह संग्रहालय बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन था। स्वामीजी जब डरबन ( नेटाल—दक्षिण अफ्रिका ) से सदा के लिए स्वदेश चले आये, तब अपने उस अमूल्य संग्रहालय को भी अपने साथ भारत लेते आये। यद्यपि वे बिहार के निवासी थे और अपने गाँव (बहुआरा, शाहाबाद) में भी प्रवासी-भवन बनवाया था, तथापि उन्होंने पुनः अजमेर ( आदर्शनगर ) में ही नया प्रवासी-भवन बनवाकर उस संग्रहालय को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन से लौटते समय हमने उसे देखा, तो ऐसा अनुभव हुआ कि प्रवासी भारतवासियों से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य उतनी प्रचुर मात्रा में लन्दन के बृटिश म्युजियम या इण्डिया-हाउस के सिवा और कहीं भी संसार में एकत्रित न होगा। किन्तु स्वामीजी के निधन के बाद उस संग्रहालय की खोज-खबर लेनेवाला कोई न रहा। वह हमारे राष्ट्र की साहित्यिक निधियों में अतुलनीय है। सुनने में आया था कि स्वामीजी ने अपने निधन-काल से पहले ही जो दानपत्र लिखा था, उसके द्वारा वे अपने देश की सरकार को यह संग्रहालय सौंप गये थे। किन्तु हमें पता लगा है कि अभी तक वह सरकारी संरक्षण में नहीं आया है। उस राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षा की ओर देशहितैषियों का ध्यान शीघ्र जाना चाहिए।

—शिव०

०

## हिन्दी के अज्ञात सूफी कवि : किफायत

बंगाल के दीवान शाह शुजा (पछिम दिली पूरब बंगाला। दीवान शुजा खाँ बंगाला ॥) के समकालीन सूफी कवि शेख किफायत ने पोथी विद्याधर नामक एक प्रेमाख्यान की रचना की थी। ये बिहार के पूर्णिया जिला के दबेल परगना में दुमका नामक स्थान के निवासी थे (पुरनीआ सो पूरब निअरे एक गाँवा। परगने दबेल दुमका नामा ॥)। शेख मुहम्मद शफी से इनको बड़ी मित्रता थी। (नवाब···बाँके ठाऊँ। शेख मोहम्मद शफी नाऊँ ॥) मुहम्मद आजम इनके पीर थे ( महमद आजम पीर हमारा।) और गुरु थे मौलवी मुहम्मद (मोँ किरपा के दीन्ह मिलाई। मौलवी मोहमद नाम कराई ॥)। नाजिरपुर-वासी हजरत मियाँ से इन्हें साहित्य-रचना की प्रेरणा मिली थी (तेहि परसाद रस बिधि पाए।)। 'पिंडुआ' के 'नरेश' कुतुब खाँ और पूर्णिया के गोपीनाथ कानूनगो इनके उल्लेखनीय समकालीन थे (तेहिके निअरे पिंडुआ देसू। कुतुब नर तहाँ करहि नरेसू ॥ ) तथा— (गोपीनाथ कानूनगो भेला।)।

किफायत ने 'विद्याधर' नामक प्रेम-कथा की रचना एक गायक के मुख से सुनी लोक-कथा के आधार पर की है (आदि कथा गायन मुख सुना।;)। पोथी विद्याधर की एक

प्रति-लिपि (कैथी-लिपि में), अवलोकनार्थ, मुझे पटना-विश्वविद्यालय के विश्रुत शोधकर्त्ता इतिहास-प्राध्यापक श्रीहसन अस्करी साहब से प्राप्त हुई। फिर किशनगंज के प्लीडर श्रीमुहम्मद सुलैमान साहब 'सुलैमान' की कृपा से फारसी-लिपि में मुद्रित संस्करण की एक दुर्लभ प्रति भी मिली। इसके साथ ही श्रीमुहम्मद सुलैमान ने 'इनसान' ( उर्दू ) पत्रिका के पूर्णिया-विशेषाङ्क की एक प्रति भी भेजने की कृपा की, जिसमें उनका 'विद्याधर'-विषयक एक महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक लेख छपा है। इसका अनुवाद मेरे अनुरोध पर, मेरे निर्देशन में शोधकार्य में संलग्न, श्रीमहताब अली ने किया है। उक्त समस्त सामग्री तथा पुस्तक के अनुशीलन के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्याधर ने अन्य सूफी कवियों के समान ही कथानक के बीच-बीच में सूफी-मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है तथा प्राग्भावी सूफी-प्रेमाख्यानों का भी उल्लेख किया है। कवि ने अपनी 'जानकारी' का भी आवश्यक-अनावश्यक मात्रा में परिचय दिया है।

कवि का रचना-काल यद्यपि अभी असन्दिग्ध नहीं है, तथापि प्रतिलिपि में प्रयुक्त 'सन् ग्यारह सौ छत्तीस जब आई। ताहि दिन कथा कहा मन लाई' चौपाई से विक्रम की अट्ठारहवीं (११३६ फसली=१७७४ वि०=१७१७ ई०) सदी संकेतित होती है, किन्तु बंगाल के दीवान शाह शुजा यदि शाहजहाँ ( १६२६-५८ ई० ) के पुत्र माने जायँ, तो यह सत्रहवीं सदी होगी। मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' के पूर्व माध्यमिक हिन्दी (सं० १४४५-१५६०) प्रकरण में 'पंडुवा' के मुसलिम-सन्तों तथा 'सत्यपीर' मत का निम्नलिखित विवरण दिया है—"इस काल युक्तप्रान्त और बंगाल दोनों में सूफी सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। कई मुसलमान-सन्त बंगाल के पंडुवा में थे, जिससे वह हजरत कहलाने लगा। वहाँ शेख निजामुद्दीन औलिया अच्छे सन्त थे, जिनके शिष्य अलाउल हक भी प्रसिद्ध थे। हक के पुत्र नूरकुतुबुल आलम प्रसिद्ध सन्त हुए। हुसैनशाह (सं० १५५० से १५६६) ने सत्यपीर का मत चलाया। इसमें हिन्दू-मुसलमानों के मिलाने का प्रयत्न था, जैसा इसके नाम से भी प्रकट है।"

मुहम्मद सुलैमान साहब 'सुलैमान' ने 'पूर्णिया की प्राचीन ग्रन्थ-रचना' शीर्षक अपने लेख में पुस्तक के आधार पर ये ज्ञातव्य बातें प्रस्तुत की हैं—

'विद्याधर' का ऐतिहासिक महत्त्व है। दो सौ वर्षों से ऊपर की लिखी हुई यह पुस्तक आज भी चली आ रही है, और यह निस्सन्देह एक दुर्लभ रचना है। इससे प्रमाणित है कि बाज विशेषताएँ इसमें ऐसी हैं कि जिन्होंने इस पुस्तक को नष्ट होने से बचा लिया। हमने सुना है कि बँगला-भाषा में कोई पुस्तक 'विद्यासुन्दरी' है। नहीं मालूम, वह कहानी कौन-सी है और उसका इतिहास कितना प्राचीन है। पूर्णिया के बाज इलाकों में इसका आदर आज भी बहुत अधिक है। लोग इसे पढ़-पढ़कर नहीं, बल्कि गा-गाकर (इसके पढ़ने का एक खास अन्दाज है) खुश होते हैं। इसमें किसी विशेष वर्ग की ही अभिरुचि नहीं, अपितु हिन्दू, मुसलमान, जवान, बूढ़े, साधारण और विशेष सभी लोगों को यह आकृष्ट करती है। किसान हो या जमीन्दार, अमीर हो या गरीब, इससे सभी मोहित होते हैं। रचयिता के शब्दों में यह वास्तव में—

कथा सुरस बिद्या सँग आवा । इच्छा सपरन सभी सहावा ॥

( यह मजेदार और जानकारियों से पूर्ण कहानी सभी के लिए रुचिकर एवं प्रिय है । )

स्वर्गीय मौलवी मकबूल हुसैन साहब ने सबसे पहले यह प्रशंसनीय प्रयास किया था कि इसका सुव्यवस्थित संस्करण मुद्रित हो, यद्यपि वह इसमें असफल रहे ।

पुस्तक के रचयिता शेख किफायत शेख मुहम्मद के पुत्र थे । आप मौजा दुमका के निवासी थे । रचयिता ने इन शब्दों में परिचय दिया है—

पूर्णिया से पूरब नीर एक गाँव । परगना हवेली दुमका नाँव ॥

रचयिता दिल्ली के मुहम्मद शाह के शासन-काल में थे, यानी दिल्ली का राज्य शक्तिहीन हो रहा था । असल शासन पटना और इलाहाबाद के विद्वान् सैयद भाइयों के हाथों में था । पूर्णिया में नवाब सैफखाँ जैसे शान-शौकतवाले फौजदार की फौजदारी थी । नवाब सैफखाँ बहमन यारखाँ के बाद, सन् १७२२ ई० में, पूर्णिया के फौजदार हुए हैं । ये ही वे जबरदस्त फौजदार हैं, जिन्होंने मुर्शिद कुलीखाँ की नतनी या पोती नफीसा के साथ शादी करना स्वीकार नहीं किया । वीरनगर के वीरशाह के खिलाफ मुकाबला भी हुआ । उनका दौर पूर्णिया के इतिहास में प्रतिष्ठा और मान का दौर था । 'तोलबा' के सम्पादक मौलवी मुहम्मद इब्राहीम साहब सिद्दीकी ने अपने एक लेख में उन्हें 'शाह' भी लिखा है और कहते हैं कि साधारण लोगों में यह इसी उपनाम से प्रसिद्ध हैं । तात्पर्य यह कि आज रचयिता को लोग हजरत शेखशाह किफायतुल्लाह कहकर याद करते हैं । सिद्दीकी साहब ने शेख की भी व्याख्या की है, लेकिन इसपर कोई रोशनी नहीं पड़ती, न उन्होंने अपने दावे की कोई दलील दी है ।

किफायत अपनी किताब 'विद्याधर' से एक समन्वयवादी सन्त एवं स्वच्छ हृदयवाले व्यक्ति मालूम पड़ते हैं । उन्हें पीरों पर पूरा विश्वास है । हजरत मुहम्मद आजम नाजिरपुरी (पश्चिम के रहनेवाले) उनके मुर्शिद (पीर) हैं । कहते हैं—

सो हजरत किरपा जो किया । हृदय जुड़े प्रेम कर दिया ॥

(उन्होंने कृपा की और हृदय में प्रेम का दीपक प्रज्ज्वलित कर दिया । )

उन्होंने पीर साहब के लिए 'मियाँ साहब' की उपाधि व्यवहृत की है । कहते हैं—

हजरत मियाँ साहब सो अगुवा है मोर ।
तासू दर्शन बिधाता खुला ज्ञान का डोर ॥

(हजरत मियाँ साहब मेरे नेता, गुरु हैं, उन्हींके द्वारा ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग मिला और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ । )

नवाब सैफखाँ के मुसाहबों में कोई शेख मुहम्मद सभी थे, जिनसे किफायत की बड़ी दोस्ती हो गई । उनके शब्दों में, 'दुइ तन एक जीव भय गये', दो तन, एक प्राण हो गये थे । उनकी बिद्वत्ता के बारे में कहते हैं—

पंडित और ग्यानी नगर भया सोर।
जनम सखी और हँसमुखी कमल खिले जस भोर॥

यह शेख समी साहब की आज्ञा थी कि इस पुस्तक की रचना का विचार उत्पन्न हुआ। कहते हैं—

तेहि सो एक कथा हम बोला। हिया भंडार जीब सो खोला॥

रचना-काल सन् ११३६ है। रचयिता का एक शेर ही इस बयान पर है, "सन् ग्यारह सौ छत्तीस जब आई। ताहि दिन कथा कहौं मन लाई।" लेकिन, फिर भी यह अँधेरे में है कि यह कौन सन् है—हिजरी है या मुल्की; क्योंकि रचयिता का स्थानीय सन् मुल्की होना चाहिए, लेकिन मजहबी सन् हिजरी है। मैं इसको मुल्की सन् समझता हूँ। वास्तविकता यह है कि रचयिता पर काफी स्थानीय प्रभाव पाया जाता है। पुस्तक की भाषा भी इसी ओर संकेत करती है। इसके विचार भी इसी प्रकार के हैं।

असल कहानी बिलकुल छोटी और सरल है, जो रचयिता को लोक-कथा सुनानेवालों से मिली। कहते हैं—

चन्द्रभान राजा करनावल बिद्याधर भरनार।
गीत सुना गायन मुख पोथी किया विचार॥

(राजा का नाम चन्द्रभान, औरत का नाम विद्याधर। गायन के मुख से सुनकर किताब लिखी।)

संक्षेप में कहानी यों है—उदयगढ़ में राजा उदयसेन रहते हैं। उनके कोई सन्तान नहीं है। आखिर, एक योगी के इलाज से उनकी रानी कमलावती गर्भवती होती है, और उनके यहाँ एक लड़की उत्पन्न होती है, जिसका नाम विद्याधर रखा जाता है। वही कहानी की नायिका है।

विद्याधर शिक्षा के लिए शेख नत्थू मलना और बाबू कन्हैया गुसाईं को सौंप दी जाती है। वह दोनों से शिक्षा पाती है। जब विद्याधर की शिक्षा समाप्त हो जाती है, तब एक बहुत बड़ा आनन्दोत्सव मनाया जाता है। विद्याधर को कंचनारपुर के राजा धर्मसेन के पुत्र चन्द्रभान कुँवर का हाल मालूम होता है और बिना देखे उससे प्रेम हो जाता है। मणिलोचन पण्डित कंचनारपुर जाकर कुँवर चन्द्रभान के सम्मुख विद्याधर का सौन्दर्य-वर्णन करता है, और—

कन्या रूप सुना जब राजा। प्रेम अंकुर हिया में जागा॥

आखिर कुँवर प्रेम-रोग से पीड़ित हो जाता है। हकीम और गुणी आते हैं। चन्द्रभान को फिर स्वप्न में विद्याधर का दर्शन होता है। वह आपे से बाहर हो जाता है। चल पड़ता है। सुन्दरी-सरोवर की मंजिल तय करनी पड़ती है। राजा गुरुभाई के साथ लड़ाई होती है। आखिर उदयगढ़ तक पहुँचकर घोड़ा ठहरता है। राजा के यहाँ चोरी होती है। चन्द्रभान पर कलंक लगता है। राजा से लड़ाई होती है। चन्द्रभान के औहर खुलते हैं। आखिर चन्द्रभान और विद्याधर का ब्याह रचा जाता है। विद्याधर सुहाग-रात

को चन्द्रभान से मिलती है, लेकिन मिलने के पहले के भावावेग का अनुमान कीजिए—

कछु हुलसे कछु डरे मन मांही। परख हियो हम जाने नाहीं॥

शादी के बाद विद्याधर अपने पति के साथ चन्द दिनों तक उदयगढ़ में रहकर अपनी ससुराल कचनारपुर चली जाती है और कहानी का अन्त हो जाता है।

ऐसे देखने में कहानी कुछ भी नहीं है, लेकिन बात यह है कि रचयिता ने बात में बात निकाली है और सुन्दर शब्द-चयन किया है। बहुत-सी उपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया है। इसमें समस्याएँ भी हैं, दवाएँ भी हैं, शुभ-अशुभ जानने का तरीका भी है, स्वप्न के शुभ-अशुभ फल ज्ञात करने की बात भी है, कोकशास्त्र भी है। तात्पर्य यह कि सभी कुछ हैं और अधिकतर अप्रामाणिक हैं, किन्तु कुछ पहलुओं से अनुभवी व्यक्तित्व का अनुमान भी किया जा सकता है। मेरी दृष्टि में 'किफायत' एक विद्वान् की योग्यता नहीं रखते, लेकिन एक योग्य अनपढ़ अवश्य थे, बुजुर्ग थे, नेक थे। सम्भव है कि सूफी-मत पर अधिकार हो, संयमी हों। उन्होंने अपनी रचना में अपनी अवस्था बीस-पचीस बताई है। लेकिन कथन में परिपक्वता है एवं धार्मिकता झलकती है।

पुस्तक से जिस समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रचार जोरों पर था। विद्याधर के लिए नत्थू मलना की नियुक्ति और रचयिता की भाषा कह रही है कि हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य नाममात्र को भी उस समय नहीं होगा। अफसोस की बात है कि कुछ दिनों पहले तक पूर्णिया इससे मुक्त था, किन्तु आज लक्षण उसके विरुद्ध दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पूर्णरूपेण स्थानीय प्रभाव लिये हुए पुस्तक की भाषा हिन्दी है। उदाहरणार्थ—

चैत नीम बैसाख बेला। सगरो जेठ पनभात ठेला॥

कहा जाता है कि 'किफायत' ने इस कहानी के द्वारा वास्तव में सूफी-मत की शिक्षा दी है और आध्यात्मिकता का मार्ग बताया है। अतः इस कहानी का बाह्यार्थ भी है और संकेतार्थ भी है। मैं सूफी-मत के विषय में कुछ नहीं कह सकता और न मैंने इसे इस दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है।" —न० वि० श०

०

## 'साहित्य' का प्रस्तुत अङ्क

'साहित्य' का प्रस्तुत अङ्क, परिमाणतः विशेषाङ्क न होते हुए भी, प्रकारतः प्राचीन-साहित्यानुसन्धान-विशेषाङ्क ही है। इसमें बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थानुसन्धान-विभाग में संचित हिन्दी की शोधोपयोगी सामग्री का विवरण तो दिया ही गया है, साथ ही साथ हिन्दी के अज्ञात सूफी कवि किफायत का परिचय भी दिया गया है। लालचदास के हरिचरित्र के सम्पादित पाठ का एक अंश भी है, तथा हिन्दीतर साहित्य-विषयक लेख भी हैं।

'साहित्य' का प्रस्तूयमान अगला अङ्क लोक-साहित्यानुसन्धान-अङ्क होगा। 'साहित्य' विलम्ब से प्रकाशित हो पा रहा है, जिसका हमें खेद है। —न० वि० श०

# लालचदास का हरि-चरित्र

सम्पादक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

## भूमिका

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' ( दूसरा खण्ड ) के सम्बन्ध में परिषद् के संचालक के नाम प्रेषित अपने पत्र में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था—"...लालचदास-कृत अवधी-भाषा का काव्य 'हरि-चरित्र' हमारा ध्यान खींचता है। इसकी रचना गोसाईंजी के 'रामचरित-मानस' से १०४ वर्ष पहले और जायसी के 'पद्मावत' से लगभग ७० वर्ष पहले हुई है। मुल्ला दाउद के प्रथम अवधी-काव्य चन्दायन ( रचना-काल १३७० ई० ) के सौ वर्ष बाद और 'रामचरित-मानस' से १०४ वर्ष पूर्व लिखे गये इस काव्य का, भाषा और साहित्य की दृष्टि से, महत्त्व मालूम होता है।"

मैंने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थानुसन्धान तथा लोक-भाषानुसन्धान-विभागों के निर्देशन का दायित्व स्वीकार करने के बाद उपर्युक्त 'हरि-चरित्र' के सम्पादन को विभागों के भावी कार्यक्रम की योजना में सम्मिलित करना आवश्यक समझा।

दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में तब तक विशेष कुछ लिखना व्यर्थ है, जब तक उनके पाठ सामने न आ जायें—ऐसा हमने बार-बार कहना आवश्यक समझा है। हरि-चरित्र का भी सम्पूर्ण पाठ प्रस्तुत कर लेने के बाद ही हम लालचदास तथा उनकी कृतियों पर सविस्तर विचार करेंगे, जिनकी चर्चा तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी के प्रायः सभी साहित्येतिहास-लेखकों ने की है।

हरि-चरित्र के रचयिता लालचदास के सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'गार्सा द तासी'[१] ने निम्नोद्धृत सूचना प्रस्तुत की है—

"उपनाम 'हलवाई', केवल डा० गिलक्राइष्ट द्वारा अपने 'हिन्दुस्तानी व्याकरण', पृष्ठ ३३५ में उल्लिखित ( हिन्दुई कवि ), 'भागवत' के रचयिता हैं, या उचित रूप में 'भागवत पुराण', जिसके बारह स्कन्धों का एक हिन्दी-अनुवाद मिलता है, के दशम स्कन्ध के रूपान्तर या अनुवाद के रचयिता।

मेरे पास इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति है, जो भारत के पश्चिमी प्रान्तों की 'पच्छिम देस की भाखा' कही जानेवाली बोली में लिखी गई है, और जो तुलसी-कृत 'रामायण' के लगभग समान है। तुलसी की भाँति लालच का काव्य अनियमित रूप में दोहों से मिश्रित चौपाइयों में लिखा गया है, और, जैसा कि प्रायः होता है, उनमें ( दोहों में ) कवि ने अपने नाम का उल्लेख किया है। इसी का रूपान्तर अथवा इसी स्कन्ध के दूसरे अनुवादों को 'सुखसागर' शीर्षक भी दिया गया है।

---

१—गार्सा द तासी, हिन्दुई साहित्य का इतिहास ( अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ); हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद, १९५३, पृष्ठ० २७१-७३।

इस रचना की प्रति कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है। उसका शीर्षक बँगला-अक्षरों में दिया हुआ है, 'ब्रज-बिलास, ब्रजभाखा'—ब्रज के आनन्द ब्रज की बोली में। मेरे विचार से यह वही पोथी है, जो 'ब्रज-बिलास' शीर्षक के अन्तर्गत मुद्रित हुई है, और जो कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के भारतीय ग्रन्थों के सूचीपत्र में, गलती से, बाबूराम द्वारा रचित बताई गई है, किन्तु जो हिन्दी की अन्य अनेक रचनाओं की भाँति, इसके केवल सम्पादक हैं।

मेरी प्रति में हाथ का लिखा हुआ एक नोट है, जिसमें कहा गया है कि इस रचना के रचयिता का नाम, 'लालच', भी दिया जाता है। क्या यह ब्रजबासीदासवाले लेख में उल्लिखित रचना हो तो शायद नहीं है, और यह ब्रजबासीदास नाम लालच का दूसरा नाम हो, और लालच फिर उसका तखल्लुस या कवि-उपनाम हो? जो कुछ हो, लालच ने अपनी रचना का निर्माण १५२७ विक्रम-संवत् ( १४७१ ई० ) में किया, और इसलिए वे लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में जीवित थे।

श्री पैवी (Th. Pavie) ने १८५२ ई० में उसका पूर्ण अनुवाद किया, जिसके साथ उन्होंने एक रोचक भूमिका दी है। उनकी रचना का शीर्षक है 'कृष्ण और उनके सिद्धान्त'।

अन्त में 'भागवत' के अनेक रूपान्तर हैं। इनमें से हिन्दी-पद्य में एक 'भागवत' का उल्लेख 'Biblioth Sprenger' के सूचीपत्र में, संख्या १७२३ के अन्तर्गत हुआ है, ५५२ अठपेजी पृष्ठों का हस्तलिखित ग्रन्थ।"

लालचदास के विषय में ग्रियर्सन[१] ने 'लालनदास' के अन्तर्गत यह सूचना दी है—

"लालनदास—डलमऊ, जिला रायबरेली के ब्राह्मण। जन्म १५९५ ई०, हजारा, शान्तरस के कवि।"

ग्रियर्सन की पुस्तक के अनुवादक किशोरीलाल गुप्त[२] ने यह टिप्पणी जोड़ी है—

"लालचदास हलवाई थे, ब्राह्मण नहीं। इस कवि ने हरि-चरित्र नामक भागवत का भाषानुवाद १५८५, १५८० या १५९५ वि० में प्रस्तुत किया था। अतः, १५९५ ई० इनका जन्म-काल कदापि नहीं हो सकता। इस समय तक तो शायद कवि जीवित भी न रहा हो।"

शिवसिंहसरोज[३] से हमें ज्ञात होता है कि "लालनदास ब्राह्मण डलमऊवाले, सं० १६५२ में उत्पन्न हुए। ये महाराज बड़े महात्मा हो गुजरे हैं। इनके कवित्त शान्तरस में हैं और हजारा में भी कालिदास ने इनका नाम लिखा है।"

---

१—द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान, किशोरीलाल गुप्त द्वारा 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' के नाम से हिन्दी-अनुवाद, १९५७, पृ० ११३।

२—हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास ( डा० ग्रियर्सन-कृत द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान का स-टिप्पण अनुवाद ), किशोरीलाल गुप्त, पृ० ११३, कवि-पृ० १००, सर्वेक्षण, ८०८।

३—शिवसिंहसरोज, चतुर्थ संस्करण, सं० १९३४, पृष्ठ ४४५ और २८२।

सरोज में यह उदाहरण दिया गया है--

'दालिब ऋषि की दलमऊ सुरसरि तीर निवास।
तहाँ दास लालन बसे करि अकाश की आस॥'

नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की खोज-रिपोर्टों से निम्नलिखित नवीन सूचनाएँ सुलभ हुईं—

(१) "(क) कविनाम—लालचदास, उप० लालनदास, जाति के ब्राह्मण, दलमऊ (रायबरेली)-निवासी, सं० १५९५ के लगभग वर्त्तमान थे। हरि-चरित्र दे०—(पृ० ६—१८९= खो० रि० १९०६—१९०८, ग्रं० सं० १८९। (ख)ग्रन्थनाम—हरि-चरित्र, लालचदास-कृत, नि० का० सं० १५९५, लि० का० सं० १८९८, विषय—भागवत दशम स्कन्ध का भाषानुवाद।"[1]

(२) खो० रि० १९२३-२५ ग्रं० सं० २३८।[2]

(३) „ „ १९२६-२८ „ „ २६१ ए और २६१ बी।[3]

मिश्रबन्धुओं ने यह विवरण दिया है[4]—

"कवि सं० १४९, नाम (१४९) लालचदास हलवाई, रायबरेली। ग्रन्थ—(१) भागवत दशम स्कन्ध की भाषा (१५८७); (२) हरि-चरित्र (१५८५)। कविता-काल—१५८५।

"विवरण—यह पुस्तक लाला भगवानदीनजी 'दीन' अध्यापक, हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी के पास है। उन्हीं से हमको इसकी सूचना मिली है। काव्य की दृष्टि से यह साधारण श्रेणी की है, परन्तु पुरानी होने से संग्रह करने योग्य है। उदाहरण लीजिए—

"पंद्रह सौ सत्तासी जहियाँ, समै बिलंबित बरनो तहियाँ।
मास असाढ़ कथा अनुसारी, हरिबासर रजनी उजियारी।
सकल सत कहँ नावहुँ माथा, बलि-बलि जइहौं जादवनाथा।
रायबरेली बरनि अवासा, लालच राम नाम के आसा।"

रामचन्द्र शुक्ल[5] ने उपर्युक्त सूचनाओं का सारांश-मात्र दिया है—

"लालचदास—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होंने संवत् १५८५ में

---

१—हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), १९८० वि०, पृ० १५१ और १९३; खो० रि० १९०६-१९०८, ग्रन्थ सं० १८९।

२—The Twelfth Report on the Searh of Hindi Manuscripts, १९२३-१९२६, (१९४४ ई०), पृ० ९४४।

३—हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), १९२६-२८ (२०१० वि०), पृ० ५८, ४०१ और ४०२।

४—मिश्रबन्धु-विनोद, २०१३ वि०, पृ० २२४, कवि-सं० १४९।

५—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, २००७ वि०, पृ० ११९८, प्रकरण ६, 'भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ' के अन्तर्गत।

'हरि-चरित्र' और १५८७ में 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा' नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा में बनाई। ये दोनों पुस्तकें काव्य की दृष्टि से सामान्य श्रेणी की हैं और दोहा-चौपाइयों में लिखी गई हैं। दशम स्कन्ध भाषा का उल्लेख हिन्दुस्तानी के फरासीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने किया है और लिखा है कि उसका अनुवाद फरासीसी भाषा में हुआ है। भागवत भाषा इस प्रकार की चौपाइयों में लिखी गई है—

"पन्द्रह सौ सत्तासी जहिया। समय विलंबित वरनौं तहिया॥
मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरिवासर रजनी उजियारी॥
सकल सन्त कहँ नावौं माथा। बलि-बलि जैहौं जादवनाथा॥
रायबरेली बरनि अवासा। लालच रामनाम के आसा॥"

रामचन्द्र शुक्ल ने 'सूफी रचनाओं के अतिरिक्त भक्ति-काव्य के अन्य आख्यान-काव्य' शीर्षक प्रसंग में भी तुलसी-कृत रामचरित-मानस के साथ लालचदास-कृत हरि-चरित्र की चर्चा की है।[१]

रामचन्द्र शुक्ल के परवर्ती विद्वानों ने भी उपर्युक्त सूचनाएँ दुहरा भर दी हैं। उदाहरणार्थ—

(१) रामकुमार वर्मा[२] : "लालचदास—इनका कविता-काल संवत् १५८५ माना है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, 'हरि-चरित्र' और 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा'। दोनों की भाषा अवधी है। कविता में कोई विशेष प्रतिभा के लक्षण नहीं है। दोहा-चौपाई ही इनका विशेष प्रिय छन्द है।"

(२) हजारीप्रसाद द्विवेदी[३] : 'हरि-चरित्र' और 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा' के लेखक लालचदास (सन् १५२८ ई०), जिनकी भाषा अवधी है और दोहा-चौपाई की शैली अधिक मान्य है।"

(३) रत्नकुमारी[४] : "लालचदास—लालचदास हलवाई रायबरेली के निवासी थे। इनकी दो रचनाएँ (क) भागवत दशम स्कन्ध भाषा और (ख) हरि-चरित्र प्राप्त हैं। दोनों में रचना-काल दिया है। हरि-चरित्र सं० १५८५ वि०, और भागवत दशमस्कन्ध १५८७ वि० में रचे गये हैं। कवि ने स्व-परिचय दिया है।"

दीनदयालु गुप्त[५] ने, अपवादस्वरूप, लालचदास का सविस्तर विवरण दिया है—

"दोहा-चौपाईवाली छन्द-शैली के नमूने के लिए सूफियों की प्रेम-गाथा तथा तुलसी

---

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, २००७ वि०, पृ० १९८, प्रकरण ६, 'भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ' के अन्तर्गत।

२—हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, १९४८ ई०, पृ० ८४१।

३—हिन्दी-साहित्य, २००९ वि०, पृ० १९९।

४—१६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, १९५६ ई०, पृ० ११३।

५—अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृपृ० २०-२२।

के रामचरित-मानस के अतिरिक्त नन्ददास के पहले भी इसी शैली में लिखी हुई एक भागवत भाषा भी मिलती है। मिश्रबन्धु-विनोद में रायबरेली-निवासी एक लालचदास हलवाई नामक कवि द्वारा सं० १५८७ वि० में दोहा-चौपाई-शैली में लिखी इस भागवत का उल्लेख है। रायबरेली के इस लालचदास कवि द्वारा लिखित 'हरि-चरित्र' नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में भी दिया हुआ है और इस कवि की विद्यमानता का संवत् उक्त रिपोर्ट में १५९५ वि० लिखा है। मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' में लालचदास के 'हरि-चरित्र' का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः भागवत भाषा तथा हरि-चरित्र दोनों एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। लालचदास हलवाई-कृत भागवत भाषा की जो हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक ने देखी हैं, उनमें ग्रन्थ का नाम 'भागवत भाषा हरि-चरित्र' भी दिया हुआ है। इसका विवरण आगे दिया जायगा।

"लालचदास हलवाई द्वारा दोहा-चौपाई की छन्द-शैली में रचित 'भागवत भाषा', 'हरि-चरित्र' दशम स्कन्ध की दो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक ने मायाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय में देखी हैं। ये प्रतियाँ अवधी-भाषा में लिखी हुई हैं। परन्तु कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों के रूप भी इसमें मिलते हैं। मिश्रबन्धु-विनोद के उद्धरण कुछ पाठ-भेद से याज्ञिक-संग्रहालय की भागवत से मिलते हैं, जिससे निश्चित होता है कि स्वर्गीय लाला भगवान-दीनजी की प्रति तथा याज्ञिक-संग्रहालय की प्रति दोनों एक ही ग्रन्थ की प्रतिलिपियाँ हैं। याज्ञिक-संग्रहालय की प्रतियों में एक प्रति के आरम्भ के पत्र खोये हुए हैं और दूसरी प्रति के कुछ अन्त के। दोनों के मिलने से ग्रन्थ बहुत अंश में पूरा हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में 'भागवत भाषा' के साथ कई स्थानों पर अध्याय की समाप्ति में हरि-चरित्र शब्द भी लगा है। इन दोनों प्रतियों में से एक में ग्रन्थ-रचना का संवत् दिया है। लेखक का नाम तो लालचदास, लालच, जनलालच आदि कई रूपों में दोनों प्रतियों में आया है। यहाँ की प्रति में एक बात विशेष विचारणीय है कि इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १५०० वि० दिया हुआ है। रचनाकाल-सम्बन्धी उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

संवत् पन्द्रह सौ मो जहियाँ, समय विलम्ब नाम भा तहियाँ।
मास असाढ़ कथा अनुसारी, हरिवासर रजनी उजियारी।
सोभित नग्र सुधर्म निवासा, लालच तुअ नाम की आसा।
सब सन्तन कहँ नावौं माथा, बल बल जैहौं जादवनाथा।

"आरम्भिक चौपाइयों में से उद्धृत नीचे की एक चौपाई में कवि अपने को हलवाई कहता है—

विघ्नहरण सन्तन सुखदाई, चरण गहे लालच हलवाई।

उक्त दोनों स्थानों की लालच-कृत भागवत भाषा की प्रतियों के उद्धरणों में दो बातों में अन्तर दिखाई देता है, ग्रन्थ का रचना-काल तथा कवि का निवास-स्थान। सम्भव है, रायबरेली का प्राचीन नाम श्रोणित नगर हो। प्रयत्न करने पर भी 'दीन'जीवाली पूरी प्रति लेखक को देखने को न मिल सकी। याज्ञिक-संग्रहालय की तिजिवाली प्रति

दो-ढाई सौ वर्ष पुरानी अवश्य होगी। इसीलिए सम्भव है कि यह ग्रन्थ संवत् पन्द्रह सौ विक्रम का ही रचा हुआ हो। दोनों संवतों में से उक्त ग्रन्थ किसी भी संवत् का हो, इतना तो अवश्य सिद्ध है कि यह नन्ददास की 'भागवत भाषा' नामक रचना से चालीस-पचास वर्ष पहले की रचना अवश्य है। इस ग्रन्थ का व्रज-प्रान्त में भी प्रचार था; क्योंकि मायाशङ्करजी को ये प्रतियाँ व्रज में ही मिली थीं। सम्भव है, इसकी प्रतिलिपियाँ वहाँ और भी विद्यमान हों, इसलिए नन्ददास-जैसे भागवत भक्त ने इस भागवत भाषा को पढ़ा हो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (पहला खण्ड) में यह विवरण प्रस्तुत किया गया है—

"लालचदास—( १,८२ ग्रन्थ-संख्या ) बरेली-निवासी, हरि-चरित्र के ग्रन्थकार, सं० १५२७ वि०=१४७० ई० के लगभग वर्त्तमान। 'शिवसिंहसरोज' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' में मात्र नाम-चर्चा, शिवसिंह ने इनका र० का० सं० १६५२ माना है और कालि-दास-कृत हजारा में भी इनके नामोल्लेख की चर्चा की है। नागरी-प्रचारिणी को भी खोज में ग्रन्थकार के हस्तलेख मिले हैं।"[१]

परिषद् के 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (दूसरा खण्ड) में गया-स्थित मन्नूलाल पुस्तकालय के संग्रह के विवरण के अन्तर्गत यह सूचना दी गई है—

"लालचदास ( १०५, १०६ ), बरेली-निवासी, जाति के हलवाई, भागवत पुराण ( दशम स्कन्ध ) के अनुवादक, हरि-चरित्र के ग्रन्थकार, सं० १५२७ वि० (सन् १४७० ई० ) के लगभग वर्त्तमान। इनके सम्बन्ध में पूरा अनुसन्धान अभी नहीं हुआ है।"[२]

मन्नूलाल पुस्तकालय ( गया ) में लालचदास की निम्नलिखित पुस्तकें विद्यमान हैं—

( क ) ग्रन्थ-सं० १०५ (पुस्तकालय ग्रं० सं० क—१४७)—हरि-चरित्र—रचना-काल आषाढ़ शुक्ल, सं० १५२७ वि०=१४७० ई०। लिपिकाल—चैत्र, कृष्ण-त्रयोदशी, शुक्रवार, सं० १८४६ वि०=१७६२ ई०। पृ० सं० १६०। अध्याय ६६। कवि ने रचना-काल के सम्बन्ध में—'संवत् पंद्रह सै सत्ताइस जब ही' लिखा है।[३] ग्रन्थ में ग्रन्थ के विषय से सम्बद्ध १२६ भावपूर्ण कलात्मक चित्र भी दिये हुए हैं।

( ख )—ग्रन्थ-सं० १०६ ( पुस्तकालय ग्रं० सं०—क १४८ ) विष्णुपुराण—पृ० सं० १७। ग्रन्थ खण्डित, रचना-काल और लिपि-काल का उल्लेख नहीं है। विषय—विष्णुपुराण के आधार पर कृष्ण-लीला-वर्णन तथा कृष्ण-जीवन के विभिन्न अङ्गों पर प्रकाश।

---

१—पृ० च और छ, कवि-सं० २४ और ग्रं० सं० १ तथा ८२।

२—पृ० ठ, कवि-सं० ३५ और ग्रं० सं० १०५, १०६।

३—प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण ( दूसरा खण्ड ) पृ० १४७-१४९।

चारों युगों के कारण, उन युगों के भिन्न कर्मों तथा उनके फल आदि का विवेचन। इसमें भी ग्रन्थ-विषयानुकूल चित्र दिये गये हैं।[१]

( ग ) हरि-चरित्र ( पु० क्रम-सं०—प १२ ) रचना-काल—सं० १५२७ वि०। लिपि-काल—१८५७ वि०। लिपिकार—तुलसीराम।

( घ ) हरि-चरित्र—(पु० क्र० सं०—प १० ), रचना-काल—१५८७ वि०। लिपि-काल—१९४४ वि०=१८८७ ई०=१२९५ फसली। लिपिकार—किशुनराम।

इनके अतिरिक्त इस पुस्तकालय में अन्य दो खण्डित प्रतियाँ भी हैं।

परिषद्-संग्रहालय में हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ) और विष्णुपुराण के क्रमशः चार और दो हस्तलेख हैं, जिनमें निम्नलिखित रचना-काल और लिपि-काल उल्लिखित हैं—

[ १ ] हरि-चरित्र

( क ) हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ) पुनपुन[२] से प्राप्त प्रति, ९१ अध्याय, पृ० सं० १८७। रचना-काल—×। लिपि-काल—आषाढ़, शुक्ल-सप्तमी, रविवार, सं० १८५८ वि०। प्रारम्भ के लगभग ६ पृष्ठ खण्डित।

( ख ) हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ), शुभानी बीघा, नवागढ़ ( गया ) से प्राप्त प्रति, ९२ अध्याय में सम्पूर्ण। रचना-काल—१७२७ वि०। लिपि-काल—१८७६ वि०। मध्य के कुछ पृष्ठ खण्डित।

( ग ) हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ) रोसड़ा ( दरभंगा ) से प्राप्त प्रति की प्रतिलिपि। ८९ अध्याय में पूर्ण। कुछ पृष्ठ खण्डित।

( घ ) हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ) आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्राप्त प्रति। प्रारम्भ और अन्त में खण्डित। १०७ अध्याय तक, १०८वें अध्याय के कुछ ही पृष्ठ।

[ २ ] विष्णुपुराण

( क ) रोसड़ा-प्रति। रचना-काल—१५८५ वि०। लिपि-काल—×। 'पंद्रह सौ पचासी जहाना। कथा आरंभ किन्ह तिहाना॥ मास अषाढ़ कथा अनुसारी। हरिवासर व्रत उजिआरी॥'

( ख ) गोरखरी प्रति। इसके पृष्ठ खंडित हैं।

हरि-चरित्र ( भागवत महापुराण ) के अध्ययन से प्रतीत होता है कि लालचदास यह कृति पूरी नहीं कर पाये। वे बीच में ही दिवंगत हो गये। उनके देहावसान के

---

१—'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (दूसरा खण्ड), पृ० १४९-१५०।

२—'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' ( पहला खण्ड ), पृ० १।

बाद हस्तिनापुर ग्राम-निवासी प्रधान कायस्थ प्रतापजी के पुत्र 'आसानन्द'[१] ने यह महा-काव्य पूरा किया। 'आसानन्द' को वैराग्य हो गया था और वे हस्तिनापुर छोड़कर रायबरेली में रहने लगे थे, जहाँ उन्होंने लालचदास से पूरी रचना सुनी थी। अतः, उन्होंने रचना का शेष भाग इस प्रकार पूरा किया, जिससे न तो लालचदास की रचना-शैली में कोई अन्तर आने पाया, न दोहों में 'जनलालच' नाम देने की परम्परा ही विच्छिन्न हुई।

'आसानन्द' ने ४६वें अध्याय के प्रारम्भ में लालचदास के दिवंगत होने की चर्चा की है, साथ ही साथ आत्म-परिचय भी निम्नोद्धृत पंक्तियों में दिया है—

कहै सुखदेव सुनहु भुआरा। कंस मुऐ अैसे बेहवारा॥
नगर लोग सब आवै झारी। हा हा सबद उठा तब भारी॥
आठ भाद्र कंस कर अहई। क्रिस्न क्रोध अधिक ते रहई॥
जब उन्ह मरा सुना भुआरा। क्रोधवंत भै लागु पुकारा॥
तेजवंत क्रोध किए धाए। बैर लेन भाइ कर आए॥
देव दुन्दुभी बाजैक पसारा। पुहुप बिस्टि सुर करहि अपारा॥
दैत सिरोमनि सभिह हमारा। बरबस आए नंद सुत मारा॥
राम सहित नंद संग, बैसे मथुरा माह।
नृप उग्रसेन बोलावहु, कहहि क्रिस्न मनमाह॥

इती स्री हरिचरित्रे दसमस्कंधे स्री भागवते महापुराने कंसासुरवधो नाम पैताळीसमो अध्यायः ४५।

इती स्री लालचकथा समापतह रामजी की दया।

अति प्रजेत कथा जब भएउ। संकट प्रान लालच कर भएउ॥
भग्ति करत प्रभु कह लौ लाएसि। सुरसरि निकट अरघ जल पाएसि॥
धोए मन अस्तुति प्रभु लग ठावां। क्रिस्नचरित्र भारवा बहु गावा॥
दसम सकंध भागवत होई। कंस वध लहि गाएसि सोई॥
इहे सोच रहा जिव मोही। समस्त कथा करो पै सोई॥
एहि विधि बिनवो भगवंता। क्रिस्न चरित्र लौ लीन्ह तुरंता॥
संवत केतिक बीति जब गएउ। खोडस सात एकोतर भएउ॥
बिस्नु भगति उपजावहु भाऊ। हरिपद लीन आसानंद नाऊ॥

---

१.—'साहित्य-सन्देश' ( दिसम्बर १९५८ ई० ) में डा० शिवगोपाल मिश्र का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध ( अवधी के प्राचीन कवि 'लालचदास', पृष्ठ २६७ ) प्रकाशित हुआ है, जिसमें मिश्रजी ने लालचदास के हरि-चरित्र का आसानन्द द्वारा पूर्ण किये जाने का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने जिस पाण्डुलिपि से उद्धरण दिये हैं, उसमें 'आसानन्द' के रचना-काल ( षोडस सत एकोत्तर भएऊ ) को संकेतित करनेवाली पंक्तियों का अभाव प्रतीत होता है। साथ ही उक्त पाण्डुलिपि से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ( पटना ) संग्रहालयस्थ हस्तलिखित प्रतियों में बहुत पाठभेद है।

काएथ जाति लोग सब जाना । तासु पिता परताप बखाना ॥
धर्म मुरति गुन ग्यान बिबेका । हिरदे भगति मत विह्वल एका ॥
हस्तिग्राम विरत सो आही । राए बरेली मंदिल ताही ॥
क्रिस्न भगति बोलाइ दिज आहा । दसम स्कंध भागवत काहा ॥

तिन्ह के कहे जिव उपजा, बहु बिधी भाव भाँति ।
पाप मुकुति होए तिन्ह कर, जो चाहै प्रभु दिन राति ॥

भाखा छंद कथा परगासा । स्रवन सुनत दुख पातख नासा ॥
सुनि हरि कथा हर्ष जिव भएऊ । आसानंद भगति जिव ठएऊ ॥
लालच क्रित आधा भौ आई । क्रिस्न दयाल समक भै जाई ॥
जौ गनपति दया चित करई । सारद माए जिमि अनुसरई ॥
स्री हरि हिरदै बुधि परगासौ । कहत सुनत दुख पातख नासौ ॥
क्रिस्न कथा अम्रित रस वारी । नरक परहि भगता अभिमानी ॥
कविजन हिरदै भगति उपावा । कथा नाम लालच गुन गावा ॥
इन्ह बातन्ह किछु दूषण नाही । क्रिस्न कथा कहि पाप नसाही ॥

गुन गोविन्द कर विमल, अम्रित केर समुद्र ।
सनकादिक नारद मुनि, पिअहि ब्रह्मा औ रुद्र ॥

हरि-चरित्र की समस्त प्राप्य पाण्डुलिपियों के लिपिकारों ने भी ४५वें अध्याय को समाप्ति के बाद 'इति श्री लालच कथा समाप्त' आदि लिखकर, तथा ग्रन्थ के अन्त में 'कथाक्रित लालच आसानंद के सपुरन' आदि संकेतों से 'आसानन्द' द्वारा ग्रन्थ के पूर्ण किये जाने का उल्लेख किया है ।

आसानन्द का रचना-काल सं० १६७१ वि० है । रचना-काल के प्रसंग में यह पंक्ति—'संवत् केतिक बीति जब गएऊ । पोडस सत एकोत्तर भएऊ ॥' यह भी सिद्ध करती है कि यही लालचदास का निर्वाण-काल था । सं० १५२७ वि० में लालचदास ने जिस ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की थी, उसे १६७१ वि० तक पूरा नहीं कर पाये और १४४ वर्ष तक लिखते रहे, यह स्पष्टतः अविश्वसनीय है । १५८७ वि० को रचना-काल मान लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि लालचदास प्रायः ८४ वर्षों तक—जीवन-पर्यन्त—हरि-चरित्र की रचना में लगे रहे । कवि की दूसरी रचना 'विष्णुपुराण' के रचना-काल के सम्बन्ध में १५८५ वि० भी सिद्ध करता है कि हरि-चरित्र में १५२७ वि० अशुद्ध पाठ है ।

'आसानन्द' की रचना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियों में पाठ-भेद होने के कारण कई प्रकार की सूचनाएं मिलती हैं, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि ख्याति के प्रति अनासक्त भक्त ने यह कृष्ण-कथा पूरी की है और पूरे ग्रन्थ में यथासम्भव कहीं भी अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है ।

लालचदास-कृत 'हरि-चरित्र' की इन हस्तलिखित पोथियों का पाठान्तर जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है, उनका विवरण आगे दिया जा

रहा है। स्वीकृत पाठ, दो प्रतियों के आधार पर, (उनके लिए 'क' संकेत माना गया है) स्वल्प शोधन के साथ, प्रस्तुत किया गया है। जिन प्रतियों के पाठान्तर दिये गये हैं, उनके लिए 'ख' से 'छ' तक संकेत दिये गये हैं :

१. 'क'—यह प्रति पुनपुन (पटना जिला)-निवासी श्रीरामेश्वरप्रसाद गुप्त, मन्त्री, वैदिक पुस्तकालय से प्राप्त हुई है और परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग में विद्यमान है। इसका लिपि-काल आषाढ़, शुक्ल-सप्तमी, रविवार, सं० १८५८ वि० है। प्रारम्भ के लगभग ६ पृष्ठ खण्डित हैं। चतुर्थ अध्याय से इसी प्रति को मूल आधार-प्रति माना गया है।

दूसरी 'क' प्रति श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया के संग्रहालय की है। इसका लिपि-काल चैत्र, कृष्ण-त्रयोदशी, शुक्रवार, सं० १८४६ = १७९२ ई० है। इसमें रचना-काल आषाढ़ शुक्ल सं० १५२७ वि० = १४७० ई० दिया हुआ है। ग्रन्थ में ग्रन्थ के विषय से संबद्ध १२६ (एक सौ छब्बीस) भावपूर्ण कलात्मक चित्र भी हैं। चित्रकार और लिपिकार क्रमशः श्रीभीनक और परेखुराय हैं।

२. 'ख'—यह प्रति गया जिलान्तर्गत शुभानी बीघा, नवागढ़-निवासी श्रीमान् गुरुशरण-प्रसाद सिंह, एम्० ए०, डिप्टी मजिस्ट्रेट से प्राप्त हुई है। इसका रचना-काल १७२७ वि० और लिपि-काल १८७६ वि० है। इसके लिपिकार फतहदास हैं। इसके प्रारम्भ के कुछ पृष्ठ खण्डित हैं। परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग में यह प्रति सुरक्षित है।

३. 'ग'—यह रोसड़ा (दरभंगा-जिला)-निवासी श्रीबदरीलाल आर्य (प्रधान, आर्यसमाज, रोसड़ा, दरभंगा) के पास वंश-परम्परा से सुरक्षित प्रति की श्रीदामोदर मिश्र द्वारा कृत प्रतिलिपि है। इसके प्रारम्भ तथा अन्त के पृष्ठ खण्डित हैं। यह पाण्डुलिपि परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग में है।

४. 'घ'—आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के संग्रहालय से परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग के लिए प्राप्त यह प्रति प्रारम्भ और अन्त में खण्डित है।

५. 'च'—श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित इस प्रति के लिपिकार तुलसीराम हैं। इसका लिपि-काल सं० १८५७ वि० है। इसके अनुसार इस ग्रन्थ का रचना-काल सं० १५२७ वि० है।

६. 'छ'—यह प्रति भी गया नगर-स्थित श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय के संग्रहालय में विद्यमान है। इसके लिपिकार हैं किशुनराम। इसका लिपि-काल १२९५ साल = १९४४ वि० = १८८७ ई० है। इस पाण्डुलिपि में इस ग्रन्थ का रचना-काल १५८७ वि० है।

लालचदास के काल-निर्धारण में 'समै बिलंब नाम भौ तबही' के 'बिलंब' से अप्रत्याशित सहायता मिल सकती है। 'बिलम्ब वर्ष' साठ वर्षों के बाद आता है। वह संवत्-विशेष में निर्धारणीय है या नहीं, इस पर विचार करना उपादेय सिद्ध हो सकता है।

पाठ-सम्पादन में कैथी लिपि—जिसमें ही उपर्युक्त समस्त प्रतियाँ लिखित हैं—के कारण ह्रस्व-दीर्घ या वर्त्तनी-सम्बन्धी जो अनिश्चय अनिवार्यतः पाया जाता है, उसे दूर कर

देने में कोई हानि नहीं समझी गई है; हाँ, पाठ-भेद यथावत् रहने दिये गये हैं, जिससे प्रतियों के प्रकृत रूप का भी परिचय प्राप्त हो सके।

पाठ-सम्पादन में अर्थ और छन्द को भी निर्धारक तत्त्व मानने के अपने सिद्धान्त का भी ध्यान मैंने रखा है। फिर भी, यत्र-तत्र प्राचीन वर्त्तनी के रूप के कारण गुरु लघु की तरह और लघु गुरु की तरह ही रहने दिये गये हैं।

जैसा कि डा० दीनदयालु गुप्त ने कहा है, यह "ग्रन्थ किसी भी संवत् का हो, इतना तो अवश्य सिद्ध है कि यह नन्ददास की 'भागवत भाषा' नामक रचना से चालीस-पचास वर्ष पहले की रचना अवश्य है।" डा० गुप्त के इस कथन में कि 'इस ग्रन्थ का व्रज-प्रान्त में भी प्रचार था; क्योंकि···ये प्रतियाँ व्रज में ही मिली थीं', हम अपेक्षया अधिक निश्चयपूर्वक यह जोड़ सकते हैं कि लालचदास की कृतियों का प्रचार व्रज से बिहार तक था—वस्तुतः हरि-चरित्र की उपर्युक्त ३. 'ग' प्रति, जिन सज्जन के पास सुरक्षित पोथी के आधार पर तैयार हुई, उनके गाँव तथा पूर्वजों के यहाँ लालचदास के आने-जाने के सम्बन्ध में सर्वथा विश्वसनीय जनश्रुति है और उपर्युक्त सज्जन के परिवार में लालचदास की गुरु-परम्परा के मिलने की भी सम्भावना है।

हरि-चरित्र की काव्यगत विशेषताओं के विषय में सम्प्रति इतना कहना ही पर्याप्त है कि वह भागवत के अंश-विशेष का अनुवाद-मात्र न होकर उस पर अवलम्बित मौलिक-प्राय और अपने ढंग का प्राचीनतम प्रबन्ध-काव्य है। यह भी उल्लेख्य है कि उसका दोहा-चौपाई-क्रम जायसी के क्रम के सदृश है, तुलसी के नहीं। हम इन दृष्टियों से लालचदास का विशद अध्ययन बाद में यथावसर प्रस्तुत करने की आशा करते हैं।

परिषद् के अध्यक्ष, आदरणीय श्रीकुमार गंगानन्द सिंह, शिक्षा-मन्त्री, बिहार, तथा परिषद्-संचालक आचार्यचरण शिवपूजन सहायजी का मैं कृतज्ञ हूँ कि मुझे हरि-चरित्र के सम्पादन के लिए प्रेरणा तथा सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं। परिषद् के कार्यालय-सचिव का भी मैं आभारी हूँ कि उन्होंने आवश्यकतानुसार साधन सुलभ बनाये हैं।

हरि-चरित्र के पाठ-सम्पादन तथा भूमिका की अनेक सूचनाओं के संकलन में मुझे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग के योग्य शोध-सहायक श्रीरामनारायण शास्त्री से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। शास्त्रीजी ने बड़े अध्यवसाय से परिषद्-संग्रहालय के लिए उपर्युक्त प्रतियाँ संगृहीत की थीं। वे पाठ-सम्पादन के लिए श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय की महत्त्वपूर्ण प्रति लाये थे, जिसके लिए वे तथा पुस्तकालय के श्रीसूरजप्रसाद महाजन धन्यवादार्ह हैं। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की प्राचीन हस्तलिखित प्रति से भी इस कार्य में सहायता प्राप्त हुई है; तदर्थ हम उसके भी कृतज्ञ हैं।

०

# लालचदास-कृत हरि-चरित्र

[ १ ]

प्रथमहि१ चरन चीतवो२ ताके। सरबलोक३ वोदर बस जाके॥
गनपत४ को मै चरन मनावौ। सुरस कथा गोपाल गुन गावो॥
प्रथम पितामह५ स्रिस्टि उपाई६। तुह प्रसाद गननाथ गोसाई७॥
संकर सुमिरि दंडवत कीन्हा। भस्म चढ़ाए चीतवन कीन्हा८॥
जटा मुकुट९ सिव सदा उदासी। तुह प्रसाद पावो अबिनासी१०॥
उतपति प्रलै जाहि सो११ होई। गढै सवारै भंजै सोई॥
सरब भूत के अंतरजामी१२। सब मह ब्याप रहे तुह सामी१३॥
बिघिन हरन संतन्ह१४ सुखदाई। चरन गहे लालच हलुआई॥

---

१. (च) चौपाई से पहले यथालिखित दोहे—पहीले बन्दौ···। गीरीजा सहीत महेस। ·····पगु बन्दौं·····गनेस॥ पुणी पगु बन्दौं साधु के जीनके हीत भगवाण। रही·····ताही के सभ बीधी होही कल्याण॥ (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (छ)—०। २. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—मनावौ। (छ)—मनाववौ। ३. (ख)—तीनीलोक। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—०। ४. (ख)—गणपति। (ग)—०। (घ)—०। (च)—गणपती। (छ)—गनपती। ५. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—प्रथमही पीता। ६. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—उपजाइ। ७. (ख)—तुअ प्रसाद पावउ अविनासी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—०। ८. (ख)—शंकर शुमरि डंडवत कीन्हा। भस्म चढ़ाए चीतवण कीन्हा॥ (ग)—०। (घ)—०।

(च)—संकर सुमरिअ डंडकर लीन्हा।
भसम चढ़ाये चीतवण लीन्हा॥
(छ)—शंकर सुमरी दंडवत कीन्हा।
भस्म चढ़ाऐ चीतवन लीन्हा॥

९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—मटुक। (छ)—मटुक। १०. (ख)—अविनाशी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—अविनासी। ११. (ख)—जोहिते। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जाही ते। (छ)—जाही ते। १२. (ख)—शर्वभुत प्रभु अंतरजामी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—सर्वजीव के अन्तरजामी। (छ)—सरबभुत कए अंतरजामी। १३. (ख)—सबमह ब्यापि रहे तुंह स्वामी (क)—पाठ में 'ताही ते बरनो तो कह सामी' पाठ है, जिसे छोड़कर यह पाठ स्वीकृत किया गया है।) (ग)—०। (घ)—०। (च)—तोह सब घट-घट के विश्रामी। (छ)—तेही ते सबै पास तुअ सामी। १४. (ख)—संतन्हि। (ग)—०। (घ)—०। (च)—संतन्ही। (छ)—संतन।

कोटि अंड१ उपराजहू२, छिन मो३ करौ४ संघार५।
लखि न जाए लंबोदर, माआ को बिस्तार॥

[ २ ]

अब सारद को बंदौ पाआ। गुन अतीत जग मोहनि माआ॥
तुमते बेद ब्रह्मा अनुसारा६। तुह ते बुधि जन करहि केवारा७॥
तुम्ह ते नारदादि गुन गावहि। गन गंधरप तुम्ह चरन मनावहि८॥
नाद९ बेद बिद्या मन राता१०। गावत ही बुधि जन की माता११॥
केस छोरि बन्दौ१२ तुअ पाआ। हमहुक किछु कीजै दाआ१३॥
बुधबीहुन मै हरि गुन गावो। करहु प्रसाद मै आखर पावो१४॥

---

१. (ख)—अंत। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ब्रर्भ। (छ)—जन। २. (ख)—उपजावहु। (ग)—०। (घ)—०। (च)—उपजावह। (छ)—उपजावही। ३. (ख)—छनमो। (ग)—०। (घ)—०। (च)—छणमह। (छ)—छनमह। ४. (ख)—करहु। (ग)—०। (घ)—०। (च)—करहु। (छ)—करही। ५. (ख)—संहार। (ग)—०। (घ)—०। (च)—संघार। (छ)—शंघार। ६. (ख)—तुम्ह ते ब्रह्मबेद अनुशारा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तोह ते ब्रभा बेद अनुसारा—०। (छ)—तुम्हते ब्रह्माबेद अनुसारा। ७. (ख)—तुम्ह ते बुधीजण करही केंवारा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तोहे ते बुधीजण करंही केवारा। (छ)—तुम्ह ते बुधीजन करही केवारा। ८. (ख)—तुम्ह ते नारदादी गुन गावही। गन गंध्रप तुम्ह चरन मनावही। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तोह ते नारद नारंन्द कीणरंगावही। गण गर्धप तुअ चरणं मनावही। (छ)—तुम्ह ते नारदं तुम्ह गुण पावही। गन गंधरप तुअ चरन मनावही। ९. (ख)—नंद। (ग)—०। (घ)—०। (च)—नाद। (छ)—नारंद। १०. (ख)—विघा मनराता। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बुधजणमन राता। (छ)—वीद्वामन रोता। ११. (ख)—जण। (ग)—। (घ)—०। (च)—बुधी निर्मलजण के छखदाता। (छ)—बुधी बीमल बुधीजन की माता। १२. (ख)—केश। (ग)—०। (घ)—०। (च)—केस छोर अब। (छ)—केस छोरी तुअ बंदौ पाआ। १३. (ख)—मोहि अचेत कह कीजै दाया। (ग)—०। (घ)—०। (च)—मोही···पर कीजै दाआ। (छ)—हमहु कहि कीछु कीजै दाआ। १४. (ख)—बुधि बीहुण मै हरि गुण गावौ। करु प्रसाद अछर शुचि पावौ॥ (ग)—०। (घ)—०। (च)—बुधी बीहुन मैं हरी गुण गावौ। करु प्रसाद आषर गुण पावौ॥ (छ)—बुधी बीहुन मै हरी गुन गावौ॥ करु प्रसाद अखर सचीपावौ॥

भगत हेतु जन लालच, हरखित बंदौ पाए।
स्री गोपाल गुन गावो, बुधि दे सारद माए१ ॥

[ ३ ]

पंद्रह स सत्ताइस जबही२। समै बिलंब३ नाम भौ४ तबही५ ॥
राय बरेली उत्तिम बासा। लालचराम नाम की आसा६ ॥
मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरि बासर रजनी उजिआरी ॥
करी क्रिपा मोंहि देहु मुरारी। सकल संत मिलि करि उपकारी७ ॥
सकल संत८ को नावो माथा। जेहि विधि लछुपति पावो नाथा९ ॥
कथा बिसाल१० कहो मै ताकी११। सर्व जीव मो रचना जाकी१२ ॥
गुण भागवत भगति अनुसारी१३। गुरु प्रसाद कछु कहौ१४ बिचारी ॥

---

१. (ख)—भग्तिहेतुजण लालच हरषित बंदौपाय। श्री गोपाल गुण गावो बुधि देहु सारदमाऐ ॥ (ग)—०। (घ)—०। (च)—भग्ती हेतुजण लालच हरषीत बन्दौपाय। श्री गोपाल गुण गावौं·····सारदमाये। (छ)—भग्तो हेतु जन लालच हरखीत बंदौ पाव। श्री गोपाल गुन गावौ बुधी देहु सारदमाय ॥ २. (ख)—जहिवा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—पंदरह सौ सत्ताइस जहिया। (छ)—संवत पदरहसो सतासो जहीआ। ३. (ख)—वीलंबीत। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बीलम्ब। (छ)—समै बीलंबत। ३. (ख)—बरतै। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—परतेउ। ४. (ख)—तहिया। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तहीया। छ—तहीआ। ५. (ख)—यह पद नहीं हैं। (ग)—०। (घ)—०। (च)—गांव बरोली उतमिवासा। लालच राम नाम कै आसा। (छ)—यह पद नहीं हैं। ६. (ख)—यह पद नहीं है। (ग)—०। (घ)—०। (च)—यह पद नहीं है। (छ)—यह पद नहीं है। ७. (ख)—संतन्हि कह। (ग)—०। (घ)—०। (च)—संत कह नावौ। (छ)—संत कह नावौ। ८. (ख)—बलि बलि जैहो जादौ नाथा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बली बली जैहंगो जादौ नाथा। (छ)—बली बली जहहौ जादौ नाथा। ९. (ख)—रसाल निरुपो। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ऋसाल नीरुपमौ। (छ)—रीसाल नीरूपौ। १०. (ख)—ताके। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ताके। (छ)—ताके। ११. (ख)—मह रचना जाके। (ग)—०। (घ)—०। (च)—मह रचना जाके। (छ)—मह रचना जाकें। १२. (ख)—भग्ती भाव ताकी अनुसारी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—गुण भागवत भग्ती अनुसारी। (छ)—मती अनुभव कहौ अनुसारी। १४. (ख)—कीछु कथा वीचारी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कीछु कहौ वीचारी। (छ)—कछु कहौं वीचारी।

जेहि कारन बपु धरे गोसाई। गोकुल नद सुता भौ आई॥
सो चरित्र सब१ भाखा गावो। प्रभु भगती मति जेहि२ सो पावो॥

अलप अगोचर ठाकुर, सो बिच गोकुल आव।
ब्रज कुल संत संग रहु, जन लालच गुन गाव॥३

[ ४ ]

करहु क्रिपा सब हरि गुन गावो४। परमहंस५ कहु६ भेद सुनावो॥
गृह सुत मातु पिता नहिं जाके। रेख रूप नहिं कछु ताके७॥
सीस न आखि बदन नहि रसना। जनम८ करम कछु आहि न रचना॥
स्रवन बचन९ कर-पल्लव१० नाहीं। परम पुरान११ पुरुख निजु१२ आही॥

---

१. (ख)—मै (ग)—०। (घ)—०। (च)—सो चरीत्र भाषा मैं गावो। (छ)—सो चरीत्र भाखा गुन गावौ। २. (ख) जेही ते। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जेहीते। (छ)—जेही से। ३. (ख)—अलप लाक के ठाकुर जेहिबीधि गोषुल आव। बृज जंन सभै अनंदीत जण लालच गुण गाव॥ (ग)—०। (घ)—०। (च)—तीणी लोक के ठाकुर जेही बीधी गोखुल आव। ब्रीज जन संत संग रहु जण लालच गुण गाव॥

(छ)—अलख अगोचर ठाकुर जेहि बीधी गोखुल भाव।
नग्र लोग सब हरखीत जन लालच गुन गाव॥

४. (ख)—कथा अनुशारी के हरिगुण गावो। (ख)—०। (घ)—०। (च)—करहु क्रीपा सभ हरी गुण गावौ॥ (छ) कथा उपनख हरी गुन गावौ। ५. (ख)—परमहंस। (ग)—०। (घ)—०। (च)—निर्गुण हंस। (छ)—पर्महंस। ६. (ख) के। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कै। (छ)—को। ७. (ख)—इस पंक्ति के पूर्व में पद है—'अगम अगोचर अवगति नाथा। जोति रूप कोइ संग ण साथा।', रूप रेख कीछु आह न ताके। (ग)—०। (घ)—०। (च)—रूप रेख कीछु आही नहि ताके। (इसके पूर्व 'ख' प्रति के समान अतिरिक्त पंक्ति)। (छ)—रूप रेख कछु आह न ताके। ('ख' और 'च' प्रति के समान इसमें भी पूर्वोक्त अतिरिक्त पंक्तियाँ हैं)। ८ (ख)—जन्म कर्म्म कीछु आहि न रचना। (ग)—०। (घ) ०। (च)—जणम करम कछु आही न चर्ना। (छ)—जन्म करम गती आहै बचना। ९. (ख)—चरण। (ग)—०। (घ)—०। (च)—नैन। (छ)—चरन। १०. (ख)—करपल्लव। (ग)—०। (घ)—०। (च)—करपलव। (छ)—करपलवौ। ११. (ख)—परम पुराण। (ग)—०। (घ)—०। (च)—परम पुरान। (छ)—पर्म पुरान। १२. (ख)—शो। (ग)—०। (घ)—०। (च)—सो। (छ)—जो।

नाभि कवल ते ब्रह्म१ उपाने। निरगुन के प्रभु२ इहै न जाने॥
दिव्य पुरुख३ एक खोजत आए। परमहंस४ को अन्त न पाए॥
हंस रूप हरि आए देखावहि५। चतुरबेद६ ब्रह्मा समुझावहि७॥
उहे कथा हरि नारद पाई। व्यासदेव कह आनि सुनाई८॥
सुनि सुखदेव स्रवन९ सुख१० लागी। उपजी भगति भए अनुरागी११॥
उह तो हरिपद सदा वियोगी१२। सभ तजि भए बिहंगम जोगी॥
अम्रित कथा भागवंत, प्रगटित एहि१३ संसार।
चरन सरन जन लालच, गावहि गुन१४ बिस्तार॥

[ ५ ]

सतजुग त्रेता द्वापर गएऊ। ताके आदि परीछत भएऊ१५॥
तेहि सम प्रिथिमी और न केऊ। पुहमी पाप न देखिय काऊ॥

---

१. (ख)—ब्रह्म। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ब्रंभ। (छ)—ब्रहम। २. (ख) गुण तीनहु न जानै। (ग)—०। (घ)—०। (च)—उर ब्रह्म न जाने। (छ)—गुन तीन्ह हु न जाने। ३. (ख)—दिव्य वर्षशत। (ग)—०। (घ)—०। (च)—दीव्य वर्षसत। (छ)—दीरवावरखसत। ४. (ख) पदुम नाल को। (ग)—०। (घ)—०। (च)—पदुमनाभ कर। (छ)—पदुम नाम को। ५. (ख)—लषावा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—लीषावा। (छ)—लखावा। ६. (ख)—चतुरबेद ब्रह्म। (ग)—०। (घ)—०। (च)—चतुरदस लोक ब्रभा। (छ)—चतुर अंस ब्रहमै। ७. (ख)—समुझावा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—समुझवा। (छ)—समुझावा। ८. (ख)—यह पंक्ति नहीं है। (ग)—०। (घ)—०। (च)—वोही कथा ऋषी नारंन्द पाइ। (छ)—उहइ कथा रीखी नारद पाइ। ९. (ख)—स्रवण। (ग)—०। (घ)—०। (च)—चरण। (छ)—स्रवन। १०. (ख)—हीत। (ग)—०। (घ)—०। (च)—हीत। (छ)—हीत। ११. (ख) वैरागी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—भएउ वैरागी। (छ)—अनुरागी। १२. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—यह पंक्ति नहीं है। (छ)—नीस दिन चरन कमल अनुरागी। १३. (ख)—अंग्रीत कथा भागवस प्रगंट भौ संसार। (ग)—०। (घ)—०। (च)—अंग्रीत कथा भागवत कै प्रगटीत इही संसार। (छ)—अंग्रीत कथा भागवत प्रगटत है संसार। १४. (ख)—कैसे भौ विस्तार। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कैसे भौ बीस्तार। (छ)—कैशे भौ वीसतार। १५. (ख)……। कलियुग के प्रभाव तब भएउ। ताके आदि पारीछत राउ। पृथमी पाप न देषीय काउ॥ (ग)—०। (घ)—०। (च)……। कलजुग कै प्रभाव तब भएउ। तेही के आदी पराछीत राउ। प्रीथमी पाप णही देषीअकाउ॥ (छ)—……कलीजुग के प्रभाव तब भेउ। तेही के आदी पराछीत राउ। प्रीथमी पाप न संचरऐ काउ॥

तेहि१ कली भ्रम बहु उपराजा। कबहुक२ गए अखेटक३ राजा॥
त्रिखा लागि तह नीर न पाए४। रिखि अंगिरा के आस्रम आए॥
देखत५ नृपति बोलावन६ लागे। लागि समाधि रिखै नहि जागे॥
अपरित राजै अजगुत कीएउ७। म्रितक भुअंग कंठ मो८ दीएउ॥
तुरित बेगि त्रिपए गेह सिधाए। एहि१० अंतर स्रिंगी रिखि आए॥
देखि भुअंग पिता के ग्रीवा। लोचन अधिक११ क्रोध भा जीवा॥
एह कुबुधि राजै बड़ कीन्हा१२। उपजा क्रोध स्राप रिखि दीन्हा॥
सर्प१३ देखि जस दुख भा मोही। तछक जाए डँसै त्रिप तोही॥
सुनि कै स्राप१४ राउ दुख माना। ब्राभन बचन होए परमाना१५॥

---

१. (ख)—तीन्ह। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तीन्ह। (छ)—तेही।
२. (ख)—कबहीके। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कबहीके। (छ)—कबही के।
३. (ख)—अपेटक। (ग)—०। (घ)—०। (च) यपेटक। (छ)—अखण्ड के।
४. (ख)—त्रीषा लागु तेहि अंबुज नहि पावा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—त्रीषा लागु ताहा अंबुण पावा। (छ) त्रीखा लागी तहा अंबुन पाऐ। ५. (ख) देषि के। (ग)—०। (घ)—०। (च) देषत। (छ) रीखावंत। ६. (ख)—बोलावण। (ग)—०। (घ)—०। (च) जगावण। (छ)—बोलवन। ७. (ख)—अपरीत राजे कीन्हा बेला (ग)—०। (घ)—०। (च)—अपश्रुत राजहि कीन्ह अषेला। (छ)—चपलीत राजे कीन्हेउखेला। ८. (ख)—कंठ गहि मेला। (ग)—०। (घ)—०। (च) गहीं मेला। (छ)—गही मेला। ९. (ख) गृह राउ शीधाऐ। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तुरीतवंत गृह राउसीधाऐ। (छ)—ग्रीह राऐ सीधाऐ। १०. (ख)—तेही। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ऐही। (छ)—ऐही। ११. (ख) लोचण सजल शोच भा जीवा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—लोचन सजल सोच भौ जीवा। (छ)—लोचन सजल क्रोध भो जीवा। १२. (ख) ऐह कुबुध कस राजै कीन्हा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ऐह कुबुधी कस राजै कीन्हा। (छ)—ऐह कुबुधी कस राजऐ कीन्हा। १३. (ख)—उरगदेषि। (ग)—०। (घ)—०। (च)—सरप देषी। (छ)—डरगदेखी। १४. (ख)—सुनीरीषिस्रापराउ शुषमाना। (ग)—०। (घ)—०। (च)—एह स्राप राजा दुषमानी। (छ)—सुनीरीखीस्रापराउसुखमानी। १५. (ख)—ऐह अपराध शत के जाना। (ग)—०। (घ)—०। (च)—एह अपराध सन्त के जाना। (छ)—आपन दोख सत्य कै जाना।

नरक पात बरु होखै१ भाई। जैसे रिखि कै बचन२ न जाई॥
चलि भौ राजा सुरसरि तीरा। परम पुनीत३ बिमल जल नीरा॥
सात दिवस कर परमित, सब कर कीन्ह सभार।
पुन्य छेत्र जन लालच, अस्तुति४ करहि भुआर॥

[ ६ ]

रिखी स्राप राजै जब पाई। सुनि सुखदेव सोच जिव५ आई॥
सन्त काज कह जी जन राखी६। अपरुप कथा राय सो भाखा७॥
तब उठि८ राजा दंडवत कीन्हा। भले गोसाईं९ दरसन दीन्हा॥
भए क्रितारथ धरम१० बिसेखी। अंत अवस्था११ जो तुम्ह देखी॥
बोले रिखि भएउ सब काजा। समाधान भए बैसहु राजा१२॥

---

१. (ख)—होषै। (ग)—०। (घ)—०। (च)—णरक अघोर वरु होउरे भाई (छ)—नरक पात वरु होख ए भाइ। इस प्रति में निम्नलिखित पंक्तियाँ भी हैं—'मनवचक्रम आनन्दीत राउ। भगती हेतु हरी उपजा भाउ॥ २. (ख)—जेहिते रीषि (ग)—०। (घ)—०। (च)—जेहीते रोषी के स्राप न जाइ। (छ)—जैसे रीखी कै स्राप न पाइ। वचन न जाइ॥ ३. (ख)—परम पवीत्र। (ग)—०। (घ)—०। (च) परम पुणीत। (छ)—पर्म पावीत्र। 'ख' और 'च' प्रति में इस पद के पूर्व 'छ' प्रति के 'मनवचक्रम' आदि अधिक पद हैं। ४. (ख)—अस्थित कीन्ह भुआर। (ग)—०। (घ)—०। (च)—आस्थीत कीन्ह भुआर। (छ)—असउती कीन्ह भुआर। ५. (ख)—भा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—भा। (छ)—भौ। ६. (ख)—जीवण राषी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जीवण राषो। (छ)—जीअन राखी। ७. (ख)—अंत्रीत कथा राऐ शो भाषी। (ग)—०। (घ)—०। (च)—भंत्रीत-कथा राउ सो भाषौं। (छ)—अत्रोत कथा राउ सन भाखी। ८. (ख)—'नर्क अघोर सर्प्प के षाऐ। पर उपकार लागि रीषि आऐ॥'—यह पंक्ति 'च' और 'छ' प्रति में भी अधिक है। (ग)—०। (घ)—०। (च)—उठी कै राजा दंडवत कीन्हा। (छ)—उठी गे राजे दंडवत कीन्हा। ९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—भल हे गोसाइ दरसन दीन्हा। (छ)—भले गोशाइ दरसन दीन्हा। १०. (ख) करम विशेषा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जन्मवीसेषी। (छ)—करम वीसेखी। ११. (ख)—अन्त अवस्था जो तुम्ह देषा। (ग)—०। (घ)—०। (च)—येती अवस्था जब तोह देषी। (छ)—अन्त अवस्था जो तुअ देखी। १२ (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—बोले उरीखै भऐ तुअ काजा। समाधान भै सुनहु हो राजा।

अब हरि कथा सुनावो तोही१। जैसे नरक पाप नहिं होही२॥
तब उठि राजै कीन्हे सेवा३। सरनागत४ सामी सुखदेवा॥
जिन्ह हरि कौरो सैन संघारा। पुनि पांडव कुल भै कणहारा५॥
जननी गरभ होत हम जहिया। ते हरि जरत उबारेउ तहिआ६॥
तेहि गोपाल की कथा सुनावहु। बंदौ चरन वार जनि लावहु॥
आदी अंत जो जानै७, क्रिस्न कथा कै भेव।
चरन सरन जन लालच, आवै रिखि सुखदेव८॥

[ ७ ]

व्यासदेव सुत हेतु बिचारा। साधु साधु कुल बंस भुआरा॥
कथा चरित्र९ कहौ समुझाई। जेहि कलिजुग कै पातख१० जाई॥
नव असकंध कहा नृप आगे। अब रिखि दसम सुनावन लागे११॥

---

१. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०।(च)—०। = इस प्रति में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं : "राजा कीस्न चरणचीत लावहु। सुपभौतरी·····सीधावहु।
कहौ भागवत सुणहु भुआरी। जौ चीत अस्थीत होपै तोहारी॥
राजा वैसहु देवयासन छाड़हु कोपय भीमान।
ताहा सुपदेव भावसी कहही भागवत पुरान॥"
(छ)—मै तोही कथा सुनाववो शोइ। २. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—जेहीते नख पातख सब जाइ। ३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—पलटीत राजा बीनवे सेवा। (छ)—पलटीत राजे कीन्हेउ सेवा। ४. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—सर्मगहो। (छ)—चरन गहो। ५. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जीन्ही हरीकौंरोदल संघारा। पुणी पंडव कुल भे कण हारा॥ (छ)—जीन्ह हरी कौरौ शैन संघारा। पुनीपंडोकुल भौ कंडहारा॥ ६. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जणणी गरभ होत हम जहीआ। जीन्ही हरीजरत उवारेउतहीआ। (छ)—जननी ग्रभ हरी हो तेउ जहीआ। लाखाग्रीह जरत उवारेउ तहीआ॥ ७. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तोह जाणह। (छ)—तुम्ह जानहु। = 'च' प्रति में अतिरिक्त पंक्तियाँ—'हाथ चर्क जब लीन्ह दआला। पैठी पताल बीच सेउ काला॥ गरभ माह उन्ही राषीन्ही आइ। तीन्ह की कथा कहुरीषै गोसाइ॥' ८. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—जण लालच ब्रीप आगे। गावही गुण सुप देउ। (छ)—जन लालच नृप आगे गावहीरीखी सुखदेव। ९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—पवीत्र सुरस। (छ)—पावीत्र। १०. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—दुअल नसाइ। (छ)—दुखीत नसाइ। ११. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—णव असकंध कहा ब्रीप यागे। अब रीषी दसम सुनावण लागे॥ (छ)—नौ असकंध कहौ नृप आगे। पुनी दश नाम सुनावन लागे॥

उग्रसेन सुत कंस भुआरा। कालनेम कर है औतारा॥
भए कंस प्रिथिमी कर राऊ। भगिनी तासु देवकी नाऊ॥
आदि ब्रह्म की माता आही। सो बसुदेव दीन्ह बिआही१॥
कनक रतन बहु२ दाहेज दीन्हा। बहुबिधि मधुपुर मंगल कीन्हा॥
हस्ति सहस दस दीन्ह भुआरा३। तुरआ सबह गनै को पारा४॥
दासी बहुत देवकी संगा। उदमत जोबन सबै सुरंगा५॥
घर घर नगर कोलाहल भएऊ। चढ़ि रंथा पहुचावन गएऊ॥
बीचही भइ अकास की बानी। देवी गति तुम्ह कंस न जानी॥
६तुअ भगती कर आठौ बारा। सो राजा छै करे तुम्हारा७॥
तुरत खड्ग कर८ लीन्ह नरेसा। रथ सो९ उतरि गहा कर केसा॥
देखि बसुदेव बिस्मै१० आई। दीन बचन करि११ बिनती लाई॥
सुनु राजा१२ तै बिनय हमारी१३। काहे लागि हतसि१४ सुकुमारी॥
अलप बैस है राजकुमारी। पुनि लघु भगिनी अहै तुम्हारी॥

---

१. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)— कह दीन्ह बीआही। (छ)—०।
२. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—सबै। (छ)—मन्त्री दाइज।
३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—दीन्ह भुआरा। (छ)—दीन्ह भुआरा। ४. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तुरेआ अनेग गणेको सङ्गा। (छ)—तुरेआ सबुह गने को पारा। ५. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—चपल तुरंगा। (छ)—उनमद जोबन। ६. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—अतिरिक्त दोहा—जोवण चपल सखी सब रूप बीधाते दीन्ह। इन्द्रदेव के.....सो बीधी णीरमल कीन्ह॥ (छ)—अतिरिक्त दोहा—गावत चपक सखी सब रूप बीधाते दीन्ह। इन्द्रदेव के आस्रम जनु बीधी नृमल कीन्ह॥
७. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तीन्ही राजा छै करब तोहारा। (छ)—सौ राजा छै करीही तुम्हारा। ८. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—गही। (छ)—तुरीत खर्ग कर लोन्ह नरेसा। ९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ते। (छ)—सो। १०. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—देखो वछ ह मण चीन्ता आइ। (छ)—देखी वछदेव मन बीसमै आइ।
११. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—दीठ वचन कै। (छ)—कै।
१२. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—छनहु भोगपती। (छ)—सुनु भूमि ते। १३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बात हमारा। (छ)—बचन हमारी। १४. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—हतहु। (छ)—हतहु।

तब नृप कंस कहै मन जानी। मो कह भए ब्रम्ह बखानी१॥
आजै पुत्र देवकिहि होई। कंस राय केह मारै सोई२॥
ताते आगिल सोचने वारौ। अबही कस न देवकिहि मारौ॥
कहे बसुदेव बात सुनु राजा। त्रिआ हतौ तुम्ह कौने काजा३॥
इन्ह के प्रभ जो होइहि बारा४। सो मैं सौपब तोहि भुआरा॥
बचा बंध५ बसुदेव जब कोन्हा। नृपति कंस तब आग्या६ दीन्हा॥

जग जननी जन लालच, ले बसुदेव ग्रिह आउ।
जनु बन जरत कुरंगिनी७, त्रिखावंत जल पाउ॥

[८]

केतिक दिवस बीत जब गएऊ८। प्रथम देवकिहि बालक भएऊ॥
हृदै लाय सुत बसुदेवहि लीन्हे। हरखित कंस हाथ लय दीन्हे॥
हरखित नृपति रहे मनजानी। धन बसुदेव बाचा परवानी९॥
मथुरापति बोले बिहसाई१०। इन्हके मारे कौनि बड़ाई॥

---

१. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—त्रीया बध्य केह जुगता राजाही। देवलोक भल बोलए नाही॥ सुनु बसुदेव कह उमै ऐ तोही। ऐसी अकास बानी भइ मोही॥ (छ)—सुनु बसुदेव कहौ मऐ तोही। अश अकास बानी भौ मोही॥
२. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—आठव पुत्र देवकी ही होइ। त्रीपती कंस कह मारीह। सोइ॥ (छ)—आठवो पुत्र जे देवकी होइ। नृपती कंस कह मारीही सोइ॥ ३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बात सुनु राजा। त्रीआ मार आऐ कौने काजा। अतिरिक्त पद:

इस्त्री करही क्रोध अन्याउ। तौ तीन्ही कह णहि की जी श्रधाउ॥
स्त्रीवध्य सम पाप न आना। सत्य तोही ते कहउ मतीमाना॥

(छ)—त्रीअही मारीअै कवने काजा॥
४. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)-जत होइहबारा। (छ)—होइहीजतबारा।
५. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बाचाबन्धण बसुदेव कीन्हा। (छ)—पुरबबन्ध जब बसुदेव कीन्हा। ६. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—आपेस। (छ)—रीआऐ छ। ७. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—तुरंगीणी। (छ)—कुरंगीनी। ८. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—केतीको बरष बीती जब गवउ। (छ)—बरख केतको बीती जब गैउ। ९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—होय हृद लाऐ बसुदेव सुत लीन्हे। हरषीत कंस हाथ लऐ दीन्हे॥ देषी त्रीपती रहेउ मनमाही। धण बसुदेव बाचा पर बाणी। (छ)—हीरदै लाऐ सुत बसुदेव लीन्हा। हरखीत कंस हाथ कऐ दीन्हा॥ नृपती कंस कहे अस जानी। धन बसुदेव बाचा पर बानी। १०. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—बोलही। (छ)—देखी नृपती बोलै बीहसाइ। इन्हके मारऐ कवन बड़ाइ।

तब नृप कंस बहन अस लागे। इह सुत लै घर जाहु सुभागे१ ॥
ल बालक बसुदेव सिधाए। कंस भवन रिखि नारद आए ॥
तुह तो कंस करी लरिकाई। आठ एक मह जानि न जाई२ ॥
जौ प्रथमहि औतरे गोपाला। राजा भल नहि होए तुम्हारा३ ॥
राजहि मंडल रिखी देखरावा। एक आठ मह जानि न पावा४ ॥
कहिकै नारद५ तुरित सिधाए। सो बालक बसुदेव बोलाए६ ॥
रजक हाथ सुत दिए भुआरा। अग्या लेइकै पाट पछारा७ ॥
एहि उपाए८ खट बालक मारे। कारन कौन कंस हत्यारे९ ॥
बसुदेव देवकि देइ दुख१०, कीन्हेसि सबै११ अकाज ॥
परम पाप जन लालच, कंस दुस्ट के१२ राज ॥
इति स्री हरिचरित्रे दसम सकंधे स्री भागवते महापुराने खटबालक नाम वीमोछनो नाम प्रथमो अध्याए१३। [क्रमशः]



---

१. (ख)--०। (ग)--०। (घ)—०। (च)— आठव सुत जो देवकीही होइ। सो वछदेव धरहु जणी गोइ। हरषीत कंस कहण अस लागे। ऐह सुत लैं तोह जाहु सभागे। (छ)—आठो पुत्र देवकी ही होइ। सो बछदेव धरहु जन गोइ ॥ हरखीत कंस कहै असलोगे। ऐह सुत लै ग्रीह जाहु सभागे ॥ २. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—आठव बालक जाणी न जाइ। (छ)—एक आठ मह जानी न जाइ। ३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—राजा अणभल होए तोहारा। (छ)—राजा अनभल होऐ तोहारा। ४. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कौण आठव सो कभी न पावा। (छ)—०। ५. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—ऋषी। (छ)—रीखी। ६. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—० (च)—सो बालक कस हंकराऐ। (छ)—बालक लै बसुदेव हंकराऐ। ७. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—रजक हाथ सुत दीन्हा भुवारा। अग्या दीन्ह तुरीत धरे मारा। (छ)—नृपती कंस सभा लऐ आऐ। अग्या दीन्ह तुरीत धए मारा। ८. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—प्रकार। (छ)—प्रकार। ९. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—हंते आरे। १०. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—दुषदै। (छ)—देइ दुख। ११. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—०। (छ)—बहुत। १२. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—कीऐ। (छ)—कऐ। १३. (ख)—०। (ग)—०। (घ)—०। (च)—एती श्री हरीचछत्रे दसम सकन्धे श्री भागवते महापुराने प्राक्रीत सुभाषीत षटभर्म वीमोचनोनाम प्रथममो अध्वाऐ ॥१॥ (छ)—इतीश्री हरीचरीत्रदशमं शकंधे जीभागवते महापुराने प्राक्रीत सुभाखीतखट-बालक वीमोछनोनाम प्रथमेमो अध्याआऐ ॥१॥

# कन्नड़-साहित्य का तिथि-क्रम

( ६०० ई०—१९०० ई० )

श्रीगुरुनाथ जोशी; राजकीय प्रशिक्षण-महाविद्यालय, धारवाड़

[ यह तालिका डा० रङ्गनाथ मुगली के 'कन्नड़-साहित्य चरित्र' के आधार पर तैयार की गई है। श्रीगुरुनाथ जोशी ने हमारे अनुरोध से कन्नड़-साहित्य का यह तिथि-क्रम 'साहित्य' के लिए प्रस्तुत किया है। हम 'साहित्य' में 'भारतीय तिथि-क्रम' के अनेक अंश प्रकाशित कर चुके हैं। ऐसे तिथि-क्रमों के निर्माण की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान प्रायः नहीं गया है। हिन्दी में अब दो-एक ग्रन्थ सुलभ हैं, किन्तु उनमें भी केवल साहित्य का ही तिथि-क्रम नहीं है। 'साहित्य' के विगत अङ्क में हिन्दी के प्रेममार्गी कवियों का तिथि-क्रम द्रष्टव्य है। हम सभी भारतीय भाषाओं के ऐसे तिथि-क्रम प्रकाशित करने की चेष्टा करेंगे। —सम्पादक ]

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| ६०० | दुर्विनीत | जैन ? | बृहत्कथा; किरातार्जुनीय टीका ( संस्कृत में ? )<br>शब्दावतार (कन्नड़ में ?); वड्डकथे (कन्नड़ में ? ) | ( ? )<br>( ? ) |
| ६५० | तुम्बलूराचार्य | जैन | चूडामणि | व्याख्यान |
| ६५० | श्यामकुन्दाचार्य | जैन | कन्नड़ 'प्राभृत' या परापद्धति | शास्त्र |
| ८०० | सैगोट्ट शिवभार | जैन | शिवभार-मत | गज-शास्त्र |
| ८५० | कविराज मार्गकार या नृपतुङ्ग | जैन | कविराज-मार्ग | अलङ्कार |
| ८५४ | असग | जैन | कर्णाटक कुमारसम्भव-काव्य; वर्द्धमान-चरित्र (संस्कृत)<br>शान्तिपुराण ( संस्कृत ) | — |
| ९०० | ? | ? | गुणगाङ्क्यि | छन्दःशास्त्र |
| ९०० ? | गुणनन्दि | जैन | ? | — |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| ९०० | गुणवर्म—१ | जैन | हरिवंश, शूद्रक | चम्पू |
| ९२५ | शिवकोट्याचार्य | जैन | वड्डाराधने | गद्य-कथा |

विमलोदय, नागार्जुन और जयबन्धु ने गद्य में लिखा है, पर ग्रन्थादि के नाम अप्राप्त हैं। श्रीविजय, कवीश्वर तथा चन्द्रलोकपाल ने पद्य में लिखा है, पर ग्रन्थादि विदित नहीं हैं।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ९४० | आदि पम्प | जैन | आदिपुराण; विक्रमार्जुनविजय | चम्पू |
| ९५० | पोन्न | जैन | शान्ति-पुराण,<br>भुवनैकरामाभ्युदय (रामकथा)<br>जिनाक्षरमाल | ,,<br>,,<br>कन्द-पद्य |
| ९७५ | चावुण्डराय | जैन | चावुण्डरायपुराण | गद्य |
| ९९० | नागवर्म—१ | ब्राह्मण | छन्दोम्बुधि<br>कर्णाटक-कादम्बरी | शास्त्र (पद्य)<br>चम्पू |
| ९९० | रन्न | जैन | साहसभीमविजय (गदायुद्ध),<br>परशुरामचरित<br>चक्रेश्वरचरित,<br>अजितपुराण,<br>रन्नकन्द | चम्पू<br>?<br><br>चम्पू<br>कन्द-पद्य |
| १०३० | दुर्गसिंह | ब्राह्मण | पञ्चतन्त्र | चम्पू (गद्य-प्रधान) |
| १०४० | चन्द्रराज | ब्राह्मण | मदनतिलक | शास्त्र (चम्पू) |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १०५० | श्रीधराचार्य | जैन | जातकतिलक<br>चन्द्रप्रभचरित | शास्त्र (कन्द-वृत्त)<br>चम्पू |
| १०७० | शान्तिनाथ | जैन | सुकुमारचरित | चम्पू |
| १०७० | नागवर्माचार्य | ब्राह्मण | चन्द्रचूडामणिशतक | शतक (वृत्त) |
| ११०० | नागचन्द्र (अभिनव पम्प) | जैन | मल्लिनाथपुराण<br>रामचन्द्रचरितपुराण ( पम्प-रामायण ) | चम्पू<br>" |
| ११०० (?) | कान्ति | जैन | कान्तिहम्पन समस्येगकु | कन्द-पद्य |
| ११०० | नयसेन | जैन | धर्मामृत | चम्पू (गद्य-प्रधान) |
| ११५० | ब्रह्मशिव | जैन | समयपरीक्षा,<br>त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र | कन्द-वृत्त<br>वृत्त |
| ११५० | कर्णपार्य | जैन | नेमिनाथपुराण | चम्पू |
| ११५० | नागवर्म | जैन | भाषाभूषण,<br>काव्यावलोकन<br>वस्तुकोश | सूत्र<br>कन्द-वृत्त<br>" |
| ११५० | सुमनोबाण | जैन | जैनपुराण (?) | — |
| ११५० | चावुण्डराय | ब्राह्मण | लोकोपकार | कन्द-वृत्त |
| ११५० | अग्गल सोमनाथ | ब्राह्मण | कर्णाटक-कल्याणकारक | कन्द-वृत्त |
| ११५० | प्रभुदेव ( अल्लम ) | वीरशैव | षट्स्थलज्ञानचारित्र और वचन<br>मन्त्रगोप्य | वचन-गद्य<br>पद (गीत) |
| ११५० | सकलेश मादरस | वीरशैव | वचन | वचन-गद्य |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| ११५० | वसवेश्वर | वीरशैव | षट्स्थलवचन और अन्य वचन<br>कालज्ञानवचन; मन्त्रगोप्य | वचन-गद्य<br>पद |
| ११५० | चेन्नवसव | वीरशैव | षट्स्थलवचन और अन्य वचन | वचन-गद्य |
| ११५० | सिद्धराम | वीरशैव | वचन; मिश्रस्तोत्रद त्रिविधि<br>वसवस्तोत्रद त्रिविधि; अष्टावरण त्रिविधि<br>कालज्ञान; मन्त्रगोप्य | वचन-गद्य; पद्य<br>त्रिपदी<br>वचन; पद (?) |
| ११५० | महादेवियक्क | वीरशैव | वचन; योगाङ्ग त्रिविधि<br>सृष्टियवचन<br>अक्कगलपोठिके | वचन-गद्य; त्रिपदी<br>व्याख्या-गद्य<br>(?) |
| ११६० | मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य | वीरशैव | वचन; गणसहस्रनाम; इष्टलिङ्गस्तोत्र<br>वसवगीत | वचन; गद्य; नामावलि<br>पद |
| १२०० | हरिहर | वीरशैव | गिरिजाकल्याण; पम्पाशतक; रक्षाशतक<br>मुडिगेय अष्टक, शिवगणद रगलेगलु | चम्पू; वृत्त; वृत्त<br>वृत्त; रगले |
| १२०० | केरेय पद्मरस | वीरशैव | दीक्षाबोधे | रगले-केवल पद्य |
| १२०० | नेमिचन्द्र | जैन | लीलावती, नेमिनाथपुराण | चम्पू |
| १२०० | रुद्रभट्ट | ब्राह्मण | जगन्नाथविजय | चम्पू |
| १२०० | अग्गल | जैन | चन्द्रप्रभापुराण | चम्पू |
| १२०० | पाल्कुरिके सोमनाथ | वीरशैव | शीलसम्पादने; सोमेश्वरशतक;<br>सहस्रगणनाम<br>पञ्चरत्न; सद्गुरुरगले<br>चेन्नवसवस्तोत्र; शरण-वसव-रगले | वचन-गद्य; वृत्त<br>नामावलि<br>पद्य<br>रगले-केवल पद्य |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १२०० | आचण्ण | जैन | वर्द्धमानपुराण; श्रीपदाशीति | चम्पू; कन्द-पद्य |
| १२०० | कविकाम | शैव | शृङ्गाररत्नाकर; स्तनशतक | कन्द-वृत्त |
| १२०० | बन्धुवर्म | जैन | हरिवंशाभ्युदय और जीवसम्बोधने | चम्पू और कन्द-वृत्त |
| १२२५ | राघवाङ्क | वीरशैव | हरिश्चन्द्र-काव्य; सिद्धरामपुराण<br>वीरेश्वरचरिते<br>शरभचारित्र, हरिहर-महत्त्व | षट्पदी-काव्य<br>उद्दण्ड-षट्पदी<br>(?) |
| १२२५ | देवकवि | ब्राह्मण | कुसुमावली | चम्पू |
| १२२५ | पार्श्वपण्डित | जैन | पार्श्वनाथपुराण | चम्पू |
| १२२५ | जन्न | जैन | अनन्तनाथपुराण, यशोधरचरिते | चम्पू; कन्द-वृत्त |
| १२२५ | सोमराज | वीरशैव | शृङ्गारसार ( उद्भट-काव्य ) | कन्द-वृत्त अधिक, किन्तु चम्पू |
| १२२५ | गुणवर्म—२ | जैन | पुष्पदन्तपुराण | चम्पू |
| १२२५ | कमलभव | जैन | शान्तीश्वरपुराण | चम्पू |
| १२२५ | आंढ्य | जैन | कव्विगरकाव | चम्पू |
| १२५० | मल्लिकार्जुन | जैन | सूक्तिसुधार्णव | कन्द-वृत्त |
| १२५० | महाबलकवि | जैन | नेमिनाथपुराण | चम्पू |
| १२७५ | केशिराज | जैन | शब्दमणिदर्पण | कन्द-पद्य |
| १२७५ | कुमुदेन्दु | जैन | कुमुदेन्दुरामायण | सभी प्रकार की षट्पदियाँ |
| १२७५ | नरहरितीर्थ | ब्राह्मण | कीर्त्तन ( पद ) | पद |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १३०० | रट्टकवि ( अहंदास ) | जैन | रट्टमत | कन्द-वृत्त रगले |
| १३०० | चौंढरस | ब्राह्मण | अभिनवदशकुमारचरिते<br>नलचरित्रे] | चम्पू<br>चम्पू |
| १३०० | हस्तिमल्ल | जैन | पूर्वपुराण | गद्य |
| १३५० | नागराज | जैन | पुण्यास्रव | चम्पू |
| १३५० | वृत्तविलास | जैन | धर्मपरीक्षे; शास्त्रसार | चम्पू; चम्पू |
| १३५० | मंगराज—१ | जैन | खगेन्द्रमणिदर्पण | कन्द-वृत्त |
| १४०० | भीमकवि | वीरशैव | वसवपुराण; भीमकवीश्वर-रगले | भामिनी-षट्पदी; रगले |
| १४०० | मधुर | जैन | धर्मनाथपुराण; गोम्मटस्तुतिअष्टक | चम्पू; वृत्त |
| १४०० | पद्मणांक | वीरशैव | पद्मराजपुराण | वार्द्धिक षट्पदी |
| १४०० | आम्रतवर्म | जैन | कन्नड़रत्नकरण्डक | चम्पू |
| १४०० | कुमारव्यास | ब्राह्मण | कन्नड़-भारत (प्रथम १० पर्व)<br>ऐरावत ? | भामिनी-षट्पदी<br>? |
| १४०० | देवराज | शैव (राज वंशीय) | सोबगिन सोने, अमरक | सांगत्य; परिवर्द्धिनी षट्पदी |
| १४२५ | भास्कर | जैन | जीवन्धरचरिते | भामिनी-षट्पदी |
| १४२५ | लक्कण्णदण्डेश | वीरशैव | शिवतत्त्व-चिन्तामणि | वार्द्धिक षट्पदी |
| १४३० | मग्गेय मायिदेव | वीरशैव | अनुभवसूत्र; शतकत्रय; प्रभुगीते<br>एकोत्तरशतस्थलद षट्पदि<br>मग्गेय मायिदेव-वचन; षट्स्थल गद्य | गद्य; वृत्त; पद,<br>षट्पदी<br>वचन; गद्य |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १४३० | चामरस | वीरशैव | प्रभुलिङ्गलीला | भामिनी-षट्पदी |
| १४३० | गुरुवसव | वीरशैव | शिवयोगाङ्गभूषण | परिवर्द्धिनी षट्पदी; भामिनी-षट्पदी |
| | | | सद्गुरु-रहस्य | परिवर्द्धिनी षट्पदी |
| | | | कल्याणेश्वर | भामिनी-षट्पदी |
| | | | स्वरूपामृत | भोग-षट्पदी |
| | | | वृषभगीता | पद |
| | | | अवधूतगीता | कुसुम-षट्पदी |
| | | | मनोविजयकाव्य | |
| १४३० | चन्द्रकवि | वीरशैव | विरूपाक्षा-स्थान | चम्पू |
| | | | गुरुमूर्त्तिशङ्करशतक | वृत्त |
| १४४० | कल्याणकीर्त्ति | जैन | ज्ञानचन्द्राभ्युदय | वार्द्धिक-भामिनी-परिवर्द्धिनी-षट्पदी |
| | | | कामनकथे | सांगत्य |
| | | | अनुप्रेक्षे | पद्य-अक्षरवृत्त ? |
| | | | जिनस्तुति | कन्द |
| | | | तत्त्वभेदाष्टक | वृत्त |
| १४५० | विजयण्ण | जैन | द्वादशानुप्रेक्षे | सांगत्य (कन्द-वृत्त) |
| १४५० | बोम्मरस | वीरशैव | सौन्दरपुराण | वार्द्धिक षट्पदी |
| १४७० | तोण्टदसिद्धेश्वर | विरूपाक्ष | षट्स्थलज्ञानसारामृत | वचन |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १४७५ | गुब्बिय मल्लण्ण | वीरशैव | गणभाष्यरत्नमाले<br>वातुलतन्त्रटीके | वचन<br>शास्त्र-गद्य |
| १४८० | स्वतन्त्रसिद्धलिङ्गेश्वर | वीरशैव | स्वतन्त्रसिद्धलिङ्गेश्वर-वचन | वचन |
| १४८५ | तेरकणाम्बि बोम्मरस | जैन | सनत्कुमारचरिते | भामिनी-षट्पदी |
| १५०० | चतुर्मुख बोम्मरस | वीरशैव | रेवण सिद्धेश्वरपुराण | वार्द्धिक षट्पदी |
| १५०० | कुमार वाल्मीकि | ब्राह्मण | तोरवे-रामायण<br>मैरावणन कालग | भामिनी-षट्पदी<br>" |
| १५०० | शिशुमायण | जैन | त्रिपुरदहन सांगत्य; अञ्जनाचरित्रे | सांगत्य |
| १५०० | सिंगिराज | वीरशैव | मलवसवराजचारित्र | वार्द्धिक षट्पदी |
| १५०० | श्रीपादराय | ब्राह्मण | कीर्त्तने (भक्ति के पद) | पद |
| १५०० | निजगुण शिवयोगी | वीरशैव | अनुभवसार; अरवत्तुमूवर त्रिपदि<br>कैवल्यपद्धति; परमानुभवबोधे<br>परमार्थगीते; परमार्थप्रकाशिके<br>विवेकचिन्तामणि | त्रिपदी<br>पद; सांगत्य<br>ललित रगले, गद्य<br>गद्य |
| १५०० | धरङ्गकवि | वीरशैव | त्रिषष्टिपुरातनचरित्रे | चम्पू |
| १५१० | मंगरस—२ | जैन | जयनृप-काव्य; प्रभञ्जनचरिते<br>श्रीपालचरिते, नेमिजिनेशसङ्गति<br>सम्यक्त्व-कौमुदी, सूपशास्त्र | परिवर्द्धिनी षट्पदी; सांगत्य<br>सांगत्य<br>वार्द्धिक षट्पदी |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १५१० | तिम्मण्णकवि | ब्राह्मण | कृष्णराजभारत | भामिनी-षट्पदी |
| १५२० | गुब्बिय मल्लणार्य | वीरशैव | भावचिन्तारत्न; वीरशैवामृतपुराण | वार्द्धिक षट्पदी |
| १५२५ | नंजुंड़ | वीरशैव | कुमार-रामकथा | सांगत्य और बीच-बीच में षट्पदी |
| १५२५ | व्यासराय | ब्राह्मण | कीर्त्तने (भक्ति-गीत) | पद (गीत) |
| १५३० | चाटु विट्ठलनाथ (?) | ब्राह्मण | भागवत; भारत (कुछ अंश) | भामिनी-षट्पदी |
| १५५० | अभिनववादिविद्यानन्द | जैन | काव्यसार | कन्द-वृत्त |
| १५५० | पुरन्दरदास | ब्राह्मण | कीर्त्तने (भक्ति के पद) | पद (गीत) |
| १५५० | कनकदास | गड़ेरिया या व्याध | कीर्त्तने (भक्ति-गीत) | पद (गीत) |
| | | | मोहनतरङ्गिणी | सांगत्य |
| | | | रामधान्यचरित्रे | भामिनी-षट्पदी |
| | | | नलचरित्रे | ,, |
| | | | हरिभक्तिसार | ,, |
| १५५० | साल्व | जैन | साल्वभारत; रसरत्नाकर | भा० प०; कन्द-वृत्त, वचन |
| | | | वैद्य-सांगत्य; शारदाविलास | सांगत्य (?) |
| १५५० | लक्ष्मीश | ब्राह्मण | जैमिनि-भारत | वार्द्धिक षट्पदी |
| १५६० | रत्नाकरवर्णी | जैन | भरतेशवैभव; त्रिलोकशतक; गीत | सांगत्य; कन्द; गीत |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १५७० | वादिराज | ब्राह्मण | कीर्त्तने (भक्ति-गीत)<br>वैकुण्ठवर्णने; स्वप्न-गद्य<br>लक्ष्मीशाभाने | पद (गीत)<br>सांगत्य; पद<br>पद |
| १५८५ | विरूपाक्ष पण्डित | वीरशैव | चेन्न वसवपुराण | वार्द्धिक षट्पदी |
| १६०० | भट्टाकलङ्क | जैन | शब्दानुशासन | संस्कृत-सूत्रवृत्ति |
| १६०० | गोपकवि (गोविन्द) | ब्राह्मण | नन्दिमाहात्म्य; चित्रभारत | वार्द्धिक षट्पदी |
| १६५० | गोविन्दवैद्य | ब्राह्मण | कण्ठीरवनरसराजविजय | सांगत्य |
| १६५० (?) | नागरस | ब्राह्मण | कन्नड़-भगवद्गीते | भामिनी-षट्पदी |
| १६५० | षडक्षरदेव | वीरशैव | राजशेखरविलास<br>वसवराजविजय<br>शबरशङ्करविलास<br>वीरभद्रदण्डक | चम्प<br>चम्पू<br>चम्पू<br>? |
| १६७५ | रङ्गनाथ | ब्राह्मण | अनुभवामृत | भामिनी-षट्पदी |
| १७०० | चिकदेवराज | वैष्णव | चिकदेवराज बिन्नह (?)<br>गीतगोपाल (?); भागवत<br>शेषधर्म; भारत | गद्य<br>गीत; गद्य-टीका<br>गद्य-टीका; टीका |
| १७०० | तिरुमलार्य | ब्राह्मण | अप्रतिभवीरचरित<br>चिकदेवराजविजय<br>चिकदेवराजवंशावली<br>चिकदेवराजशतक | गद्य, कन्द-वृत्त<br>चम्पू<br>गद्य<br>वृत्त |
| १७०० | चिकुपाध्याय | ब्राह्मण | दिव्यसूरिचरित्रे आदि ३० ग्रन्थ | चम्पू आदि |

| काल (प्रायः) (ईसवी-सन्) | ग्रन्थकार | मत या धर्म | ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| १७०० | सिंगरार्य | ब्राह्मण | मित्रविन्दा गोविन्द | नाटक |
| १७०० | होन्नम्म (स्त्री) | ? | हदिबदेय धर्म (पतिव्रता-धर्म) | सांगत्य |
| १७०० | सर्वज्ञ | वीरशैव | वचन | त्रिपदी |
| १७०० | निरालम्बशरण | वीरशैव | अखण्डेश्वरवचन | वचन |
| १७५० | हेलवनकट्ट गिरियम्म (स्त्री) | ब्राह्मण | चंद्रहास-कथा; सीता-कल्याण; ब्रह्मकोरवंजी; गीत | सांगत्य; पद गीत; गीत |
| १७५० | लिङ्गण | वीरशैव | केलदिनृपविजय | चम्प |
| १७५० | चिदावनन्दावधूत | ब्राह्मण | ज्ञानसिन्धु | भामिनी-षट्पदी |
| १७७५ | जगन्नाथदास | ब्राह्मण | हरिकथामृतसार, | ,, |
| | | | कीर्त्तने; तत्त्वसुव्वालि | गीत (?) |
| १८०० | देवचन्द्र | जैन | रामकथावतार | चम्पू, |
| | | | राजावली-कथा | गद्य |
| १८५० | मुम्मडि कृष्णराज ओड़ेय | नरेश | अखण्ड कावेरी-माहात्म्य आदि ५० ग्रन्थ | गद्य |
| १८५० | केम्पुनारायण | ब्राह्मण | मुद्राममञ्जूष | गद्य |
| १८५० | अलिय लिङ्गराज | नरेश | अङ्गद-सन्धान आदि ४७ ग्रन्थ | चम्पू; षट्पदी; सांगत्य आदि |
| १९०० | नन्दलिके लक्ष्मीनारणप्प ( मुद्रण ) | ब्राह्मण | रामपट्टाभिषेक | वार्द्धिक षट्पदी |
| | | | अद्भुतरामायण | गद्य |
| | | | रामाश्वमेध | गद्य |

# नैपाल में मैथिली-नाट्य-साहित्य का उद्भव और विकास

श्रीशशिनाथ झा; विद्यापति-स्मारक-समिति, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

रामपाल की मृत्यु के बाद, जब पाल-साम्राज्य बिखर रहा था, कर्णाट के परमारवंशी नान्यदेव ने मिथिला पर अनायास अधिकार जमाकर कर्णाट-साम्राज्य की नींव डाली, और शाके १०१९ में सिमरौनगढ़ (नैपाल की तराई) में अपनी राजधानी बसाई। कुछ दिन पूर्व सिमरौनगढ़ में, खुदाई करने पर, एक शिलालेख मिला था, जो इस प्रकार है—

'नन्देन्दुबिन्दुविधुसम्मितशाकवर्षे
तच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरदिने करिवैरिलग्ने
श्रीनान्यदेवनृपतिर्व्यदधीत वास्तुम्॥'[१]

मिथिला पर अधिकार करने के बाद महाराज नान्यदेव की दृष्टि नैपाल पर पड़ी, जहाँ उन दिनों गृह-कलह चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उन्होंने अवसर से लाभ उठाकर नैपाल पर चढ़ाई कर दी और नैपाल-विजय कर मिथिला के साथ उसे एक सूत्र में बाँध दिया।[२]

किन्तु, नैपाल और मिथिला का यह गठबन्धन चिरस्थायी नहीं हुआ। महाराज नान्यदेव की मृत्यु के बाद ही वह ढीला पड़ गया। कारण, नैपाल के सरदार घात लगाये बैठे थे। मौका मिलते ही उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपने को स्वतन्त्र कर लिया। इस तरह नैपाल की भूमि पुनः टुकड़ों में बँट गई। कर्णाटवंशी महाराज दिल्ली के विजयी मुसलमानों से ही अपनी रक्षा करने में व्यस्त रहे। कभी वे दिल्ली-सलतनत के साथ हो जाते और कभी अलग। इसी तरह मिथिला से दिल्ली तक की दौड़ में उनका समय बीत गया, नैपाल की ओर ध्यान देने की फुरसत उन्हें नहीं मिली। आखिर, महाराज शक्रसिंह की मृत्यु के बाद, जब उनके पुत्र नाबालिग हरिसिंहदेव गद्दी पर बैठाये गये और मिथिला का शासन-सूत्र उनके अभिभावक सप्तरत्नाकरकार मन्त्रिवर चण्डेश्वरठाकुर के हाथ में आया, तब उनकी दृष्टि नैपाल की ओर गई। वे चतुरङ्गिणी सेना के साथ अचानक नैपाल पर टूट पड़े। वहाँ के सरदार आपके आगे टिक न सके और भागकर जंगलों में जा छिपे। नैपाल पुनः कर्णाट-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। मन्त्रिवर चण्डेश्वरठाकुर निज-निर्मित 'कृत्यरत्नाकर' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में नैपाल-विजय की चर्चा इस प्रकार करते हैं—

'उन्मूल्याद्रिनितम्बमम्बरमणि कृत्वा पताकाऽवृतं
सेनाद्भूतरजोभरैरभिभृतं भित्वा महाकर्दमम्।

---

१—म० म० परमेश्वर झा, मिथिलातत्त्वविमर्श, पृ० १२४।

२—श्रीजयचन्द्र विद्यालङ्कार, बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन, पृ० २०८।

दुर्गं सत्पथमातनोद्दृढमथो निर्माय दुर्गम्पुन-
र्नैपालक्षितिपालवर्गमनयद्दुर्गं समन्ताद्दृढम् ॥'[1]

किन्तु, समय ने पलटा खाया। लखनौती (बंगाल) से लौटते हुए गयासुद्दीन तुगलक की कुदृष्टि मिथिला पर पड़ी। उसने अपनी विशाल वाहिनी को मिथिला की ओर मोड़ दिया। इस समय कर्णाट-साम्राज्य के मन्त्रि-पद पर गोविन्ददत्तठाकुर थे। उन्होंने तुगलक का सामना तो किया, पर टिक न सके। मिथिला पर विजयी मुसलमानों का अधिकार हो गया। अब महाराज हरिसिंहदेव के लिए दो ही रास्ते थे—गयासुद्दीन के आगे आत्मसमर्पण, अथवा जन्मभूमि का परित्याग। स्वतन्त्रता के पुजारी महाराज हरिसिंह-देव ने परतन्त्रता की अपेक्षा जन्मभूमि-परित्याग को ही श्रेयस्कर समझा। इस समय सिद्ध कामेश्वर ठाकुर, जो कर्णाट-साम्राज्य के वंशपरम्परागत राजपण्डित थे, सांसारिक विषयों से विरक्त होकर वर्त्तमी (बलान) नदी के किनारे, शुकवन (सुगौना)[2] में तपस्या कर रहे थे। महाराज हरिसिंहदेव ने उनसे जाकर तुगलक के आक्रमण और अपनी पराजय की सारी बातें कह सुनाईं और पूछा—'मिथिला तो यवनाक्रान्त हो गई, अब ऐसी कौन-सी भूमि है, जहाँ कलिकाल में भी सनातनधर्म बचा रहेगा और गो-ब्राह्मण की रक्षा होगी?' महाराज हरिसिंहदेव के प्रश्न से सिद्ध कामेश्वरठाकुर बड़े दुःखी हुए और बार-बार पूछने पर उत्तर की ओर हाथ उठा दिया। महाराज हरिसिंहदेव ने सिद्धजी के चरणों में मिथिला का साम्राज्य समर्पित कर दिया, और शाके १२४८ के पौष-शुक्ल, दशमी, मंगलवार को स्वयं नैपाल चले गये। महाराज हरिसिंहदेव के नेपाल-प्रयाण का निम्नलिखित श्लोक आज भी मिथिला के बड़े-बूढ़े विद्वानों के कण्ठों में विराजमान है —

'वस्वब्धिबाहुशशिसम्मितशाकवर्षे
पौषस्य शुक्लदशमीक्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा स पत्तनपुरीं हरिसिंहदेवो—
दुर्दैवदेशितपथो गिरिमाविवेश ॥'[3]

नैपाल की जनता महाराज हरिसिंहदेव को अपने बीच में पाकर कृतार्थ हो गई। उसने हृदय खोलकर उनका स्वागत किया। अब उनके नेतृत्व में, नैपाल में एक नये युग का सुप्रभात हुआ।

महाराज हरिसिंहदेव स्वयं विद्वान् थे। जिस मिथिला को छोड़कर वे आये थे, वह सदा से विद्यापीठ के रूप में समादृत थी। सारी सुख-सम्पदा के रहते भी मिथिला का विद्या-विनोद उन्हें नेपाल में नहीं मिल रहा था। इसलिए उन्होंने नैपाल को ही अपर मिथिला

---

१—म० म० परमेश्वर झा, मिथिलातत्त्वविमर्श, पृ० १२४।

२—आज भी सिद्धजी का वह पीठ वर्त्तमान है, जिसकी पूजा कुलदेवता के रूप में उनके वंशज करते हैं।—ले०

३—म० म० परमेश्वर झा, मिथिलातत्त्वविमर्श, पृ० १४३।

का रूप देना चाहा। अतएव, वहाँ मैथिल विद्वानों का आगमन और स्वागत होने लगा।

महाराज हरिसिंहदेव की मृत्यु के बाद कर्णाट-वंश की एकमात्र राजकन्या 'राजल्ल' देवी के साथ नैपाल के मल्लवंशी राजकुमार जयस्थितिमल्ल का विवाह हुआ। इस तरह कर्णाट-वंश का राज्य-मल्ल-वंश के अधिकार में आ गया। जयस्थितिमल्ल अब (१३८० ई०) नैपाल के महाराज हो गये। इस प्रकार, मल्लवंश का विजयध्वज हिमालय के प्रांगण में लहरा उठा।

महाराज जयस्थितिमल्ल बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। महाराज हरिसिंहदेव के साहचर्य से वे मिथिला-मैथिल-मैथिली के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। अतएव, उनके द्वारा प्रारब्ध कार्य को पूर्ण करने में ये जुट गये। इन्होंने सर्वप्रथम मिथिला से पाँच विद्वान् ब्राह्मण बुलाये। वे विद्वान् थे—कीर्त्तिनाथ झा, रघुनाथ झा, रमानाथ झा, भट्ट श्रीनाथमिश्र और भट्ट महीनाथमिश्र[1]। राज्य के पाँच प्रधान पदों पर इन पाँच विद्वानों को नियुक्त कर राजकाज का सारा उत्तरदायित्व इनके कन्धों पर डाल दिया। इस तरह महाराज हरिसिंहदेव द्वारा नैपाल में बोया गया मैथिली-संस्कृति का बीज अङ्कुरित-पल्लवित हो उठा।

इस समय मिथिला में ओइनिवार-राजवंश चरम उन्नति पर था। यहाँ की राजसभा मैथिल-कोकिल विद्यापति की काकली से मुखरित हो रही थी। विद्वानों, गायकों एवं नर्त्तकों के यातायात के कारण उसकी गूँज नैपाल की राजसभा तक जा पहुँची। सभासद उसकी मधुरिमा से आप्यायित हुए और वहाँ भी मधुर-मसृण साहित्य का सर्जन आरम्भ हो गया।

जब महाराज हरिसिंहदेव मिथिला की गद्दी पर विराजमान थे, तब कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वरठाकुर उनके यहाँ राजकवि के रूप में समादृत थे। उनके आश्रय में ही कविशेखराचार्य ने 'वर्णरत्नाकर', 'धूर्त्तसमागम' और 'पंचसायक' नामक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें 'धूर्त्तसमागम' प्रहसनात्मक नाटक है। महाराज हरिसिंहदेव के साथ कविशेखराचार्य के सारे ग्रन्थ भी नैपाल गये। इस तरह 'धूर्त्तसमागम' नाटक से नैपाल की राजसभा परिचित हुई थी। महाराज जयस्थितिमल्ल तो उससे इतने प्रभावित थे कि अपने विवाह के अवसर पर उन्होंने मिथिला से नाटककार 'माणिक' को बुलवाया और उस अवसर के लिए 'भैरवानन्द' नाम का संस्कृत नाटक लिखवाया, जो उन्हीं के निर्देशन में खेला भी गया। आज भी वह नाटक नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। नाट्य-साहित्य का नैपाल में इसी प्रकार श्रीगणेश हुआ।

जयस्थितिमल्ल के वंशज महाराज यक्षमल्ल ने अपना राज्य तीन भागों में विभक्त कर अपने तीनों पुत्रों में बाँट दिया। इसी समय से नैपाल में तीन राजधानियाँ हो गईं—काठमाण्डू, भातगाँव और बनेपा। यद्यपि, उपर्युक्त तीनों स्थानों में विद्वानों और कवियों का जमघट था—शास्त्र-चर्चा और साहित्य-सृष्टि होती थी, तथापि नाट्य-साहित्य के सर्जन के लिए भातगाँव की राज-सभा ही विशेष प्रसिद्ध हुई। आरम्भ से ही वहाँ के महाराज

---

१—मिथिला में मीमांसक 'भट्ट' कहलाते थे।—ले०

बड़े नाट्य-प्रेमी थे। वे स्वयं भी नाटक लिखते थे और दूसरे विद्वानों से लिखवाते भी थे। इसीलिए, वहाँ नाट्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। प्रारम्भ में इसकी भाषा संस्कृत ही रही, किन्तु मैथिल विद्वानों के अनवरत गमनागमन के कारण मैथिली की गरिमा और मधुरिमा के प्रति वहाँ की राजसभा आकृष्ट हुई और मैथिली में नाटक लिखे जाने लगे।

भातगाँव में सर्वप्रथम महाराज विश्वमल्ल के समय में 'विद्याविलाप' नाम का नाटक लिखा गया। इसकी खण्डित प्रति आज भी नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। नाटक का अन्त-भाग अनुपलब्ध है। इसलिए, लेखक के नाम का पता नहीं चलता। इसकी भाषा संस्कृत-संश्लिष्ट प्राचीन मैथिली है। उदाहरणार्थ :

'सूत्रधार—श्रीमत् श्रीभक्तपत्तननगरी सकलगुणिजनशोभित तार महिमा छन। श्रीविश्वमल्लो नृपतिः। श्रो श्रीजयविश्वमल्लदेवस्य सभा के महिमा छन। श्रीभक्तपत्तननगरे विद्याविलाप नाटक प्रवर्त्तन हल। ता देखि निमित्त हम जाब।'[1]

नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध अधिकांश मैथिली-नाटकों में राज-वर्णन और देश-वर्णन के बाद गेय पद ही उल्लिखित हैं। इससे जान पड़ता है कि उस समय नैपाल में गीति-नाट्य का ही विशेष प्रचलन था। सूत्रधार के निर्देशन में अभिनेता कथोपकथन के लिए अपेक्षित यत्किञ्चित् गद्यांश की रचना स्वयं कर लेते थे। मिथिला के कीर्त्तनियाँ नाटककारों में आज भी यही परिपाटी प्रचलित है।

विश्वमल्ल के बाद त्रैलोक्यमल्ल भातगाँव की गद्दी पर आसीन हुए। उनके समय का लिखा 'कृष्णचरित्र' नाम का एक नाटक नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में है, जिसमें जयदेव का प्रसिद्ध गीत—'श्रितकमलाकुचमण्डल धृतकुण्डल ए'—का भी समावेश कर दिया गया है। इसके मैथिली-गीतों की भणिता में 'वीरनारायण रामचन्द्र' का नाम पाया जाता है। इससे जान पड़ता है कि वीरनारायण रामचन्द्र' ही नाटककार हैं। नाटकीय भाषा और भाव, दोनों ही विद्यापति से अनुप्राणित हैं। देखिए—

'कमलनयन मोहि बिसारल सुन मधुरिका सखि।
वसन्त दारुन काल गमाओब कइसे जीवन राखि॥
दछिन पवन मेघ-सुधाकर भेल सभ किछु आगि।
चन्दन शीतल बोलि लगाओल, रेनु उड़ए देह लागि॥
वेदनि हे, हरि बिनु बड़ होए दुख।
चरण-कमल जा दिन छाड़ल, ता दिन गेल सुख॥
सकल रयनि जागि गमाओलि, न छाड़ नीर नयान।
अवस आओत हरि महागुनी 'वीरनराएन' भान॥'

त्रैलोक्यमल्ल के बाद जब जगज्ज्योतिर्मल्ल भातगाँव की गद्दी पर बैठे, तब आपकी

---

१—मिथिला में आज भी कीर्त्तनियाँ-नाटक का प्रारम्भ इसी भाषा-शैली में होता है।—ले०

छत्रच्छाया में वहाँ मैथिली-नाट्य-साहित्य का विस्तार और भी अधिक हुआ। संयोग से आपके दरबार में प्रसिद्ध मैथिल विद्वान् वंशमणि झा राजपण्डित के पद पर आसीन थे। ये जैसे विद्वान् थे, वैसे ही साहित्यमर्मज्ञ भी। दैवयोग से ही ऐसा मणि-काञ्चन-संयोग हुआ था। इनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर महाराज जगज्ज्योतिर्मल्ल ने इन्हें राजपण्डित के साथ-साथ राजगुरु भी बना दिया। इनके सत्संग से कुछ ही दिनों में जगज्ज्योतिर्मल्ल अच्छे विद्वान् और सफल नाटककार बन गये।

नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में महाराज जगज्ज्योतिर्मल्ल के बनाये तीन नाटक सुरक्षित हैं - 'मुदितकुवलयाश्व', 'हरगौरी-विवाह' और 'कुञ्जविहार।' इनमें भी राज-वर्णन और देश-वर्णन के अतिरिक्त केवल गेय पद ही संगृहीत हैं। पदों की भाषा, भाव और शैली पर विद्यापति की भाषा, भाव और शैली का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कुञ्जविहार' का निम्नलिखित पद देखिए—

'जहाँ बह जमुना-नीर, शीतल-सुखद समीर।
नवदलें तरुआर सोह, मधुकर-ध्वनि सब मोह।
ताहि बिन्दिरावन माँझ, हमर हृदय गुनें बाँझ।
तहाँ गए करिअ विलास, जहाँ पहु पुरबए आस।
नृप जगज्योतिमल्ल बानी, मोर गति एके भवानी।'

जगज्ज्योतिर्मल्ल के बाद महाराज जगत्प्रकाशमल्ल भातगाँव की गद्दी पर विराजमान हुए। ये भी सफल नाटककार थे। इन्होंने काठमाण्डू के तत्कालीन महाराज श्रीनिवासमल्ल के देवीमहोत्सव के उपलक्ष्य में 'मलयगन्धिनी' नाम का नाटक लिखा था। इसकी भाषा में अपेक्षया अधिक अर्वाचीनता है। मालूम होता है, जैसे यह प्राचीन और अर्वाचीन भाषा की सन्धि-वेला में लिखा गया हो। उदाहरणार्थ, सूत्रधार कहता है—

'श्री श्रीजयजगत्प्रकाशमल्लक आज्ञा भेल 'छ, 'मलयगन्धिनी' नाटक अभिनय करू।'

यह नाटक खण्डित है। लेकिन, जितना अंश उपलब्ध है, उतना ही नाटककार की प्रतिभा के परिचय के लिए पर्याप्त है। निम्नलिखित राजवर्णनात्मक पद अवलोकनीय है—

'चउखण्ड नरपति तोहर बखान।
त्रिभुवन महिपति सम नहि आन॥
निरमल मति तुअ गांग जलधार।
गले गजराजमोति सुन्दर हार॥
चौंसठि कलापर सरुपे काम।
शरदक शशिमुख बड़ अभिराम॥
श्रीनिवास भूपति शरण लेल।
जगत्प्रकाश महाछत्र देल॥'

राजवर्णन के बाद सूत्रधार पुनः कहता है—

'हे प्रिये ! एहेन राजा श्री श्री श्रीनिवासमल्ल । तन्हिक यशवर्णन भक्तपुरक राजा श्री श्रीजगत्प्रकाशमल्ल सतत करथि ।'

राजा जगत्प्रकाशमल्ल-कृत एक नाटक और है—'मदनचरित' । इसकी भाषा भी 'मलयगन्धिनो' की भाषा की तरह अर्वाचीन ही है । उदाहरण के लिए नीचे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

'सूत्रधार—हे प्रिये ! एतए आउ ।

'नटी—हे नाथ ! हमर प्रणाम । की आज्ञा करै छिअ ।

'सूत्रधार—हे प्रिये ! श्री श्रीजयजगत्प्रकाशमल्लदेवक ज्येष्ठ राजकुमार श्री श्रीजयजिता-मित्रदेवक आज्ञा भेल अछ·····।'

जगत्प्रकाशमल्ल के बाद जितामित्रमल्ल भातगाँव के राजा हुए । ये भी अच्छे नाटककार थे । इन्होंने दो नाटक लिखे—'अश्वमेध' और 'मदालसा-हरण' । इनमें 'अश्वमेध' का अब पता नहीं चलता । 'मदालसा-हरण' आज भी नेपाल-राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है । इसमें गेय पद के साथ ताल और स्वर का भी उल्लेख है । जान पड़ता है, राजा जितामित्रमल्ल सङ्गीत के भी अच्छे ज्ञाता थे । इस नाटक की भाषा प्रवाहपूर्ण है । प्रमाण के लिए एक पद उद्धृत है—

'विमल बहए सिर सुरसरि-धार,
नाचत मगन शशिशेखरा ।
भणति जितमित्र कह नृप ईश,
देखु सदाशिव अभयवरा ।'

एक जगह कुवलयाश्व इन्दुमती से कहता है—

'प्रिये ! सुनु इन्दुमुखि ! तेज तोहें मान ।
तोरित अधरमधु देह रतिदान ॥
तुअ सम सीमन्तिनी ने देखल आन ।
दरसने भेल मोर थकित परान ॥'

जितामित्रमल्ल के बाद भूपतीन्द्रमल्ल भातगाँव की गद्दी पर विराजमान हुए । ये नाटककार तो थे ही, साथ ही, सुकवि और सङ्गीतज्ञ भी थे । नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में 'भाषा-सङ्गीत' नाम की एक पुस्तक है, जिसमें भूपतीन्द्रमल्ल के इक्यासी पद संगृहीत हैं । सभी पदों के साथ सुर और ताल का उल्लेख है । विभिन्न प्रकार के चालीस सुरों में ये पद गुम्फित हैं । भाषा अर्वाचीन मैथिली है । उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद प्रस्तुत है—

'हे देवि, शरण राखु भवानि । ध्रु० ॥
मन वच करम करओं मान किछु,
से सबे तुअ पद जानि ।

हमें अति दीन, खीन तुअ सेवा,
राखह निज मन ठानि ॥
अभिनव मोर अपराध सम्भव,
मन अनु राखह आनि ।
आओर इतर जन जग जत से सवे,
गुण-रसमय तछ वानि ॥
तुअ पद कमल, भमर मोर मानस,
जनमे-जनमे रहु मानि ।
भूपतीन्द्र नृप इहो रस गावए,
जय गिरिजापति-रानि ॥'

राजा भूपतीन्द्रमल्ल के चार मैथिली नाटक नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित हैं—'माधवानल', 'रुक्मिणी-परिणय', 'विद्याविलाप' और 'महाभारत'। 'माधवानल' और 'विद्याविलाप' के राज-वर्णन काशीनाथ-कृत हैं तथा 'महाभारत' का राजवर्णन कृष्णदेव-कृत। गेय पदों के अन्त में भूपतीन्द्रमल्ल का नाम है। जान पड़ता है, राज-वर्णन करनेवाले दोनों विद्वान् भूपतीन्द्रमल्ल के साहित्यिक सहयोगी थे।

भूपतीन्द्रमल्ल का एक और नाटक उक्त पुस्तकालय में है; किन्तु अन्तिम अंश खण्डित रहने के कारण नाटक के नाम का पता नहीं चलता। इसकी भाषा भी अर्वाचीन मैथिली है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद पर दृक्पात कीजिए—

'तोहें प्रभु नागर, सुगुण-आगर,
रूपे मदन - समान ।
सोरह चउगुन कलाक आगर,
रसिक गुणगण जान हे ॥
नारि अलपमति, आन नाहि गति,
कामे दहत शरीर ।
जनम सफल करु आज पहु मोर,
भूपतीन्द्र भन वीर हे ॥'

भातगाँव के मल्लवंशी राजाओं में अन्तिम राजा रणजितमल्ल हुए। इन्होंने भी अपने पूर्ववर्त्ती राजाओं की तरह मैथिली-नाट्य-साहित्य की श्री-वृद्धि में योग दिया। नैपाल-राजकीय पुस्तकालय में आज भी इनके छह नाटक सुरक्षित हैं—'अन्धकासुरवधोपाख्यान', 'कौलासुरवधोपाख्यान', 'उषाहरण', 'मदनचरित्र', 'कृष्णचरित्र' और 'रामचरित्र'। भाषा, भाव और शैली के निदर्शन के लिए नीचे कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। 'अन्धकासुरवधोपाख्यान' से —

'शशिशेखरा ( रानी )—हे प्राणनाथ ! हमरो विनती सुनू।
'अन्धकासुर—प्रियतमा ! कहू।

'भीमानन्द ( मन्त्री )—हे दानवाधिप ! हमरो विनती अवधान करू
'अन्धकासुर—भीमानन्द ! कहू ।'
और 'रामचरित्र' से—

'जलधिसुता मोर प्रियतम राम ।
लए परवेस देव नटवर धाम ॥
तीनि भुवन नहि हमर समान।
भन जयरणजित नृप गुणधाम ॥'

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी-सन् की सोलहवीं से अट्ठारहवीं शती तक मैथिली का प्रचार-प्रसार मिथिला से दूर, हिमालय के क्रोड में भी, होता रहा। आज दुर्भाग्यवश, इस क्षेत्र में विरचित मैथिली-साहित्य नैपाल-राजकीय पुस्तकालय की आलमारियों में बन्द पड़ा हुआ है, और देश-देशान्तर से पहाड़ लांघकर आये अनुसन्धायकों को, कभी-कभी दर्शन दे देता है ! क्या उसके उद्धार का कोई उपाय है ?



# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में संगृहीत हिन्दी की प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण

सम्पादक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा
शोध-सहायक : श्रीरामनारायण शास्त्री : श्रीदामोदर मिश्र

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग, पोथियों के संग्रह आदि के अतिरिक्त, सन् १९५१ ई० के फरवरी मास से प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के विवरण के प्रस्तुतीकरण में संलग्न रहा है। मार्च, १९५८ ई० तक की खोज के परिणामस्वरूप विभाग में ३२७३ प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ संगृहीत हो चुकी हैं, जिनमें संस्कृत की प्रायः २५८५; हिन्दी की ५९३; बँगला और गुरुमुखी-लिपियों में क्रमशः ५ और ३ पोथियाँ हैं। इनमें से १५१ हस्तलिखित पोथियों (हिन्दी १००, संस्कृत ५१) के विवरण तथा उनके रचयिताओं के संक्षिप्त परिचय 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (प्रथम खण्ड) में प्रकाशित हो चुके हैं। दूसरे खण्ड में मन्नूलाल पुस्तकालय (गया) की १०६ और चैतन्य-पुस्तकालय (गायघाट, पटनासिटी) की २१ पोथियों के विवरण प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी की ५० हस्तलिखित पोथियों के विवरण त्रैमासिक 'साहित्य' में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं जिन्हें तीसरे खण्ड के रूप में प्रकाशित किया जायगा।

संस्कृत की संगृहीत समस्त पोथियों के विवरण भी तैयार हैं। उनमें से विशेष महत्त्वपूर्ण पोथियों के विवरण ही सम्प्रति प्रकाशित किये जायेंगे।

'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' के प्रस्तुत खण्ड में परिषद् के शोध-विभाग में संगृहीत १०२ ज्ञात ग्रन्थकारों की ३२७ हस्तलिखित हिन्दी-पोथियों के विवरण हैं। इनके अतिरिक्त अज्ञात ग्रन्थकारों की ६२ हिन्दी-पोथियों के विवरण भी हैं। इनमें ऐसे ८१ नये ग्रन्थकार हैं, जिनका उल्लेख परिषद् द्वारा पूर्व-प्रकाशित विवरणों में नहीं है। यहाँ पाद-टिप्पणियों में यथास्थान उनके सम्बन्ध में ज्ञात सूचनाएँ उद्धृत कर दी गई हैं। निम्नलिखित नवोपलब्ध सत्रह ग्रन्थकारों का सविशेष उल्लेख असमीचीन नहीं होगा—

१. **कान्हजी सहाय**—कवि घनारंग के समकालीन; शाहाबाद जिला-निवासी; अट्ठारहवीं शती में वर्त्तमान; भक्तकवि; सङ्गीत के साधक। ये कीर्त्तन करते थे और स्वरचित गीतों को गाते हुए आनन्द-विभोर हो जाते थे। इनके सम्बन्ध की सूचनाएँ घनारंगजी के वंशज श्रीसहदेव मल्लिक, धनगाईं ( सूर्यपुरा, शाहाबाद )-निवासी से प्राप्त हुई हैं।

२. **गोपालजी लाल**—कवि बच्चू मल्लिक के समकालीन; सङ्गीतज्ञ कवि; डुमराँव-महाराज के आश्रित। स्फुट रचनाएँ तथा गीत मिलते हैं।

३. **गोस्वामी गोवर्धनलाल**—गोस्वामी हितहरिवंश के वंशज; हितहरिवंश बापी-भवन ( साँवलियाजी का मन्दिर, लल्लूबाबू का कूचा, पटनासिटी ) के अधिष्ठाता; 'प्रेम-प्रभा' के रचयिता; 'कविचूडामणि' उपाधि; 'प्रेम-पुष्प' नाम की पत्रिका के सम्पादक, चौदह भाषाओं के ज्ञाता।

४. **घनारंग**—डुमराँव-महाराज महेश्वरबख्शसिंह के आश्रित; बच्चू मल्लिक के पितृव्य; धनगाईं-निवासी; उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान; कृष्णभक्त कवि; कृष्ण-रामायण और व्रज-विलास के रचयिता। कहा जाता है, ये अपनी रचनाएँ दीवार पर लिख दिया करते थे, और इनके भ्रातृज बच्चू मल्लिक उसे बाद में कागज पर लिख लेते थे। इनके रचे अनेक गीत शाहाबाद में आज भी गाये जाते हैं।

५. **जैरामदास**—शाहाबाद जिलान्तर्गत जोगिया ( कैथ के निकट ) ग्राम-निवासी; वसन पाण्डेय के पुत्र; सरयूपारीण ब्राह्मण; अट्ठारहवीं शती में वर्त्तमान; बराँव पहाड़ी पर इनका चरण-चिह्न अङ्कित है, जिसकी पूजा होती है तथा वर्ष में एक बार मेला लगता है। इनकी चौबीस रचनाएँ खोज में मिली हैं। सन्त कवि रघुनाथदास, सीतारामदास और हनुमानसरनदास इनके वंशज थे। सहसराम के श्रीराधारमण शर्मा, वकील इनके जीवित वंशज हैं। इनके दो पुत्रियाँ थीं, जो इनके रचे ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया करती थीं। इनकी रचनाओं के अन्त में निम्नोद्धृत पंक्तियाँ समान रूप से मिलती हैं—

'बैदेही दस्तखत कियो सन्मुख पवनकुमार।
जैराम की नन्दिनी भव-जल उतरो पार॥'

कहा जाता है, पकड़ी का वह वृक्ष आज भी है, जिसके नीचे बैठकर ये योग तथा

साहित्य की साधना करते थे। इनके सम्बन्ध की अनेक किंवदन्तियाँ उक्त क्षेत्र में प्रचलित हैं।

६. तुलाराम—बेतिया-राज्य के आश्रित कवि; प्रसिद्ध केशवदास के समकालीन; कहा जाता है, केशवदास से इनकी मित्रता थी। चम्पारन ज़िला ( बँगरी ग्राम )-निवासी श्रीगणेश चौबे से ज्ञात हुआ है कि जीवनान्त में ये कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गये थे, उसी समय इन्होंने सूर्यस्तुतिपरक ग्रन्थ रचे थे।

७. देवीदास—रामगढ़ के राजा दलेल सिंह के आश्रित; पदुमनदास के समकालीन; जाति के अम्बष्ठ कायस्थ; पाण्डव-चरितार्णव के रचयिता।

८. दिगम्बर दूबे—शाहाबाद जिला-निवासी; डुमराँव-महाराज राधाप्रसादसिंह के राजकवि; घनारंग तथा बच्चू मल्लिक के समकालीन; उन्नीसवीं शती के अन्त में वर्त्तमान; स्फुट गीतों के रचयिता।

९. बच्चू मल्लिक—घनारंग के भ्रातृज; डुमराँव-राज्य के आश्रित सङ्गीतज्ञ कवि; उन्नीसवीं शती के अन्त में वर्त्तमान; अपने समय के भारत-विख्यात गायक घनारंग के समकालीन; ब्राह्मण; रस-प्रकाश, भैरव-प्रकाश, स्वर-प्रकाश आदि ग्रन्थों के रचयिता; प्रकाशित कृति—कृष्ण-चरित; अनेक रचनाएँ अप्रकाशित हैं; इनके अनेक गीत सूर्यपुरा और डुमराँव के समीपस्थ क्षेत्रों में आज भी गाये जाते हैं।

१०. बेनीराम—हजारीबाग जिलान्तर्गत ईचाक-ग्राम-निवासी; रामगढ़-राज्य के आश्रित कवि; अट्ठारहवीं शती के अन्त में वर्त्तमान।

११. भिनकराम—सरभङ्ग-सम्प्रदाय के सन्त; उक्त सम्प्रदाय की एक शाखा के प्रवर्त्तक; सरभङ्ग-सम्प्रदाय पर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री-लिखित पुस्तक परिषद् से शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

१२. मधुकवि—छपरा जिलान्तर्गत पलुई-ग्राम-निवासी, लगभग सत्रह ग्रन्थों के रचयिता; जन्म १९१७ वि०; मृत्यु २००५ वि०।

१३. महादेव हलवाई—शाहाबाद जिला-निवासी; कान्हजीसहाय के शिष्य; गीतकार और गायक; डुमराँव-महाराज राधाप्रसादसिंह के आश्रित। इनके स्फुट गीत खोज में मिले हैं।

१४. मुकुट दूबे—बच्चू मल्लिक के समकालीन; डुमराँव-राज्य के आश्रित; स्फुट गीतों के रचयिता।

१५. रघुवीर नारायण—नयागाँव, सारन, के निवासी; बनैली-महाराज कीर्त्यानन्द सिंह के आश्रित; अँगरेजी, हिन्दी और भोजपुरी के प्रसिद्ध कवि; जन्म १८८४ ई०; मृत्यु १९५५ ई०। इनकी समस्त प्राप्य कृतियाँ तथा हस्तलेख बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-विभाग में संगृहीत हैं।

१६. लक्ष्मीसखी—अमनौर, सारन-निवासी; सखी-सम्प्रदाय के अनुयायी; सं० १९७० वि० में वर्त्तमान; मृत्यु १९१४ ई०।

१७. शिवकुमार शास्त्री—भभुआ, शाहाबाद-निवासी; १९७० वि० के लगभग वर्त्तमान; पद्यमय वीर अर्जुन के रचयिता; कुँवरसिंह पर संस्कृत-महाकाव्य ( अप्रकाशित ) भी इनकी रचना है, जो परिषद् में संगृहीत है।

परिषद् के द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' ( दो खण्ड ) में यथासम्भव विस्तार के साथ पोथियों के विवरण दिये गये हैं। मैंने इसके विपरीत यही उपादेय समझा है कि परिषद् के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग में संगृहीत सभी हिन्दी-पोथियों के संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भ विवरण अविलम्ब प्रस्तुत किये जायँ। इनमें जो विशेष महत्त्व के हैं, उनके पाठ सम्पादन तथा सविस्तर अध्ययन की योजना भी बनाई गई है और कार्यारम्भ हो चुका है। इसी योजना के अन्तर्गत लालचदास तथा अद्यावधि अज्ञात सूफी कवि किफायत पर विभाग में कार्य हो रहा है। पहले की कृति, हरिचरित, के सम्पादित पाठ का एक अंश और दूसरे का परिचय 'साहित्य' के प्रस्तुत अङ्क में दिये जा रहे हैं।

जिन पाण्डुलिपियों के ग्रन्थकार अज्ञात हैं अथवा खण्डित अवस्था में प्राप्त होने के कारण जो पाण्डुलिपियाँ विवरण-सापेक्ष हैं, उनके सम्बन्ध में परिषद् का हस्तलिखित ग्रन्थानुसन्धान-विभाग सूचनाओं का स्वागत करेगा।

जिन उदार विद्यानुरागियों से परिषद् को दुर्लभ पोथियाँ प्राप्त हुई हैं, उनके प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं। हमें आशा है, राज्य के साहित्यप्रेमी प्राध्यापक, शिक्षक, सरकारी पदाधिकारी, छात्र तथा अन्य कार्यों में सलग्न व्यक्ति भी, अपना कर्त्तव्य समझकर, प्राचीन पोथियों के संग्रह और सुरक्षा में परिषद् को सहायता करेंगे।

पाण्डुलिपियों के संग्रह, वर्गीकरण, विवरण-लेखन आदि कार्यों में परिषद् के विभागीय शोध-सहायक श्रीरामनारायण शास्त्री ने उत्साह, तत्परता और योग्यता का परिचय दिया है। विभाग के दूसरे शोध-सहायक श्रीदामोदर मिश्र ने परिश्रम तथा योग्यता के साथ इन कामों में हाथ बँटाया है।

०

## निर्गुण भक्ति-काव्य

१५१—गोरख गोष्ठी। ग्रन्थकार—कबीरदास। लिपिकार—×। रचनाकाल—प्रसिद्ध। लिपिकाल—×। पत्र-संख्या—१०। दशा—खण्डित। आ०—६·९" × ५·२"। लिपि—नागरी।

१५२—जंजीरा। ग्रं०—कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१९। दशा—खण्डित। आ०—६·९" × ५·२"। लिपि—नागरी।

१५३—पुण्य महातम। ग्रं०—कबीरदास। लि०—गोविन्ददास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२८४ फ० = १९३३ वि०। पत्र-सं०—२०। दशा—पूर्ण। आकार—६·१४" × ४·८"। लिपि—नागरी।

१५४—सरौंदे। ग्रं०—कबीरदास। लि०—गरभूदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९×६ वि०। पत्र-सं०—१८। दशा—पूर्ण। आकार—८·७"×६·१२"। लिपि—नागरी।

१५५—बीजक। ग्रं०—कबीरदास। लि०—गोपालदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२९१ फ० = १९४० वि०। पत्र सं०—२००। दशा—पूर्ण। आ०—६"×४"। लिपि—नागरी।

१५६—बीजक रमैनी। ग्रं०—कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र सं०—२०। दशा—पूर्ण। आ०—९·९"×४·४"। लिपि-नागरी।

१५७—साखी। ग्रं०—कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२७५ फ० = १९२४ वि०। पत्र-सं०—८३। दशा—खण्डित, जीर्ण। आ०—१०"×४.१३"। लिपि—कैथी।

१५८—पंचमुद्रा। ग्रं०—कबीरदास। लि०—गरभूदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९६६ वि०। पत्र-सं०—५७। दशा—पूर्ण। आ०—८.८"×६.१२"। लिपि—नागरी।

१५९—निर्भयज्ञान ग्रं० कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं० २६। दशा खण्डित, जीर्ण। आ०—७·५"×५"। लिपि—कैथी।

१६०—(क) अनुभवगोष्ठी, (ख) निरंजनागोष्ठी, (ग) मूलज्ञान। ग्रं०—कबीरदास। लि०—गंगाभगत। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०० वि०। पत्र-सं०—९१। दशा—पूर्ण। आ०—५·४"×३·१०"। लिपि—कैथी।

१६१—(क) कबीरगोष्ठी, (ख) जोगी समाज, (ग) सब्दबंद सागर। ग्रं०—कबीरदास। लि० गंगाभगत। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०१ वि०। पत्र-सं० १०६। दशा—पूर्ण। आ०—५·४"×३·१२"। लिपि—कैथी।

१६२—(क) ग्यान सागर, (ख) धरमदास बोध, (ग) कबीर गोरख गोष्ठी, (घ) सेख तकी के गोष्ठी। ग्रं०—कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२६१ फ० = १९१० वि०। पत्र-सं०—९१। दशा—पूर्ण। आ०—८·८"×५·४"। लिपि—कैथी।

१६३—लोकपांजी (कबीर और धर्मदास की गोष्ठी)। ग्रं०—कबीरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२३। दशा—पूर्ण। आ०—६·१२"×४·८"। लिपि नागरी।

१६४—गरभावली (गोरख और कबीर की गोष्ठी)। ग्रं०—कबीरदास। लि०—मोहनदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९३४ वि०। पत्र-सं०—४२। दशा—पूर्ण। आ०—६·१२"×४·८"। लिपि—नागरी।

१६५—कबीर के भक्तिमाल की टीका (?)। ग्रं०—कबीरदास। लि०—हरगोविन्द-

दास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१६३६ वि०। पत्र-सं०—६। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४"। लिपि—नागरी।

१६६—तीनो बानी। ग्रं०—शिवनारायण दास[1]। लि०—×। र० का०—×। पत्र-सं०—१४। दशा—पूर्ण। आ०—७·१२"×६·३"। लिपि—नागरी।

१६७—गादी विलास। ग्रं०—शिवनारायणदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४। दशा—पूर्ण। आ०—७·१२"×६·३"। लिपि—नागरी।

१६८—शब्द। ग्रं०—शिवनारायण दास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२३। दशा—पूर्ण। आ०—७·११"×६·२"। लिपि—नागरी।

१६९—संत सरन। ग्रं०—शिवनारायणदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र सं०—२। दशा—खण्डित। आ०—७·६"×६"। लिपि—नागरी।

१७०—संत सुंदर। ग्रं०—शिवनारायणदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४०। दशा—पूर्ण। आ०—७·१२"×६·३"। लिपि—नागरी।

१७१—(क) संत सरन, (ख) संत विलास, (ग) संत सुंदर। ग्रं०—शिवनारायण दास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८११ वि०। पत्र-सं०—१३४। दशा—खण्डित। आ०—८·६"×६·६"। लिपि—नागरी।

१७२—दरियासागर। ग्रं०—दरियादास। लि०—ठाकुरदास। र० का०—×। लि० का०—१९०३ वि०। पत्र-सं०—८४। दशा—खण्डित। आ०—८"×६·४"। लिपि—नागरी।

१७३—ज्ञानदीपक। ग्रं०—दरियादास। लि०—बोधिदास। र० का०—×। लि० का०—१९६९ वि०। पत्र-सं०—१५६। दशा—पूर्ण। आ०—९·८"×६·२"। लिपि—नागरी।

१७४—ज्ञानदीपक। ग्रं०—दरियादास। लि०—बलिरामदास। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१३४। दशा—पूर्ण। आ०—९·४×६"। लिपि—नागरी।

१७५—प्रेममूला—ग्रं०—दरियादास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२८। दश—खण्डित। आ०—८"×६·८"। लिपि—नागरी।

१७६—प्रेममूला—ग्रं०—दरियादास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३। दशा—खण्डित। आ०—७"×५·४"। लिपि—नागरी।

१७७—ज्ञानमूला—ग्रं०—दरियादास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३०। दशा—खण्डित। आ०—८"×६·८"। लिपि—नागरी।

---

१—शिवनारायणी मत के प्रवर्त्तक; गाजीपुर जिला-निवासी; सं० १७९२=१८११ ई० के लगभग वर्त्तमान; नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को भी इनकी रचना खोज में मिली है। दे०—खो० वि० १९०९-११, ग्रं० सं० २९४ ए०, बो० सो० डो० और ई०।

१७८—ब्रह्मविवेक—ग्रं०—दरियादास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—खण्डित। आ०—७" × ५"। लिपि—नागरी।

१७९—ब्रह्मविवेक। ग्रं०—दरियादास[1]। लि०—×। र० का० ×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३२। दशा—पूर्ण। आ०—८·११"×६·२"। लिपि—नागरी।

१८०—निरनैसार। ग्रं०—पूरनसाहब[2]। लि०—हरगोविन्ददास। र० का०—×। लि० का०—१२९४ फ० = १९४३ वि०। पत्र-सं०—५७। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४"। लिपि—नागरी।

१८१—ज्ञानगोष्ठी। ग्रं०—गोरखनाथ[3]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२। दशा—पूर्ण। आ०—११"×५·८"। लिपि—नागरी।

१८२—ज्ञानस्वरोदय। ग्रं०—चरनदास[4]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१९२४ वि०। पत्र-सं०—२१। दशा—पूर्ण। आ०—६·६" × ५·२"। लिपि—नागरी।

१८३—ज्ञानस्वरोदय। ग्रं०—चरनदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८९३ वि०। पत्र-सं०—८। दशा—पूर्ण। आ०—८"×६"। लिपि—नागरी।

१८४—कवित्त रामायण और कुण्डलिया[5]। ग्रं०—पलटूदास[6]। लि०—जगरूपदास। र० का०—×। लि० का०—१३१४ फ० = १९६३ वि०। पत्र-सं०—५९ (अन्य रचनाएँ ६१ पृष्ठों में)। दशा—खण्डित। आ०—८"×४·१२" लिपि—नागरी।

---

१—शाहाबाद (बिहार)-निवासी; जन्म—१७३१ वि०; मृत्यु १८३७ वि०; पीरनशाह के पुत्र; दरियापन्थ के प्रवर्त्तक।

२—इस नाम के दो कबीरपन्थी साधु हो चुके हैं। दोनों का रचना-काल सं० १८८५ और १८९४ वि० है। एक खेड़ाया के महन्थ थे और दूसरे नगझरिया-निवासी बुरहानपुर के महन्थ के शिष्य थे। दे०—नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) का खोज-विवरण १९०१, ग्रं० सं० ६५ और १९०६, ग्रं० सं० २०९।

३—गोरखपन्थी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक; सं० १४०७ वि० के लगभग वर्त्तमान।

४—सुखदेव के शिष्य; दहरा (अलवर, राजपूताना)-निवासी; जाति के धूसरबनिया; सं०१७६० वि० के लगभग वर्त्तमान। दे०—का० ना० प्र० सभा का हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (पहला भाग), पृ० सं० ४३।

५—इस जिल्द में कबीरदास (फगुआ), तुलसीदास (होली) के स्फुट पद तथा नवोपलब्ध कवि हरप्रसाद, दरसनराम, शंकरदास के कवित्त आदि हैं और बोधिदास का झूलना (१३ पृष्ठ तथा ६६ पद) भी है।

६—कबीर-पन्थ के अनुयायी; अयोध्या-निवासी; अट्ठारहवीं शती में वर्त्तमान।

१८५—भक्ति जैमाल । ग्रं०—शिवाराम[1] । लि०—× । र० का०—× । लि० का० —× । (सरभङ्ग-सम्प्रदाय) । पत्र-सं०—२६६ । दशा—खण्डित । आ०—१२" × ६" । लिपि-नागरी ।

१८६—भक्ति जैमाल । ग्रं०—शिवाराम । लि०—रामनाथ । र० का०— × लि० का० १८६२ वि० । (सरभङ्ग-सम्प्रदाय) । पत्र-सं०—४६४ । दशा—खण्डित । आ०—६"×६·६" । लिपि—नागरी ।

१८७—विवेकसार । ग्रं०—किनाराम[2] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१८७७—वि० । पत्र-सं०—३३ । दशा—पूर्ण । आ०—१०"×४" । लिपि—नागरी ।

१८८—विचारमाला । ग्रं०—अनाथदास[3] । लि० × । र० का०—१७०६ वि० । लि० का०—१८६६ वि० । पत्र-सं०—१२ । दशा—पूर्ण । आ०—१० १०"×५·४" । लिपि—नागरी ।

१८९—सहज प्रकाश । ग्रं०—सहजो बाई[4] ( चरनदास की शिष्या ) लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१० । दशा—खण्डित । आ०—८·८"×५·४" । लिपि—नागरी ।

१९०—सत्तनाम । ग्रं०—भिनकराम[5] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं० १८ । दशा—पूर्ण । आ०—६ ४"×५" । लिपि—कैथी ।

१९१—निरगुन । ग्रं०—गोपालजी लाल । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—३ । दशा—खण्डित । आ०—८·१०"×६·६" । लिपि—कैथी ।

१९२—सारविवेक । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१७ । दशा—खण्डित । आ०—७·१०" × ५" । लिपि—कैथी ।

१९३—भजन निर्गुन[6] । ग्रं०—× । लि०—सन्तपति साहेब । र० का०—× । लि०का०—× । पत्र-सं०—२५ । दशा—खण्डित । आ०—७·११"×६·१०" । लिपि—कैथी ।

---

१—सरभङ्ग-सम्प्रदाय के सन्त; काशी-निवासी; सं० १७८७ के लगभग वर्त्तमान ।

२—रामनगर (वाराणसी)-निवासी; रामरसाल के ग्रन्थकार; सरभङ्ग-मत के साधु । काशी के शिवाला-घाट में इनका मठ प्रसिद्ध है । गोसाईं नाम से इनके सम्बन्ध की अनेक किंवदन्तियाँ उक्त क्षेत्र में प्रचलित हैं ।

३—सं० १७२६ के लगभग वर्त्तमान; मौनीबाबा के शिष्य; 'जन अनाथ' नाम से प्रसिद्ध; नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) को भी इनकी रचना खोज में मिली है । दे०—खो० वि० १९०६-८, ग्र० सं० १२९ ए० और बी० ।

४—स्वामी चरनदास की शिष्या, सं० १८०० के लगभग वर्त्तमान; परीक्षितपुर ( दिल्ली )-निवासिनी ।

५—चम्पारन (बिहार)-निवासी; सरभङ्ग-सन्त; सरभङ्ग-सम्प्रदाय के एक विशेष शाखा के प्रवर्त्तक ।

६—कबीरदास, तुलसीदास तथा सरभङ्ग-सन्तों के स्फुट पदों का संग्रह । आधुनिक लेख ।

१९४—धर्मसंवाद। ग्रं०—×। लि०—रामचन्द्र तिवारी। र० का०—×। लि० का०—१९२६ वि०। पत्र-सं०—३१। दशा—पूर्ण। आ०—८·७" × ५·४"। लिपि—नागरी।

१९५—सिद्धान्तसार। ग्रं०—रामप्रसाद दास[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१५। दशा—खण्डित। आ०—६·७" × ५"। लिपि—नागरी।

१९६—सतगुरु के लक्षण (गद्य में)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४। दशा—पूर्ण। आ०—८·१७" × ५·८"। लिपि—नागरी।

## भक्ति-काव्य

१९७—रामचरित मानस। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—बिक्कूलाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९२२ वि०। पत्र-सं०—३२२। दशा—पूर्ण। आ०—११·१२"×९"। लिपि—नागरी।

१९८—रामचरित मानस। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—फागूलाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८८८ वि०। पत्र-सं०—४४३। दशा—पूर्ण। आ०—९·१२" × ७·१२"। लिपि—नागरी।

१९९—रामचरित मानस। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६५। दशा—पूर्ण। आ०—१२" × ९"। लिपि—नागरी।

२००—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गन्धर्वदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०५ वि०। पत्र-सं०—१९५। दशा—खण्डित। आ०—८·९" × ६"। लिपि—नागरी।

२०१—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—३६०। दशा—पूर्ण। आ०—९·२" × ६·१३"। लिपि—नागरी।

२०२—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—बंशीलाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०३ वि०। पत्र-सं०—४३९। दशा—खण्डित। आ०—१०" × ६·८"। लिपि—नागरी।

२०३—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—लक्ष्मणदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८९० वि०। पत्र-सं०—१५६। दशा—पूर्ण। आ०—११"×५·३" लिपि—नागरी।

---

१—कबीरपन्थी साधु; सं० १८८५ के लगभग वर्त्तमान; इनकी पाण्डुलिपियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की भी खोज में मिली हैं। दे०—'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग)—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा।

२०४—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरुदयाल लाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९१७ वि०। पत्र-सं०—५८। दशा—पूर्ण। आ० - १३" × ८"। लिपि—नागरी।

२०५—रामचरित मानस (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गजराज सिंह। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८७२ वि०। पत्र-सं०—३४९। दशा—पूर्ण। आ०—८·८"×६"। लिपि—नागरी।

२०६—रामचरित मानस (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। दशा—खण्डित।

२०७—रामचरित मानस (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरुदयाल गुरुजी। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९२२ वि०। पत्र-सं०—४९। दशा—खण्डित। आ०—१३"×८"। लिपि—नागरी।

२०८ रामचरित मानस (अर० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुणानन्ददास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८७८ वि०। पत्र-सं०—२१। दशा—पूर्ण। आ०—९·९"×५·८"। लिपि—नागरी।

२०९—रामचरित मानस (अर० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२१। दशा—खण्डित। आ०—१०"× ५·५"। लिपि नागरी।

२१०—रामचरित मानस (अर० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६। दशा—खण्डित। आ०—११·१०"× ६·८"। लिपि—नागरी।

२११—रामचरित मानस (कि० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१७। दशा—पूर्ण। आ०—९"×५"। लिपि—नागरी।

२१२—रामचरित मानस (लं० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—७५। दशा—खण्डित। आ०—११·८ × ६·८"। लिपि—नागरी।

२१३—रामचरित मानस (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२३। दशा—खण्डित। आ०—९·१०"×४·८"। लिपि—नागरी।

२१४—रामचरित मानस (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—६४। दशा—खण्डित। आ०—१०"×५" लिपि—नागरी।

२१५—रामचरित मानस (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—

प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—८६। दशा—खण्डित। आ०—८"×५·८"। लिपि—नागरी।

२१६—रामचरित मानस (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का—×। पत्र-सं०—४८। दशा—खण्डित। आ०—११·१२"×४·१०"। लिपि—नागरी।

२१७—रामचरित मानस (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—किशुनदयाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८९३ वि०। पत्र-सं०—७९। दशा—खण्डित आ०—९·८"×६·५"। लिपि—कैथी।

२१८—रामचरित मानस (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—६२। दशा—खण्डित। आ०—९·१०"×४"। लिपि—नागरी।

२१९—रामचरित मानस (बा० अ० लं० उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—सम्मोदराम (?)। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का—१८८१ वि०। पत्र-सं—४६५। दशा—पूर्ण। आ०—९"×६"। लिपि—नागरी।

२२०—रामचरित मानस (अ० कि० सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२३। दशा—खण्डित। आ०—१२"×९"। लिपि—नागरी।

२२१—रामचरित मानस (बा० अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८६९ वि०। पत्र-सं०—२००। दशा—खण्डित। आ०—१२"×८·१४" लिपि—नागरी।

२२२—रामचरित मानस (बा० अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—किशुनदयाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०१ वि०। पत्र-सं०—१९८। दशा—पूर्ण। आ०—९"×६"। लिपि—कैथी।

२२३—रामचरित मानस (अयो० उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—बलदेव दूबे। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९१७ वि०। पत्र-सं०—२१८। दशा—खण्डित। आ०—१० ४"×७·८"। लिपि-नागरी।

२२४—रामचरित मानस (कि० सु० अ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—महाराजसिंह। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०४ वि०। पत्र-सं०—८०। दशा—पूर्ण। आ०—११"×६·८"। लिपि—नागरी।

२२५—रामचरित मानस (सु० लं० उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—जैनन्द-सिंह। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९४१ वि०। पत्र-सं०—२१५। दशा—पूर्ण। आ०—१२"×८·८"। लिपि—नागरी।

२२६—रामचरित मानस (अयो० अर० लं० सु० उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१३३। दशा—खण्डित। आ०—१२·८"×१०·१२"। लिपि—नागरी।

२२७—रामचरित मानस। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र सं०—१०८। दशा—खण्डित। आ०—९·१०"×६·३"। लिपि—नागरी।

२२८—रामायण। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—रघुवीरदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९११ वि०। पत्र-सं०—४०८। दशा—पूर्ण। आ०—१४"×७·२"। लिपि—नागरी।

२२९—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१६। दशा—खण्डित। आ०—११·१२"×५·१२"। लिपि—नागरी।

२३०—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५१ वि०। पत्र-सं०—६६। दशा—खण्डित। आ०—१२"×७·८"। लिपि—नागरी।

२३१—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१३८। दशा—खण्डित। आ०—१०·१४"×९"। लिपि—नागरी।

२३२—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—धुरन्धरसिंह। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८४४ वि०। पत्र-सं०—११९। दशा—पूर्ण। आ०—१०"×८"। लिपि—नागरी।

२३३—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६। दशा—खण्डित। आ०—१०"×७"। लिपि—नागरी।

२३४—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८८१ वि०। पत्र-सं०—३१। दशा—खण्डित। आ०—१२"×६"। लिपि—नागरी।

२३५—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—शालिग्राम पाण्डेय। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८९२ वि०। पत्र-सं०—२४२। दशा—पूर्ण। आकार—९·१२"×५·१०"। लिपि—नागरी।

२३६ रामायण (बा० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—४९६। दशा—पूर्ण। आ०—१०·८"×६·११"। लिपि—नागरी।

२३७—रामायण (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५५ वि०। पत्र-सं०—४७। दशा—खण्डित। आ०—१२"×५·८"। लिपि—नागरी।

२३८—रामायण (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध।

लि० का०—१९९० वि०। पत्र-सं—१०१। दशा—पूर्ण। आ०—१२॰४"×६'८"। लिपि नागरी।

२३९—रामायण (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—७४। दशा—खण्डित। आ०—११·४"×५.२"। लिपि—नागरी।

२४०—रामायण (अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—राघोदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५९ वि०। पत्र-सं०—८०। दशा—पूर्ण। आ०—१०"×६"। लिपि—नागरी।

२४१—रामायण (अर० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—आत्माराम। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९२१ वि०। पत्र-सं०—१२। दशा—पूर्ण। आ०—१३"×८·४"। लिपि—नागरी।

२४२—रामायण (अर० का०) ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—३५। दशा—खण्डित। आ०—८'८"×४·१०"। लिपि—नागरी।

२४३—रामायण (अर० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—खण्डित। आ०—१२"×५·१२"। लिपि—नागरी।

२४४—रामायण (कि० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरुदयाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—७। दशा—पूर्ण। आ०—१३"×८·४"। लिपि—नागरी।

२४५—रामायण (लं० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—९। दशा—खण्डित। आ०—९'४"×६"। लिपि—नागरी।

२४६—रामायण (लं० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—४५। दशा—खण्डित। आ०—१३"×५"। लिपि—नागरी।

२४७—रामायण (लं० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१७। दशा—खण्डित। आ०—१२"×६'४"। लिपि—नागरी।

२४८—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरुदयाल लाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९२१ वि०। पत्र-सं०—१९। दशा—पूर्ण। आ०—१३"×८"। लिपि—नागरी।

२४९—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—राघोदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१६। दशा—खण्डित। आ०—१२·४"×६·२"। लिपि—नागरी।

२५०—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—लोकनाथ। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०० वि०। पत्र-संख्या—४३। दशा—खण्डित। आ०—१०·८"×६·१०"। लिपि—नागरी।

२५१—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२४। दशा—खण्डित। आ०—१०"×६·१४"। लिपि—नागरी।

२५२—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२८। दशा—खण्डित। आकार—९·११"×७·२"। लिपि—नागरी।

२५३—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१९०५ वि०। पत्र-सं०—५०। दशा—पूर्ण। आ०—७·११"×६"। लिपि—नागरी।

२५४—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—४६। दशा—खण्डित। आ०—८·१४"×६"। लिपि—नागरी।

२५५—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरुदयाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९२२ वि०। पत्र-सं०—२७। दशा—पूर्ण। आ०—१२"×८"। लिपि—नागरी।

२५६—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१०। दशा—खण्डित। आ०—९·८"×४·१२"। लिपि—नागरी।

२५७—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१४। दशा—खण्डित। आ०—१२"×६·४"। लिपि—नागरी।

२५८—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—७। दशा—खण्डित। आ०—९·१२"×४·५"। लिपि—नागरी।

२५९—रामायण (बा० अयो० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—गुरभारी पाण्डे। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०५ वि०। पत्र-सं०—२५७। दशा—खण्डित। आ०—१३·४"×१०"। लिपि—नागरी।

२६०—रामायण (अयो० अर० कि० सु० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—ठाकुरप्रसाद। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८८५ वि०। पत्र-सं०—३०५। दशा—पूर्ण। आ०—८·१२"×६·८"। लिपि—नागरी।

२६१—रामायण (लं० उ० का०)। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध।

लि० का०—× । पत्र-सं०—२०४ । दशा—खण्डित । आ०—१२" × ६" । लिपि—नागरी ।

२६२—रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—२३ । दशा—खण्डित । आ०—६·३×६·२" । लिपि—कैथी ।

२६३—रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—[illegible] का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—४८७ । दशा—खण्डित । आ०—६·८" × ६·३" । लिपि—नागरी ।

२६४—विनयपत्रिका (विनयपत्रिका-[illegible] नामक टीका-सहित) । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—२२८ । दशा—खण्डित । आ०—१०·३" × ८·१२" । लिपि—नागरी ।

२६५—विनयपत्रिका । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—तिलकदास । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१८६६ वि० । पत्र-सं०—१[illegible]७ । दशा—पूर्ण । आ०—८·१२"×६" । लिपि—नागरी ।

२६६—विनयपत्रिका । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—२४७ । दशा—खण्डित । आ०—१०·१०" × ८·८" । लिपि—नागरी ।

२६७—विनयपत्रिका । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१०० । दशा—खण्डित, जीर्ण । आ०—१०·१०" × ५" । लिपि—नागरी ।

२६८—हनुमान बाहुक । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१२७५ फ० = १६२४ वि० । पत्र-सं०—१० । दशा—पूर्ण । आ०—८·६" × ५·१४" । लिपि—नागरी ।

२६९—हनुमान बाहुक । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का—× । पत्र-सं०—१ । दशा—खण्डित । आ०—७·१२" × ३·१०" । लिपि—नागरी ।

२७०—हनुमान बाहुक । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१० । दशा—पूर्ण । आ०—११" × ५·१२" । लिपि—नागरी ।

२७१—छप्पै रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—शिवशरणलाल । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१६३४ वि० । पत्र-सं०—५७ । दशा—पूर्ण । आ०—८·६" × ५·४" । लिपि—नागरी ।

२७२—छप्पै रामायण[1] । ग्रं०—तुलसीदास । लि० × । र० का०—प्रसिद्ध । लि०

---

१—इस जिल्द में (१) राधाकृष्ण-स्तवन (भगवानदास), (२) भजन (जगनराम), (३) सनेहलीला, (४) रामनाम महातम और गोदलीला नामक ग्रन्थ भी हैं ।

का०—१६३५ वि० । पत्र-सं०—१४ । दशा—खण्डित, जीर्ण । आ०—५·१" × ४·१" । लिपि—नागरी ।

२७३—छप्पै रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—शिवशरणलाल खत्री । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१६४४ वि० । पत्र-सं०—१४ । दशा—पूर्ण । आ०—८·७"×५·७" । लिपि—नागरी ।

२७४—छप्पै रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—२६ । दशा—पूर्ण । आ०—६·७"×४·४" । लिपि—नागरी ।

२७५—गीतावली । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१४ । दशा—खण्डित । आ०—८" × ५·८" । लिपि—नागरी ।

२७६—गीतावली । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—गोविन्ददास । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१६०५ वि० । पत्र-सं०—६६ । दशा—पूर्ण । आ०—११"×४·८" । लिपि—नागरी ।

२७७—कवित्त रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—हीरामणि मिश्र । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१८६६ वि० । पत्र-सं०—४६ । दशा—पूर्ण । आ०—११·१२" × ४" । लिपि—नागरी ।

२७८—कवित्त रामायण । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—शालिग्राम पाण्डेय । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१६०८ वि० । पत्र-सं०—५२ । दशा—खण्डित । आ०—१०·८"×४·१२" । लिपि—नागरी ।

२७६—रामगीतावली । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१८७६ वि० । पत्र-सं०—६६ । दशा—खण्डित । आ०—६·४" × ६" । लिपि—नागरी ।

२८०—रामलला नहछू । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—लाला जगन्नाथसिंह । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१८५७ ई० । पत्र-सं०—५ । दशा—पूर्ण । आ०—७·८"×५·१२" । लिपि—नागरी ।

२८१—कृष्णगीतावली । ग्रं०—तुलसीदास । लि० का०—× । र० का०—प्रसिद्ध । पत्र-सं०—११ । दशा—खण्डित । आ०—१२·६"×६·४" । लिपि—नागरी ।

२८२—कवितावली । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । दशा—खण्डित ।

२८३—तुलसी सतसई । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—चेतनराम । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१६०६ वि० । पत्र-सं०—२८ । दशा—पूर्ण । आ०—६·६"×७·१०" । लिपि—नागरी ।

२८४—वैराग्यसंदीपनी । ग्रं०—तुलसीदास । लि०—हरिदास । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—५ । दशा—पूर्ण । आ०—१०·११" × ५·१२" । लिपि—नागरी ।

२८५—वैराग्यसंदीपनी। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—६। दशा—पूर्ण। आ०—८·१०"×४·८"। लिपि—नागरी।

२८६—भरथविलाप। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—शीतलदास। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९११ वि०। पत्र-सं०—१०। दशा—पूर्ण। आ०—९·४"×६·१२"। लिपि—नागरी।

२८७—भरथविलाप। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—लाला जगन्नाथसिंह। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५७ ई०। पत्र-सं०—२४। दशा—पूर्ण। आ०—७·८"×५·१२"। लिपि—नागरी।

२८८—भरथविलाप। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—कनिकलाल। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२७५ फ० = १९२४ वि०। पत्र-सं०—२७। दशा—पूर्ण। आ०—७·४"×६"। लिपि—नागरी।

२८९—रामसतसई। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८८२ वि०। पत्र-सं०—१०५। दशा—खण्डित। आ०—६·४"×४·८"। लिपि—नागरी।

२९०—मीनगीता। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—पूर्ण। आ०—१२·८"×५·२"। लिपि—नागरी।

२९१—दोहावली। ग्रं०—तुलसीदास। लि०—×। र० का—प्रसिद्ध। लि० का०—१९९६ वि०। पत्र-सं०—३६। दशा—पूर्ण। आ०—१२·४"×४·८"। लिपि—नागरी।

२९२—बिसाती लीला। ग्रं०—प्रेमदास[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१९३५ वि०। पत्र-सं०—१५। दशा—पूर्ण। आ०—५"×४·२"। लिपि—नागरी।

२९३—जैमिनी पुराण। ग्रं०—प्रेमदास[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१८०। दशा—खण्डित। आ०—१०"×६·४"। लिपि—नागरी।

२९४—जैमिनी पुराण। ग्रं०—प्रेमदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×।

---

१—स्वामी रामानुज के अनुयायी; प्रेम-परिचय, भगवत बिहार-लीला और बिसातिन लीला के ग्रन्थकार; अजयगढ़-निवासी; सं० १८२७ के लगभग वर्त्तमान; श्रीकृष्णलीला के लेखक प्रेमदास से भिन्न; इनकी पाण्डुलिपियाँ नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) की भी खोज में मिली हैं।—दे० खो० वि० १९०९-११, ग्रं०—२२९ ए०, बी० और सी०।

२—बलिया-निवासी; हाजीपुर (बिहार)-निवासी धरणीधर पंडित के यहाँ आश्रित। दे० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण'।

पत्र-सं०—१६३ । दशा—खण्डित, जीर्ण । आ०—६·१२" × १०·४" । लिपि—नागरी ।

२९५—शैवानन्द । ग्रं०—दर्शन शर्मा[1] । लि०—× । र० का०—१३०५ फ० = १९५४ वि० । लि० का०—× । पत्र-सं—६९ । दशा—पूर्ण । आ०—८·१२"×५·४" । लिपि—नागरी ।

२९६—प्रबोध पचासा । ग्रं०—दर्शन शर्मा । लि०—× । र० का०—१९५७ वि० । लि० का०—× । पत्र-सं०—३१ । दशा—पूर्ण । आ०—८·४" × ५" । लिपि—नागरी ।

२९७—सिद्धान्तसार पोथी । ग्रं०—रामप्रसाद । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१९ । दशा—पूर्ण । आ०—१०"×४·७" । लिपि—नागरी ।

२९८—भक्तमाल । ग्रं०—प्रियादास[2] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१९०८ वि० । पत्र-सं०—४ । दशा—पूर्ण । आ०—१३"×६·१२" । लिपि—नागरी ।

२९९—भक्तमाल की टीका । टीकाकार—रायनदास[3] । लि०—राघोदास । र० का०—× । लि० का०—१८६२ वि० । पत्र-सं०—३ । दशा—खण्डित । आ०—१८"×६" । लिपि—नागरी ।

३००—रास पंचावली (संगीत) । ग्रं०—घनारंग[4] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१५ । दशा—पूर्ण । आ०—९·८"×५·१२" । लिपि—कैथी ।

३०१—घनारंग के गीत (संगीत) । ग्रं०—घनारंग । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१८ । दशा—पूर्ण । आ०—११" × ९" । लिपि—नागरी ।

३०२—कृष्ण रामायण (संगीत) । ग्रं०—घनारंग । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—५६९ । दशा—खण्डित । आ०—८·४"×५" । लिपि—नागरी ।

---

१—नवोपलब्ध कवि; उन्नीसवीं शती में वर्त्तमान; काशी के दर्शनलाल से भिन्न ।

२—प्रसिद्ध नाभादास के शिष्य; सं० १७६७ के लगभग वर्त्तमान; रसजनिदास के गुरु और वैष्णवदास के पिता । दे० खो० वि० (का० ना० प्र० स०) १९०९—११, ग्रं० सं० ३२४ ।

३—नवोपलब्ध ग्रन्थकार; इनके सम्बन्ध की सूचना प्राप्त नहीं हुई है ।

४—शाहाबाद (बिहार) जिले के धनगाईं ग्राम-निवासी; डुमराँव-राज्य के आश्रित कवि और सङ्गीतज्ञ; अट्ठारहवीं शती में वर्त्तमान । इनके सम्बन्ध की अनेक किंवदन्तियाँ उक्त क्षेत्र में प्रचलित हैं ।

३०३—भजन संग्रह (स्फुट)। ग्रं०—घनारंग। लि०—सहदेव दूबे। र० का०—×। लि० का०—१६५४ ई०। पत्र-सं०—१७। दशा—खण्डित। आ०—८·४" × ६·८"। लिपि—नागरी।

३०४—सुन्दर विलास। ग्रं०—सुन्दरदास[1]। लि०—सर्वानन्द। र० का०—×। लि० का०—१८८१ फ० = १६३० वि०। पत्र-सं०—१३। दशा—खण्डित। आ०—६·४" × ३·१०"। लिपि—नागरी।

३०५—ज्ञानसमुद्र। ग्रं०—सुन्दरदास[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३५। दशा—पूर्ण। आ०—८·१२" × ५"। लिपि—नागरी।

३०६—रज्जब की बानी। ग्रं०—रज्जब[3]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१०। दशा—खण्डित। आ०—६·४" × ४·६"। लिपि—नागरी।

३०७—सूरसागर। ग्रं०—सूरदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१००। दशा—खण्डित। आ०—७·१२" × ६"। लिपि—नागरी।

३०८—सूरसागर। ग्रं०—सूरदास। लि०—दौलतराम। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—३७८। दशा—खण्डित। आ०—१२·४"×६·८"। लिपि—नागरी।

३०९—भक्तमाल (सटीक)। ग्रं०—नाभादास[4]। टीका—नारायणदास। लि०—हरिभक्तदास। र० का०—१७९६ वि०। लि० का०—१७९६ वि०। पत्र-सं०—५८। दशा—खण्डित। आ०—८.४" × ४"। लिपि—नागरी।

---

१—दादूपन्थी सन्त; सं० १७४६ वि० के लगभग वर्त्तमान; जयपुर-निवासी; खण्डेलवाल वैश्य; शाहपूरनानन्द के पुत्र। नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को इनकी लगभग बाईस रचनाएँ खोज में मिली हैं।

२—धौसा (जयपुर-राज्य)-निवासी; दादूजी के शिष्य; सं० १७४६ वि० के लगभग वर्त्तमान।

३—फारसी और हिन्दी के कवि; खोज में नवोपलब्ध; दोहों के सुप्रसिद्ध रचयिता के रूप में 'शृङ्गार-संग्रह' में इनकी चर्चा हुई है। इनका जन्म-सं० १६२४ और मृत्यु-सं० १७४६ है। दे० 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' (मूल लेखक डा० ग्रियर्सन)—श्रीकिशोरीलाल गुप्त (अनुवादक), पृ० ३२०, कवि-सं० ८९८; 'शिवसिंह-सरोज' की कवि-सं० ७७७।

४—अग्रदास के शिष्य; प्रियादास के गुरु; सं० १६५७ वि० के लगभग वर्त्तमान; ध्रुवदास के समकालीन। 'रामचरित्र के पद' नामक एक और इनकी रचना काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को खोज में मिली है।

३१०—गोविन्दलीलामृत । ग्रं०—दलेलसिंह[1] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२६५ । दशा—खण्डित । आ०—१०"×७·१२" । लिपि—नागरी ।

३११—सिवसागर । ग्रं०—दलेलसिंह । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२६८ । दशा—पूर्ण । आ०—१२"×६·४" । लिपि—नागरी ।

३१२—रामजनम[2] । ग्रं०—सूरजदास[3] । लि०—सामलाल राम । र० का०—× । लि० का०—१६०२ वि० । पत्र-सं०—१२० । दशा—पूर्ण । आ०—७·८"×५·६" । लिपि—नागरी ।

३१३—रामजनम । ग्रं०—सूरजदास । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—५७ । दशा—खण्डित । आ०—७·१२"×५·८" । लिपि—नागरी ।

३१४—रामजनम । ग्रं०—सूरजदास । लि०—कनिकलाल । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—७३ । दशा—पूर्ण । आ०—७"×६" । लिपि—नागरी ।

३१५—रामजनम । ग्रं०—सूरजदास । लि०—शीतलदास । र० का०—× । लि० का०—१६१० वि० । पत्र-सं०—२६ । दशा—खण्डित । आ०—६·४"×६·१०" । लिपि—नागरी ।

३१६—रामजनम । ग्रं०—सूरजदास । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—४७ । दशा—खण्डित । आ०—८·४"×६·८" । लिपि—नागरी ।

३१७—रामजनम । ग्रं०—सूरजदास । लि०—लाला जगन्नाथसिंह । र० का०—× । लि० का०—१८५७ ई० । पत्र-सं०—३५ । दशा—पूर्ण । आ०—७·८"×५·१४" । लिपि—नागरी ।

३१८—अर्जुनगीता । ग्रं०—कुशलसिंह[4] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—६३ । दशा—खण्डित । आ०—६"×५" । लिपि—नागरी ।

३१९—अर्जुनगीता । ग्रं०—कुशलसिंह । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२६ । दशा—खण्डित । आ०—८·१०"×५·४" । लिपि—कैथी ।

---

१—रामगढ़-(बिहार) राज्य के राजा; पदुमनदास और देवीदास आदि अनेक कवियों के आश्रयदाता; सत्रहवीं शती में वर्त्तमान ।

२—इसी जिल्द में—(१) सीतापताल ( ईश्वरदास-दसरदास ), (२) रामायण-लङ्काकाण्ड (तुलसीदास), (३) भरथविलास (तुलसीदास), (४) गोपालगारी, (५) दानलीला, (६) भरथचरित्र और (७) नागलीला भी हैं ।

३—सूरदास बिहार के कवि हो चुके हैं । रचनाकाल अज्ञात है । इनके सम्बन्ध में अनुसन्धान हो रहा है ।

४—सं० १६७७ वि० के लगभग वर्त्तमान; फकुँद के राजा मधुकरशाह के पुत्र और कवि देवदत्त के आश्रयदाता कुशलसिंह से भिन्न ।

३२०—अर्जुनगीता। ग्रं०—कुशलसिंह। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२७। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·४"। लिपि—नागरी।

३२१—रामरतन गीता। ग्रं०—कुशलसिंह। लि०—पदारथदास। र० का०—×। लि० का०—१९०४ वि०। पत्र-सं०—४४। दशा—खण्डित। आ०—७·१२"×६"। लिपि—नागरी।

३२२—अर्जुनगीता। ग्रं०—कुशलसिंह। लि०—शीतलदास। र० का०—×। लि० का०—१२६७ फ० = १९१६ वि०। पत्र-सं०—३९। दशा—पूर्ण। आ०—९·४"×६·१०"। लिपि—नागरी।

३२३—अद्भुत रामायण। ग्रं०—बेनीराम[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—९। दशा—खण्डित। आ०—१२"×५·८"। लिपि—नागरी।

३२४—दुर्गास्तव। ग्रं०—बेनीराम। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६। दशा—खण्डित। आ०—९·४"×६·४"। लिपि—नागरी।

३२५—सीतासौरभमंजरी। ग्रं०—बेनीराम। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—८। दशा—खण्डित। आ०—१२·८"×४·१०"। लिपि—नागरी।

३२६—सीतासौरभमंजरी। ग्रं०—बेनीराम। लि०—त्रिभुवनदास। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—८८। दशा—पूर्ण। आ०—१२·१२"×७·४"। लिपि—नागरी।

३२७—सीतासौरभमंजरी। ग्रं०—बेनीराम। लि०—शुकदेव शर्मा। र० का०—×। लि० का०—१९७४ वि०। पत्र-सं०—१४८। दशा—पूर्ण। आ०—११"×६"। लिपि—नागरी।

३२८—कालीमंगलमंजरी। ग्रं०—बेनीराम। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२५। दशा—खण्डित। आ०—११·८"×५·८"। लिपि—नागरी।

३२९—भजनावली। ग्रं०—लक्ष्मीपति[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—९६। दशा—खण्डित। आ०—११"×८·८"। लिपि—कैथी।

३३०—भजन संग्रह। ग्रं०—लक्ष्मीपति (?)। लि०—×। र० का०—×।

---

१—ईचाक (हजारीबाग, बिहार)-निवासी; अट्ठारहवीं शती के अन्त में वर्त्तमान।

२—सं० १८८३ वि० के लगभग वर्त्तमान; जोधपुर-निवासी; रागविलास और भजन-विलास नामक दो अन्य रचनाओं के ग्रन्थकार; इनकी रचनाएँ ना० प्र० स० (काशी) की भी खोज में मिली हैं। दे०—खो० वि० १९०२, ग्रं० सं०-२१, २३ और खो०-वि० १९२६—२८, ग्रं० सं०-२५७ तथा पु० सं०-५८।

लि० का०—×। पत्र-सं०—२४०। दशा—खण्डित, जीर्ण। आ०—१२"×६"। लिपि—नागरी।

३३१—सुदामाचरित। ग्रं०—हलधरदास[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं० ४२। दशा—खण्डित। आ०—६·१२"×७"। लिपि—नागरी।

३३२—सुदामाचरित। ग्रं०—हलधरदास। लि०—हीरामणि मिश्र। र० का०—×। लि० का०—१७४६ शकाब्द। पत्र-सं०—४४। दशा—पूर्ण। आ०—१२·४"×४·१२"। लिपि—नागरी।

३३३—सुदामाचरित। ग्रं०—हलधरदास। लि०—मंगलमहाराज। र० का०—×। लि० का०—१८६७ वि०। पत्र-सं०—७२। दशा—पूर्ण। आ०—६.६"×५·८"। लिपि—नागरी।

३३४—हरिचरित्र। ग्रं०—लालचदास[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३७०। दशा—खण्डित। आ०—६"×६"। लिपि—नागरी।

३३५—हरिचरित्र। ग्रं०—लालचदास। लि०—दामोदरमिश्र। र० का०—×। लि०—२०१० वि०। पत्र-सं०—४६८। दशा—खण्डित। आ०—१३"×८·६"। लिपि—नागरी।

३३६—हरिचरित्र। ग्रं०—लालचदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—७०। दशा—खण्डित। आ०—५·८"×४·२"। लिपि—नागरी।

३३७—हरिचरित्र। ग्रं०—लालचदास। लि०—कतोहलदास (?)। र० का०—×। लि० का०—१८७६ वि०। पत्र-सं०—१७५। दशा—खण्डित। आ०—११"×६"। लिपि—नागरी।

३३८—भागवत भाषा। ग्रं०—लालचदास। लि०—दामोदरमिश्र। र० का०—१५८५ वि०। लि० का०—२०१० वि०। पत्र-सं०—१७५। दशा—पूर्ण। आ०—१३"×८·६"। लिपि नागरी।

३३९—भागवत। ग्रं०—लालचदास। लि०—×। र० का० ×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१६। दशा—खण्डित। आ०—६·४"×६"। लिपि—नागरी।

३४०—सौंझी। ग्रं०—गो० हितहरिवंश[3]। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध।

---

१—मुजफ्फरपुर (बिहार)-निवासी; १९वीं शती के आरम्भ में वर्त्तमान। कवि पर अभी अनुसन्धान नहीं हुआ है।

२—बरेली-निवासी; सं० १५२७ वि० के लगभग वर्त्तमान।

३—वृन्दावन-निवासी; सं० १५८०—१६२४ वि० तक के लगभग वर्त्तमान। वैष्णवों के राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक। दे०—'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (का० ना० प्र० सभा), प्रथम भाग।

लि० का०—× । पत्र-सं०—३६६ । दशा—खण्डित । आ०—१०" × ७" । लिपि—नागरी ।

३४१—बधाई । ग्रं०—हितहरिवंश । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१४० । दशा—पूर्ण । आ०—६·८" × ५·२" । लिपि—नागरी ।

३४२—चौरासी पद ( सेवक बानी ) । ग्रं०—हितहरिवंश । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१८५७ वि० । पत्र-सं०—१५१ । दशा—खण्डित । आ०—५·७"×३·१०" । लिपि—नागरी ।

३४३—चौरासी पद । ग्रं०—हितहरिवंश । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१२८ । दशा—खण्डित । आ०—६·८"×३·४" । लिपि—नागरी ।

३४४—सेवक बानी ( सटीक ) । ग्रं०—हितहरिवंश । टीका—हरलाल गोस्वामी । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—१९२० वि० । पत्र-सं०—३४८ । दशा—पूर्ण । आ०—१०·२"×६·१४" । लिपि—नागरी ।

३४५—चौरासी वार्त्ता । ग्रं०—हितहरिवंश । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१७९ । दशा—पूर्ण । आ०—९·८"×६" । लिपि—नागरी ।

३४६—दानलीला । ग्रं०—कृष्णदास[1] । लि०—कनिकलाल । र० का०—× । लि० का०—१२७५ फ० = १९२४ वि० । पत्र-सं०—९ । दशा—पूर्ण । आ०—७ ३"×६" । लिपि—नागरी ।

३४७—दानलीला । ग्रं०—कृष्णदास । लि०—लाला जगन्नाथसिंह । र० का०—× । लि० का०—१८५७ ई० । पत्र-सं०—३ । दशा—पूर्ण । आ०—७·८"×५·१४" । लिपि—नागरी ।

३४८—दानलीला । ग्रं०—कृष्णदास । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—६ । दशा—पूर्ण । आ०—९·५" × ४·३" । लिपि—नागरी ।

---

१—अष्टछाप के कवि; 'पयाहरी' उपनाम से प्रसिद्ध; अग्रदास के गुरु; सं० १६०७ के लगभग वर्त्तमान; ना० प्र० स० (काशी) की खोज में उपलब्ध कवि । दे० खो० वि० १९०६-८, ग्रं० सं० १२१, १२८ और खो० वि० १९०९—११, ग्रं० सं० ८१ और १०३ तथा खो० वि० १९१६—२८, ग्रं० सं० २४७, पृ० ५६ । मिश्रबन्धु ने इनका रचनाकाल १५७० के लगभग माना है । दे० मिश्रबन्धु-विनोद ( पंचम संस्करण, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, २००३ वि० ) पृ० १९५, कवि-सं० १२७ । ग्रियर्सन के अनुसार इनका रचनाकाल सन् १५५० है और 'सरोज' के मत से १६०१ वि० है । दे० हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' ( श्रीकिशोरीलाल गुप्त ), पृ० ८९ ।

३४९—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—जैरामदास[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४८। दशा—खण्डित। आ०—९·४"×४·१२"। लिपि—नागरी।

३५०—रामायण (बा० का०)। ग्रं०—जैरामदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४६। दशा—खण्डित। आ०—९·२"×४·१२" लिपि—नागरी।

३५१—रामायण (उ० का०)। ग्रं०—जैरामदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४३। दशा—खण्डित। आ०—९"×४"। लिपि—नागरी।

३५२—रामायण (सु० का०)। ग्रं०—जैरामदास। लि०—अवदानदास। र० का०—×। लि० का०—१८३९ वि०। पत्र-सं—३६। दशा—पूर्ण। आ०—८"×४·३"। लिपि—नागरी।

३५३—जगन्नाथ महातम। ग्रं०—जैरामदास। लि०—चन्द्रमणि पाण्डेय। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—११५। दशा—खण्डित। आ०—८·८"×५·१०"। लिपि—नागरी।

३५४—जगन्नाथ महातम। ग्रं०—जैरामदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१३। दशा—खण्डित। आ०—७·६"×५"। लिपि—नागरी।

३५५—कार्त्तिक महातम। ग्रं०—जैरामदास। लि०—वैदेही। र० का०—×। लि० का०—१८७० वि०। पत्र-सं०—४६। दशा—पूर्ण। आ०—८"×४·८"। लिपि—नागरी।

३५६—कर्मविपाक। ग्रं०—जैरामदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८५२ वि०। पत्र-सं०—४। दशा—खण्डित। आ०—९·४"×४·१०"। लिपि—नागरी।

३५७—एकादशी महातम। ग्रं०—जैरामदास। लि०—वैदेही। र० का०—×। लि० का०—१८७७ वि०। पत्र-सं०—६१। दशा—पूर्ण। आ०—८"×४·८"। लिपि—नागरी।

३५८—महाभारत भाषा। ग्रं०—लखनसेन[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—७५०। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·१२"। लिपि—नागरी।

---

१—जौगियाँ (शाहाबाद, बिहार)-निवासी; अट्ठारहवीं शती में वर्त्तमान।

२—नवीनोपलब्ध कवि; ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अन्य खोज-विवरणिकाओं में विशेष चर्चा नहीं मिलती है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को भी यह रचना खोज में मिली है। दे०—खो० वि० १९०९—११, ग्रं० सं० १६७।

३५९—दधिलीला। ग्रं०—परमानंददास[1]। लि०—बलभद्रप्रसाद। र० का०—×। लि० का०—१९३५ वि०। पत्र-सं०—८। दशा—खण्डित। आ०—५"×४"। लिपि—नागरी।

३६०—स्नेहलीला[2] ग्रं०—जनमोहन[3]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१८। दशा—पूर्ण। आ०—६"×४·८" लिपि—नागरी।

३६१—अमर फराम। ग्रं०—लक्ष्मीसखी[4]। लि०—मुरलीधर श्रीवास्तव। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३९५। दशा—पूर्ण। आ०—१२·८"×७·८"। लिपि—नागरी।

३६२—ध्यानमंजरी। ग्रं०—अग्रदास[5]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८६२ वि०। पत्र-सं०—२। दशा—खण्डित। आ०—६"×४"। लिपि—नागरी।

३६३—पद्मावत। ग्रं०—मलिक मुहम्मद जायसी। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८८१ वि०। पत्र-सं०—३०८। दशा—पूर्ण। आ०—१०·८"×७"। लिपि—नागरी।

३६४—रसिकमाल। ग्रं०—उत्तमदास[6]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८७४ वि०। पत्र-सं०—२३८। दशा—पूर्ण। आ०—५·१२"×४·५"। लिपि—नागरी।

३६५—सेवक बानी। ग्रं०—चाचा वृन्दावनदास[7]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२। दशा—खण्डित। आ०—६·३"×४·५"। लिपि—नागरी।

---

१—दौदा (मुक्तसर, पंजाब)-निवासी; सं० १९३५ वि० में वर्त्तमान।

२—इस जिल्द के साथ दानलीला (कृष्णदास-रचित) की हस्तलिखित पूर्ण प्रति है।

३—जाति के ब्राह्मण; ओरछा (बुन्देलखण्ड) के राजमन्दिर के पुजारी; सं० १८५१ वि० के लगभग वर्त्तमान।

४—अमनौर (सारन, बिहार)-निवासी; सं० १९७० वि० में वर्त्तमान; सखी-मत के प्रवर्त्तक।

५—आमेर (जयपुर)-निवासी; सं० १६३२ वि० में वर्त्तमान।

६—हीरामणि मिश्र के पुत्र; सं० १७०६ वि० के लगभग वर्त्तमान। इनकी रचना काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को भी खोज में मिली है। दे० खो० वि० १९०६—८, प्रं० सं० ३४० ए० और बी०।

७—वृन्दावन-निवासी; हितहरिवंश के अनुयायी; वल्लभ-सम्प्रदाय के वैष्णव, सं० १८०३ के लगभग वर्त्तमान।

३६६—लीला। ग्रं०—चाचा वृन्दावनदास। लि०—×। र०का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२८७। दशा—खण्डित, जीर्ण। आकार—९·१२"×८·१०"। लिपि—नागरी।

३६७—भागवत पद्यानुवाद। ग्रं०—शिवकुमार शास्त्री[1]। लि०—शिवकुमार शास्त्री। र० का०—२००३ वि०। लि० का०—२००३ वि०। पत्र-सं०—१५५९। दशा—पूर्ण। आ०—१०·१०"×७"। लिपि—नागरी।

३६८—करुणक्रन्दनशतक। ग्रं०—जनभगवानदास[2]। लि०—×। र०का०—×। लि० का०—१९६५ वि०। पत्र-सं०—८। दशा—पूर्ण। आ०—६"×४·१२"। लिपि—नागरी।

३६९—प्रेमशतक। ग्रं०—जनभगवानदास। लि०—×। र० का०—१९४७ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—३३। दशा—पूर्ण। आ०—७·४"×४·१३"। लिपि—नागरी।

३७०—भक्तिसूत्रभाषा। ग्रं०—जनभगवानदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१९६३ वि०। पत्र-सं०—६। दशा—पूर्ण। आ०—८·७"×५·४"। लिपि—नागरी।

३७१—वन महातम[3]। ग्रं०—जनभगवानदास। लि०—धर्मनाथसिंह। र० का—१८१७ वि०। लि० का०—१९५० वि०। पत्र-सं०—२५। दशा—पूर्ण। आ०—८·६"×५·५"। लिपि—नागरी।

३७२—उत्तरांगोपकथा। ग्रं०—कवि लखनसेन। लि०—×। र० का०—१८५४ वि०। लि० का०—१८५४ वि०। पत्र-सं०—२४। दशा—पूर्ण। आ०—९"×४·३"। लिपि—नागरी।

३७३—प्रेमरतन। ग्रं०—रामानुजदास[4] (?)। लि०—श्रीधरदास। र० का०—×। लि० का०—१९१५ वि०। पत्र-सं०—४२। दशा—पूर्ण। आ०—१०·२"×६·१२"। लिपि—नागरी।

---

१—भभुआ (शाहाबाद, बिहार)-निवासी; जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण; १९७० वि० के लगभग वर्त्तमान; पद्यमय 'वीर अर्जुन' के रचयिता; कुँवरसिंह (संस्कृत-महाकाव्य अप्रकाशित) के ग्रन्थकार।

२—नवोपलब्ध कवि; ईचाक (हजारीबाग, बिहार)-निवासी; सं० १९६३ वि० के लगभग वर्त्तमान; गदाधरसिंह के पुत्र; जाति के खत्री। विविध राग-रागिनियों में इनकी रचनाएँ हैं।

३—इसके साथ कवि की 'श्रावण-माहात्म्य' नामक रचना भी है।

४—नवोपलब्ध; उन्नीसवीं शती में वर्त्तमान और रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह के गुरु से भिन्न; दे० ना० प्र० स० (काशी), खो० वि० १९०१, ग्रं० सं० ७।

३७४—कृष्ण जन्म बधाई। ग्रं०—जीवनदास[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१८। दशा—पूर्ण। आ०—६·१२"×७·८"। लिपि—नागरी।

३७५—रामचन्द्रिका। ग्रं०—केशवदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१६८। दशा—खण्डित। आ०—६·१२"×५·६"। लिपि—नागरी।

३७६—भैरव प्रकाश। ग्रं०—बख्चू मलिक[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८७५ ई०। पत्र-सं०—४०। दशा—पूर्ण। आ०—८·१२"×५·३"। लिपि—नागरी।

३७७—पाण्डवचरितार्णव। ग्रं०—देवीदास[3]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२००। दशा—खण्डित। आ०—१२"×६"। लिपि—नागरी।

३७८—पाण्डवचरितार्णव (२ भाग)। ग्रं०—देवीदास। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२११। दशा—पूर्ण। आ०—१२"×६"। लिपि—नागरी।

३७९—पाण्डवचरितार्णव। ग्रं०—देवीदास। लि०—त्रिभुवनदास। र० का०—×। लि० का०—१९२६ वि०। पत्र-सं०—३८४। दशा—पूर्ण। आ०—१३ ८"×६·१३"। लिपि—नागरी।

३८०—गीता माहात्म्य प्रकाश लीला। ग्रं०—जगन कवि[4]। लि०—×। र० का०—१९३५ वि०। लि०का०—×। पत्र-सं०—१०। दशा—पूर्ण। आ०—८"×५·४"। लिपि—नागरी।

---

१—इस नाम के दो अन्य ग्रन्थकार हो चुके हैं। कवि हरसहाय के गुरु और गाजीपुर-निवासी जीवनदास का रचनाकाल सं० १८८५ वि० है तथा 'ककहरा' के ग्रन्थकार का रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका है। दे० ना० प्र० स० (काशी) का खो० वि० १९०९—११, ग्रं० सं० १०५ ए० और ग्रं० सं० १४१।

२—१९वीं शती में वर्त्तमान; डुमराँव-राज्य के आश्रित; सङ्गीतज्ञ कवि; घनारंग के समकालीन।

३—ईचाक (हजारीबाग, बिहार) के निवासी; पदुमनदास के समकालीन।

४—खोज में नवोपलब्ध; साधारण श्रेणी के एक 'जगन' नामक कवि १६५२ वि० में हो चुके हैं, जिनका र० का० १६८० वि० था। दे० मिश्रबन्धु-विनोद (पंचम संस्करण, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ) पृ० सं० ३३६ और कवि-सं० ३९८।

३८१—हरिहरकथा। ग्रं०—तुलाराम[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१८। दशा—खण्डित। आ०—८·१२"×३·१४"। लिपि—नागरी।

३८२—रामरक्षा। ग्रं०—रामानन्द[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—पूर्ण। आ०—७ ४"×३·१४"। लिपि—नागरी।

३८३—महाभारत भाषा। ग्रं०—ललितराम[3]। लि०—दुर्गाप्रसाद। र० का०—× लि० का०—×। पत्र-सं०—७०। दशा—पूर्ण। आ० ६"×६"। लिपि—नागरी।

३८४—शिवपुराणरत्न। ग्रं०—कुंजनदास[4]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६७४। दशा—पूर्ण। आ०—१२"×८ १२"। लिपि—नागरी।

३८५—नृसिंह चरित्र। ग्रं०—दयालदास। लि०—चन्दलाल। र० का०—१७६८ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२२। दशा—पूर्ण। आ०—६·८"×६"। लिपि—नागरी।

३८६—रामायणसार (रामायण की टीका)। टीका—लखनजी परमहंस। लि०—रामगेआनदास। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३३२। दशा—खण्डित। आ०—१२·८"×६·८"। लिपि—नागरी।

---

१—कवि केशवदास के समकालीन; सतबरिया (चनपटिया, चम्पारन, बिहार)-निवासी; १७६० ई० के लगभग वर्त्तमान; जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण; मझौली दरबार में महाराजा युगलकिशोरसिंह के आश्रित; इनकी स्मृति में बकुलहर (चम्पारन) में बूढ़ी गंडक के एक घाट का नाम 'तुलाराम घाट' है। इनके पुत्र श्रीलक्ष्मीप्रसादमिश्र एवं पौत्र श्रीमोहनदत्तमिश्र भी कवि हो चुके हैं। उपेन्द्रनाथमिश्र और कमलेशमिश्र इनके वंशज वर्त्तमान हैं। इनकी दो रचनाएँ—'हरिहरकथा' और 'तुलाराम के पत्र'—खोज में मिली हैं।

२—१८वीं शती में वर्त्तमान। दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा।

३—नवोपलब्ध कवि; ग्रियर्सन की खोज में कवि-सं० ९१७ और शिवसिंह-सरोज-सं० ८२४। दे० ग्रियर्सन-कृत 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास'—श्रीकिशोरीलाल गुप्त (अनुवादक), पृ० सं० ३२२।

४—पँवार (शाहाबाद, बिहार)-निवासी; दे० 'बि० रा० भा० प० से प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (पहला खण्ड), पृ० सं० 'म' और ग्रं० सं० २१ की टिप्पणी।

३८७—भरथ विलाप। ग्रं०—ईश्वरदास[1] (इसरदास)। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१६०५ वि०। पत्र-सं०—१४। दशा—पूर्ण। आ०—७·१४"×६"। लिपि—नागरी।

३८८—महाभारत भाषा। ग्रं०—सबलसिंह चौहान। लि०—सूर्यगुलामसिंह। र० का०—×। लि० का०—१२८० फ० = १६२६ वि०। पत्र-सं०—२१६। दशा—पूर्ण। आ०—१०·८"×६·१०"। लिपि—नागरी।

३८९—रामचरित मानसबोध। ग्रं०—मधुकवि[2]। लि०—×। र० का०—१६६५ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२२। दशा—पूर्ण। आ०—१०·१०" × ८·६"। लिपि—नागरी।

३९०—रामचरित मानसबोध। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का० २००२ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—१००। दशा—पूर्ण। आ०—१३" × ८"। लिपि—नागरी।

३९१—रामचरित मानसबोध। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—१६६१ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—४१७। दशा—पूर्ण। आ०—१२·६" × ७·६"। लिपि—नागरी।

३९२—रामचरित मानसबोध। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—७७। दशा—खण्डित। आ०—८"×६·८"। लिपि—नागरी।

३९३—रामचरित मानसबोध। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६६। दशा—खण्डित। आ०—८"×६·१०"। लिपि—नागरी।

३९४—रामचरित मानसबोध (उत्तरार्द्ध)। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६६। दशा—खण्डित। आ०—१३·४"×८·४"। लिपि—नागरी।

३९५—रामचरितरसामृत। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—१६६५ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—२४०। दशा—खण्डित। आ०—१२·४"×७·१०"। लिपि—नागरी।

३९६—दुखदमन दोहावली (१ भाग)। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३६। दशा—पूर्ण। आ०—८·६"×६·८"। लिपि—नागरी।

---

१—खोज में नवोपलब्ध प्रतीत होते हैं। रसिकसुमति के पिता, सं० १८७५ वि० में वर्त्तमान एक 'ईश्वरदास' नामक ग्रन्थकार हो चुके हैं। सम्भवतः, भरथ-विलाप के ग्रन्थकार इनसे भिन्न हैं।

२—पिलुई (सारन, बिहार)-निवासी; सं० २००५ वि० में वर्त्तमान।

३९७—दुखदमन दोहावली (२ भाग)। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—१९४८ ई०। लि० का०—×। पत्र-सं०—३२। दशा—पूर्ण। आ०—८"×६·६"। लिपि—नागरी।

३९८—मोहन रामचरित। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६८। दशा—पूर्ण। आ०—१३·४"×७·१०"। लिपि—नागरी।

३९९—ईश विनय। ग्रं०—कान्हजीसहाय[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२। दशा—पूर्ण। आ०—११"×८·१२"। लिपि—नागरी।

४००—कान्हजी के गीत (संगीत)। ग्रं०—कान्हप्रसाद। लि०—×। र० का०—×। लि०—×। पत्र-सं०—२०। दशा—पूर्ण। आ०—८"×५"। लिपि—नागरी।

४०१—कान्हजी के गीत (संगीत)। ग्रं०—कान्हप्रसाद। लि०—८। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—खण्डित। आ०—८"×५·६"। लिपि—नागरी।

४०२—भगवान की स्तुति। ग्रं०—शाहजहाँ[2] (बादशाह)। लि०—नरेन्द्रनारायणसिंह। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४·४"। लिपि—नागरी।

४०३—गणेश महातम। ग्रं०—×। लि०—डोहू लोहार। र० का०—×। लि० का०—१२२२ फ० = १८७१ वि०। पत्र-सं०—२६। दशा—खण्डित। आ०—७·६"×५"। लिपि—नागरी।

४०४—प्रह्लाद चरित्र। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३०। दशा—पूर्ण। आ०—६·८"×५"। लिपि—नागरी।

४०५—गुरुदेव चर्चा। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—८"×५"। लिपि—नागरी।

४०६—सूरज पुरान। ग्रं०—×। लि०—भुल्लुलाल। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२५। दशा—पूर्ण। आ०—७"×६"। लिपि—नागरी।

४०७—बन्दीमोचन। ग्रं०—×। लि०—भुल्लुलाल। र० का०—×। लि० का०—१२८७ फ० = १९३६ वि०। पत्र-सं०—२४। दशा—पूर्ण। आ०—७"×६"। लिपि—नागरी।

४०८—सूरज पुरान। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१२९९ फ० = १९४८ वि०। पत्र-सं०—२०। दशा—पूर्ण। आ०—५·४"×४·५"। लिपि—नागरी।

---

१—शाहाबाद (बिहार)-निवासी; घनानंद के समकालीन; १८वीं शती में वर्त्तमान।

२—जहाँगीर बादशाह का पुत्र; दिल्ली का बादशाह; सं० १७१५ वि० में वर्त्तमान।

४०६—हनुमान अस्तुति। ग्रं०—× । लि०—भुल्लुलाल। र० का०—×। लि० का०—१२८८ फ० = १६३७ वि०। पत्र-सं०—७। दशा—पूर्ण। आ०—७·३"×६"। लिपि—नागरी।

४१०—गुरुमहिमा। ग्रं०—× । लि०—×। र० का०—× । लि० का०—×। पत्र-सं०—६। दशा—खण्डित। आ०—६·१२"×६·८"। लिपि—कैथी।

४११—रामकथा। ग्रं०—× । लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—११। दशा—खण्डित। आ०—८·१२"×६"। लिपि—नागरी।

४१२—दानलीला। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि०का०—×। पत्र-सं—३। दशा—खण्डित। आ०—७·८"×३·१२"। लिपि—नागरी।

४१३—धनुषभंग। ग्रं०—× । लि०—× । र० का० × । लि० का०—× । पत्र-सं०—२। दशा—खण्डित। आ०—८·७" × ४·५"। लिपि—नागरी।

४१४—सीतापताल। ग्रं०—×। लि०—× । र० का०—× । लि० का०—×। पत्र-सं—४०। दशा—खण्डित। आ०—८"×५·१०"। लिपि—कैथी।

४१५—प्रह्लाद चरित्र। ग्रं०—× । लि०—शिवरतनराम। र० का०—× । लि० का०—१६०५ वि०। पत्र-सं०—१६। दशा—पूर्ण। आ०—७·१२"×६"। लिपि—नागरी।

४१६—भजनावली। ग्रं०—× । लि०—रामेश्वरप्रसाद। र० का०—×। लि० का०—१६०६ वि०। पत्र-सं०—३५६। दशा—पूर्ण। आ०—७·१०"×५·१२"। लिपि—कैथी।

४१७—सुदामा की बारहखड़ी। ग्रं०—× । लि०—नरेन्द्रनारायणसिंह। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—४। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४·२"। लिपि—नागरी।

४१८—राग परज। ग्रं०—×। लि०—× । र० का०—× । लि० का०—×। पत्र-सं०—१४। दशा—खण्डित। आ०—६·८"×५"। लिपि—नागरी।

४१६—सूरजपुराण। ग्रं०—×। लि०—× । र० का०—×। लि० का०—× । पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—६"×४·१२"। लिपि—नागरी।

४२०—वृन्दावन लीला। ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—×। लि० का०—१८८५ वि०। पत्र-सं०—६२। दशा—खण्डित। आ०—४·२"×२·१४"। लिपि—नागरी।

४२१—आभास रामायण। ग्रं०—×। लि०—प्रेमरंग। र० का०—×। लि० का०—१८८४ वि०। पत्र-सं०—८६। दशा—पूर्ण। आ०—७·८"×४·२"। लिपि—नागरी।

४२२—कवित्त संग्रह। ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२५। दशा—खण्डित। आ०—६·८" × ४·१०"। लिपि—नागरी।

४४७—सुन्दरदास के सवैया। ग्रं०—सुन्दरदास[1]। लि०—×। र० का—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—३०। दशा—पूर्ण। आ०—६·४"×४"। लिपि—नागरी।

४४८—रामचन्द्रिका। ग्रं०—केशवदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—८०। दशा—खण्डित। आ०—१२·१२"×५"। लिपि—नागरी।

४४९—रामचन्द्रिका (सटीक)। ग्रं०—केशवदास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२४६। दशा—खण्डित। आ०—१४"×६·१०"। लिपि—नागरी।

४५०—रसिक दोहकली। ग्रं०—हितहरिवंश। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१५। दशा—खण्डित। आ०—६·८"×५·२"। लिपि—नागरी।

४५१—रसिकमाल वर्षोत्सव। ग्रं०—हितहरिवंश। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—२३४। दशा—पूर्ण। आ०—१०·८"×८"। लिपि—नागरी।

४५२—बिहारी सतसई। ग्रं०—बिहारीलाल। लि०—शिवजीभट्ट। ×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८१३ वि०। पत्र-सं०—४६। दशा—पूर्ण। आ०—६"×५·१०"। लिपि—नागरी।

४५३—बिहारी सतसई। ग्रं०—बिहारीलाल। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं—१६। दशा—खण्डित। आ०—१२"×४·८"। लिपि—मैथिली।

४५४—बिहारी सतसई। ग्रं०—बिहारीलाल। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५७ वि०। पत्र-सं०—४४। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४·२"। लिपि—नागरी।

४५५—बिहारी सतसई (सटीक) ग्रं०—बिहारीलाल। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं—४५। दशा—खण्डित। आ०—१३"×४·१२"। लिपि—मैथिली।

४५६—बिहारी सतसई (सटीक)। ग्रं०—बिहारीलाल। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२८। दशा—खण्डित। आ०—१२"×६"। लिपि—नागरी।

४५७—गोपाल बाललीलासार। ग्रं०—जनभगवानदास। लि०—×। र० का०—×।

---

१—दादूजी के शिष्य; (दौसा, जयपुर)-निवासी; सं० १७४६ वि० में वर्त्तमान। दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (प्रथम भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा।

लि० का०—१९३५ वि० । पत्र-सं० - ७ । दशा पूर्ण । आ०—७·१२"×५·४" । लिपि—नागरी ।

४५८—विजय मुक्तावली । ग्रं०—छत्रसिंह[1] । लि०—भोलानाथ । र० का०—१७५७ वि० । लि० का०—१९३० वि० । पत्र-सं०—२३८ । दशा—खण्डित । आ०—९·५"×६·४" । लिपि—नागरी ।

४५९—रसराज । ग्रं०—मतिराम[2] । लि०—हीरामणिमिश्र । र० का०—१८८१ वि० । लि० का०—× । पत्र-सं०—३९ । दशा—पूर्ण । आ०—१२"×४·१२" । लिपि—नागरी ।

४६०—शिवदीपक । ग्रं०—जैरामदास । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१८८३ वि० । पत्र-सं०—१७ । दशा—पूर्ण । आ०—९·१२"×५" । लिपि—नागरी ।

४६१—युगल विहार । ग्रं०—दर्शनशर्मा । लि०—× । र० का०—१९५५ वि० । लि० का०—× । पत्र-सं०—६५ । दशा—पूर्ण । आ०—८·१२"×५·६" । लिपि—नागरी ।

४६२—रामाश्वमेध । ग्रं०—मधुसूदनदास[3] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१९०८ वि० । पत्र-सं०—३२५ । दशा—खण्डित । आ०—१३·८"×६·१०" । लिपि—नागरी ।

४६३—प्रेम प्रकाश । ग्रं०—गोस्वामी गोवर्द्धनलाल[4] । लि०—मूलचन्द्रलाल । र० का० × । लि० का० १९७३ वि० । पत्र-सं०—१४० । दशा—पूर्ण । आ०—१३·६"×८·४" । लिपि—नागरी ।

---

१—ग्वालियर-राज्य के भदावर (अटेर)-निवासी; सं० १७५७ वि० के लगभग वर्त्तमान; जाति के श्रीवास्तव कायस्थ; अमरावती के राजा कल्याणसिंह के राजकवि । काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज में भी यह रचना मिली है । दे० खो० वि० १९०६—८, ग्रं० सं० २३ और खो० वि० १९०९–११, ग्रं० सं० ४८ ।

२—तिगवाँपुर ( कानपुर )-निवासी; सं० १७०७ के लगभग वर्त्तमान ।

३—सं० १८३२ के लगभग वर्त्तमान; इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं । दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' ( प्रथम भाग ), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, पृ० सं० ११५ । खोज में प्राप्त दूसरी प्रति में रचना-काल सं० १८३९ वि० = १७८२ ई० है । दे० ना० प्र० स० (काशी) खो० वि० १९०९—११, ग्रं० सं० १८१; खो० वि० १९२०–२२, ग्रं० सं० ९७ और खो० वि० १९२३-२५, ग्रं० सं० २५१; खो० वि० १९२६—२८, ग्रं० सं० २७८ ए० बी० और सी० । नागरी-प्रचारिणी सभा ( काशी ) की खोज में उपलब्ध प्राचीनतम हस्तलेख सन् १८६७ ई० = १९२३ वि० का है ।

४—गोस्वामी हितहरिवंश के वंशज; ईसा की उन्नीसवीं शती के अन्त में वर्त्तमान; चौदह भाषाओं के ज्ञाता ।

४६४—हितोपदेश । ग्रं०—पदुमनदास[1] । लि०—×। र० का०—× । लि०का०—×। पत्र-सं०—११६ । दशा—खण्डित । आ०—८"×५·१२" । लिपि—नागरी ।

४६५—हितोपदेश । । ग्रं०—श्यामदास । लि०—पदारथदास । र० का०—× । लि० का०—१६०४ वि० । पत्र-सं०—१४ । दशा—पूर्ण । आ०—७·१२"×६" । लिपि—नागरी ।

४६६—गोपीविरह । ग्रं०—रामप्रसाद[2] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—४ । दशा—पूर्ण । आ०—६"५·४" । लिपि—नागरी ।

४६७—अमर चन्द्रिका ( बिहारी सतसई की टीका )। ग्रं०—सूरतमिश्र[3] । लि०—×। र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं—६८ । दशा—पूर्ण । आ०—१०"× ६·४" । लिपि—नागरी ।

४६८—गीतसंग्रह । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—४८ । दशा—खण्डित । आ०—७·८"× ५·१२" । लिपि—कैथी ।

४६९—दृष्टान्त दोहा । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि०का०—× । पत्र-सं०—८ । दशा—पूर्ण । आ०—६"× ४" । लिपि—नागरी ।

४७०—प्रह्लाद चरित्र । ग्रं०—× । लि०—दिनेशानन्द । र० का०—× । लि० का०—१८६६ वि० । पत्र-सं० ८५ । दशा—पूर्ण । आ०—८"×४·१०" । लिपि—नागरी ।

---

१—हजारीबाग (बिहार)-निवासी; रामगढ़-राज्य के आश्रित कवि; सं० १७३८ वि० में वर्त्तमान; इस रचना की अन्य प्रतियाँ भी खोज में मिली हैं । दे० ना० प्र० स० ( काशी ) खो० वि० १९२६—२८, ग्रं० सं० ३३९ और बि० रा० भा० प० से प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' (पहला खण्ड) पृ० सं० 'इ', कवि सं० १७, पृ० सं० २२, ग्रं० सं० २२, परिशिष्ट-३ की क्र० सं० ८ (पृ० २१७) तथा बि० रा० भा० प० से प्रकाशित दूसरे खण्ड की पृ० सं० 'ज', कवि सं० २०, ग्रं० सं० १८, ४०, ८१ और ८२ ।

२—बेतिया-राज्य ( चम्पारन, बिहार ) के आश्रित कवि; सं० १८७७ वि० में वर्त्तमान ।

३—आगरा-निवासी; सं० १७६८ वि० के लगभग वर्त्तमान; जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण; दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के आश्रित । इनकी अन्य सात—अमर चंद्रिका, रस गाहक चंद्रिका, रसरत्नमाला, रसिकप्रिया टीका, कविप्रिया टीका, अलंकारमाला, सरस रस—रचनाएँ खोज में मिली हैं । दे०-खो० वि०-१९२३—२५, ग्रं० सं० ४१९; खो० वि० १९२६-२८; ग्रं० सं० ४७४ (पृ० सं० ९१, ८१०) और विशेष विवरण के लिए दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (प्रथम भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, पृ० सं० १८७ ।

४७१—महाभारत (आल्हा)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×
पत्र-सं०—८। दशा—खण्डित। आ०—८·१२"×६·८"। लिपि—नागरी।

४७२—विविध गीत[1] ग्रं० ×। लि०—गोपाललाल। र० का०—×।
लि० का०—। पत्र-सं०—१४। दशा—खण्डित। आ०—७·१२"×६·६"।
लिपि—कैथी।

४७३—हरिचंद्रकथा। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×।
पत्र-सं०—१६। दशा—पूर्ण, जीर्ण। आ०—६·२"×४·१०"। लिपि—नागरी।

४७४—हिन्दी महाभारत (पद्यबद्ध) ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×।
लि० का०—×। पत्र-सं०—२४। दशा—खण्डित, जीर्ण। आ०—८·१२"×३·१२"।
लिपि—नागरी।

## स्फुट काव्य

४७५—दृष्टान्तसंग्रह। ग्रं०—धर्मदास[2]। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि०
का०—×। पत्र-सं०—५१। दशा—खण्डित।

४७६—रघुवीर नारायण के स्फुट काव्य[3]। ग्रं०—रघुवीर नारायण। लि०—×।
र० का०—×। लि० का०—×। दशा—खण्डित। आ०—१२·४"×८"।
लिपि—नागरी।

४७७ मनबोध। ग्रं०—तुलसीदास[4]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×।
पत्र-सं०—५। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×४·५"। लिपि—नागरी।

४७८—गीतसंग्रह। ग्रं०—मुकुट दूबे[5]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×।
पत्र-सं०—१३। दशा—खण्डित। आ०—६·८"×४"। लिपि—नागरी।

४७९—स्फुट कविताएँ। ग्रं०—मुकुट दुबे। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×।
पत्र-सं०—२६। दशा—पूर्ण। आ०—६·८"×४"। लिपि—कैथी।

४८०—कवित्तसंग्रह। ग्रं०—मटुकी मल्लिक। लि०—×। र० का०—×।
लि० का०—×। पत्र-सं०—१८। दशा—पूर्ण। आ०—६·४"×४·२"।
लिपि—नागरी।

---

१—इस भजन-संग्रह में सरभंग-सम्प्रदाय के संतों—भिखमराम और टेकमनराम—के भी फुटकर गीत हैं।

२—कबीरदास के शिष्य; सं० १४५७ वि० के लगभग वर्त्तमान।

३—नयागाँव (सारन, बिहार)-निवासी; बनैली के महाराज कीर्त्यानन्द सिंह के आश्रित; सं० २०११ वि० में वर्त्तमान।

४—प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास से भिन्न।

५—बच्चू मल्लिक के समकालीन; डुमराँव-राज्य के आश्रित; स्फुट गीतों के रचयिता।

४८१—स्फुट कविताएँ। ग्रं०—महादेव हलुआई[1]। लि०—×। र० का० १९१० वि०। लि०का०—×। पत्र-सं०—५। दशा—खण्डित। आ०—८"×६"। लिपि—नागरी।

४८२—लघु संग्रह। संग्रहकर्त्ता—हीरामन। लि०—हीरामन। र० का०—×। लि० का०—१९०० वि०। पत्र-सं०—१४। दशा—पूर्ण। आ०—११·४"×४·८"। लिपि—नागरी।

४८३—हिन्दी कविता। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२। दशा—खण्डित। आ०—९·८"×४·६"। लिपि—नागरी।

४८४—विविध गीतसंग्रह। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२८। दशा—खण्डित। आ०—९·६"×६"। लिपि—कैथी।

४८५—स्फुट कविताएँ। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१०। दशा—खण्डित। आ०—७·४"×४·१२"। लिपि—नागरी।

४८६—विविध राग के गीत। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि०का०—×। पत्र-सं०—८। दशा—खण्डित। आ०—७·२"×४·१४"। लिपि—नागरी।

४८७—संगीत प्रकाश। ग्रं०—×। लि०—। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६२। दशा—खण्डित। आ०—८·६"×५·४"। लिपि—नागरी।

४८८—विभिन्न राग के गीत (संगीत)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२७। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·८"। लिपि—नागरी।

४८९—बच्चू मल्लिक के गीत (संगीत)। ग्रं०—बच्चू मल्लिक। लि०—सहदेव दूबे। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—३०। दशा—पूर्ण। आ०—८·२"×६·८"। लिपि—नागरी।

४९०—रागमाला (संगीत)। ग्रं०—दिगम्बर दूबे[2]। लि०—×। र०का०—१९३४ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—९९। दशा—पूर्ण। आ०—८ ८"×५·४"। लिपि—नागरी।

४९१—रागविहाग (होली, संगीत)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—५७। दशा—खण्डित। आ०—१०·८"×६·४"। लिपि—नागरी।

## चरित-काव्य

४९२—जयप्रकाश सर्वस्व। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि०—×। पत्र-सं०—७८। दशा—पूर्ण। आ०—८·३"×५"। लिपि—नागरी।

---

१—शाहाबाद-जिला (बिहार-राज्य)-निवासी; डुमराँव-राज्याश्रित गीतकार और कान्हजीसहाय के समकालीन।

२—शाहाबाद-जिला (बिहार-राज्य)-निवासी; डुमराँव-राज्याश्रित कवि; उन्नीसवीं शती के अन्त में वर्त्तमान।

४९३—आत्मबोध। ग्रं०—× । लि०— । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१३३। दशा—खण्डित । आ०— १२"×८"। लिपि—नागरी ।

४९४—रुक्मिणी मंगल। ग्रं०—रामलला। लि०—× । र०का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२५ । दशा—पूर्ण। आ०—८'४"×६'८"। लिपि—नागरी ।

४९५—सुदामा चरित। ग्रं०—वंशमणि । लि०— × । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२४। आ०—९'६"×६" । लिपि—नागरी ।

४९६—रामजनम । ग्रं०—× । लि० × । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२४ । दशा—पूर्ण। आ०—६'४"×४'६"। लिपि—नागरी ।

## काव्य-शास्त्र

४९७—रसिकप्रिया। ग्रं०—केशवदास। लि० × । र० का० प्रसिद्ध । लि० का०— × । पत्र-सं०—५ । दशा—खण्डित । आ०—९.८"×४'४"। लिपि—नागरी ।

४९८—रसिकप्रिया । ग्रं०—केशवदास । लि० × । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—८ । दशा—खण्डित । आ० ९"×४'२"। लिपि—नागरी ।

४९९—रसिकप्रिया। ग्रं०—केशवदास। लि०—रामचरनमिश्र। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८५४ वि०। पत्र-सं०—४७। दशा—पूर्ण। आ०—९'८"×६'४"। लिपि—नागरी ।

५००—कविप्रिया । ग्रं०—केशवदास । लि०—× । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—१२०। दशा—खण्डित। आ०—८'८"×५'८"। लिपि—नागरी ।

५०१—कविप्रिया। ग्रं०—केशवदास। लि० —× । र० का० प्रसिद्ध। लि०का०—× । पत्र-सं०—२०९ । दशा—पूर्ण । आ० —११"×७"। लिपि—नागरी ।

५०२—कविप्रिया । ग्रं०—केशवदास । लि० × । र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—× । पत्र-सं०—६१ । दशा—खण्डित। आ० ९'८"×७"। लिपि—नागरी ।

५०३—अष्टनायिका वरणन। ग्रं०—सुन्दरकवि[1]। लि०—× । र० का०— × । लि० का०— × । पत्र-सं०—२१। दशा—खण्डित । आ०—१३"×६'१२"। लिपि—नागरी ।

५०४—रसविलास। ग्रं०—कविदेव ।, लि०— × । र०का०—प्रसिद्ध। लि० का०—× । पत्र-सं०—१२२ । दशा—पूर्ण, जीर्ण । आ०—७'८" × ५"। लिपि—नागरी ।

---

१—यह रचना कृष्णगढ़ के राजा राजसिंह की पुत्री, सं० १८४५ के लगभग वर्त्तमान सुन्दरकुँवरि नाम से ज्ञात स्त्री-कवि की प्रतीत होती है। इस कवियित्री की एतद्-विषयक अन्य रचनाएँ भी नागरी-प्रचारिणी-सभा (काशी) की खोज में मिली हैं। दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग), पृ० सं० १८१।

५०५—रसकुसुमाकर। ग्रं०—अवधप्रतापनारायणसिंह। लि०—×। र० का०—×। लि०का०—१६४६ वि०। पत्र-सं०—१६१। दशा—पूर्ण। आ०—६·८"×७·१०"। लिपि—नागरी।

५०६—व्यंग्यार्थकौमुदी। ग्रं०—प्रतापसिंह[1] (साहि)। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६। दशा—खण्डित। आ०—११·१२"×४"। लिपि—नागरी।

५०७—रसप्रकाश। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—६"×५·८"। लिपि—नागरी।

५०८—काव्यनिर्णय। ग्रं०—राजकुमार हिन्दूपति[2]। लि०—×। र० का०—१८०३ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—४६। दशा—खण्डित। आ०—६·८"×६·८"। लिपि—नागरी।

५०९ भाषाभूषण। ग्रं०—महाराज यशवंतसिंह[3]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१३। दशा—खण्डित। आ०—१०·८"×६·१०"। लिपि—नागरी।

---

१—कवि रतनेश के पुत्र; चरखारी (बुन्देलखण्ड)-नरेश विक्रमसाहि के आश्रित; सं० १८८६ वि० के लगभग वर्त्तमान; जाति के बंदीजन; इनकी अन्य ग्यारह रचनाएँ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की खोज में मिली हैं। दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (प्रथम भाग), काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, पृ० सं० ८९ और ९०।

२—पन्ना-नरेश; सं० १८१३ वि० के लगभग वर्त्तमान; भिखारीदास, रतनकवि, रनपसाहि और कर्णकवि के आश्रयदाता; महाराज छत्रसाल के पौत्र। दे० ना० प्र० स० (काशी) खो० वि०-१९०४, प्रं० सं० १५; खो० वि० १९०६—८, प्रं सं० ५७, १०३, १०५ और ११९।

३—जोधपुर-नरेश; सं० १६९२—१७३५ वि० के लगभग वर्त्तमान; 'जसवंतसिंह' नाम से भी खोज में उपलब्ध। इनकी रचनाएँ नागरी प्रचारिणी-सभा (काशी) की भी खोज में मिली है। दे० खो० वि०१९०१, प्रं० सं० ७२, ७४और ८६; खो० वि० १९०२, प्रं० सं० १४, १५, १६, १७, २२, ४६, ५७; खो० वि० १८०६—१८, प्रं० सं० १७६, २५१; खो० वि० १९०५, प्रं० सं० ३९; खो० वि० १९२०-२२, प्रं० सं० ७०; खो० वि० १९२३—२५, प्रं० सं० १८३; खो० वि० १९२६-२८, प्रं० सं० २०१ बो०, सी०, डी०, ई० और पृ० ४९, कवि-सं० २०१। तथा काशी-नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग), पृ० सं० ५२।

५१०—साहित्य सागर। ग्रं०—जानकीकवि[1]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—११२। दशा—पूर्ण। आ०—११·८"×७·४"। लिपि—नागरी।

५११—सुवृत्तहार। ग्रं०—गजराजकवि[2]। लि०—×। र० का०—१६०३ वि०। पत्र-सं०—६१। दशा—पूर्ण। आ०—१४"×७"। लिपि—नागरी।

## छन्द-शास्त्र

५१२—छन्द त्रिभंगी। ग्रं०—लखन त्रिज। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—७०। दशा—पूर्ण। आ०—८·८"×४·८"। लिपि—नागरी।

५१३—छन्द विचार। ग्रं०—सुखदेवमिश्र[3]। लि०—×। र० का०—१६२१ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—५४। दशा—खण्डित। आ०—८"×५"। लिपि—नागरी।

## ज्यौतिष

५१४—शकुन विचार। ग्रं०—×। लि०—अनन्तलाल। र० का०—×। लि० का०—१२६८ फ० = १६४७ वि०। पत्र-सं०—५। दशा—खण्डित। आ०—६"×५·१०"। लिपि—नागरी।

५१५—सगुनौती। ग्रं०—×। लि०—बन्धुराम। र० का०—×। लि० का०—१६४६ वि०। पत्र-सं०—१६। दशा—पूर्ण। आ०—७·१०"×६"। लिपि—नागरी।

५१६—रमल प्रकाश। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१२२। दशा—खण्डित। आ०—११·६"×७·१०"। लिपि—नागरी।

५१७—अबजद प्रश्न। ग्रं०—लालजीमिश्र। लि०—लालजीमिश्र। र० का०—१२७३ फ० = १६२२ वि०। लि० का०—१२७३ फ० = १६२२ वि०। पत्र-सं०—१२। दशा—पूर्ण। आ०—६·४"×४·६"। लिपि—नागरी।

५१८—हनुमान ज्योतिष। ग्रं०—×। लि०—मुकुट मलिक। र० का०—×।

---

१—इस नाम के (दास) तीन ग्रन्थकार नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को खोज में मिल चुके हैं। ये उनसे भिन्न प्रतीत होते हैं।

२—बनारस-निवासी; सं १९०३ वि० के लगभग वर्त्तमान। यह रचना काशी-नागरी प्रचारिणी सभा को भी खोज में मिली है। दे० खो० वि० १९०३, ग्रं० सं० ७१।

३—कम्पिला (फर्रुखाबाद) के निवासी; सं० १७२८ के लगभग वर्त्तमान। इनके रचित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को भी खोज में मिली हैं। दे० 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा), पहला भाग, पृ० सं० १८४।

लि० का०—१२९८ फ०=१९४७ वि०। पत्र-सं०—३१। दशा—पूर्ण। आ० —५·६"×४·४"। लिपि—नागरी।

५१९—रमल पुस्तक। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का० —×। पत्र सं०—३। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·८"। लिपि—नागरी।

## दर्शन

५२०—गीता (हिन्दी-पद्यानुवाद)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१८८८ वि०। पत्र-सं०—१२७। दशा—पूर्ण। आ०—५·४"×४·२"। लिपि—नागरी।

५२१—गीता (हिन्दी-पद्यानुवाद)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१८७। दशा—खण्डित। आ०६"×४"। लिपि—नागरी।

५२२—गीता (हिन्दी-पद्यानुवाद)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१६। दशा—खण्डित। आ०—८·८"×५·८" लिपि—नागरी।

५२३—अध्यात्मप्रकाश। ग्रं०—सुखदेव कवि (मिश्र)[1]। लि०—गोविन्ददास। र० का०—×। लि० का—१९४० वि०। पत्र-सं०—३५। दशा—पूर्ण। आ०—६·४" × ४"। लिपि—नागरी।

५२४—अध्यात्मप्रकाश। ग्रं०—सुखदेव कवि (मिश्र)। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—१०"×५"। लिपि—नागरी।

५२५—मणिरत्नमाला। अनुवादक—दर्शनशर्मा। लि०—×। अनु० का०—१३०४ फ० = १९५३ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—५०। दशा—पूर्ण। आ०—८·१२"×५·४"। लिपि—नागरी।

## काम-शास्त्र

५२६—कामकलाप्रकाश। ग्रं०—हीहंदलाल। लि०—बलरामदास। र० का०—×। लि० का०—१९३४ वि०।

५२७—कोकसार। ग्रं०—आनन्दकवि[2]। लि०—शिवजीभट्ट। र० का—१८१३ वि०। लि० का०—१८१३ वि०। पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·१०"। लिपि—नागरी।

---

१—कम्पिला (फर्रुखाबाद) के निवासी; सं० १७२८ वि० के लगभग वर्त्तमान।

२—उप० 'अनन्द'; ये पिछले विवरण में भी आ चुके हैं। दे० 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का खोज-विवरण' (पहला खण्ड), पृष्ठ० १२७-१२८।

५२८—कोकसार। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२७। दशा—खण्डित। आ०—८·१०"×५·१४"। लिपि—नागरी।

## कोष

५२९—अनेकार्थध्वनिमंजरी। ग्रं०—क्षपणक[1]। लि०—बालकराम पाठक। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१८९३ वि०। पत्र-सं०—६। दशा—पूर्ण। आ०—१३"×४·१२"। लिपि—नागरी।

५३०—नाममाला। ग्रं०—नन्ददास। लि०—बालकराम पाठक। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१२४४ फ०=१८९३ वि०। पत्र-सं०—२०। दशा—पूर्ण। आ०—१२·८"×४·८"। लिपि—नागरी।

५३१—नाममंजरी। ग्रं०—नन्ददास। लि०—×। र० का०—प्रसिद्ध। लि० का०—१९०२ वि०। पत्र-सं०—१५। दशा—पूर्ण। आ०—९·१२"×५·८। लिपि—नागरी।

## धर्म

५३२—गर्भगीता। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—२०। दशा—खण्डित। आ०—६·६"×३·१२"। लिपि—नागरी।

५३३—गीतामाहात्म्य (गद्य में)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। पत्र-सं०—४४। दशा—पूर्ण। आ०—६·४"×३·१०"। लिपि—नागरी।

५३४—गीतासार (गद्य में)। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का—×। पत्र-सं०—३२। दशा—पूर्ण। आ०—६·६"×३·१२"। लिपि—नागरी।

५३५—दृष्टांतसमुच्चय। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—६। दशा—खण्डित। आ०—९"×५·८"। लिपि—नागरी।

## धर्मशास्त्र

५३६—तिथिनिर्णय। ग्रं०—प्रभुनाथ[2]। लि०—×। र० का०—१९३३ वि०। लि० का० ×। पत्र-सं०—३४। दशा—पूर्ण। आ०—६·१२"×५·८"। लिपि—नागरी।

५३७—वर्षोत्सवनिर्णय। ग्रं०—प्रियादास[3]। लि०—×। र० का०—×। लि०

---

१—संस्कृत के प्रसिद्ध कवि, विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक; कवि कालिदास के समकालीन। यह क्षपणक के मूल संस्कृत-ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद है।

२—नवोपलब्ध कवि; १९३३ वि० में वर्त्तमान। इनके सम्बन्ध की कोई अन्य सूचना उपलब्ध नहीं है।

३—स्वामी हितहरिवंश के अनुयायी; सं० १९०५ वि० के लगभग वर्त्तमान; राधा-वल्लभी साधु; भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास से भिन्न। इनके अनेक ग्रन्थ ना० प्र० स० (काशी) की खोज में मिले हैं। दे० खो० वि० १९०९-१०, ग्रं० सं० ३३१ ए०, बी०, सी०, डी० और ई०।

का०—१९२३ वि०। पत्र-सं०—१४। दशा—पूर्ण। आ०—६·१२"×५·८"। लिपि—नागरी।

५३८—पंचकल्याणविधान—जैनधर्म-ग्रन्थ (हिन्दी-रूपान्तर)। अनुवादक—हरिकिसन[1]। लि०—× अनु० का०—१८८० वि०। लि० का०—१९२४ वि०। पत्र-सं—३१। दशा—पूर्ण। आ०—१०·४"×६"। लिपि—नागरी।

## स्तोत्र

५३९—अनेकस्तोत्रसंग्रह। ग्रं०—गंगाराम[2]। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—९। दशा—खण्डित। आ०—७·८"×४·१२"। लिपि—कैथी।

५४०—अनेकस्तोत्रसंग्रह। ग्रं०—×। लि०—बलदेवदास। र० का०—×। लि० का०—१९६४ वि०। पत्र-सं०—२८। दशा—पूर्ण। आ०—८"×५·२"। लिपि—नागरी।

५४१—गणेश चालीसा। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१९। दशा—पूर्ण। आ०—५·४"×४·४"। लिपि—कैथी।

५४२—जुगल किशोर की आरती। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—९। दशा—पूर्ण। आ०—७·१०"×४·२"। लिपि—नागरी।

५४३—दुर्गास्तोत्र। ग्रं०—दर्शनशर्मा। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं०—१०। दशा—पूर्ण। आ०—८"×५·४"। लिपि—नागरी।

५४४—जै मां दुर्गे (देवीजी की आगमनी)। ग्रं०—दर्शनशर्मा। लि०—×।

---

१—ग्रन्थकार का नामोल्लेख ग्रन्थ में नहीं हुआ है। अनुवादक खोज में नये प्रतीत होते हैं। इनका रचनाकाल सं० १८८० वि० है। जैन-साहित्य में 'पञ्चकल्याण-पूजा', पञ्चकल्याणमङ्गल', 'पञ्चसंसार', पञ्चपूजानिरूपण', 'पञ्चाणुव्रतजपमन्त्र', 'पञ्चकल्याणकपाठ' आदि ग्रन्थ मिले हैं; किन्तु इस नाम का यह ग्रन्थ भी सम्भवतः नवोपलब्ध है।

२—इस नाम के छह ग्रन्थकार खोज में मिल चुके हैं, जिनमें 'ज्ञानप्रदीप' के ग्रन्थकार (मालवीय त्रिपाठी) का रचनाकाल सं० १८८६ है। 'सभा-भूषण' के कवि सं० १७४४ वि० और चन्देरी-निवासी तथा छत्रसाल के पिता सं० १८४४ वि० के पूर्व वर्त्तमान थे। ग्रन्थ का रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका है। दे० ना० प्र० स० (काशी) से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग), पृ० सं० ३३। ना० प्र० स० (काशी) के खो० वि० १९०९—११ और ग्रं० स०८८ में उल्लिखित कवि और प्रस्तुयमान कवि अभिन्न प्रतीत होते हैं। इनका रचना-काल ज्ञात नहीं हो पाया है।

र० का०—१३०३ फ०=१९५२ वि० । लि०का०— × । पत्र सं०—३८ । दशा—पूर्ण । आ०—७"४" × ४"८" । लिपि—नागरी ।

५४५—गजपुकार । ग्रं०— × । लि०— × । र० का—× । लि० का०— × । पत्र-सं०—१३ । दशा—पूर्ण । आ०—५"८" × २"१०" । लिपि -नागरी ।

५४६—अभयाकरन स्तोत्र । ग्रं०—× । लि०— × । र० का०—× । लि० का०—१९३६ वि० । पत्र-सं० —२७ । दशा—पूर्ण । आ०—५"७" × ४"६" । लिपि—नागरी ।

## इतिहास

५४७—वृन्दावन के विविध वस्तु[1] । ग्रं०— × । लि०— × । र० का—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—७ । दशा—पूर्ण । आ०—८"१०" × ५"३" । लिपि—नागरी ।

५४८—द्विजदर्पण (टीका-सहित) । ग्रं० रामदास[2] (बुलाकी सिंह) । लि०—रामदास । र० का०—१२०७ फ० = १८५६ वि० । टीकाकाल —१९५३ वि० । लि० का०—१३१० फ० = १९५९ वि० । पत्र-सं०—१२० । दशा—पूर्ण । आ०१२"८" × ९"६" । लिपि—नागरी ।

५४९—अंगरेज इतिहास । ग्रं०—× । लि०— × । र० का०—× । लि० का०— × । पत्र-सं०—३१७ । दशा—खण्डित । आ०—१२"१२" × ७"१०" । लिपि—नागरी ।

५५०—बंगाल का भौगोलिक वर्णन । ग्रं०—नरेन्द्रनारायणसिंह । लि०—नरेन्द्रनारायणसिंह । र० का०— × । लि० का०—× । पत्र-सं०—७९ । दशा—पूर्ण । आ०—८"८" × ६"१२" । लिपि—नागरी ।

## तन्त्र

५५१—तंत्रसार । ग्रं०—कबीरदास । लि०— × । र० का०—प्रसिद्ध । लि० का०—× । पत्र-सं०—६ । दशा—खण्डित । आ० —८"८" × ७"१०" । लिपि—नागरी ।

५५२—यंत्रावली । ग्रं०—× । लि०— × । र० का०— । लि० का०—× । पत्र-सं०—२६ । दशा—पूर्ण । आ०—८"१०" × ६"४" । लिपि—नागरी ।

५५३—रुद्रयामल तंत्र । ग्रं०— × । लि०— × । र० का०—× । लि० का०— × । पत्र-सं०—७५ । दशा—खण्डित । आ०—८" × ६" । लिपि—नागरी ।

---

१—इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने वृन्दावन के वृक्ष, फूल तथा प्रमुख तीर्थस्थानों की सूची प्रस्तुत की है तथा वृन्दावन के भक्त-कवियों की नामावली भी दे दी है ।

२—खोज में नवोपलब्ध; १८५६ वि० में वर्तमान । इनके विषय में अन्य सूचना नहीं मिली है ।

५५४—यंत्रसमुच्चय । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१० । दशा—खण्डित । आ०—८·१२"×५" । लिपि—नागरी ।

## चिकित्सा

५५५—आयुर्वेदविलास । ग्रं०—देवीसिंह[1] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—१२ । दशा—खण्डित । आ०—८"×६·४" । लिपि—नागरी ।

५५६—विविध रसायननिर्माणविधि । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—६ । दशा—खण्डित । आ०—८·१०"×७·१०" । लिपि—कैथी ।

५५७—सालहोत्र । ग्रं०—× । लि०—गणेश चौबे । र० का०—× । लि० का०—१९८३ वि० । पत्र-सं०—१० । दशा—खण्डित । आ०—७·१२"×६·६" । लिपि—नागरी ।

५५८—सारसंग्रह[2] । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—२७२ । दशा—पूर्ण । आ०—९·१२"×६·६" । लिपि—नागरी ।

५५९—कविचितरंजन । ग्रं०—गंगाराम । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—३१ । दशा—खण्डित । आ०—८"×६" । लिपि—नागरी ।

५६०—सर्वसंग्रह (चिकित्सासार) । ग्रं०—विष्णुगिरि[3] । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१९०४ वि० । पत्र-सं०—३९ । दशा—पूर्ण । आ०—१०·८"×४·८" । लिपि—नागरी ।

## कथा

५६१—अद्भुत-समाचार । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—८ । दशा—पूर्ण । आ०—१२·४"×८·४" । लिपि—नागरी ।

५६२—बैतालपचीसी । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—१९०२ वि० । पत्र-सं०—१०२ । दशा—पूर्ण । आ०—८·१४"×६·४" । लिपि—नागरी ।

५६३—नासकेत की कथा । ग्रं०—× । लि०—× । र० का०—× । लि० का०—× । पत्र-सं०—५५ । दशा—पूर्ण । आ०—६·४"×३·१०" । लिपि—नागरी ।

---

१—चन्देरी-नरेश; सं० १७३३ वि० के लगभग वर्त्तमान ।

२—इस जिल्द में सारसंग्रह के अतिरिक्त (२७२ पृष्ठ के बाद) १. कामिनीमानभंग रस, २. यंत्रावली (सुखेन-कृत), ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी हैं, जिनकी पृ० सं० क्रमशः १० और १८ है ।

३—गोसाईं गोविन्दगिरि के शिष्य; सं० १८०१ के लगभग वर्त्तमान ।

५६४—सिंहासन बतीसी (गद्य में)। अनुवादक—पुरुषोत्तमदास[1]। लि० का०—×। पत्र-सं—६४। दशा—खण्डित, जीर्ण। आ०—११·१०"×५·८" लिपि—नागरी।

## गीति-नाट्य

५६५—रत्नावली। अनुवादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। लि०—×। र० का०—१९२५ वि०। लि० का०—×। पत्र-सं०—२६। दशा—पूर्ण। आ० १०·१२"×४·४"। लिपि—नागरी।

## उपन्यास

५६६—बंचभोला। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं—२०। दशा—पूर्ण। आ०—१२·८"×७·१०"। लिपि—नागरी।

## जीवन-चरित्र

५६७—मेरी रामकहानी। ग्रं०—मधुकवि। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं—१०। दशा—पूर्ण। आ०—१२·८"×७·१०"। लिपि नागरी।

## भूगोल

५६८—भूगोल पुराण। ग्रं०—×। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—१७७६ शकाब्द। पत्र-सं०—१७। दशा—पूर्ण। आ०—६.८"×४"। लिपि—नागरी।

## पत्र

५६९—तुलाराम-पत्र। लेखक—तुलाराम। लि०—×। र० का०—×। लि० का०—×। पत्र-सं—२। दशा—खण्डित। आ०—११·१०"×८"। लिपि—नागरी।



# नवीन और उल्लेख

**समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव**

युगधारा[2] में देवेन्द्रनारायण वर्मा की कुल तेईस (छन्दोबद्ध तथा मुक्त) कविताएँ संगृहीत है। कविताएँ सन् १९४९ से १९५५ ई० के बीच, अधिकांशतः रेडियो के लिए, लिखी

---

१—सं १८१७ वि० के पूर्व वर्त्तमान; मानदास के गुरु; दादरा-निवासी। इन्होंने जैमिनिपुराण का भी हिन्दी-अनुवाद किया है। दे० ना० प्र० स० (काशी) का खो० वि० १९०६—८, ग्रं० सं० १९५ और खो० वि १९२६—२८, कवि-सं० ३६३, पृ० सं ७५।

२—रचयिता : श्रीदेवेन्द्रनारायण वर्मा; प्रकाशक : युगधारा-प्रकाशन, फोट रोड, ग्वालियर सिटी; मूल्य : एक रुपया, पचास नये पैसे मात्र।

गई हैं। परिणामतः, वर्माजी की कविताएँ पठनीय कम, श्रवणीय अधिक हैं। इन्हें कवि-सम्मेलनों तथा रेडियो के दायरे में लोकप्रियता प्राप्त हो सकती है।

संगृहीत छन्दोबद्ध कविताओं में 'आत्मविश्वासी रचनाकार', 'नये जागरण का गायक', 'प्रवासी कवि' आदि कुछ ऐसी हैं, जिनमें कवि का अहं तो पर्याप्त सम्प्रसारित हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं वह रिरंसा के धुँधलके में गुमराह भी दीख पड़ता है। यही कारण है कि वर्माजी की तथोक्त कविताओं के भाव, निगूढ होने के बावजूद, शब्दों के उथलेपन से अछूते नहीं रह पाये हैं। ठीक इसके विपरीत, तथाकथित हालावादी और प्रगतिवादी स्कूलों की पर्युषित परिधि से अमुक्त कवि की मुक्त कविताएँ भावों की सहजता और शब्दों की यथार्थता की दृष्टि से काफी नपी-तुली और तीखी भी बन पड़ी हैं।

श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी की भूमिका में 'सम्वेदन', 'शाश्वतता' तथा वर्माजी की कविताओं में 'शाश्वत्', 'किंचित', 'उन्चास' आदि शब्द मकार और हलन्त की स्थानभ्रष्टता के कारण प्रेस की (?) असतर्कता सूचित करते हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई, आवरण के अनाकर्षक होते हुए भी, स्पृहणीय है।

०

मूल्य और मीमांसा[1] कुमार विमल के पन्द्रह आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। ये प्रायशः सभी निबन्ध, इतना तो स्पष्ट है, पाठकों को 'दुर्व्याख्या-विष-मूर्च्छित' नहीं प्रतीत होंगे। नाधिक निबन्ध पढ़नेवालों को ऐसा आभास भी नहीं होगा कि कुमार विमल का 'असफल कवि' ही 'आलोचक' हो गया है; क्योंकि उन्होंने कहीं भी अत्याग्रह या आवेशाधिक्य से काम नहीं लिया है। जहाँ ऐसा हो भी गया है, वहाँ लेखक ने अपनी फिसलन, नजर-अन्दाज न कर, पहचानने की साधुता का परिचय दिया है।

समीक्षा की शैली श्रेयस है, किन्तु अनुकृति असावधान स्थलों में भी, नहीं है। यही आलोच्य समीक्षा-पुस्तक का वैशिष्ट्य है। 'छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना', 'साहित्य में सोद्देश्यता का प्रश्न' आदि निबन्धों में आलोचक विमलजी, परिणत भाषा के अभिनिवेश में, मूल्य की सही मीमांसा करने में समर्थ हो सके हैं। कहीं-कहीं चौंकानेवाले सतर्क शब्द-प्रयोग का हस्तलाघव भी उन्होंने दिखाया है, हालाँकि, यत्र-तत्र 'सौन्दर्यिक', 'अन्तर्प्रतिवाद', 'अभिप्रायकी', 'तद्प्रसूत', 'कर्शित' आदि शिथिल शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

मुद्रण की आपेक्षिक निर्दोषता प्रूफ की अशुद्धियों के कारण सदोष हो गई है। आवरण-चित्र उपयुक्त, अतएव सुन्दर है।



---

१—लेखक : श्रीकुमार विमल; प्रकाशक : पुस्तकायन, मुंगेर; मूल्य : चार रुपये मात्र।




वर्ष ६ : अङ्क ४ } पौष, विक्रमाब्द २०१५ : शकाब्द १८८० : जनवरी, १९५९ ई० { वार्षिक ७)

शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा


# सम्पादकीय

## बँगला-भाषा में 'रामचरितमानस' के दो पद्यानुवाद

गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ माना जाता है। संसार की अनेक उन्नत भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं। उस विश्व-विख्यात ग्रन्थ के रूसी अनुवाद का संवाद भी पत्रों में प्रकाशित हुआ है। कुछ ही वर्ष पूर्व, सन् १९५४ ई० में, दिल्ली के हिन्दुस्तान-टाइम्स प्रेस से रेवरेण्ड ए० जी० एटकिन्स का अँगरेजी पद्यानुवाद मूल के साथ-साथ, प्रकाशित हुआ था। इधर हमें दो पद्यबद्ध वङ्गानुवादों के देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन दोनों में एक प्रकाशित और दूसरा अप्रकाशित है।

प्रकाशित वङ्गानुवाद श्रीमदनमोहन चौधरी का है। उपर्युक्त एटकिन्स साहब के समान श्रीचौधरी महाशय ने भी 'मानस' के छन्दों के सुर में सुर मिलाया है। किन्तु, उनके वङ्गानुवाद के साथ नागराक्षरों में मूल प्रकाशित नहीं है। वङ्गाक्षरों में मुद्रित सात काण्डों का अनुवाद चार खण्डों में, आज से चौवालीस वर्ष पूर्व, सन् १९१५ ई०(वङ्गाब्द १३२२)में, प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक स्वयं अनुवादक हो थे, जो अब इस संसार में नहीं हैं। वे पुरुलिया (मानभूमि) के मुन्सिफडाँगा महल्ले के निवासी थे। उनके सुपुत्र डाक्टर सदानन्द चौधरी उनके अनुवाद को पुनः प्रकाशित कराना चाहते हैं, पर कोई प्रकाशक नहीं मिलता। नागराक्षर में मूल के साथ वङ्गाक्षर में अनुवाद प्रकाशित हो, तो वङ्गभाषाभाषियों में 'रामचरितमानस' का प्रचार हो सकता है। यह व्यय-साध्य कार्य दिल्ली की साहित्य-अकादमी के ही करने योग्य है। पता चला है कि अनुवादक ने 'मानस' की तरह तुलसीदासजी की 'विनयपत्रिका' का भी वङ्गानुवाद उन्हीं रागों के छन्दों में किया है, जिनमें 'पत्रिका' के पद हैं। वह अभी अप्रकाशित है। ऐसे अनुवादों के प्रकाशन से राष्ट्रभाषा हिन्दी का बड़ा उपकार होगा।

दूसरा अप्रकाशित अनुवाद श्रीवीरेन्द्र लाल भट्टाचार्य का है। आप कूचबिहार के विक्टोरिया कालेज में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक थे और अब वहाँ से अवसर-ग्रहण करके काशी में साहित्य सेवा तथा भगवद्भजन करते हुए शरीर-व्यय कर रहे हैं। आप भी सात काण्डों का अनुवाद पूरा कर चुके हैं। आर्थिक कठिनाई के कारण आपका अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका है। आपके सुयोग्य सुपुत्र श्रीहरिशङ्करप्रसाद भट्टाचार्य पटना के बिहार-नेशनल (बी० एन्०) कालेज में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक हैं। वयोवृद्ध अनुवादक ने बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से 'मानस' का अध्ययन किया है। आपकी बड़ी उत्कण्ठा है कि आपके जीवन-काल में ही आपका अनुवाद प्रकाशित हो जाय। बंगाल में कई समर्थ प्रकाशक हैं। कलकत्ता विश्व-विद्यालय और वङ्गीय साहित्य-परिषद् से बँगला-भाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकल चुके हैं। इन सबका ध्यान 'मानस' के वङ्गानुवाद के प्रकाशन की ओर आकृष्ट होना चाहिए था। कलकत्ता-स्थित वङ्गीय हिन्दी-परिषद् की प्रेरणा से कोई रामायणानुरागी सेठ सज्जन भी पुण्यभागी बन सकते थे। किन्तु, खेद है कि अनुवादक को अब तक प्रोत्साहन के बदले निराशा ही मिल रही है। तब भी आप हताश वा हतोत्साह न होकर निरन्तर प्रयत्नशील हैं। यह काम अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार चाहनेवाले प्रयागी साहित्य-सम्मेलन के भी योग्य था, पर उसकी स्थिति सर्वविदित है।

उपर्युक्त दोनों अनुवादों को हमने स्वयं देखा है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर हमें नहीं मिला, पर यत्र-तत्र देखने से पता चला कि दोनों ही अनुवाद तुलसी के बहुत समीप हैं। जब दोनों प्रकाशित हो सकेंगे, तभी समीक्षा हो सकेगी। श्रीसदानन्द चौधरी का कहना है कि अनुवाद के चाहक गाहक आज भी बहुत हैं, जो उसे पढ़ने के लिए अत्यन्त लालायित हैं, और वे लोग अपनी माँग पूरी करने के हेतु प्रायः पत्र लिखा करते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि अनुवाद के साहसी प्रकाशक को व्यापारिक दृष्टि से भी लाभ होने की सम्भावना है। रामकथा की लोकप्रियता के कारण वङ्गानुवाद के भी अनेक संस्करण प्रकाशित हो सकते हैं, किन्तु सार्वजनिक साहित्यिक संस्थाओं के प्रकाशनोद्योग में अर्थ-सङ्कट के कारण शिथिलता आ गई है। राजा-रईस अब रहे ही नहीं। सेठों का सहारा है मन्दी का बहाना। ऐसे अभाव-ग्रास युग में सरकार ही इस सत्कार्य में सहायता देना चाहे, तो दे सकती है। चौधरीजी और भट्टाचार्यजी अपनी सरकार की कृपा पर ही टक लगाये हुए हैं। हमें आशा है कि जैसे 'मानस' के अनेक प्रकार के संस्करण जनता में प्रचलित हैं, वैसे ही इन अनुवादों को भी लोक-समादर प्राप्त होगा। —शिव०

०

## प्रेमचन्द-स्मारक

हिन्दी-कथा-साहित्य के महान् स्रष्टा स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की रचनाओं ने संसार की कई उन्नत भाषाओं के साहित्य में समादर पाकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए प्रभूत गौरव अर्जित किया है। उनके समान अमरकीर्त्ति साहित्यकार का वास्तविक स्मारक तो साहित्यानुरागी पाठक-समाज के हृदय में स्थापित है, पर लौकिक रीति के अनुसार उनका स्थूल स्मारक

बनाकर उस भूमि की धन्यता को स्थायी करना आवश्यक है, जिस भूमि पर जन्म लेकर उन्होंने अपने जीवन को साहित्य-सेवा में खपाया। अतः, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने काशी के पास ही उनके जन्म-ग्राम ( लमही ) में प्रेमचन्द-स्मारक भवन बनवाने का निश्चय किया है। सभा के शुभ सङ्कल्प के अनुसार काशी से लमही तक के गन्तव्य पथ का नाम प्रेमचन्द-मार्ग होगा। उनके जन्म-स्थान पर जो स्मृति-मन्दिर बनेगा उसमें पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, अतिथि-शाला और प्रेमचन्दजी की प्रस्तर-मूर्त्ति भी रहेगी। सभा का अनुमान है कि इस निर्माण-कार्य में लगभग सवा लाख रुपये खर्च होंगे। हमारे पूज्य राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसादजी इस स्मारक-भवन का शिलान्यास करनेवाले हैं।

सभा के इस पवित्र आयोजन की सफलता हिन्दी प्रेमियों के उदारतापूर्ण सहयोग पर निर्भर है। स्पष्ट है कि हिन्दी प्रेमियों की परीक्षा का अवसर उपस्थित है। हिन्दी संसार में प्रकाशक, लेखक, कवि, सम्पादक और पाठक अगणित हैं। यदि सब के मन में अपनी भाषा के जगद्विख्यात साहित्यकार के प्रति सचमुच श्रद्धा हो, तो केवल एक-एक रुपये से ही सवा लाख की निधि संचित हो सकती है। आश्चर्य है कि अभी तक सभा की अपील पूरी तरह सफल नहीं हो सकी है। यद्यपि सरकारी कोष से सवा लाख की रकम का मिलना कठिन नहीं है, तथापि सरकारी अनुदान अथवा किसी हिन्दी-भक्त दानवीर की आर्थिक सहायता से प्रेमचन्द-स्मारक का बनना हिन्दीभाषियों के लिए घोर लज्जा एवं अपमान का विषय है। उस स्मारक का महत्त्व तभी आदर्श होगा, जब उसमें प्रत्येक हिन्दी प्रेमी का श्रद्धा-दान सम्मिलित हो। हिन्दी-जगत् में जितनी साहित्यिक संस्थाएँ हैं, वे यदि अपने कर्त्तव्य ज्ञान का ध्यान करें, तो उनके प्रयत्न से अनेकानेक हिन्दी प्रेमियों की आहुति इस साहित्यिक यज्ञ में पहुँच सकती है। हिन्दीवालों के लिए सवा लाख की पूँजी जमा करना कोई असाध्य कर्म नहीं है। यदि उसके बिना स्मारक-निर्माण में विलम्ब हुआ, तो हिन्दीभाषियों के लिए बड़े कलङ्क की बात होगी। आवश्यकता हो, तो प्रेमचन्द-जयन्ती के समय अर्थ-संग्रह-सप्ताह का आन्दोलन चलाया जाय और हमारे पत्र-सम्पादक अपने पाठकों से अपील करें कि प्रेमचन्द-सप्ताह में हिन्दी के प्रति ममता रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सभा के स्मारक-कोष को भर देने का प्रयास करे। हमें आशा है कि स्मारक-भवन की आधार-शिला स्थापित होते ही सभा की निधि सम्पन्न हो जायगी।

—शिव०

०

## समर्थ प्रकाशकों की कमी

आजकल हिन्दी-संसार में नित्य नई पुस्तकें निकल रही हैं। विविध विषय की पुस्तकों के प्रकाशन से साहित्य की नित-नूतन वृद्धि हो रही है। प्रकाशित पुस्तकों में उत्कृष्ट-निकृष्ट कोटि का विवेचन तो पृथक् प्रश्न है, किन्तु जितनी पुस्तकें आज लिखी जा रही हैं, उनमें अधिक-से-अधिक पचीस प्रतिशत ही प्रकाशित हो पाती हैं। यह प्रश्न विशेष गम्भीरता से विचार करने योग्य है। हम प्रायः देखते हैं कि बहुत-से साहित्यकारों के पास अनेक अच्छी रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। हमारा अनुमान है कि समस्त हिन्दी-संसार में हजारों

उपयोगी पुस्तकें प्रकाशन के लिए तैयार हैं। उनमें कम-से कम पचीस प्रतिशत तो निश्चय ही शीघ्र प्रकाशन के योग्य और साहित्य की शोभा बढ़ानेवाली हैं, परन्तु अपनी उत्तम रचना के भी प्रकाश में न आ सकने के कारण लेखकों और कवियों को जो निराशा होती है, उससे वे हतोत्साह तो होते ही हैं, उनकी प्रतिभा भी प्रफुल्लित नहीं हो पाती। प्रकाशन के प्रोत्साहन से वंचित कितने ही मेधावी साहित्यसेवी अपनी प्रतिभा के कुंठित हो जाने की आशङ्का भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार, साहित्य-रचना का मार्ग अवरुद्ध होता है और साहित्य के सम्पत्ति-कोष के बढ़ते रहने में भी बाधा पड़ती है।

वर्त्तमान स्थिति में हिन्दी को अनेक प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के सुसम्पादित होकर प्रकाशित होने की सम्भावना नहीं दीख पड़ती, पर आधुनिक रचनाओं में जो महत्त्वपूर्ण हों, उनके प्रकाशन का कोई उपाय तो सोचना ही पड़ेगा। नहीं तो साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की प्रगति मन्द पड़ जायगी। आज अनेक अहिन्दीभाषी सज्जन भी हिन्दी में साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं और वे जब हिन्दी के प्रकाशकों और साहित्यिक संस्थानों के द्वार खटखटाकर हताश हो जाते हैं, तब खिन्न मन से राष्ट्रभाषा का अभ्युदय चाहनेवालों के प्रति असन्तोष व्यक्त करने लगते हैं। हमें पता है कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के कई विद्वानों ने हिन्दी में बड़ी सुन्दर मौलिक पुस्तकें लिखी हैं तथा अपनी भाषा के भी ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद किया है, जिनसे राष्ट्रभाषा के साहित्य की अभाव-पूर्त्ति हो सकती है; पर उनमें भी अधिकांश को प्रकाशकों और संस्थाओं से कोरा जवाब ही मिला है। कम-से-कम अहिन्दीभाषी क्षेत्र के सुयोग्य विद्वानों की हिन्दी-सेवा का मूल्याङ्कन और उनका उत्साह-वर्द्धन तो किसी हद तक होना ही चाहिए। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इस समस्या पर विचार करने का अवकाश न हो, तो अखिलभारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ इस पर विचार कर सकता है।

आज हिन्दी के कई प्रकाशक प्रशंसनीय प्रकाशन-कार्य कर रहे हैं। कुछ सार्वजनिक और सरकारी संस्थाएँ भी इस कार्य में तत्पर हैं। तब भी साहित्यस्रष्टा यह शिकायत करते पाये जाते हैं कि क्षमताशाली प्रकाशकों और संस्थाओं से भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। किन्तु, नई रचनाओं का दिन-दिन उमड़ता हुआ प्रवाह देखकर साहित्य-संवर्द्धन में संलग्न किसी उत्साही प्रकाशक अथवा संस्था को दोष नहीं दिया जा सकता। प्रकाशन के साधनों की दुर्लभता या महार्घता तथा अर्थ-सङ्कट के इस युग में हमारे कुछ प्रकाशक अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ कर रहे हैं, वह आशा के अनुकूल ही कहा जा सकता है। फिर भी, उपस्थित समस्या का समाधान ढूँढ़ निकालने के लिए यह उचित होगा कि अनावश्यक साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार पर प्रतिबन्ध लगवाने के लिए सरकार से अनुरोध किया जाय। इससे लाभ यह होगा कि अवाञ्छनीय साहित्य के प्रकाशन में जिन प्रकाशकों की शक्ति का अपव्यय हो रहा है, उनके द्वारा लोकोपयोगी संग्रहणीय साहित्य को आश्रय एवं उत्तेजन मिलने लगेगा। किन्तु, सरकार तो वैधानिक कार्यवाही द्वारा अनिष्टकर साहित्य का प्रचारावरोध मात्र कर सकती है, प्रकाश में लाने

योग्य रचनाओं का चुनाव तो प्रकाशकों को ही करना पड़ेगा। जबतक प्रकाशक-वर्ग जागरूक न होगा और उसमें राष्ट्रहित की चेतना उद्बुद्ध न होगी, तबतक उसे रचनाओं की उपादेयता कोई नहीं समझा सकता—तबतक निम्न स्तर की रचनाओं को धारा भी न रुकेगी। रचयिताओं की प्रवृत्ति भी सदुद्देश्यगर्भित तभी होगी, जब प्रकाशक केवल सुरुचिपूर्ण साहित्य ही प्रकाशित करने लगेंगे। इसके बिना मनमानी साहित्य-रचना नहीं रुक सकती।

यहाँ साहित्योपजीवी लेखकों की [illegible] भी विचारणीय है। प्रकाशकों की कमी से निरुपाय हुए लेखकों में कितने ही उत्कण्ठित सज्जन ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं, जो अपनी रचना स्वयं ही प्रकाशित कर लेते हैं। किन्तु जो लेखक नियमित रूप से प्रकाशन-व्यवसाय नहीं करते, उन्हें अपनी भावुकता का फल भोगना पड़ता है; क्योंकि हिन्दी की दुनिया में लेखकों के निजी प्रकाशनों की ही खरीद-बिक्री करनेवाली कोई संस्था या एजेंसी नहीं है; अधिकांश प्रकाशक ही पुस्तक-विक्रेता भी हैं। अतः, भावावेश में अपनी रचना छपा डालनेवाले साहित्यकारों की सुविधा के लिए हिन्दी क्षेत्र के केन्द्र-स्थलों में विश्वसनीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की बड़ी आवश्यकता है। आज के शोध-युग में तो विश्वविद्यालयों से सम्मानोपाधि पाये हुए विद्वज्जन भी अपने ग्रन्थों के लिए उपयुक्त प्रकाशक की खोज में व्यस्त देखे जाते हैं। वे यदि स्वयं अपना थीसिस छपवाकर लाभान्वित होना चाहें भी, तो साहस उनका साथ न देगा; क्योंकि पुस्तक-विक्रेता-प्रकाशकों के भरोसे काफी लागतवाले ग्रन्थ निकाल डालना घर-बैठे सिर-दर्द मोल लेना है। यदि ह्वीलर-कम्पनी की तरह प्रमुख केन्द्रों में सुसञ्चालित कम्पनियाँ खोलने की ओर देश के पूँजीपतियों अथवा सहकारिता-सिद्धान्त पर उद्योग-धन्धे चलानेवाले अनुभवी व्यवसायियों की रुझान हो, तो शिक्षा-प्रचार के इस युग में पुस्तकों का व्यापार बड़ा लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

—शिव०

०

## साहित्यकार की सामाजिक चेतना

कलाकार को पूरा अधिकार है, अगर वह ऐसा चाहता है, कि वह अपने समय की सामाजिक या राजनीतिक क्रान्तियों की उपेक्षा करे, और अगर वह महान् कलाकार है, तो वह ऐसा करके अपने अमर बन जाने की सम्भावनाओं में वृद्धि कर सकता है। जैसा कि एक विदेशी विद्वान् ने कहा है, "संसार सदा ही अन्यायपूर्ण और अनिश्चित रहा है।...यह कितनी बुरी बात है, जब न्यूटन अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा था और गिबन रोम के अधःपतन का इतिहास लिख रहा था, उसी क्षण जाने कितने पुरुष भूख से तड़प रहे होंगे और स्त्रियाँ मर रही होंगी। सचमुच ही कैसी बुरी बात है कि इन चीजों को उसी समय होना था, लेकिन ये कभी न होतीं, इससे तो बेहतर था ही कि ये उसी समय होतीं।"

तब, सिद्धान्त के रूप में कहा सिर्फ यही जा सकता है कि किसी लेखक को लिखना उसी के बारे में चाहिए, जिससे उसकी ज्यादा-से-ज्यादा दिलचस्पी है। उत्कृष्ट साहित्य वह कोई भी साहित्य है, जिसमें पढ़नेवाले की गहरी दिलचस्पी जग सके, और सम्भावना इसी

बात की है कि ऐसा वही कुछ हो सकता है, जिसमें स्वयं लेखक की गहरी-से-गहरी दिलचस्पी है। तात्कालिक कारणों से प्रेरित साहित्य में तब ज्यादा लोगों की रुचि हो सकती है, पर बाद में उनकी संख्या घटती चली जायगी। इसके विपरीत ऐसा साहित्य, जिसकी प्रेरणा अधिक सार्वभौम और सार्वकालिक है, आज उपेक्षित हो सकता है, लेकिन आनेवाली पीढ़ी की बहुत बड़ी संख्या उसे पढ़ सकती है। किसी हालत में एक साहित्यिक कृति को बचाये और पढ़ने योग्य बनाये रखनेवाली जो एक चीज होती है, वह उसे निर्मित करने वाले विचार के प्रकार तथा संयोजन और कल्पना का परिपूर्ण समन्वय ही है।

हम ऐसे अनेक लेखकों का उल्लेख कर सकते हैं, जिन्होंने समसामयिक सामाजिक या अन्य प्रकार के परिवर्त्तनों से अपने को प्रभावित नहीं होने दिया है, और ऐसे लेखकों में से कुछ की कृतियाँ संसार की सर्वोत्तम कृतियों में परिगणित होती हैं, जबकि यह भी झूठ नहीं कि उनमें ऐसे भी हैं, जिनकी कृतियों का कोई मूल्य नहीं। सूरदास या कीट्स की कृतियों का तथ्य-प्रतिमान या मत-प्रतिमान की दृष्टियों से क्या महत्त्व है? और, कालिदास या शेक्सपियर यदि सामाजिक प्रवृत्ति का परिचय देते भी हैं, तो अधिकतर इसी रूप में कि वे प्रमुख सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं को या तो स्वीकार करते हैं या उनके प्रति उदासीन बने रहते हैं, उनके परिवर्त्तन से इनको तनिक भी दिलचस्पी नहीं है। शेक्सपियर के बारे में इस दृष्टि से विचार करते हुए, एक लेखक ने यहाँ तक कहा है कि जहाँ तक सामाजिक परिवर्त्तन से दिलचस्पी रखने का सवाल है, उसकी कृतियों और आज के औसत जासूसी उपन्यासों में कोई अन्तर नहीं है। कालिदास के बारे में भी यह पूर्णतः सत्य है, ऐसा मानने में अगर हम झिझकते हैं तो इसलिए कि हमने सुनते-सुनते यही सीखा है कि किसी कला-कृति में सामाजिक परिवर्त्तनों या क्रान्तियों की परछाईं पड़ती ही है, और अगर नहीं पड़ती, तो कृति महत्त्वपूर्ण नहीं होती। यह अंश-सत्य को पूर्ण सत्य मानने के कारण उपलब्ध गलत निष्कर्ष है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के छायावादियों के सामाजिक रुख के विश्लेषण की चेष्टा इसीलिए आवश्यक मानी गई है, और आलोचक अपने को बड़ी कठिनाई में डाल देते हैं। यदि साहित्य की प्रेरणा-भूमि सामाजिक क्रान्ति है, तो छायावाद किस सामाजिक क्रान्ति से अनुप्राणित हुआ था—वह छायावाद, जिसमें मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना के मधुर गीत गाये गये हैं? यह कहना छायावादियों के प्रति अन्याय होगा कि वे बीन बजा रहे थे, जब भारत विदेशी शासन की आग में जल रहा था। छायावादी अवश्य ही साहित्यिक चार्वाक नहीं थे!

ऐसी स्थिति में एक विचक्षण समाधान यह भी प्रस्तुत किया गया है कि छायावादियों में हम प्रतिबिम्ब नहीं, प्रतिक्रिया पाते हैं—वास्तविकता के विरुद्ध कल्पना की, कुरूप के विरुद्ध सौन्दर्य की, अभाव के विरुद्ध स्वप्न, वैभव और पलायन की। लेकिन, ऐसा समाधान तो किसी युग के साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति ढूँढ़ ले सकता है। समस्या तो यह है कि इसी युग में प्रेमचन्द ने क्यों वैसा साहित्य लिखा था, जो साहित्य की सामाजिक

व्याख्या के सिद्धान्त को बहुत दूर तक उदाहृत करता है। इस समस्या का समाधान हमारी प्रारम्भिक स्थापना में ही मिले, तो शायद मिले।

यों तो, आधुनिक काल में काव्य को अपदस्थ कर अधिकाधिक महत्त्व पानेवाले उपन्यास के विकास में ही सामाजिक प्रेरणा निर्दिष्ट करने की चेष्टा की गई है। समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणवाले साहित्य-चिन्तकों का कहना है कि आधुनिक युग में कवि का समाज से सम्पर्क नहीं रह गया। औद्योगिक समाज की नीरसता ने एक ओर तो कलाकार को समाज से दूर हटाया, दूसरी ओर काव्य के श्रोताओं की सौन्दर्य-चेतना कुण्ठित कर दी, जिन्हें गद्य-कथा के माध्यम से सरतलर आनन्द की उपलब्धि होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य के श्रोता तो धीरे-धीरे लुप्त होने लगे और उपन्यास ने पाठक-समाज पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली— कम-से-कम कुछ दिनों के लिए तो अवश्य ही।

इसके आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में उपन्यास का जो विकास हुआ है, वह सामाजिक उत्पादन के रूप में, स्वतः विकासशील शिल्प-विधान के रूप में नहीं। इसी प्रकार, नाटक आदि के विभिन्न रूपों के विकास की भी व्याख्या की गई है, और अन्य ललित कलाओं के विकास को समझने-समझाने की चेष्टा हुई है। उदाहरण के लिए, पश्चिम की नाट्य-कला के कुछ विद्वानों का कहना है कि पुनर्जागरण-काल के समाज के वर्ग-विभेद नाट्य-कला-सम्बन्धी अरस्तू के सिद्धान्तों की नई और कठोरतर व्याख्या में प्रतिबिम्बित देखे जा सकते हैं। अरस्तू ने त्रासदी और कामदी—ट्रेजेडी तथा कामेडी— का विभाजन वर्ग-भेद के आधार पर नहीं, अपितु मानवीय गुणों के आधार पर किया था, किन्तु इस युग में दोनों का भेद विशुद्ध रूप से वर्ग-भेद के आधार पर किया गया। सोलहवीं शताब्दी के एक फ्रांसीसी आलोचक का यह कथन इस विचार-धारा का स्पष्ट उदाहरण उपस्थित करता है : "कामद—कामिक—चरित्रों के बदले, जो निम्न स्तर के होते हैं, राजा, राजकुमार और सामन्त त्रासदी में समाविष्ट किये गये।" इसके विपरीत त्रासदी के उद्भावक अरस्तू ने कहा था, "त्रासदी के लिए आवश्यक साधुता हर तरह के इनसान में मिल सकती है—एक औरत या एक गुलाम में भी।" कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में जो परिवर्त्तन होते हैं, जिन्हें हम क्रान्ति भी कहते हैं, अगर वे आकस्मिक, तीव्र और जड़ें हिला देनेवाले परिवर्त्तन होते हैं, तो उनकी प्रक्रियाओं से साहित्यकार की दिलचस्पी हो सकती है और होती भी है, किन्तु इनपरिवर्त्तनों से प्रेरित साहित्य सामयिक महत्त्व का ही होता है।

साहित्यकार से इस बात की माँग करना कि उसकी रचनाओं में ऐसे परिवर्त्तनों का चित्रण रहे ही, यानी यह कि उसके पाठकों पर ऐसा प्रभाव पड़े कि उसके साहित्य को किसी सामाजिक परिवर्त्तन से ही प्रेरणा मिली है, साहित्यकार को नियन्त्रित उत्पादन का माध्यम बनाने की चेष्टा है। ऐसी चेष्टाएँ हुई हैं। यदि अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था करती है, तो यह आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु हम जब कुछ विचारकों को इसलिए क्षुब्ध होते पाते हैं कि इस आन्दोलन और उस घटना से साहित्य क्यों अछूता रह गया, तो हमें आश्चर्य तो होता ही है, हम डर भी जाते हैं। हम डरते इसलिए हैं कि जो ऐसी माँग करते हैं, स्वयं

उनसे भी और उनके जैसे दूसरों से भी खतरा यह रहेगा कि वे यह भी चाहेंगे कि किसी सामाजिक क्रान्ति का प्रतिफलन किसी रचना में उस रूप में हुआ है या नहीं, जिस रूप में वे उसे समझ पाये हैं, या समझना चाहते हैं। पड़ोस में आग लगने पर बाल्टी में पानी लेकर दौड़ पड़नेवाले कवि का हम आदर करेंगे—किन्तु आग बुझते ही उस पर छन्द रचनेवाले को हम क्या कहेंगे !

—न० वि० श०

०

## वेश्म-नाट्य

पद्य-रूपक मंच पर सफल हो सकते हैं, यह बहुत कुछ टी० एस० एलियट की द काकटेल-पार्टी की उस सफलता से मान्य हुआ, जो उसे ब्राडवे (न्यूयॉर्क) में प्राप्त हुई थी। लेकिन एलियट का ही द कनफिडेंशियल क्लर्क मंच पर विशेष सफल नहीं हुआ, और उसका सद्यः प्रकाशित द एल्डर स्टेट्समैन मंच पर सफल हो सकेगा, इसकी सम्भावना, नाट्य-समीक्षकों के अनुसार, कम ही है। बात ऐसी है कि लम्बे पद्य-रूपक शायद ही कभी सफलतापूर्वक मंच पर प्रस्तुत हो पाते हैं—मंच किसी देश का भी क्यों न हो। सुन्दर कविता, लेकिन दर्शक उबासी ले रहे हैं : दर्शक फिर कभी पद्य-रूपक देखना पसन्द नहीं करेंगे। परिणाम : नाट्यशाला का ह्रास होने लगता है—जहाँ ऐसी नाट्यशालाएँ हों भी, जिनमें ऐसे नाटक खेले जायँ—कवि नाटककार नहीं बन पाता, कवि के लिए नाट्यशाला नहीं रह जाती—यह दूसरी बात है कि हमारे यहाँ तो नाटककार के लिए भी नाट्यशाला नहीं है।

ऐसी हालत में अमरीका जैसे देश में भी, जहाँ कम-से-कम ब्राडवे में कुछेक नाट्य-शालाएँ हैं ही, जिनमें पद्य-रूपक खेले जाते हैं, एक विशिष्ट प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि पद्य-रूपक का व्यापक प्रचार हो सके। यह रङ्ग-प्रयोग वेश्म-रूपक के माध्यम से हुआ है : वेश्म-रूपक, अर्थात् नाटक घर के अन्दर, घेरे के बीचोबीच ( ऐरेना स्टाइल ), इकमिनटी पद्य-रूपक (One-minute Drama, The petit drame), घरके अन्दर रङ्ग प्रयोग। वेश्म-रूपक का विधान सरकस का होता है—अर्थात्, उसका मध्य-स्थित मञ्च-विधान होता है, वेश्म-रूपक बैठकखाने या गोल कमरे के बीचोबीच खेला जा सकता है। यह रङ्ग-मञ्च का विकेन्द्रीकरण है। यह सार्वभौम रङ्गमञ्च किसी भी घर में सम्भव हो सकता है। वस्तुतः योरोप के वेश्म-सङ्गीत ( चेम्बर म्यूजिक ) का इसी प्रकार आविर्भाव हुआ था। इकमिनटी पद्य-रूपक के मानी यह नहीं कि उसके अभिनय में समय एक मिनट से ज्यादा लगे ही नहीं। यों इसकी सीमा निर्धारित की गई है—१ से ७ पृष्ठों का, आठ पृष्ठों से कम का, नाटक हो, और टङ्कन दुगनी जगह छोड़कर किया गया हो ! यह रङ्ग-प्रयोग घर में, या घर जैसे वातावरण में हो सकता है। अपने और अपने मित्रों द्वारा प्रस्तुत, अपने और अपने मित्रों के लिए अभिनीत, यह निजी नाट्यशाला है, घरेलू नाटक है।

इतना लघु नाटक काव्य बना रह सकता है और फिर भी नाटक हो सकता है,

[ शेषांश पृष्ठ ९७-९८ पर द्रष्टव्य ]

# लोक-कथा-कोश

सम्पादक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा
शोध-सहायक : श्रीविक्रमादित्य मिश्र

[बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग के द्वारा बिहार के भोजपुरी, मगही, मैथिली, अङ्गिका तथा आदिवासी भाषा-क्षेत्रों से दो सौ पैंतीस कथाएँ संगृहीत हुई हैं। इन कथाओं का सारांश लोक-कथा-कोश के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस कथा-कोश के आधार पर विभिन्न कथाओं का स्रोतान्वेषण तथा कथानक-रूढ़ि-विवेचन सम्भव हो सकेगा। हिन्दी-क्षेत्र की अन्य विभाषाओं तथा हिन्दीतर भारतीय भाषाओं की लोक-कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी यह कोश उपादेय सिद्ध होगा।—सं०]

## भोजपुरी

(१) त्याग—एक रानी ने अपने पति की बात रखने के लिए गोपाल नामक अपने नवजात पुत्र के साथ घर-बार छोड़ दिया। कुछ दिनों के बाद राजा कोढ़ी हो गया। गोपाल के परिश्रम के फलस्वरूप राजा अच्छा हो गया, किन्तु इसका श्रेय गोपाल को न मिलकर राजा के अन्य दो पुत्रों को मिला।

अन्त में जब यह रहस्य प्रकट हुआ, तब राजा ने माँ-सहित गोपाल को बुलाकर उसे अपना सारा राज्य सौंप दिया और स्वयं जंगल में तपस्या करने चला गया।

(२) बूढ़ी वेश्या—एक वेश्या ने बूढ़ी होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराकर अपने पाप धोने चाहे। एक भाँट ने ब्राह्मण-वेश में उसके यहाँ भोजन किया। बेचारी वेश्या खुशी में नाचने-गाने लगी कि वह तर गई। अब उस भाँट से नहीं रहा गया और उसने अपनी असल जाति बता दी। बेचारी वेश्या को बड़ा दुःख हुआ।

(३) सास-पतोहू—एक बुढ़िया को एक पुत्र और एक पतोहू थी। उसका पुत्र अपनी पत्नी के पास बहुत कम जाता था। अतः, उसकी पत्नी ने दूसरों से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। एक रात उसका पति घर पर ही था कि उसकी पत्नी के दोस्त आ गये। उसने इशारों से उन्हें वहाँ से भगाना चाहा, किन्तु उसकी सास भी एक चतुर थी। वह उसके इशारे समझ गई।

(४) राजा विक्रमादित्य—राजा विक्रमादित्य को एक ऐसा खड़ाऊँ और एक ऐसी पायल मिल गई, जिनके सहारे दुर्लभ चीजें भी प्राप्त की जा सकती थीं। इन दोनों वस्तुओं के सहारे राजा एक ऐसी राजकुमारी से ब्याह करने में सफल हुआ, जिसके साथ ब्याह करना बहुत ही कठिन था।

राजा विक्रमादित्य के नाम पर बिहार के सभी भाषा-क्षेत्रों में इस प्रकार की बहुतेरी कहानियाँ प्रचलित हैं।

(५) भरबितना की कहानी—किसी गाँव में तीन भाई रहते थे। एक का नाम

भरबितना था। उसका कद कुल एक बित्ता था। वह कुछ काम नहीं करता था। भाइयों ने उसे अलग कर दिया। वह भाग्यवश देखते-ही-देखते सम्पन्न व्यक्ति बन गया। उसके दोनों भाई भी वैसा ही बनना चाहते थे, पर वे विफल रहे।

इस नाम से बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं।

(६) अलक राजा—अलक राजा अलकापुरी के राजा थे। दुर्दिन के कारण वे अत्यन्त हीन अवस्था को प्राप्त हुए और राज्य छोड़ चल पड़े। रास्ते में उनकी रानी तथा दो पुत्र उनसे बिछुड़ गये। कुछ वर्षों के बाद उनका भाग्य पुनः जागा। उनका ब्याह एक राजकुमारी से हो गया। उनकी पहली पत्नी तथा दोनों बच्चे भी मिल गये।

बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी इससे मिलती-जुलती कहानियाँ प्रचलित हैं।

(७) धोंधवा को कथा—एक बूढ़ी स्त्री के सात पतोहुएँ थीं। उनके पति परदेश रहते थे। बूढ़ी उन सातों को बहुत कष्ट देती थी। सातों घर छोड़कर निकल गईं और सत्तू के एक असाधारण शक्ति-सम्पन्न बड़े पिण्ड के सहारे एक साथ सुखपूर्वक रहने लगीं। कुछ वर्षों के बाद उनके पति भी मिल गये।

बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी इससे मिलती-जुलती कहानियाँ प्रचलित हैं।

(८) सपना—राजा हंसमल के तोताराम नामक एक लड़का था। राजा उसका ब्याह कहीं करते ही न थे। कितने लड़कीवाले लौट गये।

राजा चतुरी के चार पुत्रियाँ थीं। राजा ने यह प्रण किया कि वे अपनी पुत्रियों का ब्याह हंसमल के लड़के से ही करेंगे। अन्त में वे अपनी पुत्रियों की सहायता से ही इस कार्य में सफल हो गये।

(९) भाग्य की परीक्षा—कहलगाँव के राजा के सात पुत्रियाँ थीं। एक दिन राजा के पूछने पर उनकी छोटी लड़की ने कहा कि उसने अपने कर्म से जन्म लिया है। राजा ने क्रुद्ध होकर उसका ब्याह एक गड़ेरिये के लड़के से कर दिया। वह पिता का घर छोड़कर अपने पति के साथ चली गई। भाग्य ने उसका साथ दिया और वह बहुत सम्पन्न हो गई। उसके पति ने तीन अन्य विवाह भी किये। इसके बाद वह अपने पिता के घर लौट आई। जब उसके पिता को यह बात मालूम हुई, तब उसने अपने किये पर पश्चात्ताप किया।

बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी इससे मिलती-जुलती कहानियाँ प्रचलित हैं।

(१०) चतुर लड़की—आनन्दपुर नामक स्थान में एक सेठ की लड़की थी, जो बहुत चतुर थी, उसने अपनी चतुराई से सेठ के लड़के का ब्याह एक राजा तथा एक मन्त्री की लड़कियों से करा दिया। उसने स्वयं भी उसके साथ अपना ब्याह कर लिया।

भोजपुरी भाषा-क्षेत्र से आई इससे मिलती-जुलती कहानियाँ बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी प्रचलित हैं।

(११) योगी और रानी—एक राजा के सात पुत्रों में से सबसे छोटे का ब्याह सोंठा में से निकली हुई एक परी से हुआ। एक योगी उसे कुत्ती बनाकर अपने यहाँ के

गया। कुछ दिनों के बाद उस परी का लड़का वहाँ पहुँचा और बड़ी चतुराई से उस योगी को मारकर अपनी माँ तथा अपने कुटुम्बियों को अपने घर लाया।

यह कहानी शाहाबाद जिला के भोजपुरी-क्षेत्र से प्राप्त हुई है।

(१२) चतुर पण्डित—एक बड़े चतुर पण्डितजी थे। उन्होंने अपनी चतुराई से कुछ ऐसे कार्य किये, जो दोष-पूर्ण तथा निन्दनीय माने जा सकते थे। किन्तु, बात ऐसी नहीं थी। पण्डितजी सभी तरह निर्दोष सिद्ध हुए।

यह कहानी शाहाबाद जिला के भोजपुरी-क्षेत्र से प्राप्त हुई है। यह बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित है।

(१३) मूर्ख अहीर (क)—एक मूर्ख अहीर अपनी ससुराल गया। अपनी मूर्खता के कारण वह लोगों के उपहास का पात्र बना।

यह कहानी शाहाबाद जिला के भोजपुरी-क्षेत्र से प्राप्त हुई है।

(१४) मूर्ख अहीर (ख)—एक मूर्ख अहीर अपनी ससुराल से अपनी पत्नी को लेकर आ रहा था। उसने मूर्खतावश पत्नी के बदले क्रमशः बैल, बकरी और अन्त में कद्दू लेना स्वीकार किया, जिसका उपभोग भी वह न कर सका।

यह कहानी शाहाबाद के भोजपुरी-क्षेत्र से प्राप्त हुई है। इससे मिलती-जुलती कहानियाँ बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

(१५) बुद्धि बड़ी या बल—एक बार राजा विक्रमादित्य ने कालिदास से पूछा, 'बुद्धि बड़ी है या बल?' कालिदास ने बुद्धि को बड़ा बतलाया। राजा ने क्रुद्ध होकर उनको अपने राज्य से निकाल दिया। लेकिन, एक ऐसा अवसर आया कि राजा को उनकी बात की सत्यता का अनुभव हुआ।

(१६) अनारकली कन्या—मगही कहानी 'बेलवा रानी' (३३) से थोड़ा ही अन्तर है।

(१७) अपना भाग्य—एक राजा ने अपने पुत्र को इसलिए घर से निकाल दिया कि उसने यह कहा था कि वह अपने कर्म से जनमा है। कुछ दिनों तक तो वह इधर-उधर भटकता रहा, किन्तु अन्त में वह खूब माला-माल हो अपने घर लौटा। इधर उसके पिता की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। उसके पिता उसे पाकर बहुत खुश हुए तथा उसकी बात के कायल हुए।

(१८) नौ तोला रानी—एक राजा ने किसी बात पर क्रुद्ध होकर अपने छोटे लड़के को घर से निकाल दिया। बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहने के बाद वह 'नौ तोला' नामक राजकुमारी से ब्याह करने में सफल हो सका तथा पर्याप्त धन प्राप्त कर अपने देश लौटा।

(१९) राजा भोज और जुलाहा—राजा भोज ने एक बार एक जुलाहे के मुँह से नीति की दो-तीन बातें सुनीं। कालक्रम से एक-एक कर वे सभी राजा के जीवन में घटीं। राजा उस जुलाहे से बहुत खुश हुए और उन्होंने उसे अपना मन्त्री बना लिया।

(२०) गरीब ब्राह्मण—एक गरीब ब्राह्मण को तीन प्रेतों से तीन ऐसी चीजें प्राप्त

हुईं, जिनके सहारे वह जो चाहे कर सकता था। बात-की-बात में वह सम्पन्न हो गया और सुखपूर्वक रहने लगा।

(२१) **मित्रता**—एक राजा, एक सेठ और एक मन्त्री के लड़कों में बड़ी मित्रता थी। सेठ के लड़के के गौने में राजा और मन्त्री के लड़के बरात गये। गौने की रात तीन ऐसी अनहोनी घटनाएँ घटीं कि तीनों कैद कर लिये गये। किन्तु मन्त्री के लड़के ने अपने को तो बचाया ही, अपने दोनों मित्रों को भी बचा लिया।

(२२) **भाग्य की बात**—मगही कहानी (५५) से थोड़ा ही अन्तर है।

(२३) **दिलजान परी**—एक राजा के सात पुत्र किसी जंगल में सात सुन्दरियों के जाल में फँस गये। उनमें से सबसे छोटी दिलजान नामक परी थी। उसी की सहायता से सातों भाइयों की जान बची। दिलजान इन्द्रलोक में चली गई। उसे प्राप्त करने के लिए सबसे छोटे राजकुमार को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अन्त में उसे पाकर वह अपने घर लौट आया और सुखपूर्वक रहने लगा।

(२४) **साधु और राजकुमार**—एक साधु के प्रयास के फलस्वरूप एक निस्सन्तान राजा के दो पुत्र हुए। शर्त्त के अनुसार राजा ने एक पुत्र साधु के हवाले कर दिया। वह साधु कोई अनुष्ठान कर रहा था, जिसमें तीन सौ साठ आदमियों की बलि देनी थी। तीन सौ साठवीं संख्या इसी की थी। राजकुमार ने यह रहस्य जानकर स्वयं उस साधु को ही खौलते हुए तेल के कड़ाह में डाल दिया। साधु मर गया तथा पहले मरे हुए तीन सौ उनसठ आदमी जीवित हो गये। राजकुमार अपने घर लौट गया।

(२५) **घुटुकवा**—बुरे दिन आने पर एक राजा का लड़का अपनी ससुराल में भैंस चराने लगा। उसकी पत्नी उसे माँड़ पीने को देती थी। घुट-घुट आवाज होने के कारण उसने उसका नाम घुटुकवा रख दिया। अन्त में यह भेद खुला। राजकुमारी को अपने किये पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। राजकुमार अपनी पत्नी के साथ अपने घर लौट आया।

(२६) **लखी वेश्या**—एक राजकुमार को लखी नामक वेश्या के द्वारा तीन लिखित उपदेश प्राप्त हुए। उसने उनका प्रयोग अपनी बहन, अपने मित्र तथा अपनी पत्नी के साथ किया। तीनों उपदेश सही निकले। उसने अपनी बहन को घर से निकाल दिया तथा पत्नी को मार डाला।

(२७) **मैना और चने की दाल**—एक मैना को एक चना मिला। वह एक जाँते में उसे दलने गई। उसका एक टुकड़ा जाँते में ही कहीं रह गया। वह बढ़ई के पास गई। उससे जाँते का खूँटा फाड़ने को कहा। बढ़ई ने अस्वीकार किया। इसके बाद वह क्रमशः रानी, साँप, लाठी, आग, पानी, हाथी, रस्सी, चूहे और बिल्ली के पास गई। केवल बिल्ली को उस पर दया आई। वह चूहे को पकड़ने चली। इसके बाद क्रमशः सभी एक-एक कर सहायता करने को तैयार हो गये। मैना की दाल मिल गई और वह उसे लेकर उड़ गई।

(२८) **नकल करने का फल**—एक गरीब ब्राह्मण एक बार आजीविका की

खोज में कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे सात भूत मिले। उन्होंने उस ब्राह्मण को माला-माल कर दिया। ब्राह्मण की देखादेखी उसका पड़ोसी तेली भी भूतों से धन लेने गया। उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

( २९ ) **राजा के सात पुत्र**—एक राजा के सात पुत्र थे। उसने सात पुत्रियों-वाले एक राजा के यहाँ उनका ब्याह निश्चित किया। इसी बीच सब से बड़ा लड़का शिकार खेलने के समय परियों द्वारा पत्थर बना दिया गया। शेष छह भाइयों के साथ ही उसका ब्याह भी हुआ—उसकी तलवार से सिन्दूर देकर। उसकी पत्नी अपनी ससुराल आई और यह रहस्य जानकर अपने पति की खोज में निकल पड़ी। बहुत कठिनाइयों का सामना करने के बाद वह अपने पति के साथ अपने घर लौटी।

( ३० ) **परी का नाच**—एक राजा नाच देखने का बड़ा शौकीन था। एक बार उसने परियों का नाच देखने की इच्छा प्रकट की। उसके तीनों पुत्र परियों का नाच खोजने निकले। सबसे छोटा लड़का बड़ी कठिनाइयों के बाद सफल हो सका। उसने एक ऐसी बाँसुरी प्राप्त की, जिसे बजाने से परियाँ आकर नाचने लगती थीं।

( ३१ ) **बढ़ई का लड़का**—एक बढ़ई का लड़का गरीबी के कारण उपार्जन के निमित्त घर से निकला। उसका ब्याह एक बढ़ई की लड़की से हुआ। उस देश के राजा को उसने एक असाधारण खाट तैयार करके दी। राजा ने उस खाट की अद्भुत शक्ति देखकर उस बढ़ई के लड़के को अपना आधा राज्य दे दिया।

( ३२ ) **चार सिपाही**—किसी राजा के चार सिपाही हीन अवस्था को प्राप्त होकर जीविकोपार्जन के निमित्त निकले। एक दूसरे स्थान में पहुँचकर उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु, एक पेठ से उन्हें काफी सम्पत्ति मिली और वे सुखी हुए।

( ३३ ) **अनबोलती रानी**—मगही कहानी (१८) से बहुत थोड़ा अन्तर है।

( ३४ ) **लालाजी और बनिया**—एक लालाजी और एक बनिये में बड़ी गहरी दोस्ती थी। दोनों एक साथ जीविकोपार्जन के लिए चले। संयोग से बनिया राजा हो गया और लालाजी उसके दीवान। उन दोनों को किसी साधु ने चार उपदेश दिये थे। उनके सहारे वे सुखपूर्वक रहने लगे।

( ३५ ) **आपस का मेल**—किसी जंगल में सात भैंसें रहती थीं। उनमें से छह के बच्चों को बाघ मारकर खा गया। सातों भैंसों का दूध अब एक ही बच्चा पीता था। बड़े होने पर वह बहुत बलवान् हुआ और उसने बाघ को मार डाला।

(३६) **अपने भाग्य से राज्य**—भोजपुरी कहानी (९) से मिलती-जुलती है।

(३७) **राजकुमार और सात ठग**—एक राजकुमार शिकार खेलते-खेलते घने जंगल में पहुँचा। वह एक ठग के जाल में फँस गया। ठग सात भाई थे। उनके एक बहन भी थी। राजकुमार किसी प्रकार वहाँ से उनकी बहन को लेकर निकल भागा। सातों ठगों ने उसका पीछा किया। राजकुमार ने एक-एक कर सभी को मार डाला और उनकी बहन के साथ अपने राज्य में लौट आया।

(३८) राजा का चोर-पुत्र—एक राजा के सबसे छोटे पुत्र ने चोर बनने की इच्छा प्रकट की। राजा ने उसकी परीक्षा ली। वह सफल रहा। राजा ने उसे एक दूसरे राज्य से एक घोड़ा चुरा लाने को भेजा। राजकुमार ने उस राजा की लड़की से ब्याह कर लिया और दहेज में घोड़ा लेता आया।

(३९) अपने भाग्य से जन्म—भोजपुरी कहानी 'अपना भाग्य' (१७) से थोड़ा ही अन्तर है।

०

## मगही

(१) सीत-बसन्त—सीत और बसन्त नामक दो राजकुमार, जो सगे भाई थे, दुर्दिन के कारण अपने माता-पिता के भरण-पोषण के निमित्त कुछ उपार्जन करने निकले। रास्ते में उन्हें एक पेड़ में दो फल मिले। उन्हें ज्ञात हुआ कि इनमें से जो बड़ा फल खायगा, वह पहले राजा होगा और जो छोटा खायगा, वह बाद में। हुआ भी ऐसा ही। बड़ा फल खाने के कारण बड़ा भाई पहले राजा हुआ। छोटा भाई, छोटा फल खाने के कारण बड़ी कठिनाइयों के बाद राजा हुआ।

यह कथा बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित है।

(२) ठेठपाल—एक लड़के का नाम ठेठपाल था। इस नाम से अन्य लड़के उसे बहुत चिढ़ाते थे। इस कारण एक दिन वह घर छोड़कर भाग चला। रास्ते में उसे लक्ष्मी, धनपत तथा अमरसिंह नामक तीन व्यक्ति अपने नाम के ठीक विपरीत अवस्था में मिले। यह देख ठेठपाल की आँखें खुलीं। उसने विचार किया—

लछमी के देह लँगटे देखली, धनपत धूने पोआर।
अमरसिंघ के जरते देखली, सबसे निमन ठेठपाल॥

और, वह घर लौट आया।

यह कथा बिहार के सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित है।

(३) ठग और रानी—एक ठग ने, जो काना था, एक राजा की रानी को अपनी पत्नी बनाने के लिए अनेक कोशिशें कीं, किन्तु अपनी चतुराई के कारण रानी उसके चंगुल में न आई; उलटे वह ठग अपनी बची हुई आँख के साथ-साथ अपनी नाक और जीभ भी गँवा बैठा।

(४) खोहघारानी-नगधारानी—एक राजकुमार अपने ब्याह के निमित्त बहुत-सा धन लेकर निकला। रास्ते में एक चोर से उसकी दोस्ती हो गई। चोर की मदद से उसने बड़ी चतुराई से दो ब्याह किये। उसका पहला ब्याह एक खोह में रहनेवाली राजकुमारी से तथा दूसरा एक तालाब में रहनेवाली नाग-कन्या से हुआ। और, वह घर लौट आया।

(५) माँ का कलेजा—एक विधवा के एक पुत्र था, जिसे वह बहुत प्यार

करती थी। बड़ा होने पर एक राजकुमारी से व्याह करने के लिए उसने अपनी माँ का कलेजा काट लिया।

(६) गार्हस्थ्य जीवन—एक ब्राह्मण के दो लड़कियाँ थीं। एक ने व्याह किया और दूसरी ने संन्यास ले लिया। कुछ वर्षों के बाद दूसरी को ज्ञान हुआ कि संन्यास से अच्छा तो गार्हस्थ्य जीवन ही है। अतः, उसने भी व्याह कर लिया और अपने सतीत्व तथा सेवा-भावना के फलस्वरूप अपने कोढ़ी पति को स्वास्थ्य-लाभ कराया। अन्त में वह सपरिवार स्वर्ग गई।

(७) पत्नी का साला—एक राजा के कई लड़के हुए और मरते गये। जब उसके फिर लड़का हुआ, तब उसने उसे लड़की घोषित कर दिया। बच्चा जीवित रह गया। बाद में लड़की के वेश में ही उसका व्याह एक राजकुमार से हो गया। जब राजकुमार को पता चला कि उसकी पत्नी स्त्री-वेश में लड़का है, तब वह लज्जावश घर छोड़कर भाग गया। उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी (लड़का) से उसकी बहन का सम्बन्ध हुआ और वह गर्भवती हो गई। बाद में यह रहस्य प्रकट हुआ और उन दोनों का व्याह हो गया। उनके एक बच्चा भी हुआ। कुछ वर्षों के बाद भागा हुआ राजकुमार घर लौटा। उसे अपने भानजे से सारी बातें मालूम हुईं। इस प्रकार उसकी पत्नी उसकी बहनोई हुई, अर्थात् वह अपनी पत्नी का साला बन गया।

(८) कमबुधिया—एक गरीब परिवार के कमबुधिया नामक एक लड़के का व्याह एक राजकुमारी से हो गया। राजकुमारी अपने पति के घर आई। राजकुमारी ने श्रम से पति के परिवार को सम्पन्न बना दिया।

(९) राक्षसियों की छोटी बहन—किसी नगर के चार मित्र सैर को चले। वे स्त्री-वेशधारी चार राक्षसियों के फन्दे में पड़ गये, जो उन्हें खा जाना चाहती थीं। सबसे छोटी बहन को उस पर दया आ गई। उसने अपनी जान देकर उन चार मित्रों की रक्षा की।

(१०) आव निंदिया, जो निंदिया—एक राजा के घर से सोने के कुछ आभूषण चोरी चले गये। राजा ने एक ब्राह्मण से पता लगाने को कहा। बेचारे ब्राह्मण को डर के मारे रात में नींद नहीं आ रही थी। वह नींद बुलाने लगा—"आव निंदिया, जो निंदिया, बिहान जैमे पोखरी के पिंडिया।" ब्राह्मण की पड़ोसिन, निंदिया नामक राजा की दासी, यह सुनकर बहुत घबड़ा गई। आभूषणों की चोरी उसी ने की थी। उसने आभूषण लौटा दिये और ब्राह्मण की जान बच गई।

बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में यह कथा प्रचलित है।

(११) दया मुनि, बिलाय मुनि—इस कहानी में कथानक कुछ भी नहीं है। इसे बच्चों के हँसाने या बहलानेवाली कहानियों की कोटि में रखा जा सकता है।

यह कहानी मगही भाषा-क्षेत्र से आई है।

(१२) तिलो-मूँगो—यह कहानी भी (११) जैसी ही है। तिलो और मूँगो

नामक दो बहनों का ब्याह एक बन्दर से हो गया। दोनों उससे अपना पिण्ड छुड़ाकर किसी प्रकार अपने घर भाग आई।

(१३) डाँट भूरावाला—यह कहानी भी (११) और (१२) जैसी ही है। कथानक स्पष्ट नहीं है।

(१४) दयालु राजा विक्रमादित्य—राजा विक्रमादित्य को एक ऐसी मणि मिली थी, जिसके सहारे कोई भी दुर्लभ वस्तु प्राप्त की जा सकती थी। राजा ने एक दीन-हीन ब्राह्मण की दयनीय अवस्था से द्रवित हो मणि ब्राह्मण को दे दी।

राजा विक्रमादित्य के नाम पर इस प्रकार की बहुतेरी लोक-कथाएँ बिहार के सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

(१५) राजा विक्रमादित्य की उदारता—एक बार राजा विक्रमादित्य को पता चला कि अमुक राजा की लड़की उनसे ब्याह करना चाहती है। राजा ने कोढ़ी का वेश धारण कर उसकी परीक्षा ली और उसी वेश में उससे ब्याह कर लिया।

इससे मिलती-जुलती कहानियाँ समस्त बिहार में प्रचलित हैं।

(१६) राजा विक्रमादित्य पर विपत्ति—राजा विक्रमादित्य एक बार एक ब्राह्मण की रक्षा के निमित्त शनैश्चर के प्रकोप के भाजन बने। उनकी अवस्था बहुत ही खराब हो गई। उसी अवस्था में उनका ब्याह एक राजा की लड़की से हो गया। कुछ दिनों के बाद राजा की स्थिति पूर्ववत् हो गई।

इससे मिलती-जुलती कहानियाँ बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी प्रचलित हैं।

(१७) दान का फल—एक राजा का एक लड़का बड़ा ही दानी था। उसके अन्य भाई उससे ईर्ष्या करते थे। उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। वह अपनी ससुराल में रहने लगा। वहाँ भी उसे अनादर ही मिला। अन्त में लोग उसकी वास्तविक शक्ति से परिचित हुए। वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वर्गलोक गया।

इससे मिलती-जुलती कहानियाँ बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी प्रचलित हैं।

(१८) अनबोलती रानी—एक राजा का लड़का किसी कारणवश अपनी पत्नी से बदला लेना चाहता था। इसमें असफल होकर वह घर से निकल पड़ा। वह एक ऐसी राजकुमारी के जाल में फँस गया, जो बोलती नहीं थी। राजकुमारी की प्रतिज्ञा थी कि उसे जो बोलने के लिए बाध्य कर देगा, उसके साथ वह ब्याह कर लेगी। राजकुमार की पत्नी ने बड़ी चतुराई से इस कार्य को पूरा किया और अनबोलती रानी का ब्याह अपने पति से करा दिया। यह रहस्य जब उसके पति को मालूम हुआ, तब वह दंग रह गया और अपनी हार मान ली।

बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी ऐसी बहुतेरी कहानियाँ प्रचलित हैं।

(१९) ब्राह्मण और साधु—किसी ब्राह्मण ने किसी साधु को अपने दो लड़के इस शर्त्त पर दिये कि साधु उन्हें पढ़ा-लिखाकर बड़ा बनायगा; तब

एक को वह साधु ले लेगा और एक को ब्राह्मण। ब्राह्मण जब एक लड़के को लेने गया, तब साधु ने उसे वह लड़का देने से इनकार किया, जो उसे पसन्द था। ब्राह्मण के हठ करने पर उसे ऐसा करना ही पड़ा। ब्राह्मण जब उस लड़के को लेकर अपने घर की ओर चला, तब साधु ने मन्त्र बल से उस लड़के को प्राप्त करने का पुनः प्रयास किया। वह असफल रहा और उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा।

(२०) राजकुमार और बनिया की बेटी—एक राजकुमार और एक बनिया की लड़की में अपार प्रेम था। दोनों ने एक दूसरे को पाने के लिए बहुत प्रयत्न किये, किन्तु बनिये की लड़की का ब्याह दूसरी जगह हो गया। राजकुमार ने उसकी ससुराल से भी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वहाँ भी वह सफल नहीं हुआ। अन्त में दोनों को जान गँवानी पड़ी।

यह कहानी मगही-भाषा-क्षेत्र में आई है। इस कहानी पर लोक-गाथा 'रानी सारंगा' का प्रभाव लक्षित होता है। लोक-गाथा-विशेष की तरह इस कहानी में भी बीच-बीच में पद्य का व्यवहार हुआ है।

(२१) अपना भाग्य—एक राजा के सात लड़कों में भूसेन सब से छोटा था। किसी बात पर क्रुद्ध होकर राजा ने उसे घर से निकाल दिया। अपने अध्यवसाय तथा भाग्य से वह कुछ दिनों में ही बहुत बड़ा आदमी बन गया। अन्त में उसके पिता को मानना पड़ा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य से ही सुखी या दुःखी होता है।

ऐसी बहुतेरी कहानियाँ बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

(२२) रानी फूलमती—एक राजा के लड़के को उसकी सौतेली माँ ने मंत्र के बल से सुग्गा बना दिया। वह सुग्गे के वेश में ही एक राजकुमारी द्वारा पकड़ा गया। कुछ दिनों बाद यह रहस्य प्रकट हुआ और राजकुमारी के साथ उसका ब्याह हो गया। राजकुमारी के साथ घर लौटते समय भाग्य के फेर से दोनों एक दूसरे से अलग हो गये। बारह वर्षों के बाद पुनः दोनों मिले और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

ऐसी कहानियाँ बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

(२३) रुई का घोड़ा—एक राजकुमार को रुई का एक ऐसा घोड़ा मिला, जो आकाश में उड़ता था। उसके सहारे उसने फूलमती नामक राजकुमारी से ब्याह किया और अपने देश लौट आया।

ऐसी कहानियाँ बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी प्रचलित हैं।

(२४) सच्ची मित्रता—एक राजा के लड़के और उसके मन्त्री के लड़के में बड़ी मित्रता थी। मन्त्री के लड़के ने अपने मित्र के मन-पसन्द ब्याह के लिए बहुतेरी कठिनाइयों का सामना किया—यहाँ तक कि उसे पत्थर भी बनना पड़ा। किन्तु, अन्त में वह पुनः अपने असली रूप में आ गया।

ऐसी कहानियाँ बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

(२५) सती—एक ब्राह्मण को बड़ी तपस्या के बाद एक अल्पायु लड़का हुआ।

ब्याह के बाद कोहबर के दिन ही उसकी मृत्यु हो जानेवाली थी। किन्तु, उसकी पत्नी ने सतीत्व-बल से उसके प्राणों की रक्षा कर ली।

ऐसी कहानियाँ बिहार में सर्वत्र प्रचलित हैं।

( २६ ) राजा और दैत्य—किसी राजा को मारकर एक दैत्य उसका वेश धारण कर स्वयं राजा बन बैठा। रानी अपने नवजात पुत्र को लेकर वहाँ से भाग चली। बड़ा होने पर उसके पुत्र का ब्याह एक परी से हुआ। उसी की सहायता से उसने दो और विवाह किये तथा दैत्य को मारकर अपना राज्य प्राप्त किया।

( २७ ) मित्रता—यह कहानी (२४) से मिलती-जुलती है। कहानी के अन्त में थोड़ी-सी भिन्नता है।

( २८ ) सौतेली माँ—एक रानी ने अपने सौतेले पुत्र को मरवा डालना चाहा, लेकिन वह किसी प्रकार बच गया। वह अपनी ससुराल पहुँचा। वहाँ से वह अपनी पत्नी के साथ अपने घर चला। रास्ते में उसका दूसरा ब्याह एक अन्य राजकुमारी से हो गया। वह दोनों रानियों के साथ अपने राज्य में आया। उसके पिता उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए।

ऐसी कहानियाँ बिहार में अन्यत्र भी प्रचलित हैं।

( २९ ) ढाढ़िन रानी—एक राजकुमारी को धोखा देकर एक ढाढ़िन ने उसे मार डाला और स्वयं उसकी जगह पर रानी बन बैठी। बड़ी कठिनाई तथा बहुत दिनों के बाद राजकुमारी पुनः जीवित हो गई। उसके पति को जब यह रहस्य मालूम हुआ, तब उसने अपनी रानी को स्वीकार कर लिया और ढाढ़िन को मरवा डाला।

ऐसी कहानियाँ बिहार में अन्यत्र भी प्रचलित हैं।

( ३० ) किस्मत का खेल—एक राजकुमारी का ब्याह एक राजकुमार से हुआ। ऐसा कहा जाता था कि राजकुमारी की पीठ पर स्वयं उसका पिता ही एक सौ इक्कीस बाँस मारते-मारते तोड़ देगा। लोगों को सहसा विश्वास नहीं हुआ, लेकिन किस्मत का खेल कौन जाने? सचमुच ऐसा ही हुआ।

ऐसी कहानियाँ बिहार में अन्यत्र भी प्रचलित हैं।

( ३१ ) भाई-बहन—एक राजा के सात पुत्र और एक लड़की थी। सातों भाई अपनी बहन को बहुत मानते थे। उनकी रानियों को यह देख बहुत ईर्ष्या होती थी। एक बार जब सातों भाई शिकार खेलने गये, उनकी रानियों ने अपनी ननद को बहुत कष्ट दिया। लौटने पर उन्हें यह बात मालूम हुई। उन्होंने अपनी रानियों को मार डाला और अपनी बहन के साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

ऐसी कहानियाँ बिहार में अन्यत्र भी मिलती हैं।

( ३२ ) पुँछकटवा—एक गड़ेरिये के लड़के ने एक बाघ को किसी समय बुरी अवस्था में देख लिया। बाघ ने उससे बहुत अनुनय किया कि वह इस बात को कहीं न कहे। किन्तु, उस लड़के ने अपनी माँ से यह बात कह दी। बाघ ने उससे बदला लेने के

लिए बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। उसकी सहायता एक स्यार ने की और उसे भी अपनी दुम गँवानी पड़ी। तब से उस लड़के का नाम 'पुँछकटवा' पड़ गया।

बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी बच्चों को बहलाने के लिए ऐसी बहुतेरी कहानियाँ कही जाती हैं।

( ३३ ) बेलवा रानी—यह कहानी बहुत कुछ ( २९ ) से मिलती-जुलती है। भिन्नताएँ बहुत थोड़ी हैं। पहली कहानी मगही-भाषा-क्षेत्र के गया जिले से और प्रस्तुत कहानी पटना जिले से आई है।

( ३४ ) चुगली का फल—एक राजा अपने मन्त्री को बहुत मानता था। यह देख एक नपुंसक बहुत जलता था। उसने राजा से चुगली कर मन्त्री से तीन विकट प्रश्न पूछे। मन्त्री ने बड़ी चतुराई से तीनों प्रश्नों के उत्तर दिये और उस नपुंसक को दण्ड दिलाया।

ऐसी कहानियाँ अन्यत्र भी मिलती है।

( ३५ ) बितनमा—एक बूढ़ी स्त्री के एक पुत्र था, जिसका नाम बितनमा था। वह बड़ा चतुर था। उसके मामा लोगों ने उसके पिता को मार डाला था। उसने उन्हें पहले तो मूर्ख बनाया और अन्त में मार डाला।

कहानी का आरम्भिक अंश भोजपुरी-कहानी (१२) से तथा शेषांश भोजपुरी-कहानी (५) से मिलता है, किन्तु भिन्नताएँ भी बहुत है। यह कहानी बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित हैं।

( ३६ ) वेश्या और भाट—भोजपुरी-कहानी (२) के समान है।

( ३७ ) राजकुमार और वेश्या—एक राजकुमार एक वेश्या के जाल में फँस जाने के कारण अपनी सुन्दर स्त्री की उपेक्षा करता था। उसकी पत्नी ने उसे बड़ी चतुराई से अपने वश में किया।

इससे मिलती-जुलती कहानियाँ बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी पाई जाती हैं।

( ३८ ) सन्तान—एक राजा के दो रानियाँ थीं। किन्तु, दोनों में से किसी से सन्तान नहीं थी। बहुत दिनों के बाद बड़ी रानी के दो बच्चे हुए। छोटी ने ईर्ष्यावश धोखे से उन्हें मरवा डाला। बड़ी कठिनाई के बाद राजा को दोनों बच्चे पुनः जीवित मिले। राजा अपनी बड़ी रानी तथा बच्चों के साथ सुखपूर्वक रहने लगा और छोटी रानी को प्राण-दण्ड मिला।

( ३९ ) शक्ति का दुरुपयोग—एक पण्डित के तीन पुत्रों ने समूचे शरीर के किसी भी अंग की हड्डी पाकर क्रमशः उससे समूचे शरीर का ढांचा खड़ा करने उसे मांसयुक्त एवं सजीव बनाने की शक्ति प्राप्त की। परीक्षा के रूप में तीनों ने मिलकर एक बाघ को जीवित किया। बाघ ने उन्हें मार डाला। लेकिन, किसी प्रकार वे पुनः जीवित हो गये।

( ४० ) बँदरिया की करामात—एक राजा के दो रानियाँ थीं। सन्तान किसी से भी नहीं थी। राजा बड़ी रानी की उपेक्षा करता था और छोटी को बहुत मानता था। राजा ने एक बार उपहार-स्वरूप बड़ी रानी को एक बँदरी दी। बँदरी बड़ी रानी के साथ

रहने लगी। उसी की करामात से बड़ी रानी के एक लड़का हुआ। बाद में सभी सुखपूर्वक रहने लगे।

( ४१ ) राजा भोज और उनकी चार रानियाँ—राजा भोज एक बार एक सेठ की पतोहू को एक दूसरे आदमी के प्रति अनुरक्त जानकर हँस दिये। किन्तु, स्वयं राजा की चारों रानियाँ एक साधु के प्रति आसक्त थीं। यह बात मालूम होने के बाद राजा ने साधु-सहित अपनी चारों रानियों को मार डाला।

( ४२ ) ज्योतिषी—एक ज्योतिषी भूत-भविष्य की बातें जानता था। लेकिन, लोग उसे पागल समझते थे। उस देश के राजा ने उसकी परीक्षा ली। उसकी बातें सच निकलीं। राजा ने उसे अपना मन्त्री बना लिया।

( ४३ ) चुहिया के चार बच्चे—एक चुहिया के चार बच्चे पैदा हुए। उनमें से एक बैल, एक बाघ, एक सुअर और एक मनुष्य था। मानव-जाति के बच्चे ने बड़े होने पर एक परी और एक राक्षस की लड़की से ब्याह किया। एक राजा, जिसके यहाँ वह नौकर था, उसकी परी पत्नी को अपनाना चाहता था। किन्तु, अपने तीनों भाइयों की सहायता के फलस्वरूप उसका बाल तक बाँका न हुआ।

( ४४ ) चींटी का बल और चोर की बुद्धि—एक राजकुमार की माँ प्रतिदिन उसे आशीर्वाद देती थी—तुम्हें चींटी का बल और चोर की बुद्धि मिले। राजकुमार को बहुत आश्चर्य होता था। किन्तु, बड़े होने पर जब उसे व्यावहारिक ज्ञान हुआ, तब उसे माँ का आशीर्वाद संगत प्रतीत होने लगा।

( ४५ ) राजा का लड़का और परी—एक राजा के लड़के ने एक परी से ब्याह किया। वह दिन-भर तो उसके साथ रहती थी, किन्तु रात में चली जाती थी। राजकुमार ने अपने मित्र की सहायता से उसपर विजय पाई और एक दूसरी परी से भी ब्याह करने में सफल हुआ।

( ४६ ) चार यार—एक राजकुमार तथा उसके तीन मित्रों में बड़ी गहरी दोस्ती थी। एक दिन राजकुमार अपनी पत्नी को किसी बात पर रुष्ट होकर अपने तीनों मित्रों के साथ घर से निकल गया। रास्ते में तीनों अलग हो गये। राजकुमार का ब्याह एक दूसरे देश की राजकुमारी से हो गया। कुछ दिनों के बाद वह अपनी इस रानी को खो बैठा। बड़ी कठिनाई से चारों यार पुनः मिले। शेष तीनों का भी ब्याह हो गया। राजकुमार को अपनी रानी भी मिल गई। सभी अपने देश लौट आये। राजकुमार ने अपनी पहली रानी को मार डाला।

( ४७ ) नीलकण्ठ—एक ब्राह्मण की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे नीलकण्ठ नामक एक पुत्र दिया, किन्तु शर्त यह थी कि विवाह के बाद वे पुनः नीलकण्ठ को ले लेंगे। ब्याह के बाद नीलकण्ठ मर गया। लेकिन, बहुत प्रयास के बाद वह पुनः जीवित हो गया। सभी सुखपूर्वक रहने लगे।

( ४८ ) मुर्दे से ब्याह—एक राजकुमारी के भाग्य में बारह वर्ष के मुर्दे से ब्याह

लिखा था। काल-क्रम से ऐसा ही हुआ। किन्तु, जीवित होने पर उस मुद् ने, जो एक राजा था, धोखे से राजकुमारी की दासी से ही. उसे राजकुमारी समझकर, ब्याह कर लिया। कुछ दिनों के बाद भेद खुला। राजा ने राजकुमारी को अपना लिया और वे सुख से रहने लगे।

( ४९ ) जुलाहे की लड़की और राजा—एक जुलाहे की लड़की और वहाँ के राजा में अनबन हो गई। लड़की ने आवेश में आकर कहा—मैं आप से घास गढ़वाऊँगी। राजा ने उस लड़की से ब्याह कर उसे जंगल में छोड़ दिया। भाग्यवश, वह लड़की जंगल में ही समृद्ध बन गई और राजा दीन-हीन हो गये। राजा ने अनजान में ही उसके यहाँ घास गढ़ने की नौकरी कर ली। बाद में परिचय हुआ और दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

( ५० ) चतुर पण्डित—भोजपुरी-कहानी (१०) के साथ बहुत थोड़ा अन्तर है।

( ५१ ) दान का फल—एक ब्राह्मण अपनी लड़की को भार-स्वरूप समझकर मार डालना चाहता था। लड़की के अनुनय-विनय करने पर उसने उसे छोड़ दिया। उसी के चलते उस ब्राह्मण को एक राजा से प्रतिदिन सवा सेर सोना दान में मिलने लगा। उसकी चतुराई से अन्त में राजा से उसे आधा राज्य भी मिल गया।

( ५२ ) सारन-कन्या—एक राजकुमार अपनी भौजाई की किसी बात से क्षुब्ध होकर सारन नामक लड़की ढूँढ़ने निकला। बहुत कठिनाइयों के बाद उसे सारन-कन्या तो मिली, किन्तु वह पुनः हाथ से निकल गई। बहुत दिनों के बाद वह फिर उसे मिल गई। राजकुमार उसे तथा 'नागवाली रानी' नामक राजकुमारी को लेकर घर लौटा।

( ५३ ) ब्रह्मपिशाच—एक तेली मरकर ब्रह्मपिशाच हो गया था। जिस जगह वह रहता था, उधर से होकर जितने लोग जाते थे, उनसे वह प्रश्न पूछता था और समुचित उत्तर न मिलने पर उन्हें मार डालता था। एक ब्राह्मण ने उसके प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये। उसने ब्राह्मण को मालामाल कर दिया। ब्राह्मण द्वारा किये गये अनुष्ठान के फलस्वरूप वह पुनः आदमी बन गया।

( ५४ ) भाग्य की प्रधानता—एक राजा अपनी पुत्री से किसी कारण रुष्ट हो गया। उसने अपनी पुत्री का ब्याह मुसहर जाति के एक अनाथ लड़के से कर दिया। राजकुमारी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। भगवान् की कृपा तथा परिश्रम के फलस्वरूप कुछ ही दिनों में वे खूब सम्पन्न हो गये। राजकुमारी के पिता को यह मालूम हुआ, तो वे आश्चर्य-चकित हो गये।

( ५५ ) भाग्य की बात—एक राजा के चार लड़के थे। सब से छोटा बहुत ही भाग्यशाली था। शेष तीनों भाई उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। किन्तु, उसने अपने भाग्य के बल से अपने पिता का आधा राज्य तो लिया ही, एक ऐसी राजकुमारी से ब्याह भी किया, जिससे ब्याह करना बहुत ही कठिन था। उसने अपने ससुर का भी आधा राज्य प्राप्त कर लिया।

## मैथिली

( १ ) अलमन्ती कुमारी—आरम्भिक अंश मगही-कहानी (१८) से मिलता-जुलता है।

( २ ) राजकुमार और योगी—एक राजकुमार अपने पिता के मना करने पर भी उत्तर दिशा की ओर गया। एक जंगल में पहुँचकर उसने एक योगी के साथ जुआ खेला। उसकी बुरी तरह हार हुई। वह अपनी ससुराल गया। वहाँ से वह अपनी पत्नी के साथ पुनः जंगल में आया, फिर उसने जुआ खेला और फिर हार गया। उसने अपनी पत्नी को कुएँ में गिरा दिया, पर वह किसी प्रकार बच गई। वह पुनः ससुराल गया, उसने पत्नी की सहायता से योगी को हराया और अपार सम्पत्ति लेकर वह घर लौट आया।

इस तरह की कहानियाँ मगही और भोजपुरी भाषा-क्षेत्रों से भी प्राप्त हुई हैं।

( ३ ) बराबर हिस्सा—एक ब्राह्मण और एक बनिया कहीं से कुछ उपार्जन करके लौटे। हिस्सा लगाते समय ब्राह्मण स्वयं तीन हिस्से लेना और बनिये को एक हिस्सा देना चाहता था। बनिया के मानने पर उसने अपनी बूढ़ी माँ को 'भूमा बाबा' बनाया। भूमा बाबा ने ब्राह्मण का मनचाहा फैसला दिया। लेकिन बनिये की धूर्त्तता के कारण उसे आधा हिस्सा देना ही पड़ा।

( ४ ) तोता-मैना—भोजपुरी-कहानी (२१) तथा मगही-कहानी (२४) और (२७) से मिलती-जुलती है। अन्तर यही है कि ये दोनों ही कहानियाँ एक मैना के मुख से कहलाई गई है।

( ५ ) बाघ और खरहा—मगही-कहानी (३२) से मिलती-जुलती है। प्रसङ्ग में थोड़ा अन्तर है।

( ६ ) चतुरी पण्डित—चतुरी पण्डित नामक ब्राह्मण की स्त्री से उस देश के राजा को प्रेम हो गया था। चतुरी पण्डित की पत्नी की सलाह से राजा ने चतुरी पण्डित को एक कठिन काम करने का आदेश दिया। पण्डितजी इसे करने में सफल हुए और उनकी जान बच गई।

( ७ ) स्त्री-दान—यह मैथिली-कहानी (१), भोजपुरी-कहानी (३३) तथा मगही-कहानी (१८) से मिलती-जुलती है; प्रसङ्ग में थोड़ा अन्तर है।

( ८ ) ब्राह्मण का लड़का और ठग—भोजपुरी-कहानी कुँवर और सात ठग (२६) से मिलती-जुलती है।

( ९ ) विचित्र वरदान—एक ब्राह्मण को विधाता ने एक ऐसी गठरी दी, जिसमें बँधा हुआ भोजन का सामान कभी समाप्त ही नहीं होता था। चोर उसे चुरा ले गये। तब विधाता ने उसे पाँच ऐसी छड़ियाँ दीं, जिनके सहारे उसे गठरी फिर मिल गई।

( १० ) उपकार का फल—एक गरीब ब्राह्मण ने कुएँ में गिरे हुए एक बाघ, एक कौवे, एक साँप तथा एक राजकुमार की रक्षा की। सभी ने उसे अपने-अपने घर आने के

लिए निमंत्रित किया। ब्राह्मण बारी-बारी प्रथम तीनों के यहाँ गया और उसे पूरी सम्पत्ति मिली। राजकुमार के घर जाने पर कुछ मिलने की कौन कहे, उल्टे राजकुमार को स्त्री ने उसकी बलि दिलानी चाही। ब्राह्मण ने प्रथम तीनों को याद किया। वे तुरत उसकी रक्षा के लिए वहाँ पहुँच गये। ब्राह्मण की जान बच गई और उसे सम्पत्ति भी मिली।

( ११ ) सतीत्व-बल—एक विधवा ब्राह्मणी नियमित रूप से किसी मन्दिर में शिव की पूजा करने जाती थी। एक बार एक डोम ने उसका सतीत्व-भंग करना चाहा। लेकिन, महादेव की कृपा से उसके सतीत्व की रक्षा हो गई। लोगों ने उसकी परीक्षा ली। वह शुद्ध साबित हुई।

( १२ ) कंजूस सेठ—एक सेठजी बड़े ही कंजूस थे। एक बार उन्होंने गंगा के किनारे एक ब्राह्मण को किसी प्रकार सवा सेर चावल दान में संकल्प किये, किन्तु उन्हें भी नहीं देना पड़े, इस नीयत से उन्होंने मर जाने का बहाना किया। उनकी चिता सजाई गई। आग लगाने के समय वे डरकर उठ बैठे, तो सभी जान लेकर भागे।

ब्राह्मणवेशधारी भगवान् विष्णु ने अपने असली रूप में प्रकट होकर उस सेठ से कुछ माँगने को कहा। सेठ ने उनसे दान किये हुए सवा सेर चावल छोड़ देने की याचना की। भगवान् ने उसे ऐसा ही वचन दिया और अन्तर्धान हो गये।

(१३) गोदान—एक सेठजी बहुत ही कंजूस थे। एक बार वे अपनी पत्नी के साथ गंगा-स्नान करने गये। उनकी पत्नी ने उनकी अनुमति के बिना ही सोने की गाय पर मिट्टी का लेपकर दान किया। दान करते समय दोनों ने उस गाय का एक-एक पैर पकड़ा। दोनों ही स्वर्गलोक की ओर चले। रास्ते में गंगा पार करते समय गाय की देह पर की मिट्टी गल गई। सेठ ने सोने की गाय देखते ही गाय का पैर छोड़ दिया। फलस्वरूप, वे नदी में डूब गये। सेठानी अकेली ही स्वर्ग गई।

( १४ ) रहस्य का पता—एक ब्राह्मण की कुछ अशर्फियाँ सुपारी साहू नामक एक सेठ ने हड़प लीं। ब्राह्मण ने उस नगर में चारों तरफ घूम-घूमकर देखा, तो सभी जगह उसे धोखा-ही-धोखा नजर आया। दूसरे दिन उसने नगर के राजा के सम्मुख रहस्योद्घाटन किया। राजा ने सभी धोखेबाजों को दण्डित किया। ब्राह्मण को उसकी अशर्फियाँ तो मिल ही गईं, साथ ही राजा से भी पूरी संपत्ति प्राप्त हुई।

( १५ ) त्रिया-चरित्र—एक ब्राह्मणी अपने पति को अपनी तीन सखियों के यहाँ त्रिया-चरित्र सीखने के लिए भेजा। ब्राह्मण बेचारे उन तीनों का त्रिया-चरित्र देखकर दंग रह गये।

( १६ ) छठी माई की कृपा—किसी गाँव में एक सास और उसकी पतोहू रहती थी। छठी माई की कृपा से पतोहू के वस्त्राभूषण सोने में परिणत हो गये। सास ने भी पतोहू की देखादेखी वैसा ही चाहा। किन्तु, उसके सारे शरीर में सफेद कोढ़ हो गया।

( १७ ) छठी माई का कोप—छठ पर्व के दिन एक तेली ने लोगों को पूजा के लिए तेल देने से इनकार किया। फलस्वरूप, छठी माई ने कुपित हो उसके शरीर को मांस

के लोथड़े में परिणत कर दिया। उसकी पत्नी के बहुत अनुनय-विनय करने पर छठी माई ने उसे पुनः मनुष्य बना दिया तथा उसे भविष्य में वैसा न करने के लिए सावधान किया।

( १८ ) पण्डित का लड़का—एक पण्डित के एक लड़का था, जो बहुत बड़ा विद्वान् था। लेकिन, वह सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ था। वह अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन नहीं बिताता था। अपनी भौजाई के बहुत समझाने-बुझाने पर वह अपनी पत्नी के साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

( १९ ) बेफिक्र ब्राह्मण—एक ब्राह्मण के घर में चोरी हुई। लोगों ने इसकी सूचना उस ब्राह्मण को दी, किन्तु उस पर इसका कुछ भी असर नहीं पड़ा।

( २० ) पौरुषहीन व्यक्ति—एक गाँव में एक श्रोत्रिय ब्राह्मण था। एक दिन उसके घर में साँप निकला। उसने अपनी पत्नी से कहा – इसे मारने के लिए किसी पुरुष को बुला लाओ। उसकी पत्नी ने पूछा – क्या आप पुरुष नहीं हैं ? इतना सुनकर जबतक वह ब्राह्मण लाठी लाने गया, तबतक साँप भाग गया।

( २१ ) मौलवी साहब—एक मौलवी साहब ने एक शिष्य की माँ के साथ अनुचित आचरण बरतना चाहा। किन्तु, उस शिष्य की माँ ने बड़ी चतुराई से अपने सतीत्व की रक्षा की।

( २२ ) मौलवी साहब और उनका शिष्य—एक मौलवी साहब ने किसी अश्लील प्रसङ्ग को टालने के लिए अपने शिष्य से कुछ और ही बात बता दी। वह शिष्य बड़ा शरारती था। उसने उसका दुरुपयोग किया।

( २३ ) मूर्ख मुसलमान—एक मुसलमान गौना कराकर अपनी पत्नी तथा अपने साले के साथ अपने घर जा रहा था। तीनों के तीनों मूर्ख थे। एक ब्राह्मण ने उनकी मूर्खता से अनुचित लाभ उठाया।

( २४ ) बारो के मौलवी साहब—एक व्यक्ति बारो ग्राम से होकर कहीं जा रहा था। जब उसे यह मालूम हुआ कि यह बारो गाँव है, तब उसके मुँह से निकल पड़ा—अच्छा, यही बारो है ! यह सुनकर एक मौलवी साहब बोल उठे—अब बारो वह बारो नहीं रहा। इतना कहने के साथ ही उन्होंने कुछ ऐसा आचरण किया कि उनकी मूर्खता स्वतः प्रकट हो गई।

( २५ ) कौआ उतरेगा कैसे—बारो ग्राम में किसी के घर पर एक कौआ बैठा। घर के छप्पर से लगी एक सीढ़ी थी। लोग समझे कि कौआ इसी सीढ़ी से ऊपर चढ़ गया है। उन्होंने सीढ़ी हटा दी—यह सोचकर कि कौआ उतरेगा कैसे !

( २६ ) गोनू झा की चालाकी—एक बार गोनू झा राजा के यहाँ धान का बीज माँगने गये। राजा ने उनसे पूछा कि उन्हें कैसी जमीन के लायक बीज चाहिए। गोनू झा ने सोच-समझ कर ऐसा जवाब दिया कि राजा को उन्हें बीज देना ही पड़ा।

( २७ ) गोनू झा की धूर्त्तता—किसी कारणवश राजा ने गोनू झा का घर जलवा दिया। गोनू झा ने ऐसी चाल चली कि गाँव के सभी लोगों ने अपना-अपना घर

जला डाला। राजा को जब यह बात मालूम हुई, तब वे गोनू झा की धूर्तता पर दंग रह गये।

( २८ ) गोनू झा का घर—गोनू झा से नाराज होकर एक बार राजा ने अपने लड़के के ब्याह में गोनू झा को निमन्त्रण नहीं दिया। लेकिन, गोनू झा किसी प्रकार बरात में पहुँच गये—यहाँ तक कि वे राजा के लड़के के कोहबर में भी पहुँच गये। वहाँ एक ऐसी घटना घटी कि राजा के लड़के ने गोनू झा के लिए एक मकान बनवा दिया।

( २९ ) परीक्षा—एक वैद्यजी ने आयुर्वेद की परीक्षा में उत्तीर्ण अपने लड़के की परीक्षा ली। उन्होंने उसके पास किसी आदमी को भेजा। वह आदमी उनके आदेशानुसार रास्ते में तेतर (तिन्तिडी = इमली) के वृक्ष के नीचे विश्राम करता गया, वहाँ पहुँचते-पहुँचते उसके शरीर में सफेद कोढ़ हो गया। वैद्यजी के पुत्र ने यह सब जानकर उसे नीम के पेड़ के नीचे विश्राम करते हुए घर लौटने का आदेश दिया। घर आते-आते उसका कोढ़ अच्छा हो गया। वैद्यजी अपने लड़के की योग्यता से बहुत प्रसन्न हुए।

( ३० ) अज्ञान की उपादेयता—ढोढ़ाई मिश्र नामक एक वैद्य थे। वैद्यक की उनकी जानकारी नाममात्र की थी। उन्हें केवल एक ही दवा मालूम थी। वे उसे ही सभी रोगियों को बतलाया करते थे। लेकिन, भगवान् की कृपा से उनका यह अज्ञान ही दो-तीन कठिन रोगों में कारगर हो गया। फलस्वरूप, उनका सम्मान राज-दरबार में भी होने लगा।

( ३१ ) आलसी की परीक्षा—एक राजा ने अपने राज्य में यह घोषणा करा दी कि राज्य के सभी आलसियों को मुफ्त भोजन-कपड़ा मिलेगा। यह सुनकर बहुतेरे लोग इकट्ठे हो गये, किन्तु जब उनकी परीक्षा हुई, तब उनमें से केवल चार ही सही मानो में आलसी निकले।

•

## अङ्गिका

( १ ) सीत-बसन्त—देखिए मगही-कहानी (१); दोनों में स्वल्प अन्तर है।

( २ ) किसके भाग्य से जन्म—इस शीर्षक से तथा अन्य शीर्षकों से भी इस तरह की एकाधिक कहानियों का परिचय पहले दिया जा चुका है।

( ३ ) राजा हरिश्चन्द्र—राजा हरिश्चन्द्र पर एक बार विपत्ति आई। बहुत दिनों तक वे इधर-उधर मारे फिरे। अन्त में, उनके अच्छे दिन लौटे और वे पुनः सुखी हुए।

कथा का अन्तिम अंश 'ढोलन' नामक गाथा-गीत से मिलता-जुलता है। राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र का नाम यहाँ 'ढोलन' ही रखा गया है।

( ४ ) हीरा और लालपरी—एक राजा की लालपरी नामक लड़की का ब्याह उसके मन्त्री के लड़के हीरा से तय हो गया था। इसी बीच मन्त्री का देहान्त हो गया।

नये मन्त्री को यह सम्बन्ध पसन्द नहीं था। फलस्वरूप हीरा और लालपरी घर से निकल भागे। बड़ी कठिनाइयों का सामना करने के बाद वे एक साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

( ५ ) बानर-बनरी—एक बानर था। उसकी बनरी मर गई। इसके बाद वह इधर-उधर भटकता रहा। बनरी के बदले उसे एक-एक कर कई चीजें मिलीं। अन्त में उसे एक स्त्री मिली, जिसे वह अपनी पत्नी बनाना चाहता था। किन्तु, उस स्त्री ने उसे जान से मार डाला।

( ६ ) त्रिया-चरित्र—एक ग्वाले की पत्नी बहुत चतुर थी। ग्वाले के यहाँ कर वसूल करने के लिए प्यादा, सिपाही और तहसीलदार आये। उसकी पत्नी ने उन तीनों को अपने जाल में फँसाकर उनकी बड़ी दुर्गति की।

( ७ ) धूर्त्त ब्राह्मण—एक गाँव में एक गरीब, पर धूर्त्त ब्राह्मण रहता था। वह धनोपार्जन के निमित्त कहीं बाहर गया। वहाँ उसने अपनी धूर्त्तता से एक वेश्या के साथ भोग-विलास किया और चलते समय खूब रुपये भी ठगे।

( ८ ) शेखचिल्ली—किसी गाँव में शेखचिल्ली नामक एक विचित्र व्यक्ति रहता था। उसके सभी कार्य विचित्र होते थे। इसी के फलस्वरूप उसने बहुत-से अद्भुत कार्य किये।

( ९ ) ब्राह्मण और चोर—एक गरीब ब्राह्मण एक बार कुछ चोरों के फेर में पड़ गया। लेकिन, अपने सीधेपन से ही उसने अपने को चोर बनने से बचाया तथा दूसरों के घर चोरी न हो, इसका भी उपाय किया।

( १० ) बकरी का बच्चा—एक बकरी का बच्चा बड़ा चतुर था। उसने बड़ी चतुराई से एक बाघ, एक लकड़ ( एक वन्य हिंस्रक पशु ) और एक स्यार से अपनी रक्षा की।

( ११ ) तीन भाई—एक मुसलमान राजा के तीन लड़के थे। तीनों बड़े चतुर थे। उनकी एक बड़ी सुन्दर चचेरी बहन थी। राजा ने अपने लड़कों में से किसी एक से उसका ब्याह करना चाहा। शर्त्त के अनुसार ब्याह सबसे छोटे लड़के से होना चाहिए था, लेकिन हुआ सबसे बड़े लड़के से। छोटे को इससे बहुत दुःख हुआ, लेकिन उसका ब्याह भी एक ऐसी लड़की से हो गया, जो और अधिक सुन्दर थी।

( १२ ) मूर्ख नौकर—एक व्यक्ति ने एक ऐसे आदमी को नौकर रखा, जो महामूर्ख था। बिना विचारे ही वह कोई काम कर बैठता था। इस कारण मालिक की कई बार बड़ी बदनामी हुई। अन्त में उसने उसे हटा दिया।

( १३ ) अकबर और बीरबल—एक बार अकबर ने बीरबल को किसी प्रसङ्ग में खूब छकाया। वह उस प्रसङ्ग की याद दिलाकर सदैव बीरबल को लज्जित कर दिया करते थे। बीरबल भी मौके की तलाश में था। उसने भी एक बार अकबर को ऐसा छकाया कि उनका मुँह सदा के लिए बन्द हो गया।

( १४ ) बाघ और स्यार—एक बार एक बाघ किसी स्यार के डर से कहीं

भागा जा रहा था। एक व्यक्ति को यह बात मालूम हो गई। बाघ ने उससे बहुत अनुनय किया कि वह किसी से यह बात कहेगा नहीं। लेकिन, उस व्यक्ति ने अपनी पत्नी से यह बात कह दी। यह जानकर बाघ उसे मारने के लिए तैयार हुआ, किन्तु उस आदमी ने चतुराई से अपनी जान बचा ली।

ऐसी और कहानियाँ भी संगृहीत हैं। जिनका पहले उल्लेख हो चुका है।

( १५ ) राजकुमार और वेश्या—एक वेश्या ने एक राजकुमार को बहुत नीचा दिखाया। राजकुमार ने यह प्रतिज्ञा की कि वह उसे अपनी दासी बनायगा। अपने पिता की सहायता से वह अपने वचन की रक्षा करने में सफल हो सका।

( १६ ) कौवाहँकनी—मगही-कहानी (३८) और इसमें स्वल्प अन्तर है।

( १७ ) चार मित्र—चार मित्र एक साथ विदेश गये। चारों में चार विशेषताएँ थीं। चारों एक-दूसरे से अलग हो गये। किन्तु अपनी-अपनी विशेषताओं के फलस्वरूप पुनः सभी मिल गये।

( १८ ) सजीव मूर्त्ति—किसी नगर में चार मित्र रहते थे। चारों ने मिलकर एक ऐसी मूर्त्ति बनाई, जो विधाता की कृपा से जीवित हो गई। अब झगड़ा चला कि वह किसकी हुई। अन्त में विधाता ने इस झगड़े को मिटाने के लिए पुनः उसे मूर्त्ति-मात्र बना दिया।

( १९ ) दो गधे—दो गधों में से एक पर नमक और दूसरे पर रुई का बोझ लदा हुआ था। नमकवाला गधा भारी बोझ के कारण बहुत कष्ट पा रहा था और रुईवाला मौज से राह तय करता जा रहा थ। रास्ते में दोनों को नदी पार करनी पड़ी। इसके बाद दोनों की हालत ठीक उल्टी हो गई।

यह प्रसिद्ध नीति-कथा है।

( २० ) मूर्ख धोबी—एक मूर्ख धोबी अपने लड़के के साथ अपना गधा बेचने बाजार जा रहा था। लोगों के कहने में आकर कभी तो वह स्वयं और कभी अपने लड़के को गधे पर चढ़ाता था। परिणाम यह हुआ कि गधा रास्ते में ही मर गया।

यह भी प्रसिद्ध नीति-कथा है।

( २१ ) चार मूर्ख—चार मूर्ख एक साथ धन के लालच में बाहर निकले। उन्हें क्रमशः पीतल, चाँदी और सोने की खानें मिलीं। लेकिन, उन्हें इनसे सन्तोष नहीं हुआ। चौथा इससे भी कीमती चीज के लोभ में आगे बढ़ा। फलस्वरूप, उसकी बड़ी दुर्गति हुई। ऐसी एक कहानी का उल्लेख पहले हो चुका है।

( २२ ) ससुराल में मूर्ख—एक मूर्ख अपनी ससुराल गया। अपनी मूर्खता के कारण वह दूसरे दिन ही, बिना कुछ खाये-पिये छिपकर घर लौट आया।

( २३ ) मूर्ख अहीर—एक अहीर अपनी ससुराल जा रहा था। रास्ते में उसने मूर्खतावश अपने सभी कपड़े फेंक दिये और निर्वस्त्र ही ससुराल पहुँचकर मिट्टी की एक कोठरी में छिपकर बैठा रहा। बाद में यह भेद खुला।

( २४ ) ब्राह्मण और हजाम—एक ब्राह्मण और एक हजाम एक साथ परदेश निकले। रास्ते में हजाम ने कुछ ऐसी चीजें अपने साथ ले लीं, जिनका कुछ भी महत्त्व नहीं था। किन्तु, एक ऐसा अवसर आया कि उन तुच्छ चीजों के चलते ही उनकी जान बची।

( २५ ) बड़े की आज्ञा—एक राजा ने अपने पुत्रों को सावधान कर दिया था कि वे दक्षिण दिशा में शिकार खेलने न जायँ। उसके लड़कों ने मना करने के बावजूद ऐसा किया और वे मुसीबत में पड़ गये। तीन तो किसी प्रकार बच निकले, किन्तु सबसे छोटे को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। अन्त में वह भी आनन्दपूर्वक रहने लगा।

इसके पूर्व भी ऐसी अन्य कहानियों का उल्लेख हो चुका है।

( २६ ) निनियादासी—ऐसी प्रसिद्धि थी कि गोनू ओझा भविष्यवक्ता थे। बात ऐसी थी नहीं। फिर भी, अपनी सहज बुद्धि से उन्होंने एक धोबी के खोये हुए गधे तथा निनियादासी द्वारा चुराये गये एक हार का पता लगा दिया। इस बात से उनकी ख्याति और अधिक बढ़ गई।

मैथिली-भाषा-क्षेत्र से प्राप्त गोनू झा की एकाधिक कहानियों का उल्लेख हो चुका है। अङ्गिका-क्षेत्र में गोनू झा के बदले गोनू ओझा नाम मिलता है।

( २७ ) गोनू ओझा की चतुराई—एक बार राजा ने गोनू ओझा को एक बिलार पोसने को दिया। फिर, राजा ने उनका घर जलवा दिया तथा एक बार उनकी भैंसें मरवा डालीं। गोनू ओझा की चतुराई के कारण ये सभी बातें उनके लिए वरदान साबित हुईं। राजा को हार माननी पड़ी।

( २८ ) चतुर लड़का—एक लड़का बड़ा चतुर था। वह दो बार एक दुष्ट बुढ़िया के फेर में पड़ा। लेकिन, अपनी चतुराई से उसने बुढ़िया को दोनों बार खूब छकाया और निकल भागा।

( २९ ) बदला—एक राजा ने एक नौकर रखा। शर्त के मुताबिक काम नहीं करने के कारण उन्होंने उसके नाक-कान कटवा लिये। नौकर अपने घर चला गया। उसकी ऐसी दशा देखकर उसका छोटा भाई उस राजा के यहाँ गया और उसने बड़ी चतुराई से अपने भाई का बदला लिया।

( ३० ) उत्तम प्रबन्ध—एक लकड़हारा बहुत गरीब था। एक बार वह किसी राजा के यहाँ गया। रानी ने अनुमान किया कि लकड़हारे की पत्नी कुशल गृहिणी नहीं है, इसीलिए लकड़हारे की ऐसी हालत है। राजा ने कहा, तुम स्वयं उसके साथ जाकर उसकी स्थिति सुधार दो। रानी ने सचमुच ऐसा कर दिखाया।

( ३१ ) बकरी का चतुर बच्चा—देखिए अङ्गिका-कहानी (१०); दोनों में स्वल्प अन्तर है।

( ३२ ) राजा और बीरबल—एक बार बीरबल ने अपने आश्रयदाता राजा के लिए पत्नी और पुत्र के साथ अपनी जान दे दी। यह देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

तीनों ही मृत व्यक्ति पुनः जीवित हो गये। बीरबल स्थायी रूप से राजा के दरबार में रहने लगा।

( ३३ ) खयाली पुलाव—एक मुसलमान बहुत गरीब था। वह दही लेकर कहीं जा रहा था। मन-ही-मन कुछ सोचकर वह खुशी में उछल पड़ा, तो दही का बरतन सिर पर से गिर पड़ा।

( ३४ ) चतुर वेश्या—देखिए अङ्गिका-कहानी (६); दोनों में स्वल्प अन्तर है।

( ३५ ) बढ़ई का लड़का—एक बढ़ई का लड़का बहुत अच्छा कारीगर था। एक बार उसने एक सुन्दर तोता बनाया, जिसके चलते एक राजा ने अपना आधा राज्य उसे दे दिया।

( ३६ ) रानी की खोज—एक राजा 'ईंजोरा' नामक एक रानी की खोज में निकला, जो कठिनाइयों का सामना करने के बाद उसे मिली।

ऐसी अनेक कहानियों का उल्लेख हो चुका है।

( ३७ ) दक्षिण दिशा में नहीं जाना—एक राजा ने अपने बेटे को दक्षिण दिशा में जाने से मना किया। वह नहीं माना। उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसका ब्याह एक राक्षस को लड़की से हो गया। राजकुमार की पहली पत्नी तथा राक्षस की लड़की में पटती नहीं थी। दोनों से दो बच्चे हुए। पहली पत्नी ने राक्षस की लड़की को मार डाला। इसपर अपने सौतेले भाई के प्रति स्नेह के कारण पहली पत्नी के लड़के ने अपनी माँ को मार डाला और दोनों भाई सुखपूर्वक रहने लगे।

( ३८ ) पति-पत्नी—एक ग्वाले को उसकी पत्नी बहुत तंग किया करती थी। एक दिन उस ग्वाले ने उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए ऐसी कारस्वाई की कि वह अपने मायके चली गई। बाद में ग्वाला उसे अपने घर लाया।

( ३९ ) मूर्खता—एक ग्वाला बहुत मूर्ख था। उसे अकारण अपनी पत्नी पर कुछ सन्देह हो गया। फलस्वरूप, वह अपनी पत्नी के पास जाता ही न था। बाद में उसके सन्देह को दूर किया गया।

( ४० ) कोइरी और मछली—एक कोइरी के कोई सन्तान नहीं थी। एक मछली ने अपने को उसका पुत्र घोषित किया। उस कोइरी ने अपने इस पुत्र का ब्याह एक राजा की लड़की से किया।

( ४१ ) बाघिन और गाय—एक बाघिन और एक गाय में बड़ी मित्रता थी। दोनों के दो बच्चे थे। एक दिन बाघिन ने गाय को मार दिया। बाघिन के बच्चे ने अपने मित्र के प्रति स्नेह के कारण अपनी माँ को मार डाला।

( ४२ ) मूर्ख वैद्य—एक वैद्यजी जहाँ कहीं रोगी देखने जाते, अपने लड़के को भी साथ लिये जाते थे। एक दिन वैद्यजी के बदले उनका लड़का ही कहीं रोगी देखने गया। अपनी मूर्खता के कारण वहाँ उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

( ४३ ) उत्तर दिशा में नहीं जाना—एक राजा ने अपने लड़के को उत्तर दिशा

में जाने से मना किया। वह नहीं माना। फलतः, एक राजकुमारी ने उसका अपमान किया। राजकुमार ने उसके आँचल में भोजन करने की प्रतिज्ञा की और उसने वैसा कर भी दिखाया।

( ४४ ) दगाबाज औरत—एक वणिक्पुत्र ने एक चील, चूहे, बिलार तथा बाघ की रक्षा की। बाघ से उसे एक ऐसी अंगूठी मिली, जिसके सहारे वह राजा की लड़की तक से ब्याह करने में सफल हुआ। उसी के सहारे उसने भैरवानन्द योगी को भी परास्त किया, जो उसकी पत्नी को भगाकर कहीं ले गया था। प्रथम तीन जीव-जन्तुओं ने भी उसकी बड़ी सहायता की।

( ४५ ) सत्य की विजय—एक राजा की लड़की एक साईस के प्रति अनुरक्त थी। उसने अपने पति को अपनी राह से सदा के लिए हटा देने का असफल प्रयास किया। उसका पति जग गया, लेकिन उस लड़की ने उल्टे उस पर दोष लगाया। अन्त में सत्य की विजय हुई। उसका पति बच गया और उसे मृत्यु-दण्ड मिला।

( ४६ ) राजा की लड़की और दीवान का लड़का—एक राजा की लड़की और उसके मन्त्री के लड़के में प्रेम था। दोनों घर छोड़कर दूसरे राज्य में जाकर रहने लगे। वहाँ का राजा मन्त्री की लड़की को अपनाना चाहता था। उसने एक हजाम के कहने के मुताबिक राजा की लड़की को पाने के लिए बहुत प्रयास किया, किन्तु अन्त तक असफल रहा, यहाँ तक कि उसे अपने राज्य से भी हाथ धोना पड़ा।

( ४७ ) कमल और भौंरा—एक राजा के एक लड़की थी, जिसका नाम कमल था। उसे मन्त्री के भौंरा नामक लड़के से प्रेम हो गया था। राजा को यह बात मालूम हो गई। एक दिन राजा अपनी लड़की के निवास पर पहुँचा। उसकी एक दासी ने एक ऐसा दोहा सुनाया, जिससे भौंरा और कमल दोनों सचेत हो गये। दोहा कमल के फूल और भ्रमर पर भी लागू होता था, इसलिए राजा को सन्देह नहीं हुआ और दोनों बच गये।

( ४८ ) ऊँट और स्यार—एक ऊँट और स्यार में बड़ी दोस्ती थी। एक बार स्यार ने ऊँट को बहुत धोखा दिया। ऊँट ने भी उससे इसका अच्छा बदला लिया।

( ४९ ) कृतघ्नता—एक व्यक्ति ने कुएँ में गिरे हुए एक बाघ की रक्षा की। बाघ ने अपने ऊपर किये गये उपकार का बदला यह दिया कि उसे मार डाला।

( ५० ) तीन-तीन—कहीं तीन तालाब थे। दो तो प्रायः सूखे थे और एक में पानी ही न था। जिसमें पानी नहीं था, उसमें तीन आदमी पैठे। दो डूबने को हुए और एक का पता ही न लगा। जिसका पता नहीं लगा, उसने तीन कुम्हार बसाये। उनमें से एक को हाथ ही न था। उसने तीन बरतन बनाये। एक में पेंदा ही न था। उसमें पकाने के लिए तीन चावल डाले गये। एक चावल का पता ही न लगा। उसे खाने के लिए तीन सम्बन्धी आये। दो तो रुष्ट हो गये और एक ने खाया ही नहीं।

( ५१ ) स्यार-स्यारनी—एक स्यार एक बाघ की माँद में रहने लगा। जब बाघ

आया, तब उसने ऐसी चाल चली कि बाघ को भाग जाना पड़ा। इसके बाद स्यार स्यारनी के साथ माँद में रहने लगा।

( ५२ ) पतिव्रता—एक स्त्री बड़ी पतिव्रता थी। वह एकबार धान कूट रही थी। उसी समय उसके पति ने उसे आकर बुलाया। वह हाथ का मूसल ऊपर ही छोड़कर दौड़ पड़ी। मूसल ऊपर ही अटका रहा। उसकी देखादेखी एक दूसरी स्त्री ने भी वैसा ही किया। उसका सिर मूसल से फूट गया।

( ५३ ) काँस और चिड़िया—एक चिड़िये का शरीर कांस नामक घास से चिर गया। उसने राजा के यहाँ नालिश की। राजा ने घास से पूछा, तो उसने जवाब दिया कि वह क्या करे, गाय उसे चरती ही नहीं। फिर उसने गाय से पूछा। गाय ने कहा, चरवाहा उसे चराता ही नहीं। इसी प्रकार सभी एक दूसरे पर दोष लगाते गये।

( ५४ ) मुर्गा—एक मुर्गे ने अपनी नानी से कहा कि वह राजा की लड़की से ब्याह करेगा। उसकी नानी को आश्चर्य मालूम हुआ। लेकिन, उस मुर्गे ने सचमुच ऐसा कर दिखाया।

( ५५ ) ब्राह्मण और कोइरी—एक ब्राह्मण और कोइरी में बड़ी मित्रता थी। एक बार कोइरी ने कहा—आपने मुझे आज तक ब्राह्मण-फेर नहीं दिखाया। ब्राह्मण ने एक अवसर पर उसे ऐसे फेर में डाला कि वह बुरी तरह फँस गया।

( ५६ ) राजा विक्रमादित्य और मन्त्री—एक बार राजा विक्रमादित्य को उनके मन्त्री ने बड़ा धोखा दिया। वह स्वयं राजा का रूप धारण कर राजा बन बैठा और राजा तोता के वेश में इधर-उधर घूमते रहे। कुछ दिनों के बाद यह भेद खुला। राजा पुनः अपने प्रकृत वेश में आ गये और मन्त्री मारा गया।

( ५७ ) राजा और साँपोंवाली राजकुमारी—एक राजा का पुत्र अपने पिता के कहने पर घर छोड़कर निकल गया। वह अपनी बहन के यहाँ गया। फिर वहाँ से वह दूसरे राज्य में गया। वहाँ उसने एक ऐसी राजकुमारी से अपनी जान की रक्षा की, जिसकी नाक में दो साँप रहते थे।

( ५८ ) गाड़ीवान और बाघ—एक गाड़ीवान ने एक बाघ की बड़ी दुर्दशा की। बाघ को उसने गाड़ी में नाध लिया। बाघ किसी प्रकार जान बचाकर भागा।

( ५९ ) ब्राह्मण और हजाम—एक ब्राह्मण एक हजाम के साथ अपनी ससुराल गया। वहाँ उस हजाम ने हँसी-मजाक में ही उस ब्राह्मण की बेइज्जती करनी चाही, लेकिन यह चीज उसी के लिए बहुत महँगी पड़ी। उसे अपनी जान तक से हाथ धोना पड़ा।

( ६० ) वादा—एक व्यक्ति एक बार एक खजूर के पेड़ पर चढ़ा। उसके लिए उतरना कठिन हो गया। उसने दुर्गा को भैंसे की बलि देने का वादा किया। लेकिन, जैसे-जैसे वह नीचे आता गया, उसके मन में बलि का पशु भैंसे से बकरा, बकरे से बकरे का बच्चा और अन्त में चींटी हो गया। काम बन जाने पर उसने अपना वादा पूरा करने के लिए चींटी की बलि दी।

( ६१ ) अदृश्य करनेवाली टोपी—एक आदमी को एक ऐसी टोपी मिल गई, जिसे पहनकर वह अदृश्य हो जाता था। ऐसी दशा में वह राजा के घर में जाकर खूब खाता-पीता था। एक दिन वह पकड़ा गया। लोगों ने उसे प्रेत समझकर मार डाला।

( ६२ ) ओझाइन की चतुराई— एकबार एक ओझाजी ने अपने दो मित्रों को अपने घर पर भोजन करने के लिए बुलाया। अतिथियों के आने के पूर्व ही ओझाइन सारा भोजन समाप्त कर चुकी थीं। भोजन कराने के समय उन्होंने ऐसी चतुराई से काम लिया कि भेद नहीं खुला।

( ६३ ) मुनाफे में जूती—एक चोर कहीं से एक घोड़ी चुराकर ला रहा था। रास्ते में एक आदमी ने उसे अपनी जूती निकालकर दी और घोड़ी खरीदने का बहाना कर उस पर चढ़कर उसकी चाल देखनी चाही। घोड़ी पर चढ़ने के बाद वह उसे ले भागा। चोर बेचारा जूती लिये लौट चला। लोगों के पूछने पर उसने बताया कि जितने में उसने घोड़ी खरीदी थी, उतने में ही बेच दी और मुनाफे में जूती मिली।

( ६४ ) चोरी का फल—एक जमीन्दार बहुत बड़ा चोर था। उसे शेखचिल्ली नामक एक व्यक्ति ने खूब छकाया। जमीन्दार साहब उसकी अंगूठी चुराने गये। अंगूठी तो मिली नहीं, उल्टे बिच्छू ने डंक मार दिया।

( ६५ ) लकड़हारा और यमराज—एक बार एक लकड़हारा किसी जंगल में लकड़ी लाने गया। उसने इतनी लकड़ियां तोड़ लीं कि बोझ उठता ही न था। वह बहुत दुःखी हुआ। वह पुकार-पुकारकर कहने लगा—हे भगवान्, मुझे ले चलो, जिससे मैं इन झंझट से बच जाऊँ। उसकी पुकार सुनकर यमराज आया। उन्होंने उसे यमपुरी ले आना चाहा। उसने कहा—पहले आप मेरी लकड़ी मेरे घर पर पहुँचा दें। यमराज ने ऐसा ही किया। घर पहुँचकर उसने यमराज को अंगूठा दिखा दिया।

( ६६ ) लालची अमीर—एक अमीर बहुत लालची था। उसके राज्य में एक गरीब आदमी था। एक परी की कृपा से वह बात-की-बात में बहुत धनवान् हो गया। यह देखकर उस अमीर ने उस गरीब से धनवान् होने का उपाय पूछा। उसने सारी बात बता दी। उस अमीर आदमी ने भी उस परी से बहुत अनुनय-विनय कर तीन वरदान माँगे, लेकिन उसने तीनों का उपयोग अनावश्यक काम में किया।

( ६७ ) मूर्ख किसान—एक किसान ने एक ऊँट के गले में अटके हुए तरबूज को उसके स्वामी द्वारा पत्थर से फोड़े जाते देखा। उसने एक फूली गर्दनवाले व्यक्ति के साथ ऐसा ही किया। फलस्वरूप वह फूली गर्दनवाला व्यक्ति मर गया और लोगों ने उस किसान को भी मार डाला।

( ६८ ) मुन्शी जी का पाजामा—एक मुन्शीजी ने एक पाजामा सिलाया। वह कुछ बड़ा था। उन्होंने एक-एककर अपनी पत्नी, बहू तथा अपनी लड़की से पाजामा थोड़ा छोटा कर देने को कहा। किसी ने भी उनकी बात न सुनी। जब सभी सोने चले गये,

तब एक-एक कर सभी उठे और बारी-बारी से पाजामा को छोटा कर दिया। सुबह देखा गया, तो पाजामा जरूरत से ज्यादा छोटा हो गया था।

( ६६ ) नारियल का लोभी—एक आदमी बहुत लोभी था। वह नारियल खरीदने गया। सस्ता नारियल खोजने के फेर में वह जंगल तक चला गया। वहाँ वह नारियल के पेड़ पर चढ़ा और नीचे गिर गया। लोभ के कारण उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

( ७० ) यात्री और रसोइया—एक यात्री ने किसी धर्मशाला में डेरा डाला। धर्मशाला के रसोइये ने उसे खूब छकाया। एक दूसरे यात्री को यह बात मालूम हुई। उसने उस रसोइये का अच्छा जवाब दिया।

( ७१ ) तीन पूरियाँ—एक बूढ़े और एक बूढ़ी ने मिलकर तीन पूरियाँ पकाईं। बँटवारे के समय आपस में झगड़ा हुआ। अन्त में दोनों यह तय कर सो गये कि सुबह जो पहले उठेगा, वह एक और जो पीछे उठेगा, वह दो पूरियाँ खायगा। इस प्रकार, दोनों तीन दिनों तक सोये रह गये। लोग समझे, दोनों मर गये हैं और दोनों को दफनाने चले। तब दोनों जगे, पर लोगों ने भूत समझकर उनकी खूब मरम्मत की।

( ७२ ) मूर्ख का मूर्ख—एक व्यक्ति अपने एक मित्र के यहाँ गया। वहाँ वह अपने मित्र के नौकर की कार्यकुशलता देख दंग रह गया। घर आकर उसने अपने नौकर को भी शिक्षा देनी आरम्भ की। एक दिन उसका वह मित्र उसके घर आया। उसने अपने मित्र से अपने नौकर की बड़ी तारीफ की। लेकिन, कुछ देर में ही यह प्रकट हो गया कि उसका नौकर मूर्ख का मूर्ख ही रह गया था।

( ७३ ) लोभ का फल—एक गरीब आदमी को ऐसी बोतल मिली, जिससे उसकी आर्थिक अवस्था सुधरने लगी। यह रहस्य उस जगह के एक धनी आदमी को मालूम हुआ। उसने वह बोतल ले ली। फिर उस व्यक्ति को एक दूसरी बोतल मिली। उसने यह दूसरी बोतल उस धनी आदमी को देकर पहली बोतल ले ली। दूसरी बोतल लेकर वह धनी आदमी पहले तो बहुत खुश हुआ, लेकिन उसके चलते उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

( ७४ ) तीसमार खाँ—कहीं तीसमार खाँ नामक एक व्यक्ति था। ऐसी प्रसिद्धि थी कि उसने तीस शेर मारे हैं। लेकिन, बात ऐसी नहीं थी। एक बार वहाँ के राजा ने उसे एक शेर पकड़ लाने को भेजा। संयोग से वह सफल हुआ। उसकी ख्याति और भी बढ़ी। एक बार उस देश पर दुश्मनों ने चढ़ाई की। राजा ने तीसमार खाँ को लड़ने के लिए भेजा। संयोग से तीसमार खाँ इस बार भी सफल हुआ।

( ७५ ) कृतघ्न पति—अहमद नामक एक मुसलमान ने एक मेहतर की लड़की से ब्याह किया। उसके साथ वह अपने घर चला। रास्ते में उसने उस लड़की को मारकर एक कुएँ में डाल दिया और घर पहुँचा। वह लड़की किसी प्रकार बच गई। वह अपने मायके पहुँची। वहाँ उसने अपने पति का कृकृत्य किसी से नहीं कहा। उसका पति पुनः ससुराल आया और उसे लेकर अपने घर की ओर चला। रास्ते में उसने उसके साथ पुनः

वेसा ही व्यवहार किया। वह इस बार भी बचकर अपने घर चली आई। इसके बाद वह फिर अपने पति के साथ नहीं गई।

( ७६ ) दी हुई आयु—मदनसेन नामक एक व्यक्ति ने चन्द्रप्रभा नामक एक स्त्री से ब्याह किया। जब वह उसके साथ घर लौट रहा था, रास्ते में साँप के डँस लेने से चन्द्रप्रभा की मृत्यु हो गई। मदनसेन ने उसे अपनी आयु का कुछ अंश देकर उसे जिलाया। इसके बाद चन्द्रप्रभा एक योगी के साथ रहने लगी। मदनसेन एक राजा के यहाँ मुनीम का काम करने लगा। एक अवसर पर चन्द्रप्रभा ने उसे पहचान लिया और उसने उसे मरवा डालना चाहा। लेकिन मदनसेन ने सारा भेद खोल दिया। सबूत में उसने अपनी दी हुई आयु उससे ले ली। फलस्वरूप, वह तुरत मर गई।

( ७७ ) चार उपदेश—मदनपाल नामक एक राजकुमार घर छोड़कर कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे एक साधु मिला। उसने उसे चार उपदेश दिये। वहाँ से वह आगे बढ़ा, तो एक कछुआ उसके साथ हो लिया। एक अवसरपर कछुए ने उसकी प्राण-रक्षा की। फिर, वह एक ठग के फेर में पड़ा, लेकिन साधु द्वारा दिये गये उपदेशों को ध्यान में रखने के कारण वह अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ।

( ७८ ) वीर राजकुमारी—एक राजा का लड़का अपने एक सुनार मित्र के साथ परदेश चला। उसे एक राजकुमारी से प्रेम हो गया। वह उसके साथ घोड़े पर सवार होकर निकल भागा। दूसरे राज्य में जाकर दोनों एक दूसरे से बिछुड़ गये। लेकिन, लड़की की बहादुरी से पुनः सभी एकत्र हो गये।

( ७९ ) इन्द्रपरी—एक राजा ने अपने तीन लड़कों को कोई असम्भव वस्तु लाने के लिए भेजा। राजा के तीनों लड़कों में दो सगे भाई थे और एक सौतेला। सौतेले भाई ने इन्द्रपरी से ब्याह किया और घर चला। उसके दोनों सौतेले भाइयों ने धोखे से उसे एक कुएँ में डाल दिया। वह किसी तरह बचकर घर आया। उसने वह वस्तु अपने पिता के सम्मुख रख दी, जिसकी खोज में तीनों भाई गये थे। सारा रहस्य मालूम हुआ। राजा ने अपने दो लड़कों को मरवा डाला और उस सौतेले लड़के के साथ रहने लगा।

( ८० ) चतुर लड़की—एक बार एक राजकुमार ने एक ब्राह्मण की लड़की को यह कहते हुए सुना कि मैं तो तीन कौड़ी में सारा 'बिजूवन' जंगल कटवा दूँगी। राजा के लड़के को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस लड़की से ब्याह कर उसे तीन कौड़ियाँ दीं। और उसे 'बिजूवन' जंगल में छोड़ दिया। उस लड़की ने अपनी चतुराई और अध्यवसाय से समूचे जंगल को कटवा दिया तथा वहाँ एक बहुत बड़ा मकान बनवाना आरम्भ किया। इसी बीच राजकुमार, जो हीन अवस्था को प्राप्त हो चुका था, वहाँ आया और अपनी पत्नी के साथ रहने लगा।

( ८१ ) ब्राह्मण और बन्दर—एक ब्राह्मण गङ्गा-स्नान करने जा रहा था। उसके साथ एक बन्दर लग गया। लौटने के समय रास्ते में बन्दर के आग्रह से ब्राह्मण ने कुछ ऐसी वस्तुएँ अपने साथ ले लीं, जिनका ब्राह्मण की दृष्टि में कोई उपयोग नहीं था। दोनों

एक राक्षस के घर पहुँचे। बन्दर ने उन सारी वस्तुओं के सहारे राक्षस से अपनी तथा ब्राह्मण की प्राण-रक्षा की। राक्षस मारा गया। ब्राह्मण उसकी लड़की से ब्याह कर वहीं रहने लगा और बन्दर को उसने अपना मन्त्री बना लिया।

( ८२ ) सच्ची भक्ति—एक बार एक ग्वाले ने एक ब्राह्मण को पूजा करते देख उनसे पूछा कि पूजा करने से क्या होता है। ब्राह्मण ने बतलाया कि पूजा करने से भगवान् मिलते हैं। दूसरे दिन उस ग्वाले ने भी सच्चे हृदय से भगवान् की पूजा की। भगवान् सचमुच वहाँ उपस्थित हो गये। ग्वाले ने उस ब्राह्मण को भी बुलाकर भगवान के दर्शन कराये। दोनों एक साथ ही स्वर्ग चले गये।

( ८३ ) गधे से आदमी—सीधे-सादे स्वभाव के एक धोबी ने एक गुरुजी को कभी यह कहते सुना कि मैं गधे को भी आदमी बनाता हूँ। धोबी निस्सन्तान था। उसने गुरुजी से आग्रह किया कि वे उसके गधे को भी आदमी बना दें। गुरुजी ने कुछ दिनों के बाद उस धोबी से कहा कि तुम्हारा गधा पढ़-लिखकर कचहरी में जज बन गया है। बेचारा धोबी वहाँ गया और जज साहब को इशारों से बुलाने लगा। सिपाहियों ने उसकी खूब मरम्मत की।

( ८४ ) मूर्ख नौकर—एक राजा के यहाँ एक नौकर था। वह परम मूर्ख था। राजा ने उसे सिखलाया कि वह धीरे धीरे बोला करे। एक बार राजा के घर में आग लगी। राजा सोये थे। नौकर ने धीरे-धीरे राजा को जगाना शुरू किया। तब तक सारा घर जल गया। राजा ने नौकर से पूछा, तो उसने कहा—आपने ही तो धीरे-धीरे बोलने को कहा है।

( ८५ ) बाँसुरीवाली परी—एक राजा के चार पुत्र किसी समय हीन अवस्था को प्राप्त हो किसी दूसरे राजा के यहाँ नौकरी करने लगे। उन चारों में से सबसे छोटे के चलते उस राजा का मृत पुत्र पुनः जीवित हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर उन चारों के साथ अपनी चार लड़कियों का ब्याह कर देना चाहा। सबसे छोटे ने इनकार किया। उसने बाँसुरीवाली एक परी से अपना ब्याह किया। परी के कहने से उसने उस राजा की लड़की से भी ब्याह कर लिया। चारों अपने देश लौट आये।

( ८६ ) तोते की चतुराई—किसी जगह चार भाई रहते थे। सबसे बड़े भाई के एक तोता था। तीन भाई कहीं व्यापार करने चले। बड़े भाई की ओर से उसका तोता गया। वह पर्याप्त सम्पत्ति लेकर घर लौटा। उसके चलते बड़ा भाई बहुत धनी हो गया मालिक के मरने पर उसकी सम्पत्ति का मालिक वह तोता ही बना।

( ८७ ) सच्चा प्रेम—एक ग्वाले ने हठ करके एक ब्राह्मण से शालग्राम की एक मूर्त्ति ले ली। वह दिन भर उसे दूध में डुबाये रहता था। एक दिन उसके सच्चे प्रेम से प्रभावित होकर भगवान् मनुष्य-वेश में उपस्थित हुए। उन्होंने उससे वरदान मांगने को कहा। ग्वाले ने यह वर माँगा कि वे उसकी भैंसें चरायें। भगवान् उसकी भैंसें चराने लगे। जब ग्वाले ने यह सूचना उस ब्राह्मण को दी, तब वह सब कुछ समझ गया।

उसे भी भगवान् के दर्शन हुए। भगवान् उन दोनों को साथ लेकर वैकुण्ठ-धाम चले गये।

( ८८ ) भाग्य का फल—एक गरीब ब्राह्मण को एक राजा से एक असाधारण कटोरा तथा एक असाधारण बकरी मिली। उसके एक मित्र ने ये दोनों वस्तुएँ चुरा लीं। यह खबर पाकर उस राजा ने उसे एक ऐसी मुँगरी दी, जिसके सहारे उसे पहली दोनों वस्तुएँ भी मिल गईं और वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

( ८९ ) चतुर चमार—एक चमार बड़ा चतुर था। एक बार वह कहीं जा रहा था। रास्ते में एक बाघ मिला। प्राण बचने का उपाय न देखकर वह बाघ के पैरों के लिए जूते बनाने का वादा कर किसी प्रकार घर आया। कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद एक रात बाघ उसके घर के पिछवाड़े जा छिपा। चमार को यह मालूम हो गया। उसी समय एक धोबी अपना खोया हुआ गधा खोजता वहाँ आ पहुँचा। चमार ने उसे घर के पिछवाड़े देखने को कहा। धोबी ने बाघ को गधा समझकर उसे खूब पीटा और उसे बाँधकर अपने घर ले गया। सुबह जब पता चला, तब किसी प्रकार उसने अपनी जान बचाई और बाघ ने जंगल का रास्ता लिया।

( ९० ) बन्दर और बकरा—एक बन्दर और एक बकरे में बड़ी मित्रता थी। दोनों एक बार बेर खाने गये। बन्दर ने बकरे को बहुत कम बेर खिलाये। बकरे ने एक बनिये के घर में घुसकर खूब अच्छी-अच्छी चीजें खाईं। उसकी देखादेखी बन्दर ने भी वैसा ही किया। फलस्वरूप, उसकी बड़ी दुर्दशा हुई।

( ९१ ) साधु की शर्त्त—एक राजा के पाँच रानियाँ थीं। पाँचों निस्सन्तान थीं। एक साधु की कृपा से पाँचों के पाँच पुत्र हुए। लेकिन, शर्त्त यह थी कि सबसे छोटी रानी के पुत्र को साधु ले लेगा। किसी कारणवश राजा ने चार बड़ी रानियों को पुत्र-सहित घर से निकाल दिया। जब वह साधु पहुँचा और राजा द्वारा दिये गये वचन की याद दिलाई, तब राजा अपना पुत्र देने के लिए तैयार हो गया। साधु बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपनी शर्त्त हटा ली।

( ९२ ) चार सवाल—एक राजा ने यह घोषणा कर रखी थी कि वह अपनी लड़की का ब्याह उसीसे करेगा, जो उसके चार प्रश्नों के उत्तर दे देगा। सही उत्तर नहीं देनेवालों को वह खूब पिटवाता था और कैद कर लेता था। इस प्रकार उसने नौ लाख लोगों को कैद कर रखा था। अन्त में उज्जैनसिंह नामक एक राजकुमार ने चारों प्रश्नों के उत्तर दिये। उसके साथ राजकुमारी का ब्याह हो गया। सभी कैदी छोड़ दिये गये। कैदियों में राजकुमार उज्जैन के पिता तथा तीन चाचा भी थे।

( ९३ ) जादूगर राजा—एक राजा बहुत बड़ा जादूगर था। उसे इस बात का गर्व था कि उसके समान दूसरा कोई जादूगर है ही नहीं। लेकिन, उसके पुत्र को यह बात पसन्द नहीं थी। उसने एक ऐसी लड़की से ब्याह किया, जो बहुत बड़ी जादूगरनी थी। उसने राजा को परास्त किया। राजा का मिथ्या अहङ्कार दूर हो गया।

( ६४ ) सूर्य का बच्चा—एक ग्वाला बड़ा मूर्ख था। वह एक बार ससुराल गया। वहाँ उसने जलते हुए दीप को देखकर अपनी पत्नी से पूछा, यह क्या है ? उसकी पत्नी ने कहा, यह सूर्य का बच्चा है। उसने सोचा, इसे चुरा लेना चाहिए; क्योंकि सूर्य का बच्चा उसके यहाँ नहीं था। यह सोचकर उसने उसे भूसा रखनेवाले घर में छिपा दिया। घर में आग लग गई। बाद में यह भेद खुला, तो लोगों ने उसकी खूब मरम्मत की।

( ६५ ) पद्मावती—दो राजकुमारों में बड़ी मित्रता थी। एक राजकुमार को पद्मावती नामकी एक राजकुमारी से प्रेम हो गया। पद्मावती से उसका ब्याह कराने में उसके मित्र ने, जिसका नाम दत्त था, बड़ी सहायता की। एक बार पद्मावती ने दत्त को जहर खिला दिया। दत्त किसी प्रकार बच गया। इधर पद्मावती का अवैध सम्बन्ध एक बनिये के साथ हो गया था। दत्त के सहारे ही इस रहस्य का पता चला। पद्मावती मारी गई। दोनों मित्र अपने देश लौट गये।

( ६६ ) विचित्र वृक्ष—एक राजा ने एक हजाम को एक विचित्र वृक्ष की खोज में भेजा। वह वृक्ष सोने का था। वह हजाम बड़ी कठिनाई से उस वृक्ष को ढूँढ लाने में सफल हुआ।

( ६७ ) गोनू ओझा की चतुराई—गोनू ओझा के छह भाई थे। गोनू ओझा बड़े चतुर आदमी थे। एक बार गोनू ओझा की भैंस मर गई। गोनू ओझा ने उसकी खाल के सहारे काफी रुपये प्राप्त किये। उनकी देखादेखी उनके भाई भी अपनी-अपनी भैंसें मारकर उनकी खाल से रुपये प्राप्त करने के फेर में निकले। रुपये तो मिले नहीं, उल्टे भैंसों से उन्हें हाथ धोना पड़ा।

इसी प्रकार, एक बार गोनू ओझा ने अपने जले हुए घर की राख के सहारे सम्पत्ति प्राप्त की। उनके भाइयों ने इस बार भी उनकी नकल में अपने घर तो जला दिये, पर प्राप्त कुछ न कर सके। इस प्रकार, गोनू ओझा सम्पन्न होते गये और उनके भाइयों की हालत खराब होती गई।

( ६८ ) मच्छर, आदमी और हाथी—एक मच्छर एक आदमी के कान के पास आकर भनभनाने लगा। उस आदमी ने उसके पैर पकड़ लिये। मच्छर उस आदमी को लेकर उड़ने लगा। यह देखकर एक हाथी ने उस आदमी के पैर पकड़ लिये। मच्छर उन दोनों को लेकर उड़ा, कुछ दूर जाने पर मच्छर का पैर छूट गया। आदमी और हाथी दोनों गिर पड़े। दोनों एक बिल में घुस गये। हाथी का पैर उसमें फँस गया। आदमी किसी प्रकार बच गया।

( ६९ ) सन्दूकवाली राजकुमारी—एक राजा के कोई सन्तान न थी। उनकी रानी की लालसा थी कि उनके दरवाजे पर बरात आती। उन्होंने राजा से कहा कि वे कोई लड़का ठीक करें। राजा ने वैसा ही किया। संयोग से राजा के घर एक ऐसी लड़की का आविर्भाव हुआ, जो एक सन्दूक में बन्द थी। ब्याह के बाद लड़की ससुराल जा रही थी। रास्ते में एक बुढ़िया उसकी जगह दुलहन बनकर बैठ गई। बाद में यह भेद खुला। बुढ़िया

को लोगों ने मार भगाया और सन्दूकवाली राजकुमारी पुनः अपनी ससुराल गई तथा सुख से रहने लगी।

( १०० ) एक लड़की, चार वर—एक राजा के एक ही लड़की थी। उसने उसका ब्याह चार लड़कों से करना चाहा, ताकि चार जगह सम्बन्ध हो। ब्याह के समय लड़की हवन-कुण्ड में जल मरी। एक लड़का उसके साथ ही जल मरा, दूसरे ने कुण्ड में पानी डाल दिया, तीसरा राख की रखवाली करने लगा और चौथा उस लड़की को जिलाने के लिए निकला। उसने उसे जिला दिया। साथ ही उसके साथ जलनेवाला लड़का भी जीवित हो गया। अब समस्या उठी कि वह लड़की किसके साथ ब्याही जाय। एक पण्डित ने निर्णय दिया कि जो लड़का हवन-कुण्ड से लड़की के साथ जल मरा और अब जो उठा था, वह तो लड़की का भाई हुआ; जिसने पानी दिया, वह पिता हुआ और जिसने रखवाली की वह माता के सदृश हुआ। इसलिए, लड़की का ब्याह उसे जिलानेवाले के साथ ही होना चाहिए। ऐसा हुआ भी।

( १०१ ) गाड़ीवान—एक गाड़ीवान एक आदमी को गाड़ी पर बिठाकर कहीं चला। उसने उस आदमी से कहानियाँ कहने को कहा। एक कहानी के सिलसिले में उसने बताया कि स्त्रियों से कोई गोपनीय बात नहीं कहनी चाहिए। घर लौटते समय गाड़ीवान को एक मरे हुए साधु की गुदड़ी में बहुत सम्पत्ति मिली। वह घर आया। उसकी स्त्री ने पूछा, तो उसने कुछ और ही बात बता दी। उसकी स्त्री ने सब से वह बात कह सुनाई। लोगों ने उसके कहने के अनुसार किया और अन्धे हो गये।

( १०२ ) सबसे बड़ा कौन—बीरबल नाम का एक व्यक्ति नौ मन सत्तू और छह मन नमक को एक पोखरे में घोलकर पी लिया और एक पेड़ के नीचे सो गया। इसके बाद उसने उठाकर एक हाथी को ऐसा फेंका कि वह दासू नामक एक पहलवान के दरवाजे पर जा गिरा। दासू के लड़के ने उसे सूप में उठाकर फेंक दिया। फिर, दासू और बीरबल में लड़ाई हुई। दोनों एक बुढ़िया की हथेली पर लड़ने लगे, जो सात सौ ऊँट चरानेवाले अपने लड़के के लिए भोजन ले जा रही थी। उसके लड़के ने सात सौ ऊँटों को एक गठरी में बाँध लिया, जिसे एक चील उठा ले गई। वह गठरी एक बुढ़िया की आँख में जा गिरी, जिसे एक लड़के ने नाखून काटनेवाली नहरनी से निकाल फेंका।

( १०३ ) हाहापुर का मकान—एक राजा ने एक बढ़ई की लड़की से ब्याह किया। उसने बढ़ई की लड़की से पूछा—तुमने मेरे राजमहल-जैसा मकान कभी देखा था। लड़की ने जवाब दिया कि आपका मकान हाहापुर के मकान के सामने कुछ न था। इस बात पर राजा ने उसे घर से निकाल दिया और अपने चारों पुत्रों को हाहापुर के मकान का पता लगाने को भेजा। बढ़ई की उस लड़की के भी एक पुत्र था। राजा के चारों लड़के असफल रहे। बढ़ई के पुत्र ने ही उस मकान का पता लगाया। राजा ने बढ़ई की लड़की और उसके लड़के को फिर अपने साथ रख लिया।

( १०४ ) चतुर ब्राह्मणी—एक ब्राह्मणी बहुत चतुर थी। एक बार उसका प उसे धान कूटने और सूत कातने का आदेश देकर कहीं बाहर गया। ब्राह्मणी ने ये ब नहीं किये। पति के आने पर उसने ऐसा रंग बाँधा कि उसकी हिम्मत न हुई कि उससे कि काम पूरा हुए या नहीं।

( १०५ ) राजा का लड़का और बाघ—एक बार एक बाघ और बगुले लड़ाई हो रही थी। एक राजा का लड़का यह देख रहा था। बाघ के यह पूछने पर कि उ किसकी हुई, उसने अपना निर्णय बगुले के पक्ष में दिया। बाघ बहुत नाराज हुआ। राजा के लड़के की चुटिया पकड़कर उसे जंगल की ओर ले भागा। राजा का लड़का वि प्रकार बच गया। वह जंगली भैंसों के रहने के स्थान पर पहुँचा।

कहानी अधूरी है।

( १०६ ) राजा का नौकर—एक राजा ने इस शर्त्त पर एक नौकर रखा कि नौकर अपनी इच्छा से काम छोड़ देगा, तो राजा उसका नाक-कान काट लेगा और राजा अपनी इच्छा से छुड़ा देगा, तो नौकर राजा का नाक-कान काट लेगा। राज व्यवहार से तंग आकर नौकर को नौकरी छोड़ अपना नाक-कान कटाना पड़ा। शेखचि नाम का एक दूसरा नौकर आया। उसने राजा को ऐसा तंग किया कि राजा को ही जवाब देकर अपना नाक-कान कटाना पड़ा।

०

## आदिवासी

विभाग के द्वारा अभी आदिवासी लोक-कथाएँ स्वल्प संख्या में ही संगृहीत हुई परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है—

( १ ) करमा—करमा और धरमा नामक दो भाई थे। एक बार क जीविकोपार्जन के लिए परदेश गया। उसके घर लौटने में बहुत विलम्ब हुआ। तब उ छोटे भाई धरमा ने करमा-वृक्ष की एक डाल लाकर बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उ पूजा की। ठीक उसी समय करमा आ पहुँचा। आँगन में लगी करमा की डाला झाड़-झंखाड़ समझकर उसने उसे नाली में फेंक दिया। पानी के साथ यह डाल बहुत तक बहती चली गई।

दोनों भाइयों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई। उन्होंने समझ लिया करमा-वृक्ष की डाल के अपमान के कारण ही उनकी स्थिति खराब होती जा रही थी। उ करमा उस डाल की खोज में निकला। बड़ी कठिनाइयों के बाद वह डाल उसे मिली उसे लेकर वह घर लौटा। दोनों ने मिलकर पुनः उसकी विधिवत् पूजा की। फलस्व उनका घर पुनः धन-धान्य से पूर्ण हो गया।

यह कहानी जमशेदपुर के उराँव-भाषाभाषी आदिवासी-क्षेत्र से आई है। क उराँव लोगों का बहुत बड़ा पर्व है। प्रति वर्ष भादो में यह पर्व बहुत धूम-धाम के स मनाया जाता है।

( २ ) लालच बुरी बला—किसी नगर में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसके चार पुत्र थे। चारों धन की खोज में विदेश चले। रास्ते में एक योगी ने चारों को चार बत्तियाँ दीं और कहा—जिसके हाथ से जहाँ बत्ती गिर जायगी, उसे वहीं धन मिलेगा। तीन भाइयों को क्रमशः ताँबा, चाँदी और सोने की प्रचुर राशि मिली। लेकिन एक को इससे सन्तोष न हुआ। वह आगे बढ़ा। उसे एक ऐसा आदमी मिला, जिसके सिर पर चक्र घूम रहा था। ब्राह्मण के लड़के ने उस आदमी का परिचय पूछा। उसका इतना पूछना था कि वह चक्र ब्राह्मण के लड़के के सिर पर घूमने लगा। वह आदमी हँसता हुआ बोला—मूर्ख, अधिक लालच करने का फल भोग। अब जबतक कोई दूसरा आदमी आकर तुम से तुम्हारा परिचय नहीं पूछेगा, तबतक तुम्हारी यही हालत रहेगी।

यह कहानी जमशेदपुर के मुण्डारी-भाषाभाषी आदिवासी-क्षेत्र से आई है। इस प्रकार की एक और कहानी का विवरण पहले लिखा जा चुका है।

( ३ ) गुरु-सेवा का फल—काशी में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा रहता था। उसके सौ पुत्रों में सम्बर बहुत बड़ा पितृ-भक्त था। उसने बोधिसत्त्व नामक गुरु से शिक्षा पाई। राजा के मरने पर दरबारियों ने उसे ही राजा बनाया। यह देखकर उसके शेष ९९ भाइयों ने उस पर चढ़ाई कर दी। सम्बर ने बिना युद्ध किये ही अपने राज्य को सौ हिस्सों में बाँट दिया। सभी भाई अपना-अपना हिस्सा लेकर सुखपूर्वक रहने लगे।

यह कथा जमशेदपुर के मुण्डारी-भाषाभाषी आदिवासी-क्षेत्र से आई है। लेकिन, यह कथा स्पष्टतः बौद्ध स्रोत से प्राप्त है।



# लोक-गाथा-परिचय

सम्पादक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

शोध-सहायक : श्रीविक्रमादित्य मिश्र

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोक-भाषानुसन्धान-विभाग के द्वारा भोजपुरी, मैथिली, मगही तथा अङ्गिका-भाषा-क्षेत्रों से छोटी-बड़ी बाईस लोक-गाथाएँ संगृहीत हुई हैं। एक ही क्षेत्र से, तथा अन्य क्षेत्रों से भी, कई गाथाओं के दो-दो, तीन-तीन संग्रह आये हैं।

इनमें से प्रत्येक गाथा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे भावी संकलन-कार्य तथा अध्ययन की दिशाएँ निर्दिष्ट हो सकें[1]। पाद-टिप्पणियों में आकर-सामग्री का संक्षेपतः उल्लेख कर दिया गया है।

(१) लोरिकायन—लोरिकायन एक बहुत बड़ी गाथा है। यह मुख्य रूप से बिहार तथा उत्तरप्रदेश में गाई जाती है। बिहार तथा उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त यह भारत के अन्य

---

१—श्रीकृष्णदेव उपाध्याय : 'लोक-साहित्य की भूमिका', पृ० ८०—१२३; श्रीसत्यव्रत सिन्हा : 'भोजपुरी-लोकगाथा', पृ० ७१—९६; 'करेण्ट स्टडीज' : पटना-कालेज।

राज्यों में भी किञ्चित् भिन्न रूपों में प्रचलित है। इसे विशेष रूप से अहीर जाति के लोग गाते हैं। इसका कारण यह है कि इस लोक-गाथा का नायक, लोरिक, जाति का अहीर ही था। अतः, इस गाथा के गायन में गायकों को जातीय गौरव का आनन्द प्राप्त होता है।

इस गाथा का नायक 'लोरिक' है। इसी के नाम पर इस गाथा को 'लोरिकायन' कहा जाता है। कहीं-कहीं इसे 'लोरिकी' भी कहते हैं। लोरिक एक अवतारी वीर पुरुष था, जिसे देवताओं ने अत्याचारियों का नाश करने के लिए स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजा था। उसने अत्याचारियों का विनाश किया तथा सती-साध्वी स्त्रियों की रक्षा की।

लोरिकायन-गायकों का कहना है—'सात कांड रमायन अनगिनत कांड लोरिकायन'। लोरिकायन, गायकों द्वारा परस्पर भिन्न रूप में और क्रम से विभिन्न खण्डों में गाया जाता है। मुख्य रूप से इसके निम्नलिखित विभाग माने जा सकते हैं—

( १ ) लोरिक और सँवरू का जन्म। ( २ ) सँवरू का ब्याह। ( ३ ) लोरिक का ब्याह। ( ४ ) चनवा का उढ़ार। ( ५ ) हलदी की लड़ाई। ( ६ ) नेउरापुर की लड़ाई। ( ७ ) पिपरी की पहली लड़ाई ( सँवरू के साथ )। ( ८ ) पिपरी की दूसरी लड़ाई ( लोरिक के साथ )। ( ९ ) लोरिक का काशी-वास और मृत्यु।

इनके अतिरिक्त इस गाथा के और भी कुछ अंश पाये जाते हैं, जिनसे लोरिक के पुत्रों, उसके भतीजे तथा उसके पोते इन्दल का सम्बन्ध है।

भोजपुरी-क्षेत्र से इस गाथा के छोटे-बड़े पाँच संग्रह विभाग के द्वारा संकलित किये गये हैं। इनमें एक ही संग्रह पूर्ण है, जो शाहाबाद जिला के पाँड़ेडिहरी स्थान से आया है। शेष संग्रह अपूर्ण हैं।

मगही-क्षेत्र से लोरिकायन के दो संग्रह प्राप्त हुए हैं। दोनों ही अपूर्ण हैं। एक में 'लोरिक का ब्याह' खण्ड और दूसरे में 'लोरिक का ब्याह', 'चनवा का उढ़ार' और 'पिपरी की लड़ाई', ये तीन खण्ड हैं।

मैथिली और अङ्गिका-क्षेत्र से दो संग्रह आये हैं, जो अति संक्षिप्त हैं। इनसे कथानक तथा चरित्रों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इनका महत्त्व यदि कुछ है, तो केवल पात्रों, स्थानों आदि के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से।

उदाहरण—

(१) पछिम देसवा हो गंगामाई बसल बा पाछार[1]।
बायें बहल बा देहवा, दहिन संगमवा के गिरे धार।
पूरब बहल बीया नदी बरमहनी, पछिम ना परेयाग।
घूम के त नदिया कहले बीया सरजू में जाके मिलान।
ओही त नोखवा[2] प बसल बा छोटे टोला गौरवा ना रे गुजरात।

[ भोजपुरी। प्रसङ्ग : लोरिक के जन्म-स्थान (गौरा) की अवस्थिति का वर्णन ]

---

—१. पछाँह, पश्चिमीय प्रदेश। २. नोखा, कोना, नुक्कड़।

(२) दखिन रंग के चीरवा रे पहिरे रेशम के चोली बूटीदार।
बदन में गहना, पोरे - पोरे नीचवा से लागत रे बा।
काढ़ा, छाढ़ा, पैजेब, सिकरी, बिछिया, चनरहार।
गलवा में लावत बा ना ढढ़िया एकउजी के रे हार।
बारे - बारे में मोती लेत बा गुहवाय।
दाँत में लेबे ना ओहिजा मोसी में लगवाय।

[ भोजपुरी। प्रसङ्ग : लोरिक को विवाह-मण्डप में हो मार डालने के लिए ढढ़िया या ढढमनिका का स्त्री-वेश धारण करना। ]

(३) खेलल - खेलल बँहिया मरदा के कहलवा[1] दुनू जाँघ।
छतिया त मरदा के हइ जइसे कुम्हरवा के रे चाक।
अँखिया त मरदा के हइ जइसे अमवा के रे फाँक।
नकिया त मरदा के हइ दियवा के नू रे रास[2]।
मुखवा में बर हइ मरदा के बत्तीसो भो य दाँत।

[ मगही। प्रसङ्ग : लोरिक के बड़े भाई सँवरू के रूप का वर्णन।]

(४) पछिम के देसवा हो बसे ला ना अवरू पन रे जाव।
बामे बहइ सरजू भी य ना दहिनवा रंग रे धार।
जेकरे ना बीचवा बसे ना गउरवा फुल रे हार।
कोई कहइ गउरा इसवर कोई कहे गुज रे रात।

[ मगही। प्रसङ्ग : लोरिक के जन्मस्थान (गौरा) की अवस्थिति का वर्णन।]

( २ ) छतरी चौहान[3]—यह गाथा प्रायः समस्त बिहार में गाई जाती है, किन्तु इसका नाम विभिन्न क्षेत्रों में थोड़ा भिन्न पाया जाता है। नाम के साथ-साथ इसके कथानक में भी पर्याप्त भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

इस गाथा में एक क्षत्रिय राजकुमार की वीरता का वर्णन है, जो बड़ा होकर अपने पिता की मृत्यु का बदला अपने अत्याचारी मामा से लेता है। किसी समय दिल्ली में शिशुपाल नामक राजा राज्य करता था। किसी कारणवश उसे घाटमपुर के शासकों से, जो सात भाई थे, तथा जो उसके अपने साले थे, अनबन हो गई। उन्होंने धोखे से शिशुपाल को मरवा डाला। किसी प्रकार शिशुपाल की पत्नी, अर्थात् घाटमपुर के राजाओं की बहन, वहाँ से भाग निकली। उस समय वह, गर्भवती थी। उसके गर्भ से एक वीर

---

—१. केले के थम के समान। २. लौ, शिखा।

३—भोजपुरी-क्षेत्र में यह लोक-गाथा 'घुघुली-बटेढ़िया' के नाम से प्रचलित है। श्रीसत्यव्रत सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भोजपुरी-लोकगाथा' में इसका उल्लेख नहीं किया है। अङ्गिका-क्षेत्र में यह 'धुधुला-घटमा' के नाम से प्रचलित है। विवरण आगे द्रष्टव्य।

बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम छतरी चौहान पड़ा। बड़े होकर उसने युद्ध में अपने सातों मामाओं को मारकर पिता की मृत्यु का बदला चुकाया।

इस नाम से इस गाथा का केवल एक ही संग्रह मगही-क्षेत्र के खुशहालपुर (पटना) से आया है। इसमें 'छतरी चौहान' की वीरता का ओजःपूर्ण वर्णन है। कुछ स्थलों पर कारुणिक वर्णन भी हैं। उदाहरण—

(१) सातो भइया घाटम रे बरिया,
खँड़वा चलावे जे लगलइ।
छरुमा अकेला जे पड़लइ,
हँथवा में एको न हँथियार कि हाँ···।
परलइ लड़इया हो छरुमा,
सातो भइया घाटम निरदइया
बहिनी के राँड़ के कयलइ,
लेहुआ लोहान जे भेलइ,
रामे रामे करइते ए राजाजी के गेलइ रे परान।

[ प्रसङ्ग : अकेला शिशुपाल पर सातों भाई घटमा के प्रहार का कारुणिक वर्णन। ]

(२) अगल-बगल रे छरुमा,
खाँड़ तरवरिया मार हइ,
सोरह सो सेनमा छरुमा,
धनमा के बाल लेखा[1] हो,
छप-छप काटि देल कइ
काटि देल कइ सर रे सिपाह।

[ प्रसङ्ग : लड़ाई के मैदान में शिशुपाल के पुत्र छतरी चौहान की वीरता का वर्णन। ]

(३) घुघुली-घटमा—इस लोक-गाथा की सभी घटनाएँ 'छतरी चौहान' नामक लोक-गाथा से मिलती-जुलती हैं। कथा पूर्णतः समान है, किन्तु दोनों के घटना-विन्यास, पात्र-नामों तथा स्थान-नामों में अन्तर है। छतरी चौहान को इस गाथा में घुघुली के नाम से अभिहित हुआ है। घुघुली के पिता रैया रनपाल 'छतरी चौहान' में शिशुपाल है। 'छतरी चौहान' की तरह ही इस गाथा में भी छतरी चौहान के मामा, घटमा, सात भाई बताये गये हैं।

यही गाथा भोजपुरी-क्षेत्र के चम्पारन जिला में 'घुघुली-बटेढ़िया', तथा मैथिली-क्षेत्र के दरभंगा जिला में 'राय रणपाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों क्षेत्रों से इस गाथा के उपर्युक्त रूप संगृहीत नहीं हो सके हैं। लोकभाषानुसन्धान-विभाग में इस गाथा के

---

—१. समान, सदृश।

केवल दो ही संग्रह हैं, जिनका विवरण दिया जा चुका है। 'घुघुली-घटमा' नाम से यह गाथा पूर्णिया जिला के उत्तरी हिस्से (अङ्गिका-क्षेत्र) से प्राप्त हुई है।

इस गाथा के वर्णन सुन्दर और सुलझे हुए हैं। इतने सुलझे हुए वर्णन 'छतरी चौहान' में नहीं हैं। 'छतरी चौहान' में बहुत-सी अवान्तर घटनाएँ आ गई हैं, जिनसे कथा का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। दोनों ही गाथाओं में कितना साम्य है, यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

छतरी चौहान, या घुघुली बड़ा बहादुर तथा असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न बालक था। उसके जन्म के समय, ज्योंही दगरिन उसके पास पहुँचती है, वह बोल उठता है—

(१) सुनु-सुनु, सुनु गे दगरिन
हमर बचनियाँ सुनहिं
हमरा तूँ छू न दगरिन
हम जयबह तोरा से छुआय।

[ छतरी चौहान (मगही)। प्रसङ्ग ऊपर दिया जा चुका है। ]

बोले लागल जलमल लड़का
कहै जे समुझाय के
अलग रह गे अलग दगरिन
हमरो से अलग रह।

[ घुघुली-घटमा (अङ्गिका)। प्रसङ्ग वही। ]

छतरी चौहान या घुघुली को उसकी कुलदेवी (दुर्गा) उसके पिता की मृत्यु का बदला चुकाने को प्रोत्साहित करती है—

(२) का हिआ खेल हँ बबुआ,
उसरी के टाँड़[1] पर हो
चल-चल अपन रे ननिहार
बपवा के बदले बेटा हो
पुतबा तइयार भेलूँ तूँ
बपवा के बयर लेंही तूँ
लेह लेंही बयरवा रे सधाय
तब तोर होतउ दुनियाँ में नाम।

[ छतरी चौहान (मगही)। प्रसङ्ग ऊपर दिया जा चुका है। ]

बेरथ में औतार लेलै
छतरी कोख में जाय के।
तोहरो त बाप के
रे घोड़ी लेलकौ जाय के।

---

—१. विस्तृत ऊषर मैदान।

मारि के जे तोहर बाबा
हौदा पोखर में भँसाय देल।
बीर के जे तू जनमल है छै,
बेटा छतरी जात के।
बाबा के तोंय ओर बदला,
लेब ही नै जाय के।

[ घुघुली-घटमा (अङ्गिका)। प्रसङ्ग वही। ]

( ४ ) नैका बनिजारा[1]—यह एक प्रेमकथात्मक लोक-गाथा है और प्रायः समस्त बिहार-राज्य में गाई जाती है। बिहार के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में यह विभिन्न नाम से प्रचलित है। कहीं इसे 'नैका बनिजारा' कहीं 'बारो और शोभा', कहीं 'नायका' और कहीं 'शोभनायका' कहा जाता है। किसी-किसी क्षेत्र में इसमें कुछ अवान्तर घटनाएँ भी जोड़ दी गई हैं। गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—

'शोभनायका' नामक वणिकपुत्र का ब्याह तिरहुत के किसी स्थान में बारी नाम की लड़की से हुआ था। शोभा गौना कराकर अपनी पत्नी को घर लाया और व्यापार करने के निमित्त तुरत मोरंग के लिए प्रस्थान कर दिया। पत्नी के साथ वह एक रात्रि भी नहीं बिता पाया। रास्ते में वह रात्रि के समय किसी वृक्ष के नीचे सोया हुआ था। उस वृक्ष पर हंसों का एक जोड़ा रहता था। हंस तथा हंसिनी की आपसी बातों से शोभा को पता चला कि आज रात्रि का मुहूर्त्त बहुत ही शुभ है। ऐसे शुभ मुहूर्त्त में जो व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ समागम करेगा, उसके प्रतिभावान् पुत्र होगा।

यह सुनकर शोभा रातों-रात घर पहुँचा और अपनी पत्नी के साथ समागम किया। लोकापवाद से बचने के लिए उसने अभिज्ञान-स्वरूप पत्नी को अपनी अँगूठी दे दी और मोरंग पहुँचकर बारह वर्षों तक व्यापार किया। तेरहवें वर्ष उसने घर के लिए प्रस्थान किया।

इस बीच गर्भवती शोभा की बड़ी दुर्गति हुई। उसके सास-ससुर ने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने देवर चतुरगुन के साथ, जो इस रहस्य को जानता था, रहने लगी। शोभा घर लौटा, तो लोगों को सच्ची बात मालूम हुई और बाद में दोनों सुखपूर्वक रहने लगे।

इस गाथा में विरह का मार्मिक वर्णन है। इसके गाने का ढंग प्रभावोत्पादक है। लोकभाषा-विभाग में इस गाथा के तीन संग्रह, भोजपुरी, अङ्गिका और मैथिली-क्षेत्र से,

---

१—जेह्० डी० एम्० जी०, Vol. XLIII ( १८८९ ), पृ० ४६८—'सेलेक्टेड स्पेसिमेंस आफ् दि बिहारी लैंगुएज, पार्ट II—दि बिहारी डाइलेक्ट, दि गीत नैका बनजरवा' : डा० ग्रियर्सन; श्रीसत्यव्रत सिन्हा : 'लोक-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ० १२६—१३५।

आये हैं। तीनों में एक ही गाथा का वर्णन है, किन्तु तीनों के नाम अलग-अलग हैं। इनमें पात्रों, स्थानों आदि के नामों में भी थोड़ी भिन्नताएँ हैं। भोजपुरी-क्षेत्रवाला संग्रह अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित है। उदाहरण—

(१) रामा देखले जे रहितीं मोरंगवा हो ना।
रामा चलि जइतीं सइयाँ के पासवा हो ना॥
रामा करीं अब कवन जतनवाँ हो ना।
रामा काहाँ जाईं, रहीं कवना ठाववाँ हो ना॥
रामा सइयाँ के दिहीं कइसे खबरिया हो ना।
रामा केकरा से भेजीं येह हलिया हो ना॥
रामा करीं हम कवन उपइया हो ना।
रामा किया खाइ मरीं हम विषिया हो ना।
रामा किया डूबीं पोखरा-इनरवा हो ना॥
रामा केहि विधि तजि हम परनवाँ हो ना॥

[ भोजपुरी। प्रसङ्ग : व्यापार के निमित्त शोभा के मोरंग चले जाने पर उसकी पत्नी का विरह-विलाप। ]

(२) रामा देखल रहतै मोरंग शहर भल रे ना।
रामा असकर[1] लगीच[2] सामी जैतिहै रे ना॥
रामा केना के खेपब[3] दिन-रात भल रे ना।
रामा केकरा से भेजब समाद भल रे ना।
रामा सामी के करबै खबर भल रे ना॥
रामा जहरे माहुर खाय मरबै रे ना।
रामा डूबी जैबे कुइयाँ ते पोखर भले रे ना॥

[ अङ्गिका। प्रसङ्ग वही। ]

(३) तब बारी रे कानय[4] जार बेजारो कानइ रे ना।
दुर्गा गे स्वामी के लैके कोहबर घर लेवो गे
केलही रे ना।
कोहबर घर से हमरो निकालियो देलकइ रे ना
दुर्गा गे केना बचबै अन्न-पानी बिन केना
रहबइ रे ना।

[ मैथिली। प्रसङ्ग वही। ]

---

१. अकेला। २. नजदीक। ३. दिन बिताऊँगी। ४. क्रन्दन, रुदन।

( ५ ) राजा विजयमल[1]—राजा विजयमल एक वीरकथात्मक लोक-गाथा है। यह समस्त बिहार तथा उत्तरप्रदेश के भोजपुरी क्षेत्र में गाई जाती है। इसे 'कुँवरबिजई' तथा 'कुँअर बिजयमल' भी कहा जाता है। बिहार में यह गाथा सर्वत्र एक रूप में पाई जाती है। कथानक में विशेष अन्तर नहीं है। पात्रों, स्थानों आदि के नामों में भी यदि अन्तर है, तो केवल उच्चारण-भेद के कारण, जो स्थान-भेद का स्वाभाविक परिणाम है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

घुनघुनिया या गुमगुमिया नामक शहर के राजा घुरुमलसिंह के दो पुत्र थे। उनके छोटे पुत्र का नाम विजयमल था, बड़े पुत्र का ब्याह हो चुका था। विजयमल जब बहुत छोटा था, तभी उसका ब्याह बावनगढ़ के राजा की लड़की के साथ निश्चित हो गया था। बावन लाख बरातियों के साथ बरात बावनगढ़ पहुँची। बावनगढ़ के राजा ने सभी बरातियों को कैद कर लिया। हिछल बछेड़ा नाम का घोड़ा किसी प्रकार विजयमल को अपनी पीठ पर बैठाकर घुनघुनिया लौट आया। विजयमल की भौजाई ने विजयमल का पालन-पोषण किया। बारह वर्ष की अवस्था में विजयमल को अपने पिता तथा भाई के कैद होने की बात मालूम हो गई। उसने बावनगढ़ पर चढ़ाई की और अपने पिता तथा भाई को मुक्त किया। इसके बाद अपनी पत्नी तथा कुटुम्बियों के साथ स्व-देश लौट आया।

उक्त गाथा के दो संग्रह दो भिन्न—अङ्गिका तथा मैथिली—क्षेत्रों से आये हैं। दोनों ही संग्रह पूर्ण हैं। यह गाथा बहुत बड़ी नहीं है। इस गाथा का आरम्भ प्रायः विजयमल के ब्याह के बाद, उसके घर लौट आने पर होता है। इसके पूर्व की कथा को गायक प्रायः अध्याहार में ही रखते हैं। कहीं-कहीं पूर्व की कथा भी गाई जाती है। विभाग में जो संग्रह हैं, उनका आरम्भ विजयमल के ब्याह के बाद से ही हुआ है। पूरी गाथा वीर रस से ओतप्रोत है। विवाह का वर्णन गौण पड़ गया है। उदाहरण—

( १ ) रामा येतना बचनिया सुनिये के रे ना।
कुँवर झेलम जे पिन्हले पोसकवा रे ना॥
रामा बाँधी ले ले ढाल तरुवरिया रे ना।
रामा बाँधो ले ले कुँवर कलंगिया रे ना॥
रामा लेइ ले ले तिरवा धनुहिया रे ना।
रामा फानी घोड़ा भेलै असवरवा रे ना॥

[ अङ्गिका। प्रसङ्ग : विजयमल का, अपनी भौजाई द्वारा अपने पिता, भाई आदि की कैद की खबर पाकर, तैयार हो लड़ाई के लिए चल पड़ना ]

( २ ) आगा-पीछा घोड़वा सबके मारने जाइ रे ना।
दुनू त बगल में छत्री विजयमल मारैइ रे ना।

---

१—जे० ए० एस्० बी०, Vol. LIII (१८८४), पृ० ९४—'दि सौंग विजयमल' ( डा० ग्रियर्सन द्वारा अनूदित एवं सम्पादित ); श्रीसत्यव्रत सिन्हा : 'भोजपुरी-लोकगाथा', पृष्ठ० ९७—१०७।

आधा त रे हसेरिया मारियो गिढ़ावैइ रे ना।
सात दिन रौ रतिया लड़ाइयो ने भेलइ रे ना।

[ मैथिली। प्रसङ्ग : लड़ाई के मैदान में विजयमल की वीरता का वर्णन। ]

( ६ ) राजा ढोलनसिंह—यह लोक-गाथा राजस्थान की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रेम-गाथा 'ढोला-मारू' से सम्बद्ध है। इसमें राजकुमार ढोलन और राजकुमारी मरुअनि की प्रेम-गाथा वर्णित है। गायकों ने अपने-अपने ढंग से इसमें बहुत कुछ जोड़ा-घटाया है, फलतः पात्रों, स्थानों, घटनाओं आदि में अनेक परिवर्त्तन हो गये हैं। कथा संक्षेप में यों है—

रेणु या हरिचन राजा बुरे दिन के फेर में पड़कर अपनी स्त्री के साथ पिङ्गल-राज्य में पहुँचे। पिङ्गलराज ने उन्हें अपने यहाँ एक छोटी-सी नौकरी दे दी। वहीं उनके पुत्र ढोलन का जन्म हुआ। उसी समय पिङ्गलराज के एक पुत्री हुई, जिसका नाम मरुअनि पड़ा। बड़े होने पर दोनों का विवाह हो गया। कुछ समय बाद राजा हरिचन पुत्र-सहित अपने देश लौट आये। ढोलन को रेवा नामक एक अत्यन्त सुन्दरी मालिन ने अपने प्रेम-जाल में फँसा लिया। ढोलन अपनी विवाहिता पत्नी मरुअनि को भूल-सा गया। उधर मरुअनि पति-वियोग में किसी प्रकार समय बिताती हुई ढोलन के पास सन्देश भेजती रही। किसी प्रकार ढोलन वहाँ पहुँचा और उसके साथ पुनः अपने देश लौट आया।

इस गाथा में वियोग-शृंगार का प्राधान्य है।

इस गाथा के दो छोटे संग्रह, भोजपुरी तथा मैथिली-क्षेत्रों से, विभाग में आये है। दोनों ही संग्रह अव्यवस्थित हैं। दोनों में थोड़ी भिन्नताएँ हैं। उदाहरण—

(१) जइसे त बाड़े ढोलन फाटल लुगरिया[1] हो,
पेवना लागल दस-पाँच नु रे की।
वोइसे त बाड़े ढोलन रेवा त मलिनिया हो,
मालिन सँगवा रहल लुभाई नु रे की।
जइसे त कुहुके ढोलन वन के कोइलिया हो,
वोइसे कुहुके ब्याही नारि नु रे की।

[ भोजपुरी। प्रसङ्ग : मरुअनि द्वारा भेजा गया सन्देशवाहक योगी का वेश धारण कर गीत गाता हुआ, ढोलन के वियोग में मरुअनि की दशा का वर्णन ढोलन को सुनाता है ]

( २ ) बसिया बजावैइ रे डोमरा निर्गुन त गावैइ छई रौ।
बसिया सबदवा रे पारै गारियो ना रे मेरो।
बारह बरिसवा रौ ढोलन तोहरो विवाह के ने बितलौ रौ।
कब करमें गौना के नियरवो करमे न रे मेरो।

[ मैथिली। प्रसङ्ग वही। सन्देशवाहक यहाँ डोम-जाति का है, जो बाँसुरी बजाकर मरुअनि की दशा का वर्णन करता है। ]

---

—१. स्त्रियों की पुरानी साड़ी।

( ७ ) नूनाचार—यह गाथा कुछ-कुछ छतरी चौहान ( मगही-क्षेत्र ) या घुघुली-घटमा ( अङ्गिका-क्षेत्र ) से मिलती है। कथा इस प्रकार है—

गढ़ कोठराम के राजा कर्णू ने एक राजमहल बनवाया। जब उसे ज्योतिषियों से ज्ञात हुआ कि राजमहल उसके दामाद के हाथों में चला जायगा, तब तो उसने अपने दामाद को मरवा डालने की नीयत से बुला भेजा। उसकी बेटी को यह बात मालूम हो गई। उसने अपने पति की रक्षा के लिए अनेक कोशिशें कीं, किन्तु राजा ने उसे मरवा ही दिया। राजा की विधवा पुत्री किसी प्रकार अपने पति के घर पहुँची और उसने इस घटना से अपने देवर को अवगत कराया, फिर वह अपने देवर को साथ लेकर गढ़ कोठराम पहुँची। लड़ाई हुई। राजा कर्णू मारा गया। राजा की छोटी पुत्री सरिता से राजा की विधवा पुत्री ने अपने देवर का ब्याह करा दिया और स्वयं सती हो गई।

इस गाथा का एक ही संग्रह रोसड़ा ( दरभंगा ) के मैथिली-क्षेत्र से आया है। बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में इस गाथा के प्रचलित होने की निश्चित सूचना विभाग को नहीं है। यह वीररस-प्रधान गाथा है। कहीं-कहीं करुण-रस का भी वर्णन आया है। उदाहरण—

किये रे देवा सबके मारि-पिटि कुमरि देलकैइ मसाइयो रे ना।
किये रे देवा गेया महिसवा खोलि के भगाइयो देलकैइ रे ना॥
किये रे देवा पछिम आगि लगौलकैइ हरिहा[1] पूरबो आगि धरावैइ रे ना।
उत्तर आगि लगावैइ हरिहा दखिन आगि लगौलकैइ रे ना।
गढ़ कोठरामो रे हरिहा कैलकैइ जरा के छाउरो रे ना॥

[ प्रसङ्ग : गढ़ कोठराम में राजा कर्णू के साथ उसकी पुत्री हरिहा तथा हरिहा के देवर के युद्ध का वर्णन। ]

( ८ ) राजा सलहेस—यह लोक-गाथा बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न रूपों में प्रचलित है। इस लोक-गाथा का नायक राजा सलहेस है। सलहेस जाति का दुसाध था, इसलिए इस गाथा को विशेष रूप से इसी जाति के लोग गाते हैं। दुसाध तथा अन्य हरिजन भी, सलहेस की पूजा किया करते हैं। यह गाथा ढोल-मृदङ्ग बजाकर गाई जाती है। पूजा चढ़ानेवाले पुजारी की देह में सलहेस का भाव आता है। संक्षेप में यह गाथा इस प्रकार है—

राजा सलहेस मोरंग देश का वीर एवं सुन्दर युवक था। दवना नामक मालिन उसकी ओर आकृष्ट थी। वह सलहेस को पाने के लिए वर्षों से प्रयास कर रही थी।

सलहेस का जीवन-निर्वाह मोरंग में नहीं हो पा रहा था। अतः, उसने मुँगेर के लिए प्रस्थान किया। दवना मालिन उसका पैर पकड़कर अनुनय-विनय करने लगी कि वह मुँगेर न जाय। सलहेस ने जब अपनी विवशता प्रकट की तब दवना ने सलहेस को मोरंग के

---

—१. हरिहा = राजा कर्णू की विधवा पुत्री।

राजा के यहाँ कोई अच्छी नौकरी दिलाने का वचन दिया। उसने मोरंग के राजा से सात सौ पहरेदारों के सरदार चूहड़मल के बारे में चुगली खाकर उसे निकलवा दिया और उसकी जगह सलहेस को रखवा दिया। चूहड़मल ने बदला लेने की नीयत से राजा के महल में चोरी की, जिसका अभियोग सलहेस पर लगा। सलहेस को कारावास मिला। लेकिन, दवना ने देवी की सहायता प्राप्त कर बड़ी ही चतुराई से इस रहस्य का उद्‌घाटन किया। चूहड़मल दण्डित हुआ। इसके बाद दवना और सलहेस सुखपूर्वक रहने लगे।

इस लोक-गाथा का केवल एक ही संग्रह पूर्णिया जिला के अज्ञिका-क्षेत्र से आया है। यह संग्रह पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है। इस गाथा में शृङ्गार-रस प्रधान है। उदाहरण—

छन-छन छरमा तोरा कहै छी
तोरे असरा पर बारह बरस जब अँचरा बान्हलौं
कहियो नै रे निदरदा पलंगे पर दरसन देबै कैलै नै गौ।

[ प्रसङ्ग : मोरंग के लिए प्रस्थान करते समय राजा सलहेस से दवना मालिन का अनुनय-विनय। ]

(६) दीना-भदरी—यह लोक-गाथा विशेष रूप से नैपाल और पूर्णिया के बीच के क्षेत्रों में प्रचलित है। बिहार के अन्य क्षेत्रों में यह प्रचलित है या नहीं, इसकी निश्चित सूचना विभाग को नहीं है। यह मुसहरों ( जाति-विशेष ) की जातीय गाथा है। इस गाथा के नायक दीना और भदरी मुसहर जाति के थे। अतः, इसे अधिकतर इसी जाति के लोग गाते हैं। गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—

जोगिया नगर में दीना और भदरी नामक दो भाई रहते थे। दोनों बड़े ही बहादुर थे। उस नगर के लोग उनसे बहुत डरते थे। उसी नगर के राजा कनकसिंह ने किसी काम से समस्त प्रजा को बुला भेजा। दीना और भदरी नहीं आये। इससे क्रुद्ध राजा घोड़े पर सवार होकर दीना-भदरी के यहाँ पहुँचा। दीना-भदरी तथा राजा में बातें बढ़ गईं। दीना और भदरी ने मिलकर राजा की बड़ी दुर्गति की। राजा घर लौट आया। उसकी यह दशा देख उसकी दो जादूगरनी बहनों, जदुआ और बचुआ, को बड़ी चिन्ता हुई। उन दोनों ने छल करके दीना-भदरी को मरवा डाला और उनके माता-पिता को घोर यातनाएँ दीं।

बहुत दिनों के बाद दीना-भदरी की मृत आत्माओं ने जदुआ-बचुआ से इसका बदला लिया। फलस्वरूप जदुआ-बचुआ मारी गईं।

इस गाथा का केवल एक ही संग्रह पूर्ण एवं सुव्यवस्थित है। इसमें करुण रस का प्राधान्य है। उदाहरण—

अहो निरसू माय[1] कानब[2] से नैं भदरी हो,
छोटअन भदरी बहि गेलै सुरसरि नदीधार।

---

—१. दीना-भदरी की माँ। २. रोने से।

अहो कालू बाबा[1] कानब से नै भदरी हो,
छोटजन भदरी अशोक सूखि लेलकै पतझार।
अहो रैजना-बुधना[2] कानब से भदरी-हो,
छोटजन भदरी जोगिया[3] में नै लागले भैया कुहेस।

[ प्रसङ्ग : दीना-भदरी की मृत्यु के बाद उनकी माँ, उनके पिता तथा उनकी पत्नियों के विलाप से होनेवाले प्राकृतिक परिवर्त्तनों का वर्णन। ]

( १० ) मनसाराम और छेछनमल—यह लोक-गाथा सम्भवतः समस्त बिहार में प्रचलित है। इस गाथा के नायक मनसाराम और छेछनमल दो व्यक्ति हैं। मनसाराम जाति का चमार और छेछनमल डोम था। यही कारण है कि यह गाथा छोटी जातियों में ही प्रचलित है। चमार लोग तो मनसाराम की पूजा भी करते हैं। गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—

मनसाराम और छेछनमल, दोनों ही बहादुर नौजवान थे। मोरंग के राजा ने सिरीराजखण्ड को अपने अधीन करने का विचार किया। ज्योतिषियों के द्वारा पता चला कि मनसाराम, जो मोरंग-राज का सिपाही था, के द्वारा ही सिरीराजखण्ड पर कब्जा किया जा सकता है, और वह भी छल से ही। फलस्वरूप, मोरंग के राजा ने पुरस्कार का प्रलोभन देकर सिरीराजखण्ड के बहादुर रक्षक छेछनमल को अपने दरबार में बुलवाया। पहले तो राजा ने उसे बहुत समझाया-बुझाया, किन्तु वह किसी प्रकार भी वश में नहीं आया। इस पर राजा ने उसे सिपाहियों द्वारा अच्छी तरह बँधवा दिया, किन्तु छेछनमल ने बात-की-बात में सारे बन्धन तोड़ डाले। राजा उसकी वीरता का कायल हो गया। इसके बाद उसने सिरीराजखण्ड पर विजय पाने की आशा छोड़ दी।

इस गाथा का अबतक एक ही छोटा संग्रह पूर्णिया जिला के अङ्गिका-क्षेत्र से विभाग में आया है। इसके वर्णन ओजःपूर्ण और व्यवस्थित हैं; प्रधानता वीर-रस की है। उदाहरण—

कुछ नै बोहत जयतै हो मनसाराम,
चाहे सिरो कियै नै उतैर जायत।
तैहयो हमें नहि टपै लय देबअ हो,
आपन राज के रे भीतर।
जौं तोरा आबे जी-जान के डर छअ हो,
तौं घर घूरि जा हो नै अपन।
हमें ते एको करम नै बाकी राखबअ हो,
हमें करबै सीमान के रछिपाल।
जौं तोय एको डेग आगू बढ़ैबअ हो,
हमें तोहर सिर लेबौ नै कतैर।

---

—१. दीना-भदरी के पिता। २. दीना भदरी की पत्नियाँ। ३. स्थान का नाम।

[ प्रसङ्ग : मोरंग के राजा के बहादुर सिपाही मनसाराम के प्रति सिरीराजखण्ड की सीमा के रक्षक बहादुर नौजवान छेछनमल की उक्ति । ]

(११) मीरायण—यह लोक-गाथा बिहार के पूर्णिया और सहरसा जिलों में विशेष रूप से प्रचलित है । वहाँ के देहातों में मीरा साहब की पूजा की जाती है और ओझा की देह में मीरा साहब का भाव आता है । उस समय ओझा पूजा करनेवालों को वरदान देता है । इस गाथा के नायक मीरा साहब हैं । मीरा साहब जाति के मुसलमान थे। लेकिन, यह गाथा हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही जातियों में प्रचलित है । बिहार के अन्य सीमा-क्षेत्रों में इसका प्रचलन है या नहीं, इसकी निश्चित सूचना विभाग को नहीं है । संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

डिलरी नगर में हरफूल नामक एक सैयद रहता था । उसकी पत्नी का नाम आतम था । हरफूल अपने अनेक लड़कों के साथ नूनजागढ़ की लड़ाई में मारा गया । उसके परिवार में केवल उसकी पत्नी बच रही थी, जो गर्भवती थी । उसके गर्भ से मीरा का जन्म हुआ । मीरा बड़ा पराक्रमी और होनहार बालक था । उसकी माँ ने उसके बचपन में ही यह सोचकर उसकी शादी की कि बड़ा होने पर मीरा, अपनी पत्नी के मोह के कारण, शायद नूनजागढ़ लड़ाई करने नहीं जायगा । किन्तु, बड़ा होने पर मीरा ने अपनी माँ तथा पत्नी के अनुरोध को ठुकराकर नूनजागढ़ पर चढ़ाई की । बड़ी कठिनाइयों के बाद उसकी विजय हुई । वह पुनः डिलरी नगर लौट आया और अपने परिवार के साथ आराम से रहने लगा ।

उक्त लोक-गाथा का एक ही संग्रह पूर्णिया जिला से आया है । गाथा सुव्यवस्थित एवं रोचक है । वर्णन विशद एवं सुन्दर हैं; प्रधानता वीर-रस की है । कहीं-कहीं करुण-रस का भी समावेश हुआ है । उदाहरण—

गिर-गिर नगेड़ा दल में धौंसा बोलै हे रौ भैया धौंसा,
भैया धौंसा के बोल कहलो नै जाय
मार-काट के लकड़ी दल में बजना बोल बोलैहये रे भैया, बोलैहये
भैया छिटकल जाइये सिंघिन तलवार ।
करिया रे कुमैता दल में घोड़ा जे ठनकै हे रौ भैया घोड़ा
भैया घोड़ा पीठ अगिन हो असवार ।

[प्रसङ्ग : नूनजागढ़ पर मीरा द्वारा चढ़ाई किये जाने पर लड़ाई के दृश्य का वर्णन । ]

(१२) लाला महाराज—यह लोक-गाथा सहरसा और पूर्णिया जिलों में हरिजनों, विशेषतः चमारों, के बीच मुख्य रूप से प्रचलित है । बिहार के अन्य क्षेत्रों में इसका प्रचार है या नहीं, इसकी निश्चित सूचना विभाग को नहीं है । लाला महाराज चमारों के देवता हैं । चमार उनकी पूजा करते हैं । उनका जन्म सहरसा जिला में हुआ था । कथा-संक्षेप इस प्रकार है—

लाला महाराज बहुत ही बहादुर था । वह खसिया नामक 'चौर' से बलपूर्वक

मछली मारकर ला रहा था। सोनायमनी नामक व्यक्ति को लाला महाराज का यह काम अच्छा न लगा। कारण यह कि उस 'चौर' में केवल वही मछली फँसा सकता था। सोनायमनी ने लाला महाराज को मारने के लिए बाघ भेजा। लाला महाराज ने उसे लाठी से मार गिराया। सोनायमनी को अपनी असफलता पर बहुत दुःख हुआ। उसने गहिली देवी की प्रार्थना की। गहिली देवी ने एक बाघिन भेजी, जिसने लाला महाराज को मार डाला। लाला महाराज की मृत्यु के बाद उसके माता-पिता को लाला के मित्र नाथमिश्र ने दूध नहीं दिया। इस पर क्रुद्ध हो लाला महाराज के भूत ने उसे मार डाला। उसने सोनायमनी, उसके परिवार तथा उसके जातिवालों से भी बदला लिया। लाला महाराज से तंग आकर सोनायमनी के गाँववाले लाला महाराज को पूजने लगे और तब लाला महाराज ने उत्पात करना बन्द कर दिया।

इस लोक-गाथा का एक ही संग्रह पूर्णिया जिला से आया है। गाथा पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है। प्रधानता करुण और वीर-रस की है। उदाहरण—

(१) खसिया के तीर मैया घूरै छै हो,
हाय लाला के करै छै नै खोज।
लाला के खोजै छैं जौं आवे,
कानि-कानि कहैइये नै बुझाय।
कतहूँ नै देखियै रे दैबा जो आव,
कतहूँ नै लाला बाबू के रे आव।
केकरा से पूछबै केकरा समुझैबै,
केकरा के कहबै हमें हो उदेश।

[प्रसङ्ग : लाला महाराज की मृत्यु के बाद उसकी माँ का विलाप।]

(२) डाँटि-डपटि कहै लागले गे,
रूपामाय मिसर के नै बुझाय।
जेकरे परसादे नाथ मिसर छह हो,
धोबिये पाट सन के जे शरीर।
केला के थम सन के छौ मिसर रे,
तोरो जे आबे नै हो जाँघ।
कुनल-कुनल बाँही नाथ मिसर हो,
ललिये परसादे छौ नै आव।

[ प्रसङ्ग : लाला महाराज की मृत्यु के बाद उसकी माँ नाथमिश्र के यहाँ थोड़ा दूध माँगने जाती है। नाथमिश्र दूध देने से इनकार करता है। इस पर लाला महाराज की माँ पुरानी बातें याद दिलाती हुई नाथमिश्र को उलाहना देती है। ]

( १३ ) कालिदास (पूर्वार्द्ध)—यह लोक-गाथा पूर्णिया और सहरसा जिलों में प्रचलित है। बिहार के अन्य क्षेत्रों में इसके प्रचलन की सूचना विभाग को नहीं है।

यह गाथा प्रसिद्ध संस्कृत-कवि कालिदास के जीवन पर आश्रित है। अन्धविश्वास के कारण कालिदास को देवता का रूप दे दिया गया है। कथा की मूल धारा में भी कुछ उलट-फेर कर दिया गया है।

यह गीत ग्वालों में अधिक प्रचलित है। ग्वाले कालिदास की पूजा करते हैं। भगत की देह में कालिदास का भाव आता है। वह अपने उपासकों को वरदान भी देता है। संक्षेपतः कथा इस प्रकार है—

तिरहुत में श्रीकमल-दह (हद) में कमल के पत्ते पर खेलता हुआ एक बालक अमरीता नामक स्त्री को मिला। अमरीता उसे अपने घर लाकर पालने लगी। बड़ा होने पर एक दिन वह जिस डाल पर बैठा था, उसी को काट रहा था। तिरहुत के राजा सुबायसिंह की पुत्री बहुरा के लिए वर ढूँढने ब्राह्मण और हजाम उसी रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने उस लड़के की मूर्खता देख उसे ही बहुरा के लिए पसन्द किया। उससे बहुरा का ब्याह हो गया।

एक दिन, प्रसङ्गवश, बहुरा देवी ने पति को अपनी एक उँगली दिखाई। इस पर पति ने अपनी दो उँगलियाँ दिखाईं। बहुरा उसकी मूर्खता समझ गई। उसने उसे बहुत धिक्कारा। पति घर से निकल पड़ा और एक आचार्य के आश्रम में जाकर विद्याध्ययन करने लगा। एक दिन गुरु ने उसे देवी की पूजा के लिए भेजा। देवी उसकी पूजा से बहुत प्रसन्न हुई। देवी से उसने विद्या का वरदान माँगा। देवी ने उसे बताया कि उस रात्रि को वह जितने ग्रन्थों के पृष्ठ उलट जायगा, उतने ग्रन्थों का ज्ञान उसे प्राप्त हो जायगा। उसने ऐसा ही किया। आश्रम के सभी ग्रन्थ वह रात-भर में उलट गया। अब क्या था, वह प्रकाण्ड पण्डित बन गया। गुरु ने उस दिन से उसका नाम कालिदास रख दिया। वह अपने घर लौट आया।

एक दिन कालिदास इन्द्र-लोक पहुँचा। देवताओं ने उसे सैरा-दह से कमल के पाँच फूल तोड़ लाने के लिए चुना। वह सैरा-दह गया। वहाँ सैरा-दह के राजा नाग के डँस लेने से उसकी मृत्यु हो गई। देवताओं ने उसे पुनः जिलाया। वह कमल का फूल लेकर इन्द्र-लोक लौटा। देवताओं ने उसके साहस की प्रशंसा की और उसे संसार में धर्म के प्रचार के निमित्त भेजा। संसार में आकर उसने चारों ओर घूम-घूम कर धर्म का प्रचार किया।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह पूर्णिया जिला के अक्रिका-क्षेत्र से आया है। गाथा पूर्ण, लेकिन अव्यवस्थित है। इसमें पुनरुक्तियाँ बहुत अधिक हैं। कहीं-कहीं बड़े ही सुन्दर वर्णन आये हैं; प्रधानता शान्त-रस की है। उदाहरण—

दूध लै बछरू कुहकै हो,
बाबू हो बछरू लै कुहकै धेनु गाय।

वह लय हंसा चकेवा कुहकै हो,
बाबू हो जोड़ी लय कुहकै मंजूर।
बिरीछ लय कारी कोयली कुहकै हो,
पूत लय अबला तिरिया नारि।

[ प्रसङ्ग : सामान्य वर्णन। ]

( १४ ) कालिदास : जोति का अवतार—यह लोक-गाथा भी 'कालिदास' नामक लोक-गाथा की तरह ही सहरसा और पूर्णिया जिलों में प्रचलित है। बिहार के अन्य क्षेत्रों में इसके प्रचलन की सूचना विभाग को नहीं है।

जोति कालिदास का ही शिष्य और भक्त था। वह भी देवगुण-सम्पन्न था। गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—

पुहपीनगर में कीरति पासमान नामक व्यक्ति को जोते हुए खेत में एक बालक मिला। उसने उसे अपने घर लाकर पाला-पोसा। एक दिन जोति हरिया नामक एक साथी के साथ सुअर चराने गया। भावावेश में आकर वह वहीं नाचने लगा। उसके नाच से इन्द्रलोक डोल गया। देवताओं ने जोति को मर्त्यलोक में कालिदास के पास भेजा। कालिदास उसका भक्ति-भाव देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे धर्म-प्रचार का उपदेश दिया तथा असाधारण शक्ति प्रदान की।

जोति पुहपी में धर्म का प्रचार करने लगा। वह छोटे-छोटे बच्चों को बुलाकर मिट्टी के छोटे-छोटे ढेले दे देता था, जो 'शक्करचूर' लड्डू बन जाते थे। बच्चे बड़ी खुशी से उसका गुण-गान करते थे। धीरे-धीरे उसका यश चारों ओर फैल गया।

एक दिन, कालिदास ब्राह्मण-वेश में जोति से मिलने आये। जोति उनसे नहीं मिला। कालिदास ने उसे शाप दिया और वहाँ से चलते बने। जोति कोढ़ी हो गया। जोति तथा उसके माता-पिता को इसके लिए बहुत परिताप हुआ।

कालिदास पुनः एक ज्योतिषी के वेश में आये। उन्होंने कोढ़ से मुक्ति पाने के निमित्त जोति को किसी जंगल में जाकर बिना अन्न-जल के बारह वर्ष तक रहने को कहा। जोति अपना घर-द्वार छोड़ जंगल को चल पड़ा।

इस गाथा का एक ही संग्रह पूर्णिया जिला के अङ्गिका-क्षेत्र से आया है। गाथा छोटी, किन्तु वर्णन विशद हैं; प्रधानता भक्ति-रस को है। उदाहरण—

जिये-जिये निरबुधी बालक जोति हो,
जग में तू अमर भै जा।
नित दिन करिहै बलकवा रे,
आहो धरम के हो बेहवार।
जहीं ठीन जे चीज चाहबे बालकवा रे,
पुरैतौ दाता हो धर्मराज।

[ प्रसङ्ग : देवताओं द्वारा जोति को वरदान। ]

( १५ ) गरबीदयालसिंह[1]—यह लोक-गाथा प्रायः समस्त बिहार में गाई जाती है। इस लोक-गाथा का नायक गरबीदयालसिंह जाति का गोंड़ या नेटुआ था। इसलिए, इसे अधिकतर नेटुआ लोग ही गाते हैं। यह गाथा चार-पाँच आदमियों के साथ मृदङ्ग या पखावज पर गाई जाती है। इसका प्रमुख गायक नर्त्तक भी होता है, जो नाच-नाचकर इसे गाता है। अन्य समाजी भी उसका अनुसरण करते हैं। चम्पारन जिला में इस नृत्य को 'पखावज का नाच' तथा इस गीत को 'दयालसिंघी' भी कहते हैं। यह नाच अहीर, नेटुआ आदि जातियों के शादी-ब्याह के अवसर पर कराया जाता है। इस नाच का नर्त्तक एकाधिक लोक-गाथाएँ गाता है, जिनमें प्रस्तुत लोक-गाथा प्रमुख है। गाथा संक्षेपतः इस प्रकार है—

गरबीदयालसिंह, भडौरा नामक स्थान का रहनेवाला था। उसके पिता का नाम दुखहरन सहनी था। गरबीदयालसिंह का ब्याह उसके बचपन में ही बखरी शहर में धनिया मरउती नामक स्त्री से हुआ था। ब्याह के समय उसके ससुर ने सभी बरातियों को कारावास दे दिया। किसी प्रकार दुखहरन सहनी अपने पुत्र को लेकर भाग निकला।

बड़ा होने पर एक दिन गरबीदयालसिंह ने अपने पिता से अबतक अपना 'गौना' नहीं होने का कारण पूछा। पिता ने उसे सारा हाल कह सुनाया। गरबीदयाल-सिंह अपना 'गौना' कराने के निमित्त निकल पड़ा। बखरी नगर की सीमा के 'तुलसी-इनार' पर उसकी मुलाकात अपनी पत्नी धनिया मरउती से हुई। दोनों में परिचय हुआ। उसे वहीं से वह अपने घर ले आया।

उक्त लोक-गाथा के केवल दो संग्रह चम्पारन जिला के पूर्वी क्षेत्र तथा दरभंगा से आये हैं। चम्पारनवाला संग्रह पूर्ण एवं व्यवस्थित है। दरभंगावाला संग्रह उतना पूर्ण एवं व्यवस्थित नहीं है। चम्पारनवाले संग्रह में पद्य के साथ-साथ बीच-बीच में गद्य भी हैं। भाषा मैथिली से प्रभावित भोजपुरी है। दरभंगावाले संग्रह की भाषा विशुद्ध मैथिली है। दोनों में ही प्रधानता शृङ्गार (संयोग)-रस की है। उदाहरण—

( १ ) तोहें किये न गरहले नेटुअवा,
भैया बढ़ई रे लोहरवा ?
तोहें किये न गरहले नेटुअवा,
भैया कुम्हरा रे चकेउआ ?
तोहें किये न ढारले नेटुअवा,
भैया साँचा में रे सोनारवा ?
तोहें किये न बाढ़ नेटुअवे,
हो सिरिठ भगवान ?

---

१—श्रीसत्यव्रत सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'भोजपुरी-लोकगाथा' में इसका उल्लेख नहीं किया है।

[ भोजपुरी । प्रसङ्ग : गरबीदयालसिंह के प्रथम दर्शन से उसकी पत्नी धनिया मरउतो का मूर्च्छित होकर गिर जाना । होश आने पर गरबीदयालसिंह से उसके सौंदर्य के सम्बन्ध में आश्चर्यकित हो प्रश्न करना । ]

(२) तोरो नाकवा में देखिले नेटुअवा
जैसे बरछी के रे नोकवा ।
तोरो ठोढ़वा में देखिले नेटुअवा
जैसे हीरा रे मोती झलके ।
... ... ...
तोरो जँघिया देखिले नेटुअवा
जैसे केदलि के रे थमवा ।

[ भोजपुरी । प्रसङ्ग वही ]

(३) हमरो घर थीके गै तिरिया माहे तिर्हुतराज ।
हमरो बाप के नाम थीकै श्याम रे विसम्भर ॥
चाचा के नाम थीकै गै तिरिया विमल सहनी नाम ।
सातो सै बरिअतिया बैसल छौ ठुठी पाकड़िया स्थान ॥
मैया के रे नाम थीकै गागो गोढ़नी आव ।
हमरो त ससुररिया गै तिरिया बखरिया सन रे राज ॥
ससुर क त नाम थीकै दुखरन सहनी नाम ।
सासु क त नाम थीकै गै तिरिया मानिक चन्द गोढ़ि ॥
केना के कहबौ गै तिरिया धनि तिरिया केर गै नाम ।

[ मैथिली । प्रसङ्ग : प्रथम दर्शन के समय गरबीदयालसिंह अपनी अपरिचिता पत्नी को अपना परिचय दे रहा है । ]

(१६) राजा हरिचन—यह लोक-गाथा बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित है । इसके नायक प्रसिद्ध पौराणिक पुरुष राजा हरिश्चन्द्र ही हैं । लोक-गाथा में कथा का रूप थोड़ा भिन्न हो गया है । 'गरबीदयाल' के समान इसे भी नेटुआ लोग ही नाच-नाच कर गाते हैं । संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

राजा 'हरिचन' ने सात यज्ञ किये । उनके यश की पताका फहराने लगी । इन्द्रलोक डोल गया । देवताओं को भय हुआ । उन्होंने राजा को पथभ्रष्ट करने के निमित्त विश्वामित्र को भेजा । विश्वामित्र ब्राह्मण-वेश में राजा के यहाँ गये । उन्होंने अपने को अत्यधिक क्षुधार्त्त बताकर राजा के पुत्र 'रोहितदास' के दायें अंग का मांस खाने की इच्छा प्रकट की । उनके आदेशानुसार राजा-रानी ने अपने पुत्र रोहितदास को आरे से चीरना आरम्भ किया । रोहितदास की आँखों से आँसू बहने लगे । विश्वामित्र ने इसका कारण पूछा । रोहितदास ने बतलाया कि एक ही शरीर के दो अंगों में से एक को पवित्र और दूसरे को अपवित्र क्यों माना गया—एक का भोजन कर तो ऋषि (विश्वामित्र) मुक्ति दे देंगे, किन्तु दूसरा यों ही रह जायगा !

विश्वामित्र उसकी ऐसी बातें सुन द्रवित हुए। वे हार मानकर इन्द्रलोक लौट गये। इसके बाद स्वयं भगवान् विष्णु वराह का रूप धारण कर राजा का उद्यान नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। राजा ने वराह का पीछा किया। घोर जंगल में जाकर वराह वृद्ध ब्राह्मण में परिणत हो गया। ब्राह्मण ने राजा से भोजन का याचना की। राजा उनको साथ लेकर अपने नगर पहुँचे। भोजन मिलने में थोड़ी देर हुई। ब्राह्मण भोजन के लिए विकल थे। राजाने अपनी रानी अपने पुत्र तथा स्वयं को बेचकर ब्राह्मण से भोजन करने की अनुरोध किया। ब्राह्मण ने राजा को डोम के घर, रानी को वेश्या के घर और रोहितदास को एक राजा के घर बेच डाला।

एक दिन रोहितदास को साँप ने काट लिया। उसकी मृत्यु हो गई। रानी उसका दाह-संस्कार करने गई। राजा हरिश्चन्द्र ने, जो घाट के पहरेदार थे, विना शुल्क लिये दाह-संस्कार नहीं होने दिया। रानी ने अपनी साड़ी का पल्ला फाड़कर शुल्क देना चाहा। तब भगवान् विष्णु वहाँ उपस्थित हुए और अपने साथ उन्हें स्वर्गलोक ले गये।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह चम्पारन के पूर्वी क्षेत्र से आया है। संग्रह पूर्ण और सुव्यवस्थित है, किन्तु वर्णन संक्षिप्त हैं। भाषा मैथिली से प्रभावित भोजपुरी है। प्रधानता करुण-रस की है। उदाहरण—

बोले ओजग रनिया नयना ढारे नोर।
हमारा के देलन दैवा दुनिया के भीर॥
सुनब-सुनब राजा बचन हमार।
रउरे बेटा रोहितदास मरल इहाँ बाड़न॥
कहवाँ से कौड़ी रउआ के हम दीउ।
कवनो धन हमारा पास नहीं बाड़े॥

[ प्रसङ्ग : रोहितदास को मृत्यु के बाद राजा हरिचन की पत्नी का विलाप। ]

(१७) अमरसिंह बरिया—यह लोक-गाथा दरभंगा जिला में प्रचलित है। बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में यह गाथा प्रचलित है या नहीं, इसकी सूचना विभाग को नहीं है। इस गाथा को विशेष रूप से निम्न श्रेणी के लोग ही गाते हैं। कथा इस प्रकार है—

अमरसिंह बरिया माता कमला का बहुत बड़ा उपासक था। वह असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न वीर व्यक्ति था। उसने तिरहुत के अत्याचारी राजा पमार से युद्ध किया। माता कमला की कृपा से उसकी विजय हुई और वह सुखपूर्वक रहने लगा।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह दरभंगा जिला के रोसड़ा नामक स्थान से आया है। गाथा अत्यन्त छोटी है। संग्रह व्यवस्थित नहीं है। वर्णन भी बहुत अच्छे नहीं हैं। प्रधानता वीर-रस की है। उदाहरण—

बरिया रौ, सात दिन सात राति पिछरा युधियो ने देल कौं रौं।
बरिया रौ, फाटैइ छै अमरसिंह बरिया के हृदय न कलेज जग फाटैई छै हौ॥

बरिया रौ, धिक्कारै ने बरिया मैया दुर्गा के धिक्कारो ने दै छै हौ।
मैया गै तहूँ ने अब चढ़ौले मैया अखड़वे ने चढ़ौले गै॥

[ प्रसङ्ग : लड़ाई के मैदान में शत्रुओं द्वारा छके छुड़ाये जाने के कारण अमरसिंह बरिया का विलाप तथा माता कमला के प्रति उलाहना। ]

(१८) कुमर बृजभान—यह लोक-गाथा बिहार के प्रायः सभी भाषा-क्षेत्रों में प्रचलित है। बिहार से बाहर भी यह उत्तर-प्रदेश तथा बंगाल-राज्यों में गाई जाती है। इसे खासकर गेरुआ-वस्त्रधारी नाथपन्थी योगी सारंगी पर गाते और भीख माँगते फिरते हैं। कारण यह है कि इस गाथा का नायक बृजभान एक योगी के वेश में ही अपने लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सका था। इस गाथा को कहीं-कहीं 'सोरठी' या 'सोरठी-बृजभार' भी ( भोजपुरी-क्षेत्र में ) कहते हैं। कथा इस प्रकार है—

राजा स्याडमाल सब तरह से सम्पन्न होकर भी निस्सन्तान था। उसके सात रानियाँ थीं, जिनमें से एक से एक लड़की उत्पन्न हुई। ज्योतिषियों के अनुसार वह पितृकुलघातिनी करार दी गई। राजा ने इस डर से उसे एक बक्से में रखकर नदी में बहा दिया। राजा बड़ा दुःखी रहता था। कुछ काल बाद ज्योतिषियों ने उसे राय दी कि यदि वह कटक-राज्य की राजकुमारी सोठी (सोरठी) से आठवीं बार ब्याह करे, तो सन्तान उत्पन्न होगी,[1] किन्तु सोठी को लाने का काम राजा का भानजा कुमर बृजभान ही कर सकता था।

राजा ने कुमर बृजभान को बुला भेजा। कुमर तुरत गौना कर लाई गई अपनी नवोढ़ा पत्नी को छोड़कर, अपने मामा के यहाँ आया। राजा ने उससे सारा हाल कह सुनाया। बृजभान योगी का वेश धारण कर कटक-राज्य में गया और बड़ी कठिनाइयों के बाद राजकुमारी सोठी को लाया।

राजा को सोठी की सुन्दरता तथा युवावस्था देखकर बृजभान के आचरण पर सन्देह हो गया। इसकी सूचना मिलते ही बृजभान और सोठी दोनों मोर-मोरनी बनकर उड़ गये। बाद में राजा को पता चला कि सोठी कुमारी उसी की परित्यक्ता पुत्री थी। राजा को बहुत परिताप हुआ।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह दरभंगा जिला के मैथिली-क्षेत्र से आया है। गाथा पूर्ण है। प्रधानता शृङ्गार-रस (वियोग) की है। उदाहरण—

येहन त सुरतियाक कन्या भगिना अनले जातिया।
तोहरो त नहीं बाचल हैतह कुमर हौ धरमुआ॥
येतना त बचनिया सुनै कुमर हौ बृजभानिया।
मोर त मजूर बनि उड़ै छै आकाशिया॥
बचि जब गेलै गुरु राजा कुमर दुनू क इज्जतिया।
सोठी कुमारि ने रहै विधाता स्याडमाल केर बेटिया॥

---

१—श्रीसत्यव्रत सिन्हा : 'भोजपुरी लोकगाथा', पृ० १३९-१५६; 'प्रवाह' (अकोला), अक्टूबर '५२, 'एक सोरठी गीत-कथा' ( श्रीअनघर आगेयान )।

कुमर-कुमरि उड़ि गेलइ देबा बनि मोर हौ मजूरिया।
छाती जे पीटै रामा लोक बेद कुटुम्बिया॥

[ प्रसङ्ग : अपने मामा द्वारा कुमर बृजभान के चरित्र पर सन्देह किये जाने पर कुमर और कुमारी सोठी (सोरठी) का 'मोर-मजूर' बनकर उड़ जाना। ]

( १६ ) हिरनी-बिरनी—यह लोक-गाथा दरभंगा जिला में प्रचलित है। बिहार के अन्य भाषा-क्षेत्रों में इसके प्रचार की सूचना विभाग को नहीं है। इसे विशेषतः निम्न श्रेणी के लोग गाते हैं। कथा इस प्रकार है—

हिरनी और बिरनी दो बहनें थीं। वे जाति की नटिन थीं। वे पोसनसिंह नामक एक व्यक्ति के प्रति आकृष्ट थीं और उसे अपना पति बनाना चाहती थीं। पोसनसिंह विवाहित और चरित्रवान् व्यक्ति था।

उसे फँसाने के लिए हिरनी-बिरनी ने जाल फैलाया। उनके पास एक बहुत ही खूँखार भैंसा था। उन्होंने पोसनसिंह के सामने यह शर्त्त रखी कि यदि वह उस भैंसे को नाथ देगा, तो हिरनी-बिरनी दासी बनकर उसकी सेवा करेंगी! यदि वह ऐसा न कर सका, तो वे उसे नट बना लेंगी! पोसनसिंह इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता था। किन्तु अन्त में, पोसनसिंह ने उस भैंसे को नाथ दिया। हिरनी-बिरनी उसकी दासी बन उसकी सेवा करने लगीं। उनकी हीन मनस्कामना पूरी नहीं हुई।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह दरभंगा जिला के रोसड़ा नामक स्थान से आया है। गाथा अत्यन्त छोटी, किन्तु रोचक है। प्रधानता शृङ्गार और वीर-रस की है। उदाहरण—

सुनह-सुनह हौ बाबू भैया, हमें एक आइति[1] जे देलिये।
हमें कहै छी मैगर भैसा तोहू एकरा नाथिये दहू॥
दुनू बहिन बहिकरनी[2] देब तोरे द्वारि गुजर जे करबै।
एकरे गोरी में[3] गोबर काढ़ि के अपनो उमर गमेबो करबै॥
नहिए मैगर जे भैसा नथबे करमें नट जखनी बनाइये लेब।

[ प्रसङ्ग : हिरनी-बिरनी दोनों बहनों द्वारा भैंसा नाथने के लिए पोसनसिंह के सम्मुख शर्त्त रखना। ]

( २० ) राजा विक्रमादित्य—यह लोक-गाथा प्रायः समस्त उत्तर-बिहार में प्रचलित है। दक्षिण-बिहार में इसके प्रचलन की सूचना विभाग को नहीं है। 'गरबीदयाल' और 'राजा हरिचन' नामक गाथाओं के समान ही इसे पखावज के बोल पर नर्त्तक गाते हैं। गाथा के नायक राजा विक्रमादित्य हैं। कथा इस प्रकार है—

कुण्डिलपुर के राजा विक्रमादित्य के छह रानियाँ थीं, किन्तु सन्तान एक भी नहीं। राजा बहुत दुःखी रहते थे। उन्होंने ज्योतिषियों को बुलाकर इसका उपाय पूछा। उन्हें बताया गया कि यदि वे पोपिलपुर की राजकुमारी हेवला से ब्याह करें, तो अवश्य सन्तान

---

—१. तकलीफ, कष्ट। २. दासी का काम करना। ३. बदले में।

होगी। राजा ने ऐसा ही किया। उनकी अन्य छहों रानियाँ रानी हेवला से ईर्ष्या करने लगीं। रानी हेवला के, राजा की अनुपस्थिति में, दो बच्चे हुए। राजा की छहों रानियों ने रानी हेवला को धोखा देकर दोनों बच्चों को गायब करा दिया, किन्तु किसी प्रकार बच्चों की जान बच गई। अन्त में, दोनों बच्चे पुनः राजा को मिल गये और राजा को सारा रहस्य विदित हो गया। उन्होंने छहों रानियों को मरवा डाला।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह चम्पारन जिला के पूर्वी क्षेत्र से आया है। गाथा पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है। प्रधानता वात्सल्य और करुण-रस की है। उदाहरण—

(१) ए छव बिआह कले विक्रम राजा।
छवों रनिया बाझिन होई आला॥
ए रोय ल राजा हो नयन ढारे लोर।
देव देवता सब भइली कठोर॥
अन-धन के हम भइली सुखीता।
एक बंस बिना भइली दुखीता।

[ प्रसङ्ग : आरम्भ। ]

(२) बोललें केवला रे साजले जबाव।
सात रे परत कपड़ा लेइ आव॥
छवो रनिया के अस्तर पर देइ छहु।
जेकरा रे अस्तर से दूध ओ में बही॥
तिनही के जानब माता उहे बाड़ीन।
सात परत कपड़ा हो अस्तर दीना॥
किनहु का अस्तर से दूधवो न चुए।
सात परत कपड़ा रानी हेवला के दीना॥
हुनकर दूधवा चुअल चलि जाले।

[ प्रसङ्ग : बहुत दिनों के बाद मिलने पर सातों रानियों में से अपनी माँ को पहचानने का बच्चों द्वारा वर्णन। ]

( २१ ) लुकेसरी देवी— यह गाथा पूर्णिया तथा सहरसा जिलों में प्रचलित है। लुकेसरी देवी चमारों की कुलदेवी हैं, जिनको वे पूजा करते हैं। कथा इस प्रकार है—

लुकेसरी एक चमार की कन्या थी। वह छेछनमल को पति-रूप में पाने के लिए बहुत दिनों से एकादशी-व्रत करती आ रही थी। एक दिन उसे स्वप्न में मालूम हुआ कि जिसके लिए वह तपस्या कर रही है, वह योगी होकर इधर-उधर घूम रहा है। लुकेसरी उसके लिए दर-दर मारी फिरने लगी। अन्त में, छेछन उसे मिला, किन्तु छेछन ने उससे पूजनीया देवी के रूप में उपदेश ग्रहण किया। तभी से लुकेसरी एक देवी के रूप में पूजी जाने लगी।

उक्त गाथा का एक ही संग्रह पूर्णिया जिला के अङ्गिका-क्षेत्र से आया है। गाथा बहुत ही छोटी है और विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण—

जेही ते पुरुख लय सखी हो,
सखी हे कैलियै एकादशी परब
सखी कैलियै हे ना।
दैबा से हो ते पुरुख
ओढ़नी-बसुलिया बजबै हे ना।

[ प्रसङ्ग : स्वप्न के बाद लुकेसरी का अपनी सखियों के सम्मुख स्वप्न की बात का वर्णन। ]

( २२ ) भाजा—एक राजा और साधु में बड़ी मित्रता थी। कुछ लोगों को यह बात पसन्द न थी। उन्होंने राजा से कहा कि निस्सन्तान का मुँह देखने से भी पाप लगता है—राजा ने एक निस्सन्तान साधु से मित्रता की है, यह अच्छा नहीं है। अतः, राजा ने साधु से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

इससे साधु को बड़ा दुःख हुआ। वह देश छोड़कर अपनी पत्नी के साथ कहीं व्यापार करने चला गया। लौटती बार उसने देखा कि कुछ स्त्रियाँ 'भाजा' नामक पूजा कर रही थीं। पूछने पर पता चला कि जो स्त्री यह पूजा करती है, उसे जरूर सन्तान की प्राप्ति होती है। साधु की पत्नी ने घर लौटकर 'भाजा' नामक पूजा की। फलस्वरूप, उसके एक लड़की हुई। सयानी होने पर उसका ब्याह राजा के लड़के से हुआ। सभी सुखपूर्वक रहने लगे।

यह गाथा अङ्गिका-भाषा-क्षेत्र के पूर्णिया जिला से आई है। उक्त क्षेत्र में विवाहिता स्त्रियाँ भादो महीने में सन्तान-प्राप्ति की कामना से भाजा की पूजा करती हैं। उदाहरण—

(१) राजा-साधु बड़ा रे पिरीत।
दोहो रे मिलि एकके चट्टीसार पढ़े।
दोहो रे मिलि एकके पलंग सूते हे।
दोहो रे मिलि एकके बटियाँ बुले हे।
दोहो रे मिलि एकके मैना पढ़ावे हे।

[ प्रसङ्ग : राजा और साधु की मित्रता का वर्णन ]

(२) केवरिया लागल धनी हँकरई,
माई-बाप छमरई,
तोहें पिया बड़ा अमरूख[1]।
हमरो दरदो नहि जानै छह।

[ प्रसङ्ग : गर्भवती होने पर साधु की पत्नी अपनी पीड़ा का वर्णन अपने पति से कर रही है। ]



—१. निष्ठुर।

# श्रीगदाधरभट्ट

श्रीव्रजरत्नदास; काशी

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर वैष्णव भक्त-कवियों का कितना ऋण है तथा उसके भाण्डार की पूर्त्ति में इनका कैसा प्रमुख भाग है, यह हिन्दी-प्रेमियों को ज्ञात है। तत्कालीन कृष्णभक्ति-शाखा के अनेक वैष्णव-सम्प्रदायों में वल्लभ-सम्प्रदाय का सबसे अधिक योग इस कार्य में रहा है। इन्हीं सम्प्रदायों में एक श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु का है, जिसके अनुयायी अनेक भक्त-कवियों ने भी बड़ी सुन्दर कविताएँ की हैं। इसके प्रवर्त्तक बंगाल के थे और इसका विशाल साहित्य अधिकांशतः संस्कृत तथा बँगला में ही है। बँगला-साहित्येतिहास का मध्यकाल इसके प्रवर्त्तक के नाम पर चैतन्य-काल कहलाता है। इस सम्प्रदाय का संस्कृत तथा व्रजभाषा-साहित्य अधिकतर वृन्दावन में ही लिखा गया था, जहाँ महाप्रभु के विशिष्ट शिष्य सनातन, जीव आदि गोस्वामीगण ने निवास किया था। इसी सम्प्रदाय के एक भक्त-कवि गदाधरभट्ट थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वरचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—"यह बात प्रसिद्ध है कि ये श्रीचैतन्य महाप्रभु को भागवत पुराण सुनाया करते थे। इसका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियों से भी होता है—

भागवत-सुधा बरषै बदन, काहू को नाहिन दुखद।
गुणनिकर गदाधरभट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

श्रीचैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव सं० १५४२ में और गोलोकवास सं० १५८४ में माना जाता है। अतः,, सं० १५८४ के भीतर ही आपने श्रीमहाप्रभु से दीक्षा ली होगी।...एक दिन दो साधुओं ने जीवगोस्वामी के सामने गदाधरभट्टजी का यह पद सुनाया—'सखी हौं श्याम रंग रँगी।'...

"इस पद को सुन जीवगोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा।..... सीधे वृन्दावन जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तान्त को यदि ठीक मानें, तो इनकी रचनाओं का आरम्भ सं० १५८० से स्वीकार करना पड़ता है और अन्त सं० १६०० के पीछे।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव फाल्गुन-पूर्णिमा, सं० १५४२, को हुआ था और उन्होंने सं० १५६६ में संन्यास लिया था। सं० १५७२ की विजयादशमी को वृन्दावन की यात्रा के लिए इन्होंने प्रस्थान किया और जाते तथा लौटते समय काशी में भी कुछ दिन रहे। वैशाख, सं० १५७३ में काशी से इन्होंने प्रस्थान किया और पुरी पहुँचकर वहीं अट्ठारह वर्ष रहे। सं० १५९० में अड़तालीस वर्ष की अवस्था में ये अदृश्य हो गये। वृन्दावन में महाप्रभुजी कार्त्तिक के अन्त में पहुँचे और दो महीने वहाँ रहे थे। वे लौटते समय प्रयाग में कुम्भ-स्नान कर काशी आये थे। इस प्रकार, स्पष्ट है कि वृन्दावन में महाप्रभुजी सं० १५७२ में केवल दो मास ही रहे और फिर उसके अनन्तर वहाँ नहीं गये।

यहाँ अब जीवगोस्वामी का भी संक्षिप्त परिचय दे देना समीचीन है। श्रीरूप तथा श्रीसनातन के अनुज वल्लभ ( अनूप ) के पुत्र जीवगोस्वामी का जन्म रामकेलि ग्राम में, सं० १५६८ में हुआ था और ये नवद्वीप तथा काशी में शिक्षा प्राप्त कर, सं० १५९२ में, चौबीस वर्ष की अवस्था में वृन्दावन पहुँचे और यहीं अन्त तक रहे। यहीं अपने पितृव्यों के सम्पर्क में रहते हुए इन्होंने लगभग पचीस ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इनका गोलोक-वास पौष शुक्ल ३ (सं० १६५२) को हुआ।

इस प्रकार, श्रीमहाप्रभु तथा जीवगोस्वामी के संक्षिप्त परिचयों से स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है कि शुक्लजी ने जो विवरण गदाधरभट्टजी का दिया है, वह नितान्त भ्रामक है तथा उसमें परस्पर-विरोधी बातें आ गई हैं। महाप्रभु के अन्तर्हित होने पर जीवगोस्वामी वृन्दावन आये थे। जीवगोस्वामी के श्लोक की प्रेरणा से गदाधरभट्ट वृन्दावन आये होंगे, किन्तु वे महाप्रभु के शिष्य थे, यह सम्भव नहीं है। वास्तव में महाप्रभु इनके गुरु, अर्थात् दादा गुरु थे। ऐसी स्थिति में गदाधरभट्ट का महाप्रभु को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाना भी सम्भव नहीं माना जा सकता। शुक्लजी ने भक्तमाल से जो प्रमाण दिया है, उसमें इनके कथा-वाचन की प्रशंसा होते हुए भी, इनके द्वारा महाप्रभु को कथा सुनाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, अतः यह प्रमाण भी व्यर्थ है। महाप्रभु को कथा सुनानेवाले भी गदाधरनामधारी ही थे, पर वे इनसे भिन्न तथा बंगाली थे। वे गदाधर प्रभु या गदाधर पण्डित के नाम से विख्यात थे। इस प्रकार निश्चित हो जाता है कि शुक्लजी के विवरण में केवल इतना ही तथ्य है कि जीवगोस्वामी द्वारा प्रेरित होकर गदाधरभट्ट वृन्दावन आये।

ध्रुवदासजी की भक्त-नामावली के ३४वें दोहे में इनका उल्लेख इस प्रकार है—

भट्ट गदाधर नाथ भट विद्या भजन प्रवीन।
सरस कथा बानी मधुर सुनि रुचि होत नवीन॥

इस दोहे में दो भक्तों, गदाधरभट्ट तथा नाथभट्ट, का उल्लेख है, पर उनके परिचय नहीं हैं। इस रचना के सम्पादक स्व० श्रीराधाकृष्णदासजी ने जीवगोस्वामी द्वारा प्रेरित होकर इनका वृन्दावन आना तथा आजीवन वहीं रहकर श्रीभागवत की कथा सुनाते रहना लिखा है। इन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि जीवगोस्वामी के दादा गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के ये शिष्य नहीं हो सकते। ये भी गदाधरभट्ट पर इससे अधिक प्रकाश नहीं डाल सके। नाथभट्ट के सम्बन्ध में भी विशेष सूचना नहीं दे सके। नाथभट्ट के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना लिख देना पर्याप्त है कि ये श्रीमहाप्रभु के पट्ट-शिष्य श्रीगोपालभट्ट के शिष्य थे और इनका नाम गोपीनाथदास था। इन्हीं विरक्त गोपीनाथदास के छोटे भाई दामोदरदासजी के वंशज गोस्वामी लोग ही अबतक श्रीराधारमणजी के मन्दिर के सेवक हैं।

भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र मैगेज़ीन' (जिल्द १, सं० ६–८) में श्रीगदाधर भट्ट की वाणी प्रकाशित की थी। इधर गदाधरभट्टजी के वंशजों द्वारा प्राप्त समग्र पदावली

'मोहिनी वाणी' में संगृहीत होकर वृन्दावन से प्रकाशित हुई है। गदाधरभट्टजी के एक पुत्र वल्लभरसिकजी भी प्रसिद्ध भक्त-कवि हुए हैं, जिनकी वाणी का संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। गदाधरभट्टजी दाक्षिणात्य थे, संस्कृत के विद्वान् तथा कथावाचक थे और कृष्ण-भक्त सुकवि भी थे। इन्हीं के बनाये हुए एक पद 'सखी, हौं श्याम रंग रँगी' से अत्यन्त प्रसन्न होकर इन्हें वृन्दावन बुलाने की इच्छा से जीवगोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक बनाकर इनके पास भेजा था—

अनाराध्यराधापदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाव्यतद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥

इस श्लोक को पढ़कर गदाधरभट्टजी मूर्च्छित-से हो गये थे और वृन्दावन चले आये थे। यहाँ आने पर ये श्रीमहाप्रभु के शिष्य श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी के शिष्य हो गये, जो महाप्रभुजी के छह प्रमुख शिष्य-गोस्वमियों में से एक थे। ये श्रीमद्भागवत की कथा बड़े सरस ढंग से नित्य सुनाया करते थे। इन्हीं के समान इनके शिष्य गदाधरभट्टजी भी भागवत की कथा सरस शैली में सुनाने लगे। इन्होंने वृन्दावन में स्वयं सेवा करने के लिए जो श्रीकृष्ण-विग्रह प्रतिष्ठापित किया था, उसका नाम श्रीमदनमोहनजू रखा था। यह मन्दिर अद्यापि अठखम्भी के पास, श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर के सामने, विद्यमान है और इन्हीं के वंशजों द्वारा आज भी सेवा होती है। भट्टजी के दो पुत्र हुए—रसिकोत्तंसजी तथा वल्लभरसिकजी। प्रथम की रचना प्रसिद्ध 'प्रेमपत्तन' है। द्वितीय ने व्रजभाषा में बहुतेरे पद बनाये हैं, जो बड़े आदर से अबतक गाये जाते हैं। द्वितीय का उल्लेख नागरीदासजी की 'पदप्रसङ्गमाला' में भी है, पर उससे इनकी जीवनी पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इस माला में गदाधरभट्ट पर भी एक प्रसङ्ग है, किन्तु उसमें जीवगोस्वामी द्वारा प्रेरणा पाने की बात न होकर, अनेक वैष्णवों द्वारा वृन्दावन में बुलाया जाना लिखा गया है।

इस प्रकार, कुल बातों पर विचार कर लेने से यही निष्कर्ष निकलता है कि गदाधरभट्टजी सं० १५९२ के अनन्तर, श्रीजीवगोस्वामी द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर, वृन्दावन आये और श्रीरघुनाथभट्ट से इस सम्प्रदाय की दीक्षा लेकर यहीं अपने परिवार-सहित रहने लगे। फिर, निजी मन्दिर स्थापित कर तथा कथा सुनाकर, अपना जीवन-यापन करते रहे। इनका रचना-काल भी, इस दृष्टि से, सत्रहवीं शती विक्रमीय का पूर्वार्द्ध ही मानना उचित है, इसके पहले नहीं।

यह टिप्पणी लिखना इसीलिए आवश्यक ज्ञात हुआ कि शुक्लजी के इस भ्रमपूर्ण उल्लेख को बाद के सभी हिन्दी-साहित्येतिहासकारों ने शुद्ध मानकर ले लिया है। मैंने भी अपने इतिहास में यही अशुद्ध उल्लेख किया था, पर इधर ही मेरे छोटे भाई वृन्दावन गये थे और वहाँ से कई संग्रह-ग्रंथ ले आये, जिससे यह टिप्पणी लिखी जा सकी।

गदाधरभट्टजी संस्कृत के परम विद्वान् थे, अतः भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इन्होंने बहुतेरे संस्कृत-पद्य तथा संस्कृतगर्भित एवं सरल व्रजभाषा-पद्य बनाये हैं, जो भावपूर्ण तथा सरस हैं। यहाँ दो उदाहरण दिये जाते हैं—

( १ )

राग विहाग

नीलघनसुन्दरं पीतवसनं सुभगनागरपुरंदरं।
गोपगणवेष्टितं नैचिकीचारकं॥
सुरसुखदचेष्टितं दनुजकुलमारकं।
द्विषामपिमुक्तिदं मुक्तसेवितपदं॥
वंशिकाविवशगोपीजनानंददं।
मा वृथा चिन्तनं मा वृथालापं।
कुरु गिदाधर जहिहि मनसि परितापं॥

( २ )

राग सारंग

जयति श्रीराधिका कृष्ण-सुख-साधिका तरुनि-मनि नित्य नौतन किशोरी।
कृष्ण नव नील घन रूप रस चातकी कृष्ण मुख हिमकरन की चकोरी॥
कृष्ण हृद भृङ्ग विश्रामहित पद्मिनी कृष्ण दृग मृगज बंधन सुडोरी।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी कृष्ण गुण गान रसरसन बोरी॥
एक अद्भुत अलौकिक रीति मैं लखी मनसि सांमल रंग अंग गोरी।
और अचरज कहूँ हू न देख्यो सुनौ चतुर चौंसठि कला तदपि भोरी॥
विमुख पर चित्त ते चित्त जाको तदपि करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' विचारति क्यों बनै महिम अद्भुत इतहि बुद्धि थोरी॥



# अकबरसाहि-शृङ्गार-दर्पण और सम्राट् अकबर

श्रीअगरचन्द नाहटा; नाहटों की गवार, बीकानेर

इतिहास में नाम-साम्य के कारण अनेक बार गलत-फहमी हो जाती है। एक ही नाम के कई व्यक्ति भिन्न-भिन्न समयों में और भिन्न-भिन्न स्थानों में तो होते ही हैं, कई बार ऐसा भी होता है कि प्रायः एक ही समय में तथा एक ही स्थान में समान नामवाले व्यक्ति पाये जाते हैं। उनमें से किससे कौन-सी घटना सम्बद्ध है, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार, एक ही नामवाले या नाम की सदृशतावाले स्थानों के सम्बन्ध में भी यह गड़बड़ी हो जाती है कि वास्तव में घटना-विशेष से सम्बद्ध स्थान कौन-सा है।

नाम-सादृश्यवाले व्यक्ति और स्थान तथा प्रसङ्ग-साम्यवाली बातों के विषय में जाँच-पड़ताल करके युक्ति-पुरस्सर और विवेक-पूर्वक निर्णय करना पड़ता है; क्योंकि एकबार कोई व्यक्ति किसी बात की सम्भावना का अनुमान करता है, तो उसके अनुकरण में दूसरे व्यक्ति उसे तथ्य-रूप में लिख बैठते हैं, और इस तरह भ्रान्तियों की परम्परा बढ़ती ही चली जाती है। ऐसी भ्रान्तियों का संशोधन नितान्त आवश्यक है।

लखनऊ-विश्वविद्यालय के डा० भगीरथमिश्र ने अकबरसाहि-कृत शृङ्गार-मञ्जरी (कविचिन्तामणि के व्रजभाषा-रूपान्तर) को सम्पादित कर प्रकाशित किया है। उसकी भूमिका के पृष्ठ १३ पर पद्मसुन्दर-रचित अकबरसाहि के शृङ्गार-दर्पण का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

"अकबरसाहि के नाम से अलङ्कार-शास्त्र पर लिखा एक अन्य ग्रन्थ 'अकबरसाहि-शृङ्गार-दर्पण' भी है, जिसके रचयिता पद्मसुन्दर हैं। यह भी सम्भवतः अकबरसाहि के आश्रय में लिखा ग्रन्थ है।" डा० मिश्र ने अकबरसाहि के नाम-साम्य से यह सम्भावना की है, पर वास्तव में 'अकबरसाहि-शृङ्गार-दर्पण' जिनके नाम से रचा गया है, वे शृङ्गार-मञ्जरी के कर्त्ता अकबरसाह नहीं, प्रत्युत सुप्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबर थे। ग्रन्थ को स्वयं न देखने के कारण उन्होंने इसे अलङ्कार-शास्त्र लिख दिया है, पर वास्तव में इसमें नायक-नायिका-भेद और शृङ्गार का ही वर्णन है।

दो सौ वर्ष हुए, इस ग्रन्थ की एक अपूर्ण प्रति हमारे संग्रह में थी; तदनन्तर खोज करने पर इसकी एक पूर्ण और प्राचीन प्रति श्रीअनूप-संस्कृत-लायब्रेरी, बीकानेर में मिली और उसी प्रति के आधार पर श्रीमाधवकृष्णशर्मा ने, सन् १९४३ ई० में, अनूप संस्कृत-लायब्रेरी, बीकानेर से इसे प्रकाशित किया।

इस संस्करण में हमारे संग्रह की प्रति का भी पीछे से उपयोग किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ में चार उल्लास हैं, जिनमें से पहले में मङ्गलाचरण के बाद सम्राट् अकबर तथा उसके वंश की प्रशस्ति ७वें श्लोक तक है; उसके बाद, नौ रस, उनके स्थायी भाव, रस-लक्षण, शृङ्गार-लक्षण, प्रकाश सम्भोग, प्रच्छन्न सम्भोग और स्वकीया नायिका-स्वरूप ७७वें श्लोक तक हैं। अन्त में एक श्लोक अकबर की प्रशस्ति का है।

द्वितीय उल्लास में परकीया नायिका, साक्षात् दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, पणाङ्गना, अष्टनायिका, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, सम्भोग-शृङ्गारादि का वर्णन ७३ श्लोकों में है। ७४वें श्लोक में अकबर की प्रशस्ति है।

तृतीय उल्लास में विप्रलम्भ-शृङ्गार, पूर्वानुराग, परस्त्री-सङ्गमोपाय आदि का ९१ श्लोकों में वर्णन है। चतुर्थ उल्लास में करुणात्मक विप्रलम्भ, सख्य, तद्गुण, तत्कर्म, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, शान्त, शृङ्गार, अद्भुत, रसों और उनके भावों का तथा रीतियों और काव्य-दूषण आदि का ९९ श्लोकों में वर्णन है। अन्त में अकबर की प्रशस्ति है। और, उसके बाद कवि ने अपने अन्य ग्रन्थ का नाम दिया है। प्रारम्भ के

दूसरे श्लोक में बाबर, तीसरे में हुमायूँ, और चौथे-पाँचवें में सम्राट् अकबर का वर्णन है। प्रारम्भ और अन्त के दो-दो श्लोक इस प्रकार हैं—

आदि—यद्भासा सकलं विभाति भुवनं दुर्लभ्यमर्वाग्दृशां
यस्मिन्नोतमिदं हितं तु मणिवत्सत्यं सदा शाश्वतम्।
यत्पारे तमसः स्थितं च रहमानित्याह्वयं तत्परं
ज्योतिः साहिशिरोमणे अकबर त्वां सर्वदैवावतात् ॥१॥

अन्त—मत्वा सर्वं नश्वरं जीवलोकं नित्यं कर्त्तुं स्वं यशःकायमुच्चैः।
सोऽयं काव्यं कारयामास सम्राण्नानाशृङ्गारादिभावै रसाढ्यम् ॥८॥

अन्त—यद्यस्ति काव्यरचनासु रुचिर्विदग्धा नानारसेषु रसिकत्वकुतूहलं वः।
तत्पद्मसुन्दरकविग्रथितं सुरम्यं 'शृङ्गारदर्पण'मुपाध्वमदुष्टचित्ताः ॥१०६॥

इति-सकलकलापारीणरसिकसाम्राज्यधुरीण—
श्रीअकबरसाहिशृङ्गारदर्पणे चतुर्थ उल्लासः ॥

इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीपद्मसुन्दर नागपुरीय तपागच्छ के जैन यति थे। उसी गच्छ के विद्वान् हर्षकीर्त्तिसूरि ने अनूप-संस्कृत-लायब्रेरीवाली प्रति लिखी है। उन्होंने लेखन-प्रशस्ति में पद्मसुन्दर के गुरु आनन्दराय का बाबर और हुमायूँ से अच्छा सम्बन्ध का उल्लेख किया है। इसी प्रकार, पद्मसुन्दर ने भी सम्राट् अकबर के मान्य होने का उल्लेख किया है। हर्षकीर्त्तिसूरि ने अपनी धातु-तरङ्गिणी में सम्राट् की सभा में एक महापण्डित को जीतकर अकबर से क्षौमग्राम-छत्रासन प्राप्त करने आदि का भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है—

साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डितं
क्षौमग्रामसछत्रासनाद्यकबरश्रीसाहितो लब्धवान्।
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योऽधिकं
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयं पाठकम् ॥

इन पद्मसुन्दर की अनेक विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ मिलती हैं। इनके सम्बन्ध में मेरा एवं नाथूराम प्रेमी का लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हो चुका है। संवत् १६३९ में तपागच्छीय आचार्य हीरविजयसूरि सम्राट् अकबर की सभा में पधारे थे। तब इन पद्मसुन्दर का स्वर्ग-वास हो चुका था, पर इनकी पुस्तकों का भाण्डार अकबर के कब्जे में था, इसलिए उसे लेने के लिए हीरविजयसूरिजी को कहा गया। जगद्गुरु-काव्य में इसका उल्लेख मिलता है। पद्मसुन्दर का गुरु-परम्परा से बाबर, हुमायूँ और अकबर से सम्मानित होना एक महत्त्वपूर्ण बात है, और इसलिए जैन यती होते हुए भी, और साध्वाचार के विपरीत होने पर भी, उन्होंने इस नायक-नायिका-भेद और शृङ्गारप्रधान ग्रन्थ की रचना सम्राट् अकबर के नाम से की है। यह ग्रन्थ उस समय रचा गया, जब अकबर यौवनावस्था में था। उस समय

स्वभावतः मनुष्य की रुचि कामशास्त्र से प्रभावित रहती है। इसलिए, अकबर की वैसी रुचि को देखकर ही पद्मसुन्दर ने उसकी प्रसन्नता के लिए यह ग्रन्थ बनाया।

डा० भगीरथमिश्र ने शृङ्गार-मञ्जरीवाले अकबरसाहि के आश्रय में इस ग्रन्थ के रचे जाने की जो सम्भावना की थी, उसे डा० जगदीश गुप्त ने अपने एक निबन्ध में यथास्मरण तथ्य के रूप में उल्लिखित किया, तो मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने 'अकबरसाह की शृङ्गार-मञ्जरी' का आधार बताया था। यह प्रकाशित ग्रन्थ उस समय नहीं मिल सका था, अतः अब प्राप्त कर उक्त भ्रान्ति का संशोधन किया जा रहा है।

इसी तरह, हमारे अनेक शोध-प्रबन्धों में ग्रन्थ-नाम, रचयिता और समय-सम्बन्धी बहुत भूलें देखने में आती हैं। इनकी जानकारी शोध-प्रबन्ध के लेखकों एवं उनके निर्देशकों और परीक्षकों को नहीं होती, इसलिए उनका संशोधन नहीं किया जाता और उन शोध-प्रबन्धों के प्रकाशित होने पर उनको प्रामाणिक मानते हुए अन्य विद्वान् भी भूलें कर बैठते हैं।



## सुखदेवमिश्र-कृत भाषा-पिङ्गल

डा० शिवनन्दन प्रसाद, एम्० ए०, डी० लिट्०; पटना-विश्वविद्यालय

प्रस्तुत हस्तलिखित ग्रन्थ गया जिला के बकसगडा (पचरुखी) नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है।[1] मुख-पृष्ठ पर ही लिपिकाल इस प्रकार निर्दिष्ट है—"तारीख १० कार्त्तिक सन् १३०६ साल संवत् १९५८ बुधवार।" ग्रन्थ का शीर्षक है 'भाषा-पिङ्गल' और लेखक का नाम 'कवि सुखदेवमिश्र, उपनाम मिश्र सुकवि' दिया हुआ है। गणपति तथा गौरी-गिरीश की वन्दना से मंगलाचरण द्वारा ग्रन्थारम्भ होता है। पृष्ठ-संख्या ३७ तक छन्दःशास्त्रीय गणित का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत गुरु-लघु संज्ञा, मात्रा, वर्ण-प्रस्तार, मात्रागण, गणदेवता शुभाशुभलक्षण, गणजाति, नष्ट, उद्दिष्ट, पताका, मर्कटी—ये गणित और प्रत्यय आये हैं। तदुपरान्त पृष्ठ ३८ से मात्रिक छन्दों का वर्णन इस क्रम से हुआ है—"गाह, गाहा, विगाहा, उगाहा, गाहिनी, सिंहिनी, खंधा, दोहा (सभेद लक्षणोदाहरण), रसिका, रोला, चौपैया, घत्ता, घत्तानन्द, उल्लाल, छप्पय (सभेद लक्षणोदाहरण), प्रफटिका, अरिल, पादाकुलक, चौबोल, रंडा, पदमावती, कुण्डलिया, दण्डिका, अमृतध्वनि, शुद्धध्वनि, गगनगम, दोधै, झूलना, पंजा, शिषा, माला, चुडियाला, सोरठा, कलिका, मधुभार, अभीर, दण्डकला, दीपक, सिंहविलोकित, भ्रूवज्रम, लीलावती, हरिगीत, त्रिभङ्गी, हीरक, जलहरण, मदनहरा, मरहट्टा, उद्धत, मोहिनी, हरिपद, बरवै, सवेया (मात्रिक) तथा छगति। तत्पश्चात्, पृष्ठ ९० से

---

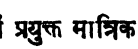
१—प्रस्तुत हस्तलिपि की उपलब्धि के लिए इन पंक्तियों का लेखक गया के श्रीअमरनाथ सिंह, बी० ए० (आनर्स) का आभारी है। —के०

वर्णवृत्त-वर्णन आरम्भ होता है। एक वर्ण के श्री-छन्द से आरम्भ कर परम्परागत रूप से दण्डकों तक का वर्णन है। पृष्ठ १४४ पर घनाक्षरी छन्द है, तथा पृष्ठ १४६ पर रूप-घनाक्षरी। पृष्ठ १४७ अन्तिम है, जिस पर दो छप्पयों में यह उल्लेख है, कि इस ग्रन्थ-लिपि का आरम्भ सं० १९५६ के आश्विन तीज भृगुवार के दिन हुआ[1] और यह लिपि श्री बालगोविन्दमिश्र ने स्थानीय ( बकसगंडा-निवासी ) बाबू अवधविहारी लाल के हेतु तैयार की। पुस्तकान्त में सूचीपत्र (विषयानुक्रमणिका) दिया हुआ है।

श्रीसुखदेवमिश्र का जन्मस्थान कम्पिला है, जिसका वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वृत्त-विचार' में किया है। ये दौलतपुर (जिला रायबरेली) के निवासी कहे गये हैं।[2] इनका रचना-काल सं० १७२० से १७६० तक माना गया है।[3] इनकी लिखी सात पुस्तकों का उल्लेख साहित्येतिहास में मिलता है—वृत्त-विचार, छन्द्-विचार, फज़लअली-प्रकाश, रसार्णव, शृङ्गारलता, अध्यात्मप्रकाश तथा दशरथ-राम। मुझे छन्द-सम्बन्धी शोध-कार्य के के सिलसिले में प्रस्तुत हस्तलिपि के अतिरिक्त सुखदेवमिश्र के इन हस्तलिखित ग्रन्थों के देखने का अवसर मिला, जिनके विवरण मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में दिये हैं[4]—

| | ग्रन्थ-शीर्षक | प्राप्ति-स्थान |
|---|---|---|
| १. | पिङ्गल | हस्तलिखित-विभाग, श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया। |
| २. | पिङ्गल | काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा; हस्तलिपि-संख्या ३५५। २५३। |
| ३. | पिङ्गल | ,, ,, ह० सं० ३०६३। १९१२। |
| ४. | पिङ्गल | ,, ,, ह० सं० १०४४। ७२४। |
| ५. | छन्दोनिवास | ,, ,, ह० सं० १७०७। १००३। |
| ६. | पिङ्गल | ,, ,, ह० सं० १०६६। १। |
| ७. | वृत्तविचार | ,, ,, ह० सं० २८०९। १७०६। |

मात्रिक छन्दों के विकास में सुखदेवमिश्र की देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अमृत-ध्वनि, शुद्धध्वनि, उद्धत, मोहिनी, हरिपद, सुगति, मनमोहन और द्वितीय त्रिभङ्गी छन्दों के लक्षण-ग्रन्थ में प्रथमोल्लेख का बहुत कुछ श्रेय इन्हें दिया जा सकता है। इनके पूर्ववर्त्ती संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थकारों ने इन छन्दों का उल्लेख प्रायः नहीं किया था।



---

१—ग्रन्थ-लिपि की समाप्ति की तिथि कार्त्तिक १०, सं० १९५८ है। अतएव, लिपि तैयार करने में प्रायः दो वर्ष लगे।

२—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ३१४।

३—वही, पृ० ३१३।

४—'मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन।' (डी० लिट्-उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)।

# ललित-कला और सौन्दर्य

प्रो० कुमार विमल, एम्० ए०; हिन्दी-विभाग, जैन डिग्री कालेज, आरा

अनुकरण के माध्यम से निष्पन्न होनेवाले विशिष्ट पुनःप्रत्यक्षण ( idealised representation ) में ललित-कलाओं का सौन्दर्य-बोध छिपा हुआ है। किन्तु, प्राचीन काल में, कम-से-कम यूरोपीय साहित्य में, कला का सौन्दर्य से कोई ऋजु सम्बन्ध नहीं था। उदाहरण के लिए, प्लेटो ने सौन्दर्य की नात्यल्प चर्चा की है, किन्तु, इस सन्दर्भ में उन्होंने कहीं भी कला का तत्सम्बन्धी उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार, अरस्तू ने 'सुन्दर' का प्रयोग उस सीमित अर्थ में किया है, जिसके लिए आज हम प्रशंसनीय (admirable), कमाल (excellent), ईप्सित (desirable), आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। कहने का यह आशय नहीं है कि अरस्तू सौन्दर्य-बोध से अनभिज्ञ अथवा अपरिचित थे। उन्होंने सौन्दर्य को ललित-कला का एक तत्त्व माना है, किन्तु वे इस तथ्य को नहीं व्यक्त कर सके कि 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति या 'सौन्दर्य' का विवर्धन कला का उद्देश्य है।

वास्तविकता यह है कि कला में हमें स्रष्टा (कलाकार) की चेतना के मुग्ध संवेग का शेष चेतना तक आशु-संक्रमण मिलता है। और, यह संक्रमण सौन्दर्य-स्फूर्त्ति के सहारे निष्पन्न होता है। ललित-कला की तरह उपयोगी कलाओं में भी सौन्दर्य-बोध का महत्त्व है। वस्तुतः, प्रत्येक कला कलाकार की मनःस्थिति अथवा आत्मानुभूति का एक आन्तरिक अंश है। बाह्य उपादानों से उसका तात्त्विक नहीं, अभिव्यक्तिगत सम्बन्ध है। कलाकार की अनुभूतियों में सुरक्षित अमूर्त्त कला जब प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से मूर्त्त बनने लगती है, तब सांसारिक उपादानों की आवश्यकता होती है। अतः, उपयोगी कलाओं में भी, आवश्यक उपादानों के प्रस्तुत रहने पर, उन्हें समंजस संगठन, आकारिक अनुपात और नयनाभिरामता प्रदान करने के लिए, कलाकार को अपनी शिल्प-रुचि तथा सौन्दर्य-बोध का प्रयोग करना ही पड़ता है।[1]

इस सन्दर्भ में दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि सौन्दर्य-दृष्टि से कला में मुख्य और गौण अथवा अल्प और विराट् का कोई भेद नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी नाटक में एक चपनिका का सफल अभिनय करने के लिए उसी तरह उत्कृष्ट कला-चेतना की आवश्यकता है, जिस तरह नायिका की भूमिका में उपस्थित होने के लिए; [क्योंकि कला के सौन्दर्य की इकाइयाँ अपने-आप में विशिष्ट न होकर सापेक्ष-दृष्टि से विषय के प्रस्तुती-

---

१—कुछ लोग कहते हैं कि कला का सौन्दर्य अजरामर होता है। कलागत सौन्दर्य के विषय में लियोनार्दो दा विंची ने कहा है—'Cosa bella mortal passa emon darte', अर्थात् 'mortal beauties pass away, but not those of art'.

करण में सन्दर्भात्मक महत्त्व रखती हैं।[1] यह अवश्य है कि कला में प्रस्तुत सौन्दर्य के आलम्बन-विधान में रुचि-भेद क्रियाशील रहता है। अतः, कला-सर्जन और कला-भावन में, क्रमशः स्रष्टा और सहृदय को स्वाद-रुचि का आपेक्षिक महत्त्व है। आधुनिक सौन्दर्य-प्रधान कलानुचिन्तन के बहुत पूर्व प्लेटो ने आश्रयगत रुचिभेद को संकेतित करते हुए लिखा था—'Every one chooses his love out of the objects of beauty according to his own taste', किन्तु इस मान्यता को कुछ सीमाओं के साथ ही स्वीकृत होना चाहिए; क्योंकि आत्मरुचि-निर्भर व्यक्ति अपनी ऊर्णनाभ कल्पनाओं से उच्चकोटिक कला का सर्जन अथवा चयन नहीं कर सकता। अतः, कला की सर्जन-क्षमता के लिए कल्पना, भावना अथवा संवेग में अंशतः, वस्तुप्रत्ययनेयता (objectivity) आवश्यक है।

मेरे विचार से सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है। इसलिए वह प्रत्यक्ष-बोध से सम्बद्ध है।[2] प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण और इन्द्रिय दोनों का वस्तु के साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिए। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सेन्द्रिय और अतीन्द्रिय। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वह है, जिसका ग्रहण किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं होता। उदाहरणार्थ, आशा, भय संकल्प आदि चित्त के परिणाम हैं, जिन्हें केवल चित्त ही जानता है। जिस प्रकार मन्दिरस्थ दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और अपनी लौ से अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण दूसरी वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है और अपना भी प्रत्यक्ष करता है। निश्चय ही इस प्रकार के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सौन्दर्य का सम्बन्ध है; क्योंकि सुन्दर वस्तु में ही सौन्दर्य है, जो अस्मत् का नहीं, युष्मत् का अंश है; अर्थात् द्रष्टा अथवा ज्ञाता से बाहर है। इसलिए, सौन्दर्य का सम्बन्ध मूल प्रकृति के रूपतन्मात्र से है। और, यह सिद्ध है कि वस्तु का ज्ञान हमें सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से होता है। सेन्द्रिय प्रत्यक्ष की मात्रा इन्द्रियों की सशक्तता-अशक्तता और अच्छाई-बुराई पर निर्भर है। इन्द्रिय एक प्रकार की शक्ति है, जिसमें बाह्य वस्तु, ज्ञेय अथवा दृश्य, से प्रभावित होने तथा उन्हें प्रभावित करने की क्षमता है। सेन्द्रिय होने के कारण ही, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के माध्यम की विशेषता के कारण ही, हम व्यक्तियों में 'सौन्दर्य' के प्रभाव से मुग्ध होने तथा सुन्दर को प्रभावित करने में स्तर अथवा मात्रा की

---

१—मिले ( Millet ) ने कथित तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—
"...beauty does not arise from the subject of a work of art, but from the necessity that has been felt of representing that subject."

२—सान्तायना ने इसी तथ्य को सौन्दर्य-शास्त्र से सम्बद्ध कर दूसरे ढंग से कहा है—
"...aesthetics is concerned with the perception of values."

भिन्नता पाते हैं। इसलिए, व्यक्ति के सौन्दर्य-बोध की भिन्नता भी इसका पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करती है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध सेन्द्रिय प्रत्यक्ष से है, अर्थात् सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है। शायद, इसी कारण आइ० ए० रिचर्ड्स ने सौन्दर्य को संस्पर्श-सुख (Coenesthesia) कहा है।

इस मान्यता से एक दूसरा तथ्य स्वयं उद्घाटित होता है—वह है, सौन्दर्य के ग्रहण में अन्तःकरण का योग। अन्तःकरण के योग की आवश्यकता दो अवस्थाओं में है—एक, सौन्दर्य की प्रत्यक्षावस्था में; दूसरे, उसकी मानसिक पुनरावृत्ति में। पहली अवस्था में इसलिए अन्तःकरण का योग चाहिए कि अन्यमनस्क होने की दशा में—चित्त के कहीं और लगे रहने की अवस्था में सौन्दर्य के अवलोकन में मन नहीं रमता। दूसरी अवस्था में, सौन्दर्य की मानसिक पुनरावृत्ति में—अन्तःकरण का योग इसलिए चाहिए कि इसमें सौन्दर्य का वास्तविक आलम्बन अन्तर्हित रहता है।[1] इस द्वितीय अवस्था की उद्भूति प्रथमावस्था में ही निहित है। सौन्दर्य-भावन में यही वह स्थल है, जहाँ 'आइडिया' और 'इमेज' में एकत्व अथवा सन्तुलन रहता है। इन दोनों में यदि भावगत पौर्वापर्य माना जाय, तो 'आइडिया' कारण और 'इमेज' कार्य होगा। इसी विचार-सरणि पर यह स्थापना निर्भर है—'Image is the realisation of an idea in a single object', किन्तु वास्तव में, इमेज ( यदि वह Object में गतार्थ है ) और 'आइडिया' में वस्तुगत पौर्वापर्य है, जिसके अनुसार प्रथम कारण और द्वितीय कार्य है। इनमें नियतपूर्ववर्त्तित्व के साथ-साथ अविनाभाव है।

किन्तु, कला-प्रसङ्ग में सौन्दर्य-चिन्तन अधिकतर अतिवादी रहा है। एक ओर शर्नीशेल्की-जैसे वस्तुनिष्ठ विचारक ने सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'Beauty is life', तो दूसरी ओर शेफ्ट्सबरी जैसे-आत्मनिष्ठ चिन्तक ने कहा है 'Beauty and God are one and the same।' इस तरह, सौन्दर्य ( विचारकों के हाथों में ) दो अति-बिन्दुओं के बीच पिण्डलम्ब की तरह झूलता रहा है और कोई भी दो विचारक एक मत पर नहीं पहुँच सके हैं। फलतः, सौन्दर्य की परिभाषाएँ अनन्त हैं, सौन्दर्य स्वयं भले ही अनन्त न हो।

कुछ विचारक सौन्दर्य को खण्ड-दृष्टि से देखते हैं। इनके अनुसार रूप और तत्त्वों के आधार पर सौन्दर्य को कई प्रकारों में बाँटा जा सकता है, जैसे रूप के आधार पर विङ्केलमैन ने सौन्दर्य के तीन प्रकार माने हैं—( १ ) प्राकृत-सौन्दर्य (Beauty of form), (२) विचार-सौन्दर्य (Beauty of idea) और (३) अभिव्यक्ति-सौन्दर्य ( Beauty of expression )। पुनः पीयर आन्द्रे ने हेतु-निष्पत्ति के आधार पर सौन्दर्य को तीन कोटियाँ निर्धारित की है—१. अलौकिक सौन्दर्य ( Divine beauty ), २. नैसर्गिक सौन्दर्य ( Natural beauty ) और ३. कृत्रिम सौन्दर्य ( Artificial beauty )। इसी प्रकार, विषय और आलम्बन-भेद से भी

---

१—उदाहरणार्थ Wordsworth का 'Daffodils' द्रष्टव्य।

सौन्दर्य-भेद सम्भव है। किसी फूल के गुच्छे अथवा भित्ति-चित्र का सौन्दर्य अङ्कगणितीय प्रदर्शन, दानवीरता अथवा मानवाकृति के सौन्दर्य से निश्चय भिन्न है। इनमें सौन्दर्य रहने पर भी इनकी श्रेणी में अशङ्कित वैभिन्न्य है।[१]

तत्त्व-दृष्टि से सौन्दर्य के तीन मूल उपादान माने जाते हैं, जिन्हें पारम्परीण स्वीकृति प्राप्त है—(१) समग्रता ( Integrity ), (२) सादृश्य ( Consonnance or Proportion ) और (३) भास्वरता अथवा साफगोई ( Clarity )। किन्तु, इस संख्या पर भी सौन्दर्यशास्त्रियों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ विचारक सौन्दर्य के पाँच आधार-भूत तत्त्व मानते हैं—१. वैविध्य ( Variety ) २. पूर्णता ( Completeness ) ३. एकता (Unity) ४. अनुपात (Proportion) और ५. वस्तुसार (Eclat)। इसी प्रकार बहुतों ने सौन्दर्य-चिन्तन में व्यापक दृष्टि अपनाने के लिए एक त्रयवादी सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसे Aesthetical trinitarianism कहा जाता है। इसके अनुसार सौन्दर्य-चिन्तन में तीन तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है—सौन्दर्य, वस्तु और चेतना ( Beauty, Matter and Consciousness ).

इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि देश और काल के आधार पर सौन्दर्य के मूल्य और मान बदलते रहते हैं, अर्थात् काल-कृत और देश-कृत भेदों से सौन्दर्य-दृष्टि बदलती रहती है। जैसे, भारतीय दृष्टि के अनुसार सौन्दर्य सर्वथा और सर्वदा अन्तरङ्ग है। इसी भारतीय विशेषता को स्वामी विवेकानन्द ने एशियाव्यापी पौर्वात्य प्रवृत्ति कहा है। दूसरे, भारतीय कला में सौन्दर्य को, प्रायः रहस्यमय माना गया है, जिसके सर्वोत्तम उदाहरण सन्त अथवा सूफी-साहित्य और युगनद्ध मुद्रा की मैथुनी मूर्तियाँ हैं। इसलिए, जेम्स कजिन्स ने उचित ही कहा है कि जहाँ हेगेल ने वैचारिक दृष्टि से ललित-कलाओं को विश्व-जीवन की अनुभूति के लिए सम्पर्क-साधन ( Means of polarisation ) कहा है, वहाँ भारतीय दृष्टि कभी-कभी योग-साधना अथवा यौगिक चिन्तन को कला का लक्षण मान लेती है, वस्तुतः साधारणीकरण का मधुमती भूमिका से सम्बन्ध जोड़ना इसी दृष्टि का द्योतक है।

सौन्दर्य-विवेचन में कुरूप (Ugly) की चर्चा अत्यावश्यक है; क्योंकि कला के 'कुरूप' में भी सौन्दर्य रहता है। पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन में अरस्तू-काल से कुरूप के सम्बन्ध में विमर्श होता रहा है और दिनानुदिन उसे अधिक व्यापकता प्रदान की जा रही है। अरस्तू ने तो कुरूप में हास्यास्पद को भी गिनती की है, जिसके उदाहरण-स्वरूप उन्होंने विडम्बन (Caricature) को प्रस्तुत किया है। कुरूप के सम्बन्ध में उनकी मुख्य धारणा यह है कि अनुकरण के माध्यम से कला में प्रवेश पाने के कारण वह (कुरूप) सुन्दर, अतः, सुखद हो जाता है। किन्तु, लेसिङ्ग ने कुरूप को काव्य में केवल

---

१—सौन्दर्य की इस खण्डित अखण्डता के सम्बन्ध में हर्बर्ट रीड ने पते की बात कही है—
'Beauty is a unity of formal relations among our sense-perceptions.' दि मीनिंग आफ आर्ट, पृ० १६।

हास्य या भयानक के प्रत्यक्षण का साधन माना है। उसे अरस्तू की यह स्थापना स्वीकार नहीं है कि दुःखद (जिसका धर्म है कुरूप होना) भी अनुकरण के द्वारा सहृदय-चित्त के लिए सुखद बन सकता है। इस सम्बन्ध में हेगेल ने, अंशतः, स्पष्ट बात कही है। इनके अनुसार कुरूप में कुछ-न-कुछ विकृति ( Distortion ) अवश्य रहती है। जैसे, कुरूप-चर्चा में विडम्बन का उदाहरण देते हुए इन्होंने चरित्र-चित्रण की विकृति को निर्दिष्ट किया है। रोजेन्क्रांज ने और स्पष्टता के साथ यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि कुरूपता सौन्दर्य का भावात्मक निषेध (Positive negation) है।

मेरी दृष्टि में सौन्दर्य के साथ कुरूपता का निरन्तर वैपरीत्य है। कुरूपता भी हमारी सौन्दर्य-चेतना से सम्बद्ध है। व्यपदेश-निर्धारण की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कुरूपता उस वस्तु में है, जो चाक्षुष, श्रावण अथवा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के उपरान्त आश्रय-की बोध-वृत्ति को या इन्द्रियों को अरुचिकर प्रतीत होती है। किन्तु, यह अरुचिकरता भाव-दशा-सापेक्ष है, और इस भावदशा के परिवर्त्तन में देश, काल एवं परिस्थिति संघ-रूप में, अथवा विलग-विलग भी, क्षम हैं। संसर्ग-सम्पर्क अथवा पूज्य-भाव के आरोपण से कुरूप भी आकर्षक बन जाता है, या उसको अरुचिकरता घट जाती है। पुनः विशिष्ट आन्तरिक गुण के कारण कुरूप-वर्जना का भाव बदल जाता है। उदाहरण के लिए, स्वर-लालित्य के कारण काली कोयल और पाण्डित्य के कारण अष्टावक्र स्मरणीय हैं।

जो हो, कुरूप को कला में अवश्य स्थान मिलना चाहिए; क्योंकि पूर्णता अपूर्णता से श्रेयस्कर है, और यदि कला कुरूपता के प्रति अडिग वर्जना का भाव रखेगी, तो उसकी पूर्णता अवश्यमेव विघटित होगी। दूसरी बात यह है कि सुन्दर और कुरूप एक दूसरे के मूल्यों एवं सीमाओं का निर्धारण करते हैं। शायद, इसीलिए वाल्मीकि ने राम के सौन्दर्य को अधिक प्रभविष्णु एवं शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षक बनाने के लिए सौन्दर्य और कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है—

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्द्धजा॥
प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरुणं दारुणं वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी॥

सारांश यह है, कुरूपता के प्रति शिथिलता हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए अशोभन है, और कुरूपता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हमारी सौन्दर्य-चेतना के लिए शुभङ्कर है।

कुरूप की तरह सौन्दर्य-विवेचन में उदात्त की चर्चा अपेक्षित है। उदात्त (Sublime) वह सौन्दर्य है, जो आश्रय को पहले पराभूत और तदनन्तर आकृष्ट करता है। जैसे, गर्जमान सागर को देखकर तटस्थ व्यक्ति पहले भयङ्करता से आक्रान्त होकर या विस्मय-भाव से हक्का-बक्का हो जाता है, किन्तु तत्पश्चात् उसकी विशालता से अभिभूत होकर वह चिति-कीलित हो जाता है। अतः, उदात्त-भावन में पहले घात, तदुपरान्त आह्लादन है। इस पूर्वावस्था के कारण ही कुछ विचारक उदात्त और सुन्दर को सकोटिक

नहीं मानते। कभी-कभी कुरूप भी विशालता और लोकातिशयता के कारण उदात्त बन जाता है।[१]

सुन्दर और उदात्त में दूसरा अन्तर यह है कि सुन्दर जहाँ रुचि-बोध से सम्बद्ध है, वहाँ उदात्त बुद्धि-संवेग (Emotion and Intelligence) से। तीसरी बात यह है कि सुन्दर के लिए सर्वदा आकृति-विधान आवश्यक है, जबकि उदात्त के लिए आकृतिहीनता और विकृति समरूप श्रेयस्कर हैं। चौथा अन्तर है—उदात्त सुन्दर की अपेक्षा अधिक आत्मनिष्ठ है; फलतः उसमें आश्रय-पक्ष की दृष्टि से मानस-चाप (Mental pressure) अधिक है। कभी-कभी उदात्त वस्तु-विशेष में पूर्णता का ऐसा भीमकाय अथवा अतिमामय निदर्शन प्रस्तुत करता है कि उसके आस्वादन, चर्वण या ग्रहण में आश्रय की इन्द्रियाँ असमर्थ सिद्ध होती हैं और, यदा-कदा वह प्रकृति की शक्तिमत्ता का ऐसा विस्फोटक विभ्राट् उपस्थित करता है कि आश्रय की धारणा-शक्ति विखण्डित हो जाती है। इसीलिए, कुछ लोग उदात्त को 'सौन्दर्य का विस्तार', ( Extension of beauty ) कहते हैं।

हेगेल के अनुसार उदात्त सौन्दर्य का दौवारिक है, जो प्रतीकात्मक कला-विभाग (Symbolic art form) के अन्तर्गत आता है। जब 'असीम' दृश्य जगत् के वस्तु-विशेष में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है, किन्तु, चाहकर भी अभिव्यक्त हो नहीं पाता, तब यह वृथा प्रयत्न वस्तु-समेत उदात्त बन जाता है। अर्थात्, 'उदात्त' वस्तु-विशेष में असीम की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। उदात्त का दूसरा लक्षण यह है कि वह ससीम-निस्सीम का बोधक होता है। प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त उदात्त, एक ओर, मानव-हृदय पर अपनी असीमता का रोब गाँठता है और दूसरी ओर, मानव-चित्त को उसकी संकोची ससीमता का बोध देता है। किन्तु, उदात्त की विशेषता यह है कि इस ससीमता अथवा हीनता की अनुभूति के क्षणों में भी मानव-चित्त पहले की अपेक्षा महत्ता के किञ्चित् ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है। कुछ विचारक उत्कृष्ट संवेग की सशक्त अनुभूति को उदात्त कहते हैं। इस दृष्टि से उदात्त उन्मेषपूर्ण सवेग की चूडान्त घनीभूत अवस्था है। अतः, प्रकृति की विराटता और आध्यात्मिक शक्ति की परिव्याप्ति उदात्त की भावना के सर्वोत्तम उद्दीपन हैं।

कला के सभी निदर्शनों में उदात्त का समावेश नहीं हो सकता। वही कला उदात्त का उचित अधिकरण बन सकती है, जिसमें पर्याप्त विस्तार या भावन के साथ स्तम्भन की शक्ति विद्यमान हो; क्योंकि उत्कृष्ट संवेग को उत्कृष्टता के परिपाक की प्राप्ति एवं घनीभूत अवस्था को 'तर' से 'तम' तक ले जाने के लिए एक विलम्बित एवं सुपुष्ट काल-खण्ड की आवश्यकता होती है। इसलिए, कला के उदात्त में नहीं, उदात्त कला में महिमा (Magnitude) की आत्यन्तिक आवश्यकता रहती है। इस दृष्टि से दृश्य-कलाओं (Visual arts) की अपेक्षा कालिक कलाओं ( Time arts )—जैसे, सङ्गीत और काव्य—में उदात्त का आधान सरल हुआ करता है।

---

१—शिलर इसी मत के समर्थक थे।

उदात्त ललित-कला और उपयोगी-कला का विशिष्ट विभाजक गुण है। हम देख चुके हैं कि लालित्य और उपयोगिता के आधार पर ललित-कला एवं उपयोगी-कला का दो टूक विभाजन तर्क-सम्मत नहीं है; क्योंकि उपयोगिता में भी लालित्य रहता है, और लालित्य की भी उपयोगिता होती है। किन्तु, हम उदात्त के आधार पर (हालाँकि, इसकी सर्व-उपस्थिति नहीं रहती) ललित-कला और उपयोगी-कला के अन्तर को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। उपयोगी-कलाओं, विशेष कर औद्योगिक-कलाओं (Industrial arts) में उदात्त का समावेश या उसका आधान कभी नहीं हो सकता। उपयोगी-कला और औद्योगिक-कला अन्य दृष्टियों से—पूर्णता, संघटन अथवा सचाई की दृष्टि से—ललित-कलाओं के साथ 'सम' पर खड़ी हो सकती हैं, किन्तु, उदात्त की दृष्टि से वे सर्वथा पङ्गु हैं।

परिमाण अथवा आकृति-विस्तार से सम्बद्ध होने के कारण कुछ विचारक उदात्त के कई स्तर मानते हैं। जैसे, ब्रेडले ने 'The Sublime' शीर्षक निबन्ध में परिमाण, मात्रा अथवा आकृति-विस्तार के भेद से सौन्दर्य की पाँच अवस्थाओं को स्वीकार किया है और उदात्त को उनमें सर्वोत्तम माना है। वे पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—ललित-लघु (Pretty), लावण्यमय ( Graceful ), सुन्दर ( Beautiful ), विराट् ( Grand ) और उदात्त ( Sublime )। ललित-लघु उदात्त का पंक्तिबद्ध विपरीतान्त है, जो सुखद और रञ्जक हुआ करता है, किन्तु किसी उत्कृष्ट तथा गम्भीर भाव को जगाने में अक्षम रहता है। इस ललित-लघु के चर्वण या भावन में इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। किन्तु, इसके विपरीत उदात्त इन्द्रियों से परे, अर्थात् अतीन्द्रिय हुआ करता है। यह इतना महान् होता है कि इन्द्रियाँ इसे ग्रहण नहीं कर पातीं। इन्द्रिय-ग्राह्य न होने के कारण ही उदात्त क्षणस्थायी होता है; क्योंकि किसी भाव-दशा का ठहराव इन्द्रियों को सँजोने की शक्ति पर निर्भर रहा करता है। शेष अवस्थाएँ लावण्यमय, सुन्दर और विराट् इन्द्रियों के साथ ताल-मेल रखती हैं, अतः इन्द्रियरञ्जक होती हैं, अर्थात् इन अवस्थाओं में आश्रय की इन्द्रियों और आलम्बन के बीच पूर्ण रागात्मक निर्वाह रहता है।

कुछ विचारक, कलाकार की शैली में भी उदात्त की विद्यमानता स्वीकार करते हैं। अर्थात्, असामान्य अभिव्यक्ति का कमाल या चमत्कार उदात्त का सर्जन कर सकता है। जैसे, लांजाइनस महत्त्वपूर्ण वाग्मिता में उदात्त की सम्भावना मानते हैं। इनके अनुसार कलाकार की शैली उदात्त हो सकती है और उदात्त शैली के साक्षात्कार से आत्मा का उन्नयन तथा उत्तोलन हो सकता है।[1]

---

१—इस प्रकार की शैली का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसने कहा है—"When a passage is pregnent in suggestion; when it is hard, nay impossible, to distract the attention frcm it; and when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure that we have lighted on the true sublime."

अपनी इस मान्यता को स्थापित करते हुए उन्होंने उदात्त शैली के पाँच नियामक तत्त्व निर्दिष्ट किये हैं—१. चिन्तन की गरिमा, २. आवेगों का स्फूर्त्त और उत्तेजित निर्वाह, ३. वाक्यालङ्कारों ( Figures of speech ) का सुष्ठु प्रयोग, ४. शब्द-चयन, सादृश्य-विधान एवं अलङ्कार-योजना तथा ५. स्थापत्य-कौशल का महिमामण्डित प्रयोग।

उदात्त की एक विचित्रता यह है कि वह विशाल होकर भी सूक्ष्म में समाहित हो सकता है, अर्थात् उसकी भूमिकाएँ बहुवर्णी हैं। अतः, उसके कई प्रकार माने जाते हैं, जैसे सूक्ष्मोदात्त, श्रेयोदात्त, परोदात्त, विस्तारोदात्त इत्यादि।[१]

'ललित-कला और सौन्दर्य' उपशीर्षक में यह विचारणीय है कि 'सौन्दर्यानुभूति की अवस्था' क्या है? रिचर्ड्स ने ('Principles of Literary Criticism') में यह मत व्यक्त किया है कि मन की कोई ऐसी विशिष्ट दशा नहीं है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की अवस्था (Aesthetic state) के नाम से अभिहित कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि मानव-मन अत्यधिक संवेदनशील और सक्रिय है। उसके पास क्षण-क्षण बदलने-वाली दशाओं और अनुभूतियों की एक संकुल शृङ्खला है। ये अनेक किस्म की दशाएँ एवं अनुभूतियाँ क्रमबद्ध या छलझी हुई न होकर मिली-जुली रहती हैं। इनके परिवर्त्तन का कारण स्थिति और परिस्थिति में हेरफेर है। अर्थात्, प्रश्न यह है कि देश, काल एवं परिस्थिति के संघात से बदलनेवाली आश्रय बहुवर्णी मनोदशाओं और अनुभूतियों के बीच सामान्य ढंग से वह दशा या अनुभूति भी आ जाती है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति की अवस्था कहते हैं, अथवा उसके कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं? जीव-विज्ञान के अनुसार हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान और संवेदन मूलतः दो प्रकार के हैं—प्रोटोपैथिक और एपिक्रिटिक। ये दोनों त्वचा से सम्बद्ध मनश्चेतना अथवा त्वक्चेतना ( Dermal psyche ) के साधन और आधार हैं। प्रोटोपैथिक संवेदन जीव की प्राथमिक वृत्तियों से सम्बद्ध है और एपिक्रिटिक संवेदन का सम्बन्ध उसकी चयनशील (Discriminating) वृत्ति से है। इसलिए, यह निष्कर्ष निकाला गया है कि हमारे चेतन जीवन का सम्बन्ध एपिक्रिटिक से है और उपचेतन का प्रोटोपैथिक से।

इस दृष्टि से सोचने पर सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध 'एपिक्रिटिक' संवेदन के साथ हो सकता है; क्योंकि वह हमारे चयन और उन्नत संवेदन पर निर्भर है। किन्तु, वह, प्रश्न पुनः सामने आता है। क्या इस कोटि में भी—सौन्दर्यानुभूति लक्षण-विशिष्ट है? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए रिचर्ड्स लिखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियों के साथ गाढ़ सादृश्य रखती है, अन्तर है विकास की मात्रा में। अर्थात्, किसी सामान्य अनुभूति का विकसित रूप ही सौन्दर्यानुभूति है; फलतः उसमें प्रकार-भिन्नता

---

१—विस्तृत जानकारी तथा उदात्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर रस-दृष्टि से विचार के लिए देखिए—'उदात्त की भावना': श्रीजगदीश पाण्डेय, 'साहित्य', रजत-जयन्ती-अङ्क, १९५६ ई०।

नहीं है। उदाहरणार्थ, कविता पढ़ने या सङ्गीत सुनने के समय हम उससे भिन्न कोई काम कदापि नहीं करते, जो हम दर्शक-दीर्घा में जाते अथवा सुबह में पोशाक पहनते समय करते हैं।

किन्तु, दूसरी कोटि के विचारकों का मत है कि सौन्दर्यानुभूति अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट है; क्योंकि सौन्दर्यानुभूति का आविर्भाव दो ही स्थितियों में होता है—सौन्दर्य-सृष्टि में और सुन्दर के अवलोकन या प्रशंसन में। इस विशिष्टता के पक्ष में रोजर फ्राइ (Roger Fry) का यह तर्क है कि सौन्दर्यानुभूति सर्वथा और सर्वदा आनन्दोन्मुख होती है, जब कि अन्य अनुभूतियों का आनन्द से अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः, यह स्वीकार्य सत्य है कि सौन्दर्यानुभूति का अगर आनन्द से वर्त्तमान सम्बन्ध न भी हो, तो आगमिष्यत् सम्बन्ध अवश्य रहता है। पुनः, सौन्दर्य से प्राप्त आनन्दानुभूति और अन्य सुखों में अन्तर है। अन्य सुखों में इन्द्रियानुभूति ही सीमा बन जाती है, किन्तु सौन्दर्य प्रदत्त आनन्दानुभूति में इन्द्रियाँ अधिकरण-मात्र रहती हैं, उसकी सीमा नहीं बनती। इस प्रसङ्ग में सान्तायना की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"Aesthetic pleasures have physical conditions. They depend on the activity of the brain. But we do not connect those pleasures with their seats except in psychological studies; the idess with which aesthetic pleasures are associated are not the ideas of their bodily causes."[१]

इस विश्लेषण के उपरान्त यह मत उचित प्रतीत होता है कि सौन्दर्यानुभूति कुछ अर्थों में विशिष्ट होती है। एक तो, सौन्दर्यानुभूति की अवस्था भावक के धन-संवेग (Cathexis)[२] की दशा होती है; दूसरे, सौन्दर्यानुभूति में चमत्कार (संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त अर्थ में) की अनिवार्य उपस्थिति रहती है; तीसरे सौन्दर्यानुभूति की उपपन्न प्रक्रिया के विधायक तत्त्व अनेक, किन्तु क्रमबद्ध होते हैं। जैसे, १. वस्तु-प्रत्यक्ष, २. उसका मानस चित्राङ्कन, ३. इन दोनों का एक विधान में ग्रथन, ४. इस समीकृत रूप के प्रति आश्रय के मन का प्रतिसंवेदन और ५. सौन्दर्यास्वादन की लब्धि। वस्तुतः, सौन्दर्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों की प्रक्रियाएँ बहुत उलझी हुई हैं। इस सम्बन्ध में रामस्वामी शास्त्री का यह कथन उचित प्रतीत होता है—"...The artist in the course of

---

१—Eassys in Modern Literary Criticism, Roy B. West द्वारा सम्पादित, में संकलित The 'Nature of Beauty' शीर्षक निबन्ध, पृ० १५।

२—Cathexis : accumulation of mental energy on some particulor idea, memory or line of thought or action. A Dictionary of Psychology.

his fusion of his impression and expression, realises beauty and revels in beauty and then reveals beauty and radiates beauty after vitalising his impression of beauty by the iradiated beauty of his own soul.' [३]

इस विश्लेषण के उपरान्त भी सौन्दर्यानुभूति को समझने के लिए कलानुभूति की परख आवश्यक है। प्रथमतः, कलानुभूति एक ऐसी सुखद अनुभूति है, जो सत्य-मिथ्या के विधि-निषेध से किञ्चित् ऊपर है। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह अनुभूति चयनशील होती है; क्योंकि इसका सम्बन्ध आलम्बन के सम्पूर्ण परिसर से न होकर उसके संवेद्य अंश तक सीमित रहता है।

अतः, कलानुभूति वस्तु-विशेष के संवेद्य अंशों के चयन पर जीवित रहती है और सुखद, अतः रसात्मक होती है। भारतीय दृष्टि से भी कला का आशु अथवा समीपी मूल्य विशिष्ट सुख ही माना गया है।

अभिज्ञान की दृष्टि से निर्वैयक्तिकता का अभ्युदय कलानुभूति का सर्वोपरि लक्षण है। सामान्य अनुभूतियों में मनुष्य अपने व्यक्तित्व और वैयक्तिकता की परिधि से आबद्ध रहता है; किन्तु, कलानुभूति के क्षणों में वह इन सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अतः, कलानुभूति एक विशिष्ट संवित् है, जो भावक में सत्त्वोद्रेक पैदा करती है।

कला की दृष्टि से कलानुभूति क्षणिक होती है और उसका सातत्य उद्दीपन-सापेक्ष होता है। अधिक सुस्थ कथन यह होगा कि कलानुभूति की अवधि विभावों की विभावनशील उपस्थिति के ठहराव पर निर्भर रहती है।

पुनः, निर्वैयक्तिकता से सम्पृक्त होने के कारण कलानुभूति स्वनिष्ठ और स्वयंसाध्य होती है तथा चरम मूल्य रखती है। प्रो० हिरियन्ना ने उचित ही कहा है—"The expression of art is an ultimate value, in the sense that it is sought for its own sake and not as a means to anything else." साथ ही निर्वैयक्तिक और चरम होने से कलानुभूति में यथार्थ के साथ आदर्श का अल्पाधिक समावेश अवश्य रहता है। इसीलिए, कला सत्य-मिथ्या या यथार्थ-आदर्श की धूप-छाँह में प्रायः निर्विघ्न रहती है।

दूसरी बात यह है कि कलानुभूति की दो मुख्य किस्में हैं—उपज्ञात और प्रेरित। उपज्ञात कलानुभूति का सम्बन्ध कारयित्री प्रतिभा से, अतः कलाकार से, और प्रेरित कलानुभूति का सम्बन्ध भावयित्री प्रतिभा से, अतः सहृदय से है। प्रथम, कला-सृष्टि के क्षणों की अनुभूति है और द्वितीय, कला-दर्शन के क्षणों की। कलानुभूति ही विकास और उपचिति की मात्रा के अनुसार हृदय-संवाद, तन्मयीभवन योग्यता और रसानुभव की अवस्थाओं में बदलता रहती है। दूसरे प्रकार की कलानुभूति भोगीकरण-प्रधान होती है,

---

३—The Indian Concept of the Beautiful, पृ० ५।

जबकि उपज्ञात कलानुभूति में भोग से अधिक महत्त्व इन तीन कार्यों का रहता है—अनुभूति का निबिडीकरण, अनुभूति का मार्जन और अनुभूति की व्याख्या।

कलानुभूति के और दो प्रकार स्पष्ट हैं—सहज और संकुल, शैशव और किशोर-वय की कलानुभूति, अथवा प्रौढ व्यक्ति की। शैशव अथवा कैशोर कलानुभूति 'सहज' होती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जितना ही परिपक्व-बुद्धि और आवेष्टनों के प्रति सजग होता है, उसकी कलानुभूति उतनी ही 'संकुल' होती है। उदाहरण के लिए, आजन्म किशोर रहनेवाले वयःप्राप्त छायावादियों को, और दूसरी ओर पेट में से दाढ़ी लेकर पैदा होनेवाले शिशु-प्रयोगवादियों को, जो उपमानों के अनन्त 'ब्लू-प्रिंट' प्रस्तुत कर रहे हैं, देखा जा सकता है।

इस प्रकार, ललित-कला और सौन्दर्य की अल्प चर्चा के अन्त में हम कह सकते हैं कि इस सौन्दर्य-बोध-प्रधान कला-चिन्ता में सौन्दर्यशास्त्रियों के अनेक निकाय बन गये, जो सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक मान्य-अमान्य होते रहे। इन निकायों के मुख्य प्रतिनिधियों में बामगार्टेन, विङ्केलमैन, शैफ्ट्स्बरी, पीर एन्द्रे, पैगानो, कान्त, शिलर, फिख्ते, श्लेगेल, एडेम मूलर, शेलिङ्ग, हेगेल, हार्टमैन, कजिन, टाड हण्टर, एलन स्पेन्सर और नाइट उपज्ञात उद्भावनाओं की दृष्टि से विशेष गण्य हैं। यह ध्यान देने की बात है कि प्रायः इन सभी सौन्दर्यशास्त्रियों की कलागत मान्यताएँ तालस्ताय द्वारा, कलावाले आलेख में, भ्रान्त अथवा अपूर्ण घोषित हो चुकी हैं।



# नवीन...और...उल्लेख्य

## साहित्य-शास्त्र

**समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा**

**काव्य में उदात्त-तत्त्व**[1] डा० नगेन्द्र द्वारा कृत लोंजाइनस के On the Sublime का सर्वथा प्रामाणिक अनुवाद है। डा० नगेन्द्र ने जिस प्रकार भारतीय साहित्य-शास्त्र का सार-सर्वस्व हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया है, उसी प्रकार इस पुस्तक तथा इसके पूर्व प्रकाशित अरस्तू का काव्य-शास्त्र के माध्यम से, पाश्चात्य-साहित्य-शास्त्र को भी हिन्दी में उपस्थित करने का प्रशस्य आयोजन किया है।

'साहित्य' के पाठक उदात्तविषयक समस्याओं, उनके निरूपण, तथा उन पर विचार करनेवाले पाश्चात्य दार्शनिकों के नामों और मतों से अपरिचित नहीं हैं। हमने इस

---

१—लेखक : डा० नगेन्द्र; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : तीन रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

विषय पर प्रो० जगदीश पाण्डेय के एकाधिक विशद प्रबन्ध 'साहित्य' के पिछले अङ्कों में प्रकाशित किये हैं और प्रस्तुत अङ्क में भी एक अन्य विद्वान् का एक प्रबन्ध प्रकाशित कर रहे हैं। लौंजाइनस की पुस्तक इस विषय की महत्त्वपूर्ण आधार-पुस्तक है। विद्वत्तापूर्ण भूमिका और नाम-परिचयमूलक टिप्पणियों से युक्त यह अनुवाद श्रेयस्य विदेशी पुस्तकों के हिन्दी-अनुवादों में उच्चतम स्थान का अधिकारी है : मूल के अँगरेजी-अनुवाद की शास्त्रीय गरिमा हिन्दी-अनुवाद में भी पूर्णतः सुरक्षित है।

डा० नगेन्द्र और इस कार्य में उनकी सहायता करनेवाले श्रीनेमिचन्द्र जैन ने जिस विषय पर यह पुस्तक प्रस्तुत की है, उसके सर्वथा अनुरूप सुरुचिपूर्ण प्रकाशन राजपाल ने किया है।

•

## काव्य

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

रश्मिबन्ध[1] में पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-संग्रहों—'वीणा' से 'वाणी' तक—की चुनी हुई रचनाएँ सङ्कलित हैं। इन कविताओं के महान् लेखक का यह विश्वास उनकी विनम्रता का परिचायक है कि आकार में लघु होने पर भी 'यह किरणों का पुलिन्दा, अपने सतरङ्ग वैभव से पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर, अपना नाम सार्थक कर सकेगा।'

सङ्कलन के प्रारम्भ में स्वयं पन्तजी का नातिलघु 'परिदर्शन' उनके लिए भी इसे संग्रहणीय बना देगा, जिनके पास कवि के समस्त काव्य-संग्रह वर्त्तमान हैं। पन्तजी का गद्य उनके पद्य से कम परिमार्जित नहीं होता : आत्मविश्लेषण-मूलक 'परिदर्शन' का यह अतिरिक्त महत्त्व है।

पुस्तक आसानी से जेब में आ सकती है और उससे बाहर आने पर, आकर्षक आवरण के कारण, देखनेवाले के मन में लोभ उत्पन्न कर सकती है।

•

समानान्तर सुनें[2] श्रीमती शान्ता सिनहा की ऐसी कविताओं का संग्रह है, जैसी हिन्दी की कवयित्रियाँ नहीं लिखतीं। हिन्दी की कवयित्रियों की कविता-कामिनी साड़ी ही पहनती रही है; श्रीमती सिनहा ने, इसके विपरीत, उसे विलायती पोशाक पहनाने की हिम्मत दिखाई है।

हिन्दी-कवयित्रियों को मीरां-महादेवी-परम्परा, या तथाकथित नये कवियों की अयोग्यतापूर्वक अनुकृति छोड़कर, हम यह कहें कि कवयित्री के बदले कवि होकर, अपनी

---

१—रचयिता : पं० सुमित्रानन्दन पन्त; प्रकाशक : राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

२—रचयित्री : श्रीमती शान्ता सिनहा; प्रकाशक : संज्ञा-प्रकाशन, पटना; मूल्य : तीन रुपये मात्र।

सार्थकता सिद्ध करनी होगी, अन्यथा उनका लिखना, न लिखना बराबर है। श्रीमती शान्ता सिनहा की कविताओं के बारे में और कुछ कहा जा सके या नहीं, इतना आसानी से कहा जा सकता है कि इन पर एक कवि की रचनाओं के रूप में विचार हो सकता है और यह तनिक भी जरूरी नहीं कि इन्हें इसलिए सह्य मान लिया जाय कि ये एक कवयित्री की रचनाएँ हैं। क्या श्रीमती शान्ता सिनहा की अनेक कविताओं में इसीलिए ऐसा है कि 'प्रेमी का प्रेमिका के प्रति भाव भासित होता है, न कि प्रेमिका का प्रेमी के प्रति ?

संग्रह की सूची असुविधाजनक है। सूची के प्रथम पृष्ठ पर ही एक शीर्षक है, 'लम्बी सफर बाद'। श्रीमती शान्ता सिनहा ने अँगरेजी के बहुसंख्य शब्दों का प्रयोग कर यह प्रमाणित कर दिया है कि उनके लिए हिन्दी अपूर्ण भाषा है। क्या इस भाषा के साधारण नियम भी उपेक्षणीय हैं ? यह होते हुए भी श्रीमती शान्ता सिनहा हिन्दी के एक नये कवि के रूप में विचारणीय हैं।

वेश्या[1], शीर्षक द्वारा सङ्केतित विषय पर एक पद्यबद्ध पुस्तक है। पद्य-रचना करने तथा तुक मिलाने में लेखक ने जो श्रम किया है, और अच्छे कागज पर अच्छी छपाई करने में प्रकाशक ने जो व्यय किया है, वे ही एकमात्र ऐसी कुछ बातें हैं, जिनका उल्लेख इस पुस्तक के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

०

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

अरुणा[2] : प्रस्तुत पुस्तक में श्रीजयदेव दास 'अभिनव' की एक सौ स्फुट कविताएँ संगृहीत हैं। कविताओं में अभिनवता के बावजूद परम्परा का आग्रह ही बीस हो गया है। फलतः, कविता 'विश्व पुरातन की (?) मजार पर करुण गीत' बनकर रह गई है, ऐसा नहीं कहना पड़ता, बशर्ते कि सन् बयालीस के क्रान्ति-काल में, जेल में लिखी गई ये कविताएँ, उसी समय छप गई होतीं। फिर भी, इन कविताओं में तत्कालीन घुटन-भरे जीवन की विविध समस्याओं का ऐसा प्रतिफलन हुआ है, जिसमें कहीं धब्बा नजर नहीं आता। रेखाएँ उलझी हुई न होकर सपाट हैं सही, किन्तु सजीव नहीं हैं, ऐसा कहना कठिन है। स्पष्ट है कि कवि ने अपनी इन कविताओं में संघर्ष और आशा का समाजवादी दृष्टिकोण से समर्थन, किसी से उधार न लेकर, अपनी मौलिक प्रतिभा से किया है।

---

१—रचयिता : श्री बा० को० नारायण; प्रकाशक : श्रीचम्पा नारायण, १/१ ए, राय लेन, कलकत्ता—७, मूल्य : अस्सी नये पैसे मात्र।

२—रचयिता : श्रीजयदेवदास 'अभिनव'; प्रकाशक : योगमाया—प्रकाशन; ईमादपट्टी; (दरभङ्गा); मूल्य : दो रुपये मात्र।

जहाँ तक आलोच्य कविताओं के विभाव-पक्ष का प्रश्न है, सरल भाषा में, यत्र-तत्र लिङ्गच्युति के बावजूद, भावों की गहनता पर्याप्त हृद्य हुई है। इसके अतिरिक्त, कविताओं में कवि के ग्रान्थिक अध्ययन का आसव तो घुला हुआ है ही, अनुभव की खमीर भी मिली है। कवि के रूप में नया हस्ताक्षर होते हुए भी अभिनवजी की यह अभिनव काव्य-कृति औसत पाठकों को निस्सन्देह अनुकूल बना सकेगी।

आवरण अनाकर्षक है। मुद्रण अदोष।

०

**आरती**[१] : कवि दीपक ने अपनी पचीस मैथिली-कविताओं के संग्रह को उक्त शीर्षक संज्ञा दी है। ये पचीस कविताएँ यथानामविषय पाँच खण्डों—क्रमशः फुटकर कविता-खण्ड, ऋतु-खण्ड, नारी-खण्ड, गीत-खण्ड और विचार-प्रवाह-खण्ड—में विभक्त हैं। साथ ही, प्रत्येक खण्ड के प्रारम्भ में मैथिली के मर्मज्ञों के द्वारा लिखित 'परिचायिका' भी मुद्रित है।

और जो कुछ भी हो, दीपकजी ग्राम्य चित्रों के कुशल चितेरे अवश्य हैं, अतएव उनके उरेहे वैसे चित्र विकृत नहीं हुए हैं। इस दृष्टि से 'मकइ क खेत', 'कुमारि', 'चिट्ठी', 'नीम क छाहरि' आदि कविताएँ मनोज्ञ और ततोऽधिक अभिव्यञ्जक हैं। इसके अतिरिक्त, जगह-जगह मैथिली के लोक-प्रचलित ध्वन्यात्मक प्रयोगों के कारण कविताओं में अव्यवहित वस्तुबोधकता भी निहित हो गई है।

ये कविताएँ, आकाशवाणी तथा कवि-सम्मेलनों के द्वारा, जनप्रियता अर्जित कर सकी हैं। कलात्मक तटस्थता का अभाव, यत्र-तत्र शब्दगत प्रयोग-स्खलन, जैसे—'प्रसून क कटोरी', 'तृषा-अन्हरिया' आदि एवं भाषा की सहज लौकिकता के लालित्य पर असहज साहित्यिक गुरुत्व लादने का असतर्क अत्याग्रह, तथा इस तरह की और भी कतिपय त्रुटियों के बावजूद, प्रस्तुत कविता-संग्रह आशानुकूल आदर प्राप्त करेगा, इसका मुझे विश्वास है।

मुद्रण और आवरण, नात्यभिराम होते हुए भी, सदोष नहीं हैं।

०

**सरजोम-बा-डुम्बा ( शाल-पुष्प-गुच्छ )**[२] पुस्तक में 'हो' ( आदिवासी )-जाति के पचास विवाह-गीत सङ्कलित हैं। प्रस्तुत सङ्कलन में कुली ( विवाह का प्रारम्भिक रस्म ), घर-देखी, कन्या-मूल्य-निर्णय आदि से कन्या-विदाई तथा विवाहोपरान्त कन्या-शिक्षा तक के, नौ प्रकार के वैवाहिक गीतों की चर्चा है। सङ्कलयिता ने प्रत्येक गीत के प्रारम्भ में छोटी-छोटी 'परिचायिकाएँ' दी हैं और गीतों के अन्त में प्राप्ति-स्रोतों का भी उल्लेख

---

१—रचयिता : श्रीजगदीश नारायण 'दीपक'; प्रकाशक : जगदम्बा-प्रकाशन, स्नेह-सदन, भदहर-बिरौल ( दरभङ्गा ); मूल्य : सवा रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीजयदेवदास 'अभिनव', प्रकाशक : योगमाया-प्रकाशन, ईमादपट्टी (दरभङ्गा); मूल्य : दो रुपये, पचहत्तर नये पैसे मात्र।

किया है। इसके अतिरिक्त, गीतों के विश्लेषणात्मक शब्दार्थ, सरलार्थ, यथावश्यक उपयोगी टिप्पणियाँ एवं ध्वनिसङ्केतक चिह्न भी दे दिये हैं। फलतः, 'हो'-भाषाभाषीतर लोगों को भी इन गीतों का मर्म समझने में किञ्चिदपि असौविध्य का अनुभव नहीं करना पड़ेगा। इससे एक लाभ यह भी हुआ है कि पुस्तक को सहज ही भाषावैज्ञानिक गवेषणात्मक महत्त्व प्राप्त हो गया है।

लेखक ने भाषावैज्ञानिक पद्धति से 'हो'-भाषा का अनुशीलन कर भाषाशास्त्रियों के लिए एतद्विषयक अनुसन्धान का पथ प्रशस्त करने का प्रशस्य कार्य किया है।

पुस्तक का मुद्रण स्वच्छ तथा निर्दोष है, किन्तु आवरण सश्रीक नहीं है।

०

## उपन्यास-कहानी

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

लोक-परलोक[1] उदयशङ्कर भट्ट का एक लोकप्रिय साप्ताहिक में धारावाहित उपन्यास है, जिसे पुस्तक के रूप में अब प्राप्य होने पर वे भी फिर एक बार पढ़ना चाह सकते हैं, जो उसे पहले टुकड़े-टुकड़े पढ़ चुके हैं। भट्टजी के एक अन्य उपन्यास की आञ्चलिकता की तरह इस उपन्यास की आञ्चलिकता 'नोट्स' के सहारे जुटाई गई नहीं प्रतीत होती। इसे अपेक्षया अधिक योग्यता से भी उन्होंने लिखा है—उपन्यास का शिल्प-विधान अब उनके लिए अवश्य ही अनभ्यस्त नहीं है।

०

मेरा पहला प्यार[2] में वस्तुतः महान् रूसी लेखक तुर्गनेव के दो उपन्यासों—'मेरा पहला प्यार' और 'आस्या'—के अनुवाद प्रकाशित हैं। तुर्गनेव रूस के महान् प्राचीन लेखकों में भी मूर्द्धन्य है। उसके ये उपन्यास उसकी गौण कृतियों में परिगणित होते हैं। हिन्दी में महान् विदेशी लेखकों की प्रमुख ही नहीं, वरन् गौण कृतियाँ भी अनूदित हो रही हैं, यह उसकी समृद्धि का परिचायक है।

रूसी से अँगरेजी में और अँगरेजी से हिन्दी में छनकर आनेवाला अनुवाद भी तुर्गनेव की अनेक दुर्लभ विशेषताएँ गृहीत करने में सफल हुआ है। पुस्तक पर नागरी के बदले रूसी लिपि में कुछ लिखा रहता, तो कोई भी यही कहता कि यह रूसी-प्रकाशन है—कम खर्च में ऐसी बालानशीनी है।

०

---

१ - लेखक : श्रीउदयशङ्कर भट्ट; प्रकाशक : राजकमल-प्रकाशन; मूल्य : तीन रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

२—लेखक : श्रीतुर्गनेव; अनुवादक : श्रीशिवदानसिंह चौहान, श्रीविजय चौहान; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

कैदी की करामात[1] और डेविड कापरफील्ड[2] कई पीढ़ियों के उपन्यास-प्रेमियों के प्रिय फ्रांसीसी लेखक अलेंक्जेण्डर ड्यूमा और अँगरेजी-लेखक चार्ल्स डिकेंस के द काउण्ट आव मांण्टे क्रिस्टो तथा डेविड कापरफील्ड के संक्षिप्त किशोरोपयोगी संस्करणों के ऐसे अनुवाद हैं, जिनसे हमारे किशोर भी विदेश के उत्कृष्ट साहित्य से सहज ही परिचय प्राप्त कर सकेंगे। विदेशी साहित्य से सम्पर्क बनाये रखने का वास्तविक माध्यम अनुवाद ही है। इन पुस्तकों के अनुवादक और प्रकाशक ने इन्हें सुरुचिपूर्ण तथा आकर्षक बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है।

मांण्टे क्रिस्टो के बदले, पहली पुस्तक के भीतरी आवरण पर, रोमन-लिपि में मुद्रित उपशीर्षक में 'माउंट क्रिस्टो' हो गया है : हम नहीं कह सकते इसके लिए उत्तरदायी कौन है—लेखक या प्रकाशक !

●

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

चलती-फिरती लकीरें[3] पुस्तक में सबौर-कृषि-महाविद्यालय की 'उपज' पत्रिका के व्यवस्थापक श्रीरुद्रेश्वर लाल की नातिदीर्घ नौ कहानियां संगृहीत हैं। भारतीय कृषि और कृषक की उन्नति तथा उसके उपाय, कहानियों की मुख्य विषय-वस्तु हैं। इस पुस्तक का, स्पष्ट ही उद्देश्य है, कहानी के द्वारा कृषि के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना। यह पुस्तक राजकीय जन-सम्पर्क-विभाग की साहित्यिक शाखा की ओर से निकलती, तो लेखक के हक में अच्छा होता।

संगृहीत कहानियों में कहानी-कला के भाव-विभाव-पक्ष एवं उसके सन्तुलन तथा मर्मान्तिकता की खोज करना समीचीन नहीं होगा। फिर भी, 'सितारों से आगे', 'धरती की बेटी' आदि कहानियों में लेखक ने प्रशंसनीय रीति से अपनी कृषि-प्रचार-प्रवृत्ति के मोह पर विजय पाने की चेष्टा की है। आलोच्य संग्रह में इस प्रकार की कहानियां अपवाद हैं, जिनमें साहित्यिक पक्ष का मर्मस्पृक् उद्भावन हो सका है।

कहानियों की भाषा सरल एवं शैली प्रवाहपूर्ण है, इसलिए औसत पाठकों का मन ऊबकर डूबेगा नहीं।

मुद्रण और आवरण साधारण हैं।

○

---

१—लेखक : श्रीअलक्जेण्डर ड्यूमा; रूपान्तरकार : श्रीकान्त व्यास; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : डेढ़ रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीचार्ल्स डिकेंस; रूपान्तरकार, प्रकाशक तथा मूल्य उपरिवत्।

३—लेखक : श्रीरुद्रेश्वर लाल; प्रकाशक : श्रीहरिहर लाल, महेशरामं, पीरपैंती (भागलपुर); मूल्य : डेढ़ रुपये मात्र।

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

आधी रात का सूरज [१] में संगृहीत कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से उल्लेख के योग्य नहीं हैं, किन्तु उनका लेखक कहीं-कहीं रोचक वर्णन कर पाया है—मनुष्यों का भी और प्रकृति का भी। 'कटे नाक' (पृ० १३२), 'भगवी झंडियाँ' (पृ० १३६), 'उसके तीन साँस' (पृ० १४२), 'लहु-लुहान' (पृ० १४७) संग्रह की एक ही कहानी में निर्देश्य ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे, अगर कोई विद्वान् 'शुद्ध हिन्दी' शीर्षक कोई पुस्तक लिख रहा हो, तो उदाहरण ढूँढने का उसका काम हलका हो जायगा।

हम पुस्तक के प्रतिष्ठित प्रकाशक का ध्यान इन प्रयोगों की ओर आकृष्ट करते हैं, और उससे यह अनुरोध करते हैं कि प्रकाशन-व्यवसाय की अपनी नानाविध योजनाओं में वे ऐसी भी कोई योजना समाविष्ट करें, जिससे उनके या अन्य संबद्ध प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें—उनकी कीमत या कमीशन जो भी हो—ऐसी अशुद्धियों से मुक्त रहें, जो प्रवेशिका के छात्रों के लिए भी लज्जाजनक मानी जाती हैं।

०

## ज्ञान-विज्ञान

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

समुद्र की कहानी[२], रसायन की कहानी[३], मौसम की कहानी,[४] तथा सितारों की कहानी[५] ज्ञान-विज्ञान-माला की सरल, किन्तु प्रामाणिक अनूदित पुस्तकें हैं। सामान्य ज्ञान के पिपासु प्रौढों तथा किशोरों के लिए पुस्तकें उपादेय ही नहीं, रोचक भी सिद्ध होंगी।

अनुवादकों तथा प्रकाशक ने ये पुस्तकें सु-लिखित तथा सु-मुद्रित रूप में प्रस्तुत कर एक अभाव की पूर्त्ति ही नहीं की है, ऐसा प्रतिमान स्थापित किया है, जिस तक पहुँचना सब के लिए सहज नहीं होगा।

•

---

१—लेखक : श्रीशमेशर सिंह नरुला; प्रकाशक : राजकमल-प्रकाशन; मूल्य : दो रुपये, पचास नये पैसे मात्र।

२—लेखक : श्रीफर्डिनेण्ड सी० लेन; अनुवादक : श्रीरमेशचन्द्र वर्मा; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज; मूल्य : दो रुपये मात्र।

३—लेखक : श्रीहेरा एम्०फ्रीमैन; अनुवादक : श्री रमेशचन्द्र वर्मा; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : दो रुपये मात्र।

४—लेखक : श्रीहवान रे टेनहिल; अनुवादक: श्रीहरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज दिल्ली; मूल्य : दो रुपये मात्र।

५—अनुवादक : श्रीकेशव सागर; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : दो रुपये मात्र।

## आत्म-कथा : विविध

**समीक्षक : प्रो० नलिन विलोचन शर्मा**

**मेरा जीवन-संघर्ष**[1] एक नेत्रहीन भारतीय युवक की बड़ी ही रोचक आत्म-कथा है। वेद मेहता, इस पुस्तक के लेखक, ने नेत्र-रहित होते हुए भी अपने देश में और विदेश जाकर, उच्चतम शिक्षा प्राप्त की और अँगरेजी में Face to Face : An autobiography—आत्म-कथा—भी लिखी, जो प्रकाशित होने पर प्रशंसित और लोकप्रिय सिद्ध हुई।

अनुवादक और प्रकाशक ने इस पुस्तक को उसके लेखक के देश के बहुसंख्य पाठकों के लिए सुलभ बनाकर श्लाघ्य कार्य किया है।

नेत्रहीनता दुर्भाग्य है, किन्तु उस पर विजय पाई जा सकती है, यह सन्देश देनेवाली पुस्तक साहित्यिक गुणों से भी युक्त है।

०

**समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदे**

**विराट्पर्व की भूमि बिहार**[2] में बदरीनारायण मण्डल ने, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महाभारतीय राजा विराट् का विराट्नगर पूर्णिया जिला के किशनगंज सब-डिवीजन में ही वेणुगढ़ के आसपास था। मण्डलजी को अन्वेषण के सिलसिले में पुरातत्त्व की ऐसी विश्वसनीय सामग्री मिली है, जिससे वे महाभारत में वर्णित विराट्-नगर से अपने अन्विष्यमाण विराट्नगर की तुलना में बहुत कुछ जँचने लायक बात कहने में समर्थ हुए हैं।

अन्वेषक का लेखक होना कोई जरूरी नहीं है, इसलिए आलोच्य पुस्तक के लेखक की कहीं कहीं अनकही हो गई है, तो अचरज नहीं। फिर भी, विषय-प्रतिपादन में लेखक ने बलात् काम नहीं लिया है।

भाषा अपरिष्कृत है तथा पुस्तक के झटिति प्रकाशन का आग्रह रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

०

**आँदी (विवाह)**[3] पुस्तक में श्रीअभिनवजी ने 'हो' (आदिवासी)-जाति की विवाह-विधि को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया है। विवाह के लिए प्रारम्भिक बातचीत से वर के घर कन्या के आने तक के साङ्गोपाङ्ग विवरण इसमें दिये गये हैं। लेखक ने इस पुस्तक के

---

१—लेखक : श्रीवेद मेहता; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड सन्ज, दिल्ली; मूल्य : चार रुपये मात्र।

२—लेखक : श्रीबदरीनारायण मण्डल; प्रकाशक : जनपद-साहित्य-प्रकाशन, मंगेर; मूल्य : आठ आने मात्र।

३—लेखक : श्रीजयदेवदास 'अभिनव'; प्रकाशक : योगमाया-प्रकाशन, ईमादपट्टी (दरभङ्गा); मूल्य : एक रुपया, पचहत्तर नये पैसे मात्र।

लिखने में केवल पुस्तकीय अध्ययन से ही काम नहीं लिया है, वरन् 'हो'-जाति के बीच स्वयं जाकर उसके सामाजिक-धार्मिक संस्कारों का बड़ी निष्ठा से अनुशीलन भी किया है।

अन्त में संलग्न परिशिष्ट से, जिसमें 'हो'-जाति के विषय में कुछ आँकड़े उपस्थित किये गये हैं, पुस्तक को शोधात्मक महत्त्व मिल गया है।

सरल भाषा में लिखी गई इस पुस्तक की छपाई-सफाई लोभनीय है, किन्तु कागज और आवरण अश्लीक हैं।

०

समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

पारिभाषिक शब्दावलियाँ[1] केन्द्रीय सरकार के तत्त्वावधान में निर्मित पन्द्रह पारिभाषिक शब्दावलियों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत है। अधिकतर शब्दावलियाँ साधारणतः सन्तोष-जनक हैं और कुछेक तो प्रायः निर्दोष हैं।

अलग-अलग शब्दावलियों की अलग-अलग समीक्षा की गई है। सामान्य रूप से यह कहना आवश्यक है कि शब्दावली के निर्माणकर्त्ताओं को अन्तर-राष्ट्रीय शब्दावली, संकर रूपों तथा प्रचलन के नाम पर 'स्लैङ्' से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। या तो शास्त्रीय स्तर की शब्दावली बने, या फिर कह दिया जाय कि अँगरेजी के शब्द ही रहेंगे, या कि यहाँ के बाजारू शब्दों से ही काम चलाया जाय।

ऐसी शब्दावलियों में लिप्यन्तरण की जरूरत नहीं है, किन्तु लिप्यन्तरण किये जायँ, तो वे शुद्ध हों, इसका ध्यान रखना चाहिए। मुद्रण में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

१. मैथेमेटिक्स-३

(स्टैटिस्टिक्स)

यह शब्दावली अन्यों की तुलना में बहुत सन्तोषजनक है, किन्तु हिन्दी के कुछ शब्दों की वर्त्तनी ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ, 'Z.Test', के लिए 'जैड परीक्षण' होना चाहिए, न कि 'जैड परीक्षण'।

२. मैथेमेटिक्स-४

(कैलक्युलस)

यह शब्दावली प्रायः त्रुटि-रहित है। शब्द वस्तुतः पारिभाषिक स्तर के हैं और उनके निर्माणकर्त्ता इस आशङ्का से चिन्तित नहीं प्रतीत होते कि गणित-शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति इन शब्दों को क्लिष्ट समझ सकते हैं। पारिभाषिक शब्दों के निर्माणकर्त्ताओं को इसकी कदापि चिन्ता होनी भी नहीं चाहिए।

३. जेनरल मेटेओरोलाजी

यह शब्दावली भी सर्वाङ्गपूर्ण है। इस पर इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की टिप्पणी की अपेक्षा नहीं है।

---

१—भारत सरकार द्वारा प्रकाशित।

### ४. केमिस्ट्री-३

यह शब्दावली भी साधारणतः सन्तोषजनक है, किन्तु 'सांद्रण' के बदले 'साद्रंण', 'हेनरी' के स्थान पर 'हैनरी' और कुछ नहीं तो असावधान मुद्रण के द्योतक हैं।

### ५. केमिस्ट्री-४

### (पी-जेड)

प्राक्कथन में कहा गया है कि 'जहाँ कहीं हमें उपयुक्त, सरल, और सुबोध शब्द मिल गये हैं, हमने उन्हें अपना लिया है।' जैसे, 'Pan' 'कटाह' ( दूसरा हो भी क्या सकता था ! )। हाँ, Plug के लिए 'डाट' और 'Tarnish' के लिए 'बदरंग' अवश्य उचित नहीं। यों यह शब्दावली भी साधारणतः सन्तोषजनक है।

### ६-७. बोटैनी-३ तथा जुआलाजी-२

इन शब्दावलियों में अधिकतर अँगरेजी-शब्दों के लिप्यन्तरण-मात्र दे दिये गये हैं, किन्तु ऐसी शब्दावलियों का उद्देश्य लिप्यन्तरण नहीं हो सकता। जिन अँगरेजी शब्दों के समानार्थी शब्द देने हों, उन्हें ही सङ्कलित करना उचित है; शेष के सम्बन्ध में सामान्य रूप से कह दिया जा सकता है कि उनके समानार्थी शब्द अभी नहीं बन पाये हैं और अँगरेजी के शब्द ही सम्प्रति काम में लाये जायँ।

### ७. एग्रिकल्चर-३

यह शब्दावली साधारणतः सन्तोषजनक है।

मुद्रण की ऐसी अशुद्धियाँ चिन्त्य हैं—उदाहरणार्थ, पृ० १५ पर 'Bowel' के लिए 'आन्त', 'अन्तड़ी'; होना चाहिए—'आंत', 'अँतड़ी'।

### ८-९. एडुकेशन ( एडुकेशनल साइकालाजी १ और २ )

दोनों के प्राक्कथनों में यह वक्तव्य सर्वथा भ्रामक है कि 'Resonance' के लिए 'अनुनाद', 'Sequence' के लिए 'अनुक्रम', 'Cue' के लिए 'इंगित' और 'Reflex' के लिए 'प्रतिवर्त्त' बँगला के शब्द हैं। ये शब्द संस्कृत के हैं, न कि बँगला के। मानियर विलियम्स द्वारा सम्पादित और १८५१ में प्रकाशित अँगरेजी-संस्कृत-शब्दकोष में 'Cue' के लिए इङ्गित दिया गया है, और प्रतिवर्त्त भी विशुद्ध संस्कृत-शब्द है। इसी प्रकार 'अधोबिन्दु' ( Nadir ) और एकतानता ( Rapport ) भी संस्कृत के शब्द हैं, जो मराठी के उतने ही हैं, जितने हिन्दी के।

जो समानार्थी हिन्दी-शब्द दिये गये हैं, उनसे सही अर्थ नहीं निकलते। उदाहरणार्थ, 'Paranoia' के लिए 'संविभ्रम' और 'Schizophrenia' के लिए 'अन्तरावन्ध'। 'Maladjusted' के लिए 'अपसंमंजित', न कि 'अपसंमजित', होना चाहिए। 'Father Complex' और 'Infantile' के लिए क्रमशः 'पितृभाव' तथा 'शिशुभाव' एकदम गलत है।

कुछ शब्दों के हिन्दी-लिप्यन्तरण सर्वथा अशुद्ध हैं। उदाहरण के लिए, 'Schizo-

phrenia का किप्यन्तरण होगा 'सित्सोफ्रेनिया' या 'स्किजोफ्रेनिया'—'शीजोफ्रेनिया' तो है ही नहीं।

Auto Suggestion के लिए 'अन्य सुझाव', 'Environment, physical' के लिए 'भौतिक माहौल', 'Dominant behaviour' के लिए 'कट्टर व्यवहार' प्रसङ्कर (Hybrid) तथा सर्वथा अरुचिकर शब्द हैं। अँगरेजी शब्दों के किप्यन्तरण पहले दिये गये हैं, समानार्थी हिन्दी-शब्द बाद में, जब कि समानार्थी हिन्दी शब्द ही पहले दिये जाने चाहिए थे। कुल मिलाकर द्वितीय भाग प्रथम की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक है।

### १०. ला-२

यह सन्तोषप्रद शब्दावली है। प्रचलन के नाम पर जो शब्द दिये गये हैं, उन्हें प्रथम स्थान न देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पारिभाषिक स्तर के शब्दों के निर्माण की चेष्टा ही समिति का उद्देश्य है।

'कब्जा हरण करना' जैसे कुछेक शब्द हैं, जो न रहते, तो शब्दावली निर्दोष कही जा सकती थी।

### ११. एडवांस बैङ्किङ्

इस शब्दावली में 'सकार रजिस्टर', 'सकारी खाता', 'बैङ्क सकार', 'बैङ्क बेचन' आदि अनेक ऐसे शब्द हैं, जो मनोरञ्जक तो हैं, किन्तु पारिभाषिक किसी दृष्टि से नहीं कहे जा सकते।

प्राक्कथन में कहा गया है कि समिति ने 'Fraudulent Preference' के लिए 'छल तरजीह' शब्द गढ़ा है। क्या ऊपर के शब्द भी गढ़े हुए हैं? या व्यापारियों के बीच प्रचलित हैं?

पारिभाषिक शब्द संस्कृत के आधार पर ही गढ़े जा सकते हैं। यह किसी भी नियम से बड़े संविधान में निर्दिष्ट है। 'छल तरजीह' जैसे शब्द उस हिन्दुस्तानी के अवशेष हैं, जिसे जिलाने की कोशिश शक्ति और साधनों का सदुपयोग नहीं है।

### १२. जेनरल बैङ्किङ् ऐण्ड ट्रेड

प्राक्कथन में कहा गया है कि 'व्यापार वर्ग' (?) में प्रचलित वैज्ञानिक हिन्दी शब्दावली का पूरा उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, 'गरमबाजारी', 'चौकीमारी', 'व्याज मजबूती' आदि शब्द दिये गये हैं। ये किसी भी परिभाषा के अनुसार पारिभाषिक शब्द नहीं हैं। इन्हें 'स्लैङ्' ही कहा जा सकता है। 'चौकीमारी' जैसे बेमानी शब्द के बदले, हिन्दी-समाचार-पत्रों में, 'तस्कर-व्यापार' बहु-प्रचलित और सार्थक शब्द है। 'स्लैङ्' का महत्त्व है और उनका संग्रह होना चाहिए, किन्तु पारिभाषिक शब्दावलियों के निर्माताओं का काम 'स्लङ्' का संग्रह करना नहीं है। इस शब्दावली में स्लैङ् पर ज्यादा ध्यान दिया गया है, जो इस तरह की शब्दावली के निर्माण के लिए सर्वथा अवाञ्छनीय है

### १३. हिस्ट्री
### (प्री-हिस्ट्री १)

परिशिष्ट २ का दूसरा सिद्धान्त मान लिया जाय, तो ऐसी शब्दावली की आवश्यकता ही क्या? यदि तथाकथित अन्तर-राष्ट्रीय शब्दावली ही अपनानी है, तो अंगरेजी शब्दों के लिप्यन्तरण या कुछेक शब्दों के निर्माण के लिए इस प्रकार का प्रयास आवश्यक नहीं माना जा सकता। 'पुरखाओं', 'शामी', 'किशोर-घर', 'पुँसंस्कार', 'प्राकृत अहं' के स्थान पर क्रमशः 'पुरखों', 'सामी', 'अविवाहित-गृह', 'पुंसंस्कार' और "जैवी अहंता" होने चाहिए।

### १४. डिफेंस-७

यह अप्रत्याशित रूप से सन्तोषप्रद शब्दावली है। यों, कुछ सुझाव भी दिये जा रहे हैं। 'Sister in charge' के लिए समानार्थी हिन्दी-शब्द नहीं दिया गया है। 'Sister' के लिए अन्यत्र 'परिचारिका' आया है, यहाँ 'प्रभारी परिचारिका' हो सकता है। 'मलेरिया रोक भण्डार' तथा 'मजदूर निकाय' जैसे सङ्कर प्रयोगों से बचना ही उचित है।

'Boat shed' के लिए 'नाव छादन' तथा 'Boat store' के लिए 'नौ भण्डार' में 'बोट' के समानार्थी शब्दों में एकरूपता का अभाव है। ऐसे अन्य उदाहरण भी हैं, किन्तु अधिक नहीं।

### १५. ट्रांसपोर्ट-६
### ( शिपिङ्ग-३ )

यह शब्दावली भी बहुत हद तक सन्तोषजनक है। इस व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों के बीच प्रचलित शब्द स्वीकृत किये गए हैं, यह ठीक ही है, किन्तु इनके साथ-साथ पारिभाषिक स्तर के उनके पर्याय भी निर्मित होने चाहिए थे।

०

## पत्र-पत्रिकाएँ

**समीक्षक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा**

परम्परा (६-७) का प्रस्तुत विशेषाङ्क—इस पत्रिका के सभी अङ्क तो विशेषाङ्क ही होते हैं!—एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी माना जा सकता है, जिसका शीर्षक हो सकता है 'राजस्थानी बात-संग्रह', जो वस्तुतः पत्रिका के आवरण-पृष्ठ के निचले हिस्से पर मुद्रित है भी।

पत्रिका के सम्पादक नारायणसिंह भाटी ने 'भूमिका' में ठीक ही कहा है कि 'विपुल-काव्य-निधि के अतिरिक्त राजस्थानी गद्य-साहित्य की भी बहुत प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है।...प्राचीन राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और इसके विस्तृत अध्ययन से पता लगता है कि इस भाषा का गद्य-साहित्य भी उतना ही प्राचीन और विविधतापूर्ण है, जैसा कि अन्य कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध होता है।"

---

१—सम्पादक : श्रीनारायणसिंह भाटी; प्रकाशक : राजस्थानी, शोध-संस्थान, जोधपुर; मूल्य : छह रुपये मात्र।

राजस्थानी गद्य-साहित्य का एक बड़ा भाग 'वातों' से निर्मित है। सात 'वातों' को पत्रिका के इस अङ्क में प्रकाशित किया गया है। परिशिष्ट में विस्तृत वात-सूची भी दी गई है। पत्रिका का सम्पादन और प्रकाशन ऐसा कुछ नहीं छोड़ते, जिसकी अपेक्षा की जा सके—पहले पृष्ठ पर ही 'श्रुति' और 'भजनात्मक' तथा तेरहवें पर 'बावजूद भी' और बीसवें पर 'चिन्ह' जैसे प्रयोगों को छोड़कर, जो मोहक मुखड़े पर सफेद दाग जैसे हैं।

०

समीक्षक : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

'आदिवासी'[1] का स्वतन्त्रता-अङ्क नरेन्द्रनारायणलाल के सम्पादकत्व में कुछ नवीन और कुछ मौलिक साहित्यिक परिवेश के साथ, बिहार-राज्य-सरकार के जनसम्पर्क-विभाग द्वारा, प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत अङ्क की सामग्री सतर्क सम्पादन-सङ्कलन के कारण पाठ-रुचिकर बन पड़ी है, साथ ही आदिवासी-साहित्य और संस्कृतिविषयक बहुत सारी अनतिविदित सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

महज तीन नये पैसे के सरकारी सूचना-पत्र को साहित्यिक लिबास पहनाकर नरेन्द्रजी ने साहित्य-जगत् की श्लाघा अर्जित की है, इसमें सन्देह नहीं। मुद्रण, आवरण आदि भी असुन्दर नहीं हैं।

❀

# संकलन

## रामचरितमानस के स्रोत

डा० ग्रियर्सन के निर्देश का अनुगमन करनेवाले भारतीय आलोचकों ने रामचरितमानस के स्रोतों के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। सबने कवि के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा की है और उनके द्वारा संस्कृत-साहित्य के उपयोग पर अधिक बल दिया है। कुछ ने, जैसे रामनरेश त्रिपाठी और शिवनन्दन सहाय, विना अवतरणाङ्क दिये हुए ऐसे स्थलों की सूचियाँ दी हैं, जिनसे संस्कृत-साहित्य के प्रति गोस्वामी तुलसीदासजी का ऋण प्रकट होता है। शिवनन्दन सहाय ने अपनी पुस्तक के एक अध्ययन में रामचरितमानस की एक ओर वाल्मीकि-रामायण से और दूसरी ओर अध्यात्म-रामायण से तुलना की है।

रामचरितमानस के अधिकांश नवीन आलोचकों ने उसकी रचना पर अध्यात्म-रामायण के प्रभाव पर बल दिया है। रामनरेश त्रिपाठी और माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास ने अपने कथानक का सारा भाग अध्यात्म-रामायण से लिया है। माताप्रसाद

---

१—सम्पादक : श्रीनरेन्द्रनारायण लाल; प्रकाशक : बिहार-जनसम्पर्क-विभाग, राँची-शाखा; मूल्य : तीन नये पैसे मात्र।

गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने मानस के आरम्भिक श्लोक में जिस रामायण का उल्लेख किया है, वह वाल्मीकि-रामायण नहीं, अध्यात्म-रामायण ही है। 'तुलसीदास के ग्रन्थ और उनका जीवन-चरित' नामक अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में उन्होंने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस का, विनय-पत्रिका और अध्यात्म-रामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है।

यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस की कथा मोटे तौर पर वाल्मीकि की कथा से मिलती है। इसके अतिरिक्त लोक में, तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। अतएव, एक अत्यन्त सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि वाल्मीकि-रामायण रामचरित-मानस का उस अंश में प्रमुख स्रोत-ग्रन्थ है, जिस अंश में हिन्दी-रामायण वाल्मीकि की परम्परा पर निर्भर है। यह सभी मध्यकालीन रामायणों के लिए और विशेषतः अध्यात्म-रामायण के लिए सत्य है। पर इस प्रश्न को खोज शेष रहती है कि क्या तुलसीदास ने सीधे वाल्मीकि से सामग्री ली और यदि हाँ, तो कहाँ तक? वस्तुतः, 'तेसीतोरी' ने रामचरितमानस और वाल्मीकि-कृत रामायण के जो सदृश स्थल संगृहीत किये थे, उनकी एक-एक करके परीक्षा की गई, तो पता लगा कि उनमें से कम-से-कम आधा अंश वाल्मीकि के समान ही अध्यात्म-रामायण में भी है और अधिकांश के विषय में पूर्णतः यह निश्चय करना असम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थों में से किससे तुलसी ने अपनी सामग्री उधार ली। और भी, 'तेसीतोरी' को जब रामचरितमानस के किसी अंश का सादृश्य वाल्मीकि-रामायण की तीन धाराओं में से केवल किसी एक में प्राप्त हुआ, तब उन्होंने स्वतः यह परिणाम निकाला कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के उस विशेष अंश में उस धारा-विशेष का प्रयोग किया था। वस्तुतः, इनमें से अधिकांश स्थलों में वही अंश अध्यात्म-रामायण में भी उपलब्ध है, और यह बिलकुल सम्भव है कि तुलसी ने सीधे वहीं से उसका ग्रहण किया हो।

'तुलसीदास-कृत रामचरितमानस के स्रोत और उनकी रचना'
—ले० : श्री सी० बौदवील
['नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (काशी); वर्ष ६३, अङ्क २, संवत् २०१५]

०

## 'जैन-भण्डार' और सधारु-कृत 'प्रद्युम्न-चरित'

आदिकाल के हिन्दी-जैन-साहित्य ने प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा को अनेक कृतियों द्वारा सम्पन्न किया है। ये ग्रन्थ पाटण, देलवाड़ा, अहमदाबाद, जैसलमेर, आमेर, जयपुर तथा बीकानेर के 'जैन-भण्डारों' से उपलब्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ—जिनदत्त चउपई, भरतेश्वर बाहुबली-रास, सुदर्शन सेठ-शील-प्रबन्ध, पञ्चपाण्डवचरित-रास, विराट्-पर्व, विद्या-विलास पवाड़ा, हंसराज वच्छराज-चरित, ज्ञानपञ्चमी चउपई, नेमिनाथ फागु तथा प्रद्युम्न-चरित

आदि। ये काव्य प्रबन्ध-काव्य हैं। तथा इनके वर्ण्य विषयों में भी वैभिन्न्य है। यों तो, प्रत्येक रचना, जो सुव्यवस्थित और शृङ्खलाबद्ध होती है, अपने में प्रबन्ध होती है, पर विविध काव्य-रूपों में अपने शिल्प का सम्यक् निर्वाह करनेवाली इन रचनाओं में प्रबन्ध-जन्य वैशिष्ट्य है। वस्तु-वर्णन, छन्द, अलङ्कार आदि की दृष्टि से इन ग्रन्थों ने प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा को अव्याहत निभाया है, परन्तु जहाँ तक मौलिक अनुदान और विविध वर्णन तथा शैलियों में उत्क्रान्ति का प्रश्न है, यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि इन कृतियों ने इन रूप में भी अभूतपूर्व योग दिया है। यह सही है कि प्रबन्ध-काव्यों के शास्त्रीय शिल्प का जैसा उत्कृष्ट वर्णन हमें प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबन्ध-ग्रन्थों में देखने को मिलता है, वैसा इन कृतियों में नहीं मिलता, उनके वर्णन-सौकर्य और भाव की सम्पन्नता को भी ये कृतियाँ नहीं पहुँच पातीं, परन्तु इनमें जो कुछ और जितना भी मिलता है, वह अवलोकनीय है। प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में प्रयुक्त शिल्प-विकास के शास्त्रीय नियम इन काव्यों में शिथिल हो गये हैं, पर यह स्वाभाविक भी लगता है; क्योंकि ये रचनाएँ व्याघातों से पूर्ण ऐसे संक्रान्ति-काल में लिखी गई हैं, जिनमें एक ही साथ अनेक प्रकार के साहित्यिक स्रोतों का सम्मिश्रण होता है। वस्तुतः, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल ऐसा ही काल है। भयङ्कर उत्क्रान्ति के इस युग में हिन्दी साहित्य की इतनी अनूठी कृतियाँ इन 'जैन-भण्डारों' में सुरक्षित रह गई हैं, हमारे लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि ये कृतियाँ अत्यन्त पुरानी और विश्वसनीय हैं और इन रचनाओं में हिन्दी-भाषा और साहित्य के उद्भव और विकास के अनेक तत्त्व छिपे पड़े हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की इसी शृङ्खला में शोध करने पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और साहित्यिक रचना इधर उपलब्ध हुई है, जो आदिकालीन हिन्दी जैन-कृतियों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती है। यह सधारु-कृत 'प्रद्युम्न-चरित' है। यों, इस ग्रन्थ का रचना-काल सं० १४११ निश्चित किया जा चुका है, परन्तु बहुत सम्भव है कि सहायक ग्रन्थों तथा अन्तरङ्ग साक्ष्यों का शोध होने पर इस कृति का रचना-काल और भी प्राचीन सिद्ध हो। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक प्रति दीवान बधीचन्दजी के मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित है। इस प्रति में ३४ पत्र हैं। लेखन-काल १६०५ है। 'प्रद्युम्न-चरित' की दूसरी प्रति कामां (भरतपुर) के खण्डेलवाल जैन पञ्चायती मन्दिर के 'शास्त्र-भण्डार' में है, जिसमें कुल ३२ पत्र हैं तथा पद-संख्या ७०० है। तीसरी प्रति देहली के सेठ के कूँचे के 'जैन मन्दिर-भण्डार' की है, जिसमें कुल पत्र ७२ हैं तथा पद-संख्या ७१४ है। चौथी और अन्य प्रति ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट (उज्जैन) के संग्रहालय की है। पद-संख्या ७१३ तथा लेखन-काल सं० १६३४ है।

प्राकृत और अपभ्रंश के कई लेखकों ने प्रद्युम्न को नायक के रूप में अपनाया है। वस्तुतः, प्रद्युम्न पर लिखे गये इन काव्यों की परम्परा बहुत प्राचीन है। ११वीं से २०वीं शताब्दी तक प्रद्युम्न के जीवन पर प्रकाश डालनेवाली कृतियाँ हमें मिल जाती हैं।

प्रो० वेलणकर ने अपने ग्रन्थ 'जिनरत्नकोश' में प्रद्युम्न-सम्बन्धी काव्यों की एक विस्तृत सूची दी है। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक रचनाएँ मिल जाती हैं, जिन्हें हम पृष्ठभूमि के रूप में देख सकते हैं।

'हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का एक नवप्राप्त प्रबन्धकाव्य : 'प्रद्युम्न-चरित' : ले० श्रीहरिशङ्कर शर्मा, एम्० ए०

[ त्रैमासिक 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग); अक्टूबर-दिसम्बर, १९५८ ई० ]

•

## लोक-साहित्य का कलापक्ष

लोक-कवि निश्चित ही शिष्ट साहित्य की रूढ़ियों एवं परम्पराओं से बहुत दूर होता है। उसका काव्य उसी के हृदय के समान सर्वथा अकृत्रिम, अलङ्कृत एवं सरल होता है, अर्थात् उसमें न तो अनावश्यक अलङ्कारों का बोझ होता है और न कल्पना की जटिलता। उसमें जो कुछ भी सौन्दर्य है, कलात्मकता है, वह सर्वथा प्राकृतिक स्वयंसिद्ध है। ग्राम-किशोरियों के अल्हड़ एवं उन्मुक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति ही इस लोक-साहित्य का सौन्दर्य भी है। इसकी गति, विन्यास एवं अभिव्यक्ति सभी में एक प्रकार का अपरिष्कृत, किन्तु हृदयस्पर्शी अल्हड़पन पाया जाता है। यह सीधे लोक-मानस पर अपना अधिकार जमा लेता है, इसीलिए तो सहृदय काव्यरसिकों ने 'हृदय-पक्षकी' भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसमें वस्तुतः काव्य के आत्मभूत तत्त्व, रस, ध्वनि आदि की बड़ी पुष्ट स्थिति पाई जाती है।

माधुर्य ओज, प्रसाद का जितना उचित एवं सुव्यवस्थित प्रयोग इन शास्त्रीय ज्ञान से रहित प्राकृत कवियों में पाया जाता है, उतना अलङ्कार-शास्त्रों में पारङ्गत महाकवियों में भी कठिनता से ही मिल पायगा। रस के साधक या बाधक रूप में जिन गुण, रीति और अलङ्कारों का व्याख्यान करने में आचार्यों ने बड़े-बड़े अलङ्कार-ग्रन्थों का प्रणयन कर डाला तथा विस्तृत वाद-विवाद के बाद जिन सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर पहुँचे, उन्हें मानों लोक-कवि का अन्तःकरण प्रकृति की समर्थ गोद में स्वयं सीख लेता है। साहित्याचार्यों द्वारा बहु-प्रशंसित प्रसाद एवं वैदर्भी रीति पर तो मानों लोक-साहित्य का एकाधिकार ही है। यह वह रहस्य है, जिससे कि लोक-साहित्य श्रोता के मन पर एकदम अपना अमिट प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

'लोक-साहित्य का कलापक्ष' : ले० प्रो० देवीदत्त शर्मा

['सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग); आश्विन-मार्गशीर्ष, शकाब्द १८८०]

✱

[ पृष्ठ ८ का शेषांश ]

खेला जा सकता है। ऐसे नाटक के अभिनय में क्या होने जा रहा है की उत्कण्ठा अक्षुण्ण रहती है; सघनता, गति बनी रह सकती है। दर्शक जानता है कि मिनट में, मिनटों में नाटक समाप्त हो जाएगा, वह पञ्जों के बल खड़ा हो जाता है, उद्ग्रीव होकर अभिनय देखता है। ऐसे घरेलू नाटक बड़े सफल सिद्ध हुए हैं, जबकि लम्बे पद्य-रूपक उबाने वाले होते हैं। अमरीका में इधर तीन-चार वर्षों से तरुण कवि, 'आहत युग के कवि'—पोएट्स आव द बेट एज—ऐसे सर्वथा मौलिक नाटक लिखने लगे हैं।

आत्मीयतापूर्ण वातावरण में ऐसे पद्य-रूपक खेले जाएँ तो सम्भावना है कि काव्य का एक नया रूप अंततः विकसित हो जाए। यहाँ की बात छोड़ दीजिए, पश्चिम में भी कवि रङ्गमञ्च के लिए नहीं लिख रहा है, क्योंकि उपयुक्त दर्शक उसे नहीं मिलते। किन्तु घर के अन्दर के रङ्ग-प्रयोग के लिए उपयुक्त दर्शक सुलभ रहते है : मित्रों के समूह की आत्मीयता रहती है, दर्शक अभिनेताओं के चारों ओर तीन फीट की दूरी पर रहते है, दर्शकों की उपस्थिति की उष्णता में अभिनेता निमज्जित रहते हैं, प्रकाश, कुछ क्षण अन्धकार, यही इकमिक पद्य-रूपक है, चेम्बर-ड्रामा, वेश्म-रूपक है। ऐसे नाटक के नए लेखक के सामने समस्याएँ उठती हैं। एक से सात पृष्ठों में दुहरा स्थान देकर टङ्कित नाटक में चरित्र-विकास, वस्तु-विश्लेषण सम्भव कैसे होंगे? भय यह रहा है कि अभिव्यञ्जना की इस सीमा—आठ पृष्ठों से कम ही विस्तार—के फलस्वरूप अभिप्रेरणा (मोटिवेशन) का शिथिलतम कथन हो सकेगा—एक दृश्य का एक दृश्य मात्र उपस्थित किया जा सकेगा। लेकिन नहीं एक दृश्य का एक दृश्य वेश्म-रूपक में नहीं रहता। वेश्म-रूपक पूरा नाटक होता है। वेश्म-रूपक लिखना रोचक कार्य है। उसे लिखनेवाला आगे चलकर उत्कृष्टतर तथा स्पष्टतर काव्य लिख सकता है। पुराने खेवे के कवि ऐसे वेश्म-नाटक नहीं लिख पाते, तरुण कवि ही लिखते हैं। ऐसे सार्वभौम मञ्च के लिए अवसर का अभाव नहीं है।

इकमिटी पद्य-रूपक का नुस्खा कुछ ऐसा ही बताया गया है। "वस्तुतः अपनी कोई कविता ले लीजिए—असफल कविता जिसे आप समझते हैं—यदि आप अपनी किसी कविता को असफल समझते हों—या कोई भी कविता अपनी ले लीजिए। इस कविता को कोई किसी से कह रहा होगा—जो कह रहा है उसे प्रधान नायक हो जाने दीजिए। कविता में जो द्वन्द्व अन्तर्निहित है उसे ही नाटक का द्वन्द्व बन जाने दीजिए। हर कविता में द्वन्द्व रहता है, द्वन्द्व चाहे जितना आच्छादित और नियन्त्रित हो। जो कविता लिखता है उसे कुछ है जो परेशान किए रहता है—नहीं तो कविता लिखी नहीं जाती—यही कुछ कविता का द्वन्द्व होता है। इस प्रधान नायक के विरोध में प्रति-नायक को खड़ा कर दीजिए। दोनों चरित्रों के दो-चार विशेषण लिख डालिए। हर पात्र के कार्य-व्यापार की जो एकमात्र गति है उसका कारण भी लिख लें। अब रही द्वन्द्व की चरम परिणति—क्लाइमेक्स। चरम परिणति प्रत्यावर्त्तन (रिवर्सल) है, यानी वह बिन्दु जहाँ मुख्य नाटक या वस्तु-स्थिति में परिवर्त्तन होता है। अब संक्षेप में रंग-निर्देश लिख डालिए—धरित्रों की गति और भावों के

सम्बन्ध में। और फिर लिख डालिए 'अन्धकार'। आपका इकमिटी नाटक तैयार हो गया। द्वन्द्व के बारे में ध्यान रखना चाहिए कि वह वास्तविक हो, जिसे अभिनेताओं को घेर कर बैठे दर्शक ग्रहण कर सकें—समीप से देख, सूँघ, छुन, चख सकें। इकमिटी नाटक अकेले या सार्वजनिक रूप से पढ़े जाने के लिए नहीं होते। ये खेले जाने के लिए होते हैं। अगर ये खेले नहीं जा सकते तो ये रंग-प्रयोग नहीं है।

कथोपकथन और द्वन्द्व का सम्बन्ध यों समझें कि कविता तो इकाई है। इकाई द्वैत का योग है। कविता में गड़े हुए द्वैत को दो संघर्षी प्रकाश-बिन्दुओं में बाहर आ जाने दीजिए। परिणाम : कथोपकथन में द्वंद्व की चरम परिणति द्वन्द्व की समाप्ति है। इस तरह कोई भी कविता एक इकमिटी पद्य-रूपक में परिवर्त्तित की जा सकती है।

इकमिटी नाटक काव्य-रूपक ही हो सकते हैं, गद्य में लिखे नाटक नहीं। पद्य भी कैसा? यह आवश्यक नहीं कि वह अन्त्यानुप्रास-युक्त हो, किन्तु अप्रत्याशित शब्द-योजना आवश्यक है। प्रकाश से शुरू कीजिए और अन्धकार से समाप्त। बीच-बीच में, जरूरी हो तो, क्षणिक अन्धकार हो सकता है। दृश्य जैसा चाहे रखिए। पर्दे की जरूरत नहीं। दर्शक दीवारों और सेट्स—दृश्यों—की कल्पना कर लेगा। रंग-साधन के रूप में जो कुछ सहज-सुलभ हो उसे इस्तेमाल कीजिए, बाकी के बारे में दर्शक को बता दीजिए। प्रारम्भ में चरित्रों, दृश्यों और समय आदि के बारे में उसी तरह विवरण दें जिस तरह लम्बे नाटक में देते हैं। सब से बड़ी बात : वेश्म-नाटक को वेश्म-मध्य-अभिनय के लिए लिखिए, पढ़ने के लिए नहीं। महान् कवि-नाटककारों तथा महान् काव्य-रूपकों के लिए आवश्यक है कि ऐसे कवियों की एक नहीं अनेक पीढ़ियाँ हों, जो नाटक लिखते हों। इकमिटी नाटक ही इसका समाधान है।

•

## 'साहित्य' का प्रस्तुत अङ्क

'साहित्य' का विगत अङ्क प्रधानतः प्राचीन ग्रन्थानुसन्धानविषयक था। यह अङ्क मुख्यतः लोकभाषानुसन्धान-मूलक है।

बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोकभाषानुसन्धान विभाग में बिहारी भाषाओं तथा उनके साहित्यों के सम्बन्ध में जो शोध-कार्य हो रहे हैं उनमें से कुछ के परिणाम, संक्षेप में, इस अङ्क में प्रस्तुत किए जा रहे हैं, यद्यपि 'साहित्य' का अपना रूप भी सुरक्षित है।

इसीलिए आवरण पर 'लोकभाषानुसन्धान' यह संकेत! —सं०

०

## 'साहित्य'-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार

'साहित्य' के प्रबन्ध सम्बन्धी सारे पत्र-व्यवहार 'व्यवस्थापक, साहित्य, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' इस पते से होने चाहिए, तथा लेखादि, समीक्षार्थ पुस्तकें एवं विनिमयार्थ पत्र-पत्रिकाएँ इसी पते पर 'सम्पादक' के नाम से प्रेषित होने चाहिए। — सं०

# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के इकतालीस अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (द्वि० सं०)-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ३।)
२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ... ३।)
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ... ६॥)
४. विश्वधर्म-दर्शन—श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा ... १३॥)
५. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र ... ११)
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश ... ८)
७. सन्त-कवि दरिया : एक अनुशीलन – डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री १४)
८. काव्य-मीमांसा (राजशेखर-कृत) अनुवादक–पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत ६॥)
९. श्रीरामावतार शर्मा-निबन्धावली—स्व० म० म० रामावतार शर्मा ... ८॥)
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद ... ७।)
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर ... ९॥)
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी ... १३॥)
१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्रीगोरखनाथ सिंह ... १॥)
१४. ग्वर—प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा ... ७॥)
१५. ग्रह-नक्षत्र—श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह, आई० सी० एस्० ... ४।)
१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरख प्रसाद ... ४।)
१७. हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह ... ३)
१८. ईख और चीनी—प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा ... १३॥)
१९. शैवमत—लेखक-अनुवादक, डा० यदुवंशी ... ८)
२० मध्यदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन–डा० धीरेन्द्र वर्मा ७)
२१-२२ प्राचीनहस्तलिखितपोथियों का विवरण-(खण्ड १, २) डा० धर्मेन्द्रशास्त्री २॥)+२॥)
२३-२५. शिवपूजन-रचनावली—( भाग १,२,३ ) श्रीशिवपूजन सहाय ८॥)+९)+१०)
२६. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा ... १४)
२७. बौद्धधर्म-दर्शन—स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव ... १७)
२८-२९. मध्य-एसिया का इतिहास (भाग १,२)—श्रीराहुल सांकृत्यायन ... १२।)+८॥)
३०. दोहाकोश ( बौद्ध-सिद्ध सरहपाद-कृत )—श्रीराहुल सांकृत्यायन ... १३।)
३१. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा ... ११।)
३२. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना—श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', १०।)
३३. प्राचीन भारत की सांग्रामिकता–पण्डित रामदीन पाण्डेय ... ६॥)
३४. अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन—स्वर्गीय श्रीवेङ्कटेश्वर शर्मा ... ७॥)
३५. बाँसरी बज रही (मुण्डा-लोकगीत-संग्रह, सटीक ) – श्रीजगदीश त्रिगुणायत ८)
३६. चतुर्दशभाषा-निबन्धावली (संविधान-स्वीकृत चौदह भाषाओं पर निबन्ध) ... ४।)
३७. भारतीय कला को बिहार की देन—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह ... ७॥)
३८. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्रीदुर्गाशङ्करप्रसाद सिंह ... ५॥)
३९. पेट्रोलियम –प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा ... ५॥)
४०. नील-पंछी (मारिसमैटरलिंक-लिखित) अनुवादक—डा० कामिल बुल्के २॥)
४१. लिंग्विष्टिक सर्वे आव मानभूम ... ४॥)

## परिषद् के नये प्रकाशित ग्रन्थ

(१) षड्दर्शनरहस्य—ले० पं० रङ्गनाथ पाठक। मूल्य—५·००।

(२) जातक कालीन भारतीय संस्कृति—ले० श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी'। मूल्य—६·५० न० पै०

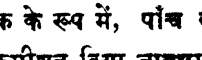
(३) मुद्रण-कला—ले० पं० छविनाथ पाण्डेय। मूल्य—७ २५ न० पै०।

(४) प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—मूल लेखक : डा० रिचर्ड पिशल। अनुवादक : डा० हेमचन्द्र जोशी। मूल्य—२०·००।



## परिषद्-प्रकाशनों की विक्रय-नियमावली

(क) पुस्तक-विक्रेताओं को सौ रुपये से अधिक की खरीद पर पचीस प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। सौ रुपये से कम और पचीस रुपये से अधिक की पुस्तकें लेने पर बीस प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। (ख) जो पुस्तक-विक्रेता एक साथ एक हजार रुपये की पुस्तकें मँगायेंगे, उन्हें पचीस प्रतिशत कमीशन के अतिरिक्त फ्री-डिलिवरी भी दी जायगी। (ग) जो पुस्तक-विक्रेता साल में पाँच हजार या उससे अधिक रुपये की पुस्तकें बेच लेंगे, उन्हें विक्रय की कुल राशि पर ढाई प्रतिशत अतिरिक्त कमीशन दिया जायगा। साल के अन्त में ही अतिरिक्त कमीशन का हिसाब किया जायगा। फ्री-डिलिवरी के बारे में 'ख'-संख्यक उपर्युक्त नियम लागू होगा। (घ) खुदरा ग्राहकों को पचीस रुपये से अधिक की पुस्तकें एक साथ लेने पर साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। स्कूलों, कालेजों तथा पुस्तकालयों को फ्री-डिलिवरी के साथ पन्द्रह प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। (च) स्थायी ग्राहक बनने के लिए, स्थायी शुल्क के रूप में, पाँच रुपये प्रति ग्राहक से लिये जायेंगे। स्थायी ग्राहकों को पचीस प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। —सञ्चालक



## परिषद् के प्रकाशनों का विशेष आकर्षण

१. हिन्दी-साहित्य में जैसे ग्रन्थों का अभाव है, वैसे ही ग्रन्थ प्रकाशित किये गये है।

२. सभी पुस्तकों की मजबूत जिल्द पर कलापूर्ण रंगीन सचित्र आवरण है।

३. हिन्दी-संसार के प्रमुख विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

४. परिषद् के ग्रन्थों का प्रकाशन बाजार की मांग पूरी करने के लिए नहीं, बल्कि हिन्दी-साहित्य के अभाव की पूर्त्ति के लिए किया गया है।

५. जिस प्रकार के ग्रन्थों के लिए हिन्दी-संसार में प्रायः प्रकाशक नहीं मिलते, उसी प्रकार के अधिकतर ग्रन्थ परिषद् से प्रकाशित किये जाते हैं।



मुद्रक : योगी प्रेस, पटना-१ :: प्रकाशक : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३